

ISSN 2321-1288

Registered & Listed by UGC 64762

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

RAJHISCO



PROCEEDING VOLUME XXXI

DEPARTMENT OF HISTORY
SARDAR PATEL UNIVERSITY OF POLICE,
SECURITY AND CRIMINAL JUSTICE,
JODHPUR

DECEMBER - 2016

Editorial Board takes no responsibility for inaccurate misleading data, opinion and statement appeared in the articles published in this Proceeding. It is the sole responsibility of the contributors. No part of this Proceeding can be reproduced without the written permission of the Secretary, who also holds the copyright © of the 'Proceeding Rajasthan History Congress'.

❑ *Published by :*

Prof. S.P. Vyas

Secretary, Rajasthan History Congress

Department of History

J.N.V. University, Jodhpur

❑ *To be had from :*

Dr. Manorama Upadhyaya

Hony. Treasurer, Rajasthan History Congress

Mahila PG Mahavidyalaya, Jodhpur

❑ ISSN 2321-1288

The Publication of this Proceedings' Volume has been financially supported by the Indian Council of Historical Research, New Delhi. The responsibility for the facts or opinions expressed in the articles is entirely of the authors and not of the ICHR.

❑ Price :

Rs. 250/- only

❑ *Printed at :*

Jangid Computers, Jodhpur

Preface

I feel honoured and proud, to present before the readers and scholars, the proceedings of 31st session, organized by Sardar Patel University of Police, Security and Criminal Justice, Jodhpur from 16-18 December 2016. In placing the learned, scholarly papers, chronology has been adhered to, as far as possible. A number of papers of outstanding merit were presented in this session, breaking new ground and adding new research areas and elements to the history and culture of Rajasthan.

I am grateful towards Prof. Sobhag Mathur for delivering the Presidential Address and I believe that under his presidentship we will be able to make more improvements in the institution of Rajasthan History Congress.

My thanks are due to Dr. Manorama Upadhyaya, Treasurer, Rajasthan History Congress for undertaking the responsibility of preparing and bringing out this volume. Despite all care, mistakes are bound to creep in. I hope readers will overlook them.

I also extend my thanks to all those who have made the publication of this proceeding possible. I humbly acknowledge the guidance of Prof. P.R. Arya. I appreciate the hard-work and sincere efforts of Dr. Tejendra Vallabh Vyas, Dr. Anil Purohit, Dr. Ravindra Tailor in the publication of the proceeding. Thanks are also due to Mr. Bhanwarlal Suthar and Mr. Sunil of M/s. Jangid Computers for the printing of the proceedings.

(Prof. S.P. Vyas)

Secretary

Rajasthan History Congress

सचिव प्रतिवेदन

भारत के विभिन्न क्षेत्रों से पधारे इतिहास के अध्येयता, विशेषज्ञ, देवियों और सज्जनों, आप सभी का सूर्यनगरी की इस पावन धरा पर स्वागत करते हुए मुझे काफी प्रसन्नता हो रही है। आज यह अत्यधिक हर्ष का अवसर है कि राजस्थान इतिहास कांग्रेस का 31वां अधिवेशन का आयोजन होने जा रहा है। इससे पूर्व 30वां अधिवेशन उदयपुर में सफलतापूर्वक पूर्ण हुआ था। मैं आपके समक्ष 31वें अधिवेशन का प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की अनुमति चाहता हूँ।

दिनांक 16 दिसम्बर, 2016 को प्रातः 10:30 बजे आयोजित 31वें अधिवेशन के उद्घाटन सत्र में 30वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. आर.सी. ठाकरान ने 31वें अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में प्रो. सौभाग माथुर को अध्यक्ष पद सौंपा। प्रो. सौभाग माथुर ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में भारतीय इतिहास लेखन में क्षेत्रीय इतिहास लेखन के महत्व पर प्रकाश डाला तथा मारवाड़ के इतिहासकारों के इतिहास लेखन पर भी प्रकाश डाला।

यह अत्यंत हर्ष का विषय है कि इस अधिवेशन में भारत वर्ष के विभिन्न क्षेत्रों से लगभग 200 प्रतिभागियों ने भाग लिया। प्रथम तकनीकी सत्र का प्रारम्भ 'प्रो. गोपीनाथ शर्मा स्मृति व्याख्यान' के रूप में हुआ। यह व्याख्यान प्रो. शशि देवड़ा ने दिया। आपने 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में विवाह एवं पुनर्विवाह में आये सामाजिक परिवर्तनों की एक समीक्षा-नाता प्रथा पर अपना व्याख्यान दिया। इसी सत्र में प्रो. रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा ने प्रो. आर.पी.व्यास स्मृति व्याख्यान "Rajput State and Vaishnava Bhakti in Later Medieval Rajasthan" विषय पर अपना व्याख्यान दिया। तीन दिवसों में कुल 18 तकनीकी सत्रों का आयोजन हुआ, जिनमें राजस्थान इतिहास एवं संस्कृति के विविध आयामों, स्रोतों एवं नवीन शोध क्षेत्रों पर गहनता से चर्चा की गई।

दिनांक 17.12.2017 को दोपहर 12.30 बजे सरदार पटेल पुलिस, सुरक्षा एवं दाण्डिक न्याय विश्विद्यालय, जोधपुर के सेमिनार हाल LT4 में आयोजित कार्यकारणी समिति की बैठक में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये-

1. सर्वप्रथम कार्यकारणी समिति के सदस्यों द्वारा 31वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. सौभाग माथुर का करतल ध्वनि से स्वागत किया तथा सचिव प्रो. एस. पी. व्यास ने यह आशा जाहिर की अध्यक्ष महोदय की अध्यक्षता में राजस्थान इतिहास कांग्रेस नवीन ऊंचाईयों को प्राप्त करेगी। डॉ. मनोरमा उपाध्याय का समिति में कोषाध्यक्ष के रूप में और डॉ. हेमेन्द्र चौधरी का समिति में Co-opted member के रूप में स्वागत किया गया।
2. कार्यकारणी सदस्यों द्वारा 30वें अधिवेशन के प्रस्तावों का सर्वसम्मति से अनुमोदन किया गया।
3. सदस्यों द्वारा राजस्थान के विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों में राजस्थान संस्कृति को पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किया जावे, इस संबंध में प्रो. विनीता परिहार ने बताया कि इतिहास विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में स्नातकोत्तर स्तर पर सर्टिफिकेट कार्यक्रम प्रारंभ किया जा चुका है। प्रो. शशि देवड़ा तथा प्रो. एस.पी. व्यास ने सुझाव दिया कि इस हेतु कॉलेज शिक्षा निदेशालय से पत्राचार किया जावे। समिति ने इस कार्य हेतु डॉ. हेमेन्द्र चौधरी को अधिकृत किया।
4. अध्यक्ष प्रो. सौभाग माथुर ने कहा कि इतिहास कांग्रेस में शोधपत्रों को प्रस्तुत करने हेतु, शोध पत्र अनिवार्यतः नियत तिथि तक पहुँच जाने चाहिये तथा आगामी अधिवेशनों में प्राथमिकता के अधार पर उन्हें प्रस्तुत किये जाने का अवसर दिया जाना चाहिये। साथ ही प्राप्त संक्षिप्त आलेख (ABSTRACTS) का अधिवेशन प्रारंभ होने से पूर्व 'स्मारिका' के रूप में प्रकाशन किया जाना चाहिये। सभी ने इसे स्वीकार किया।
5. प्रो. एस.पी. व्यास ने यह बताया कि राजस्थान इतिहास कांग्रेस की Proceeding की पिछले वर्षों की कुछ प्रतियाँ PDF Format में राजस्थान इतिहास कांग्रेस की वेबसाइट पर उपलब्ध है। कोई भी शोधार्थी इन्हें Download कर सकता है। उन्होने कहा कि धीरे-धीरे पूर्व के अधिवेशन की Proceedings को भी Online उपलब्ध करवा दिया जायेगा, जिससे शोधार्थियों का नवीन शोध का लाभ मिल सकें। सचिव महोदय ने यह भी बताया कि Proceedings हेतु Impact Factor प्राप्त करने के प्रयास किये

जा रहे हैं तथा यह आशा व्यक्त की की हमें शीघ्र ही यह प्राप्त हो जायेगा। उन्होंने सूचना दी कि इस हेतु डॉ. रवीन्द्र टेलर लगातार प्रयासरत हैं। सभी सदस्यों ने इस कदम को भरपूर सराहा। डॉ. अनिला पुरोहित ने विशेष आभार प्रकट किया।

6. जिस स्थान पर अधिवेशन आयोजित किये जाये वहाँ के स्थानीय इतिहासकार को सम्मानित किये जाने के संबंध में प्रो. सौभाग माथुर ने कहा कि इस संबंध में निम्नांकित दिशा-निर्देशों का पालन किया जाना चाहिये।
 - (अ) इतिहासकार का जुड़ाव अनिवार्यतः राजस्थान इतिहास कांग्रेस से हो।
 - (ब) इतिहासकार के कार्यों के मूल्यांकन के आधार पर उसका चयन हो।
 - (स) विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों के बाहर की व्यक्तिगत एवं संस्थागत स्तर पर भी महत्वपूर्ण कार्य करने वाले व्यक्ति का चयन किया जा सकता है।
 - (द) सेवानिवृत्त इतिहासकार को प्राथमिकता दी जावे।
 - (य) सम्मान हेतु साफा, शाल, सम्मानपत्र एवं श्रीफल भेंट किया जावे। यदि इतिहासकार महिला है तो शॉल, सम्मानपत्र तथा श्रीफल भेंट किया जावे। साथ ही प्रो. शशि देवड़ा तथा प्रो. मीना गौड़ का यह प्रस्ताव था कि इस हेतु राजस्थान इतिहास कांग्रेस के चिन्ह वाले स्मृति चिन्ह भी भेंट किये जावे तथा इसे बनवाने का उत्तरदायित्व सचिव को दिया गया।
7. प्रो. सौभाग माथुर ने कहा कि प्रो. गोपीनाथ शर्मा स्मृति व्याख्यान तथा प्रो. आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान प्रस्तुत करने वाले व्याख्यानकर्ता अनिवार्यतः व्याख्यान के प्रथम भाग में प्रो. गोपीनाथ शर्मा तथा प्रो. आर.पी. व्यास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करें, जिससे शोधार्थियों की नई पीढ़ी उनके संबंध में जानकारी प्राप्त कर सके। सभी ने इस बात को सर्वसम्मति से स्वीकार किया तथा प्रो. गोपनीय शर्मा के संबंध में प्रो. शशि देवड़ा को तथा प्रो. आर.पी. व्यास के संबंध में डॉ. मनोरमा उपाध्याय

को नोट तैयार करने हेतु अधिकृत किया गया। नोट में निम्नांकित बातों की अनिवार्यता को स्थापित किया जावेँ ऐसा प्रो. विनिता परिहार तथा डॉ. अनिला पुरोहित द्वारा दिया गया :-

1. संक्षिप्त जीवन परिचय
2. उनका इतिहास लेखन एवं दृष्टिकोण उनके कार्य सर्वसम्मति से इसे स्वीकार किया गया।
8. PDF Format को डॉ. हेमेन्द्र चौधरी ने 'Sodhganga' के साथ जोड़ने की बात जिससे अखिल भारतीय स्तर पर Proceedings का उपयोग हो सके।
9. Proceedings के PDF Format तथा प्रकाशन हेतु डॉ. अनिल पुरोहित के विशेष प्रयासों हेतु धन्यवाद ज्ञापित किया गया साथ ही प्रो. एस.पी.व्यास की समस्त टीम को बधाई दी गई।
10. डॉ. हेमेन्द्र चौधरी ने उदयपुर अभिलेखागार को सामान्य वर्ग के लिये खोलने हेतु राजस्थान इतिहास कांग्रेस पत्र लिखे।
11. 32 वें अधिवेशन में प्रो. गोपीनाथ शर्मा स्मृति व्याख्यान हेतु प्रो. मीना गौड़ का नाम सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।
12. प्रो. आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान हेतु प्रो. शशि देवड़ा द्वारा डॉ. के.जी. शर्मा का नाम सुझाया गया तथा यदि कोई समस्या है तो निर्णय हेतु सचिव को अधिकृत किया गया।
13. 32वें अधिवेशन को आयोजन हेतु दो स्थानों से प्रस्ताव प्राप्त हुए-
 1. एस.एस. सुबोध कॉलेज, जयपुर
 2. राजकीय बालिका महाविद्यालय पाली।सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से 32वें अधिवेशन के आयोजन हेतु एस.एस. सुबोध कॉलेज, जयपुर के प्रस्ताव को स्वीकार किया गया।
14. 32वें अधिवेशन के अध्यक्ष पद हेतु सर्वसम्मति से प्रो. जाफरी, दिल्ली विश्वविद्यालय का नाम स्वीकृत किया गया।

15. 31वें अधिवेशन के भव्य एवं सफल आयोजन हेतु स्थानीय सचिव डॉ. साधना मेघवाल एवं श्री भूपेन्द्र यादव (IPSS), कुलपति तथा सरदार पटेल पुलिस, सुरक्षा एवं दाण्डिक न्याय विश्वविद्यालय जोधपुर को समस्त शैक्षणिक, प्रशासनिक एवं अशैक्षणिक सदस्यों के प्रति कार्यकारणी सदस्यों द्वारा हृदय से आभार व्यक्त किया गया। सदस्यों द्वारा IG, BSF, DG, BSF तथा BSF के सभी सदस्यों के प्रति आभार प्रकट किया गया।
16. कार्यकारणी सदस्यों द्वारा सरदार पटेल पुलिस, सुरक्षा एवं दाण्डिक न्याय विश्वविद्यालय जोधपुर को ex-Officio सदस्य के रूप में सम्मिलित किये जाने की स्वीकृति दी गई।
17. कार्यकारणी सदस्यों द्वारा अधिवेशन के आयोजन हेतु ICHR द्वारा दिया जा रहे आर्थिक अनुदान हेतु ICHR के प्रति आभार प्रकट किया गया।
18. डॉ. गजानन्द चौधरी एवं डॉ. वी.एन. मिश्रा के दुखद अवसान पर शोक प्रकट किया गया तथा यह प्रस्ताव रखा गया कि कार्यक्रम समाप्ति पर दो मिनट का मौन रखकर उन्हें श्रद्धांजलि दी जाये।
अन्त में कार्यकारणी के सदस्यों द्वारा अध्यक्ष प्रो. सौभाग माथुर के प्रति आभार ज्ञापित किया गया।

प्रो. एस.पी. व्यास

सचिव,
राजस्थान इतिहास कांग्रेस

अनुक्रमणिका

1.	अध्यक्षीय उद्बोधन - प्रो. सौभाग माथुर	...	1
2.	प्रोफेसर जी.एन. शर्मा स्मृति व्याख्यान -प्रो. शशि अरोड़ा देवड़ा (एमेरिटिस् फ़ैलो)	...	12
3.	Professor R.P. Vyas Memorial Lecture -Professor Rameshwar Prasad Bahuguna	...	33
4.	An explorative Study of Vastragrah documents -Swanti Kulshrestha	...	42
5.	Emergence and Growth of Jaisalmer as a Trading Mart of Medieval Rajasthan -Syed Sumbul Arif	...	48
6.	Cultural Significance of Water Harvesting Monuments in Qasba Merta : Derani Talab A Living Evidence -Dr. Jibraeil	...	56
7.	Secular and Religious Monuments of Merta : A Survey -Dr. Yaqub Ali Khan	...	61
8.	Muqata System in the Medieval Hadouti : A Study based on Archival Records of Kota State (1670-1820 CE) -Dr. Narayan Singh Rao	...	68
9.	Commuting Money by Hundi in 17th-18th Century Jaipur State -Mohammad Shahnawaz	...	83
10.	Kapdho ka Kothar : Structure & Working Mechanism during 18th Century Marwar -Miss Sumit	...	94
11.	Mirza Raja Jai Singh I of Amber - His Cultural Activities -Samreen Iram	...	101
12.	Maharaja Surajmal : Real Builder of the Bharatpur State - An Assessment -Prof. (Dr.) Brij Kishore Sharma	...	107

13.	Maharaja Dungar Singh of Bikaner : A Progressive Ruler, An Able Administrator and a Pre-cursor to the Modernity -Prof. Kanti Lal Mathur	...	113
14.	Assessment & Realization of Revenue in Bikaner State during 18th Century -Dr. Kanchan Lawaniya	...	121
15.	The Jats and the Rajputs : In late eighteenth century and early nineteenth century Rajputana -Dr. Etee Bahadur	...	132
16.	The Untold Story of Brewing Discontent in Sirohi State: Agitation for Responsible Government, 1939 -Dr. Rajesh Kumar	...	141
17.	Process and the Cost of Railway Construction Linking Rajputana to Punjab : A Case Study of Bikaner to Bhatinda Railways -Khalid Ahmad	...	147
18.	Transformation in the Position of Charan Community in Rajputana States during Colonial Period -Professor V.K. Vashishtha	...	155
19.	Bhils Origin : A Mythological Connection -Pratyusha Das Gupta	..	167
20.	Govind Guru and the Bhagat Movement -Dr. Vijayalakshmi	...	172
21.	Heroic Deeds of Vaishya Communities in Rajasthan -Dr. N.K. Upadhyay	...	183
22.	Bagar : An Enquiry into Making of a Region -Prateek	...	191
23.	Temples of Jaipur -Ritika Kumari Meena	...	201
24.	Cultural Diversity in the Karauli district of eastern Rajasthan -Dr. Pooran Lal Meena	...	208
25.	Partition Phase : History and Representation of Women by Contemporary Feminist Writers -Dr. Meghna Sharma	...	213
26.	Violence against Women in India : Glimpses from Past -Kanika Panwar	...	222

27.	Tribal Dances of Mewar -Dr. Sadhana Meghwal	...	232
28.	Professor S.R. Goyal's Contribution to the History of Rajasthan -Professor Shankar Goyal	...	238
29.	शैलचित्रों में प्रदर्शित ऐतिहासिक विकास के चिह्न : गरडदा शैलाश्रयों के विशेष संदर्भ में -वीरेन्द्र शर्मा	...	255
30.	कानमेर पुरास्थल की मृद्भाण्ड परम्परा -डॉ. आसिफ हुसैन	...	261
31.	राजस्थान के अभिलेखों में उद्योग एवं शिल्प -डॉ. नीतू कालरा	...	267
32.	नागदा के मन्दिर में दशावतार मूर्तियों का अंकन -डा. हैमेन्द्र चौधरी	...	270
33.	मेवाड़ का प्राचीन पाटन शहर - नान्देशामा -अजय मोची	...	279
34.	पूर्व मध्यकालीन भाटी राजवंश तथा रावल जैसल द्वारा नई राजधानी जैसलमेर की संस्थापना - एक अध्ययन -डॉ. कनिका भनोत	...	284
35.	अलवर का कोहीनूर (बाला किला) -डॉ. अंशुल शर्मा	...	291
36.	झालावाड़ रियासत में कुक्की के मकबरे की ऐतिहासिकता -डॉ. ज़ाहिदा शबनम	...	296
37.	मेवाड़ इतिहास की स्रोत-महत्वपूर्ण बहियां -प्रो. गिरीश नाथ माथुर	...	299
38.	मेवाड़ राज्य में पर्यावरणीय अध्ययन-ठिकाना-दस्तावेजों के आधार पर -डॉ. प्रियदर्शी ओझा		303
39.	पट्टाधारी - व्यवस्था, स्वरूप एवं आधारभूत तथ्य (कानोड़ ठिकाना के संदर्भ में) -डॉ. जे. के. ओझा	...	308

40.	मध्यकालीन नागौर का स्थापत्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत-नागौर किला की विगत -प्रो. (डॉ.) सोहनकृष्ण पुरोहित	...	313
41.	बीकानेर राज्य के राजघराने में सती-प्रथा - एक अध्ययन -राम लाल परिहार	...	319
42.	महाराजा विजयसिंह रे राज में जवाहरात की बही का विवरण (सन् 1752-1793) -प्रो. अल्पना दुभाषे एवं डॉ. अर्पणा शर्मा	...	325
43.	गुजल साहित्य में पर्यावरण - एक समीक्षा -निर्मला दैय्या	..	330
44.	राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1600-1948 ई.) विषयक अभिलेखागारीय मूल स्रोत-सामग्री एवं आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन - एक अध्ययन -प्रो. शिव कुमार भनोत	...	335
45.	रियासतकालीन मारवाड़ के सांस्कृतिक इतिहास में बांकीदास की ख्यात-साहित्य का योगदान -डॉ. सुरेश कुमार	...	342
46.	सांस्कृतिक विरासत : मालानी की लोक चित्रकला -डॉ. सन्तोष कुमार गढ़वीर	...	347
47.	मारवाड़ के वैष्णव मंदिरों का स्थापत्य एवं सांस्कृतिक अवदान (गंगश्यामजी, घनश्यामजी व कुंजबिहारी मंदिर के विशेष संदर्भ में) -डॉ. दिनेश राठी	...	354
48.	सांस्कृतिक समरसता के पुरोधा लोकदेवता बाबा रामदेव -डॉ. भंवरसिंह भाटी	...	358
49.	मारवाड़ के लोक देवता बाबा रामदेव का मेला -डॉ. संदीप प्रजापत	...	365
50.	साम्प्रदायिक सद्भावना के प्रतीक लोक देवता बाबा रामदेव -डॉ. अशोक गाड़ी	...	369
51.	जोधपुर राज परिवार का उदयपुर गणगौर उत्सव में पधारने की विगत -डॉ. सुशीला शक्तावत	...	375

52.	मध्यकालीन मेवाड़ में महिलाओं के कतिपय आभूषण -डॉ. ममता पूर्बिया	...	385
53.	राजस्थान की संस्कृति में लोकदेवता की वर्तमान समय में प्रासंगिकता (पर्यावरण एवं समाज सुधार के रूप में) -डॉ. उषा पुरोहित	...	391
54.	ऊंटाला की विजय : सम्मान की प्रतिस्पर्धा -कुसुम राठौड़ एवं डॉ. वी. के त्रिवेदी	...	396
55.	धाट (उमरकोट) की भाषा : ढाटकी (थरी) बोली -डॉ. पंकज चांडक	...	401
56.	उदयपुर एवं चूरू का तुलनात्मक अध्ययन : परम्परागत जल प्रबंधन के संदर्भ में -डॉ. मीना कुमारी जांगिड़	...	406
57.	राजस्थान के इतिहास में वीरांगनाओं का योगदान : ऐतिहासिक अध्ययन -डॉ. ममता यादव	...	412
58.	मेवाड़ के लोक कलाओं में बदलते सामाजिक मूल्य -डॉ. मीनाक्षी बोहरा (शर्मा)	...	419
59.	Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize Paper उपान्तिक वर्ग में आन्तरिक स्तरीकरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन -डॉ. अनिल पुरोहित	...	426
60.	Dr. Gajanand Choudhary Prize Paper सामाजिक इतिहास लेखन एवं इसके स्रोत : 'सामंतीय-औपनिवेशिक राजस्थान' -डॉ. सुमेस्ता	...	442
61.	झुन्झुनू जिले के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र व हवेलियाँ -डॉ. सजीव कुमार	...	454
62.	जयपुर में राजपूत ठिकानेदारों की हवेलियाँ -प्रो. दिग्विजय भटनागर	...	460

63.	औद्योगिक नगरी नागौर (जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 25 के संदर्भ में) -डॉ. विमलेश राठौड़	...	467
64.	राजस्थान के स्वतंत्रता आन्दोलन में वैचारिक क्रांति की भूमिका -डॉ. चेतना मुद्गल	...	479
65.	राजस्थान का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम-1857 की क्रान्ति -प्रो. मीना गौड़	...	485
66.	पूर्व-आधुनिक कालीन राज्य व्यवस्था और पर्यावरणीय सरोकार : 18वीं शताब्दी राजस्थान के विशेष संदर्भ में -डॉ. मयंक कुमार	...	491
67.	ब्रिटिश कालीन भारत में हस्तक्षेप की नीति (राजपूताना राज्यों के विशेष सन्दर्भ में) -डॉ. अन्जु सुथार	...	495
68.	राजस्थान के भील आदिवासी एवं गोविन्द गिरि -बाबूलाल धनदे	...	504
69.	जयपुर प्रजामण्डल आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका -डॉ. रश्मि मीना	...	509
70.	जोधपुर में क्रांतिकारी गतिविधियां (प्रथम व द्वितीय बम षड्यंत्र काण्ड के विशेष सन्दर्भ में) -डॉ. ज्योत्सना व्यास	...	515
71.	उन्नीसवीं सदी में मारवाड़ रियासत की मुद्राएं एवं मुद्रा बंदी -डॉ. सुखाराम एवं डॉ. उषा लामरोर	...	522
72.	मारवाड़ में उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष एवं खादी का प्रचार-प्रसार -डॉ. भरत देवड़ा	...	529
73.	गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय में मारवाड़ी समुदाय का योगदान -डॉ. योगवती पारीक	...	537
74.	बीकानेर रियासत में छात्र और आजाद हिन्द फौज -डॉ. महेन्द्र पुरोहित	...	543

75.	भारतीय संवैधानिक सुधार में महाराजा गंगासिंह का योगदान -डॉ. (श्रीमती) अनिला पुरोहित	...	545
76.	बीकानेर रियासत की राजगढ़ निजामत में जन-जागृति -डॉ. अविनाश पारीक एवं राजेन्द्र सिंह	...	552
77.	जयपुर की मीनाकारी हस्तकला : विकास, परिवर्तन, निरंतरता -डॉ. पूजा सिरौला	...	560
78.	झालावाड़ राज्य में आधुनिक शिक्षा : चुनौतियाँ एवं विस्तार -डॉ. प्रणव देव	...	565
79.	भानगढ़ : एक उजड़े हुये शहर की कहानी -डॉ. सूरजभान भारद्वाज	...	571
80.	राजस्थान के भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक प्रसंग -डॉ. ओंकार नारायणसिंह	...	578
81.	बून्दी के यशस्वी पत्रकार : लज्जाराम मेहता (सन् 1863- 29 जून सन् 1931) -डॉ. अर्चना द्विवेदी	...	585
82.	राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में गणिका-जीवन संदर्भ -डॉ. एकता व्यास	...	592

ABSTRACTS / सारांश

1.	An Historical-Geographical Analysis of 'Improving Traditional Techniques of Rainwater Harvesting in Thar Desert' -Dr. Leena Singh	...	595
2.	राजस्थानी लोक गीतों में लोक-संस्कृति -सुरेन्द्र कुमार	...	596
3.	बरड़ के शैलाश्रयों में चित्रित पशु-परिवहन -डॉ. विजयसिंह मवाई	...	596
4.	राजस्थान के मुस्लिम समुदाय में शैक्षिक जागृति : अजमेर-मेरवाड़ा व जोधपुर रियासत के विशेष सन्दर्भ में -डॉ. इकलाब फातिमा	...	598

5.	करौली रियासत : स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक मदनसिंह -डॉ. अविनाश पारीक एवं गोविन्दपुरी	...	600
6.	श्री अचलेश्वर मन्दिर, आबू पर्वत के शिलालेख : एक नजर -डॉ. उदयसिंह देवड़ा	...	601
7.	राजस्थानी किले व उनके विशिष्ट युगीन निहितार्थ -बनवारी लाल यादव	...	602
8.	मेवाड़ में आधुनिक काल में बालिका शिक्षा का विकास (1982-2015) -प्रो. नीलम कौशिक एवं जयश्री रावल	...	603
9.	जनजाति विकास की संभावनाएं : कला संरक्षण की दृष्टि में -रुचि सोलंकी	...	604
10.	सूफीवाद और उसके प्रमुख संत -जलालुद्दीन काठात	...	605
11.	वागा रे कोठार री बही (कपड़ों के जानकारी के संदर्भ में) -हेमा रजक	...	606
12.	राजस्थान में शिक्षा उन्नयन के प्रयास सर्व शिक्षा अभियान के संदर्भ में -कैलाश चन्द्र जोशी	...	607
	List of Members	...	609

अध्यक्षीय उद्बोधन

प्रो. सौभाग माथुर

मान्यवर इतिहासज्ञ और साथियों,

इस इतिहास कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में मुझे अटपटा सा लग रहा है। इस पद के लिए मैं कभी भी उत्सुक नहीं रहा। अध्यक्ष चुनने के पहले यदि मुझे पूछा जाता तो मैं अवश्य ही अस्वीकार कर देता क्योंकि मैं अपने रिटायर्ड जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। दूसरा, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त पूर्व अध्यक्षों की सूची को देखते हुए मैं अपने आपको इस पद के योग्य भी नहीं समझता। परन्तु कांग्रेस की कार्यकारिणी के निश्चय के समक्ष नत मस्तक होकर मैं यह अध्यक्षीय भाषण देने आपके सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ। मुझे यह सम्मान दिया गया मैं उसके लिए इतिहास कांग्रेस की कार्यकारिणी के सदस्यों का आभारी हूँ।

‘हिस्ट्री’ शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हेरोडोटस ने किया। इतिहास से उनका अभिप्राय खोज तथा अनुसंधान था। वह घटनाओं को व्यवस्थित करने में सिद्धहस्त थे। उनके अनुसार इतिहास के चार महत्वपूर्ण लक्षण हैं—

- (i) यह एक वैज्ञानिक क्रिया है। इसकी पद्धति आलोचनात्मक है।
- (ii) यह मानवीय विद्या है। इसका उद्देश्य मानव के कार्यकलापों का अध्ययन करना है।
- (iii) यह एक तर्कसंगत विद्या है। इसके निष्कर्ष तथ्य और साक्ष्य पर आधारित होते हैं।
- (iv) यह शिक्षाप्रद विद्या है। इसका कार्य अतीत को आधार बनाकर भविष्य में मनुष्य को मार्ग दिखाना है।

इतिहास शब्द का अर्थ ही अनुसंधान है अतः इतिहास मुख्य रूप से एक खोज है। इतिहास का सन्देश यह है किसी काल का उत्थान क्रमशः पतन में परिवर्तित हो जाता है। इतिहास में गति तथा प्रवाह है।

पुनर्जागरण काल में मानववाद और बुद्धिवाद का जन्म हुआ। इस काल में इतिहास लेखन की दिशाओं में परिवर्तन हुए। इतिहास लेखन में आर्थिक, सामाजिक और व्यापारिक महत्व के तथ्यों का समावेश हुआ। इतिहास में मानव और मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया जाने लगा। इतिहास के पुरातत्व संबंधी अनुसंधान पर भी जोर दिया जाने

लगा। अब इतिहासकार प्राच्य विद्याओं का अध्ययन करने लगे। इस काल में मनुष्य के कार्यकलापों को प्रमुखता प्राप्त हुई। जीवनचरित लेखन इतिहास लेखन की प्रभावशाली विधा बन गई थी।

अठारहवीं शताब्दी में वाल्तेयर ने सर्वप्रथम 'इतिहास दर्शन' शब्द का प्रयोग किया था। इस शब्द से उनका अभिप्राय केवल आलोचनात्मक व वैज्ञानिक इतिहास था। इसी शताब्दी के अन्त में अन्य इतिहासकारों ने इस शब्द का प्रयोग विश्व इतिहास के सन्दर्भ में किया। इतिहास-दर्शन के विषय में हम कोई दृष्टिकोण अपनायें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि मानव के अतीत के कार्यों को एक दृष्टि से देखना आवश्यक है। आज के इतिहासकारों का दृष्टिकोण घटनाओं की प्रक्रिया, प्रवृत्ति तथा परम्परा पर केन्द्रित है। अनेक इतिहासकार इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि घटनाओं का अन्वेषण तथा अध्ययन ही इतिहासकार का एकमात्र कर्तव्य है। जर्मन इतिहासकार रांके का मत है कि इतिहास का उद्देश्य घटनाओं को उसी रूप में प्रस्तुत करना है जिस रूप में वे घटित हुई हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार फिशर भी इस मत को आदर्श के रूप में मानते हैं।

इस काल में इतिहासकार राजाओं के शासन के इतिहास में रुचि लेने लगे। उन्हें राजकीय इतिहासकार के रूप में नियुक्त किया जाने लगा। उनके द्वारा रचित इतिहास सामन्तशाही संस्कृति का प्रतीक था। उसमें सामन्तशाही प्रथाओं का आदर्श रूप प्रस्तुत किया जाने लगा। उनके द्वारा लिखित इतिहास वीरता और शूरता की कथाओं से ओतप्रोत था। साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा साम्राज्यवाद के विस्तार एवं साम्राज्यवादी हितों का ही ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। जबकि राष्ट्रवादी इतिहासकारों का लेखन प्रायः साम्राज्यवादी इतिहासकारों की मान्यताओं का खण्डन करना था।

भारतीय इतिहास लेखन समय समय पर मान्यताओं और उपलब्ध साधन स्रोतों के प्रकाश में बदलता रहा है। 1784 में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के साथ भारत में वैज्ञानिक इतिहास लेखन का सूत्रपात हुआ। साम्राज्यवादी अवधारणा के अन्तर्गत इतिहास लेखन का दौर चलता रहा। 19वीं शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रवादी इतिहासकारों का उदय हुआ और 20 वीं सदी के दूसरे दशक तक उनके प्रभाव में वृद्धि होने लगी। तीसरे दशक में भारतीय इतिहास लेखन में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की विवेचना प्रारम्भ हुई। साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों की मार्क्सवादी व्याख्या का प्रयत्न किया जाने लगा। "सिद्धान्त नहीं हो इतिहास नहीं" जैसे नारों का प्रभाव बढ़ने लगा।

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात इतिहास लेखन में व्यापक परिवर्तन आया। मार्क्सवादी विचाराधारा के प्रभावित भारतीय प्रगतिवादी इतिहास लेखक साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी इतिहासकारों की आलोचना करने लगे। लेकिन भारतीय समाज ने

इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। निश्चय ही प्रगतिशील इतिहासकारों के प्रयत्नों से भारतीय इतिहास में बौद्धिक धरातल का निर्माण हुआ और ऐतिहासिक तथ्यों की तर्कसंगत व्याख्या की जाने लगी। वामपंथी इतिहासकारों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक परिवेशों को अधिक महत्व दिया जबकि अन्य इतिहासकारों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए स्थापित सामाजिक ढांचे व धार्मिक चिंतन को अधिक महत्वपूर्ण माना तथा आर्थिक परिवेशों को गौण स्थान दिया।

इसी समय समाजशास्त्रीय अध्ययन तथा मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के प्रकाश में घटनाओं की ऐतिहासिक व्याख्या का प्रयास प्रारम्भ हुआ। इतिहास में भाषाशास्त्रीय अध्ययन एवं 'शब्दार्थ' को महत्वपूर्ण माना जाने लगा। इसी काल में साहित्यिक एवं ऐतिहासिक आलोचना का दौर भी चला। इसके साथ में इतिहास की अन्य शाखाओं का विस्तार हुआ। पुरातात्विक अध्ययन का महत्व बढ़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पुरातत्व के अध्ययन की विभिन्न विधाओं, मुद्रा, अभिलेख तथा लिपिशास्त्र आदि का विकास हुआ।

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में यूरोपीय इतिहासकारों (विद्वानों) की महत्वपूर्ण भूमिका रही। उन्होंने प्राचीन भारत के वैज्ञानिक इतिहास लेखन को प्रारम्भ किया था। विभिन्न बिखरे हुए स्रोतों, ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, उनका संग्रह तथा विश्लेषण कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि तैयार की। यूरोपीय इतिहासकारों ने ही भारतीय इतिहास के तिथिक्रम का ढांचा प्रस्तुत किया, जो कतिपय संशोधनों तथा परिवर्तनों के साथ आज भी मान्य है।

ऐतिहासिक अध्ययन में क्षेत्रीय इतिहास के अध्ययन का अपना महत्व है। क्षेत्रीय इतिहास अपने अस्पष्ट गुणों तथा अवगुणों के उपरान्त भी ऐतिहासिक अध्ययन की एक कला है। वर्तमान में स्थानीय इतिहास का अध्ययन भी लोकप्रिय हुआ। बस्तियों का इतिहास, स्थानीय रीति-रिवाज, आचार-विचार, एवं परम्पराएं नामों की खोज, व्यापारी तथा व्यापारिक श्रेणियां, व्यापारिक मार्ग तथा मंदिरों के इतिहास का अध्ययन सामाजिक हितों एवं गतिविधियों के क्षेत्र को स्पष्ट करने में अधिक महत्वपूर्ण था। क्षेत्रीय इतिहास राष्ट्रीय इतिहास की आधार भूमि है। कई मामलों में क्षेत्रीय इतिहास राष्ट्रीय इतिहास की सीमाओं का विस्तार है।

क्षेत्रीय इतिहास मामूली परिवर्तन एवं प्रवृत्तियों, मूलतः क्षेत्रीय संकीर्णता, धर्म-भेद, जातियता, सम्प्रदाय एवं जातिवादी विविधताओं से सम्बन्धित है। क्षेत्रीय इतिहास लेखन में स्थानीय सूचना के स्रोत बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं। भारत जैसे विशाल देश में ऐतिहासिक आंकड़े इतने विविध एवं बहुभाषी हैं कि क्षेत्रीय इतिवृत्त भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक के अध्ययन में आदर्श आधार हो सकते हैं। क्षेत्रीय इतिहासकार स्थानीय

भाषाओं और बोलियों में उपलब्ध स्थानीय स्रोतों का दोहन करने के लिए अच्छी स्थिति में होते हैं। इस प्रकार का अध्ययन समग्र भारतीय दृश्य के संबंधित चिन्तन में सहायक होना चाहिये। लेकिन दुर्भाग्यवश क्षेत्रीय ऐतिहासिक अध्ययन में क्षेत्रीय अहं तथा संकीर्णता मुख्य बिन्दु हो जाते हैं। क्षेत्रीय इतिहास जातीय, साम्प्रदायिक तथा वर्गभेद आदि से भारत के ऐतिहासिक अध्ययन के विकास को अवरुद्ध कर देता है।

क्षेत्रीय इतिहासकारों का दृष्टिकोण अधिकांशतः परम्परावादी होता है। वे साहित्यिक स्रोतों का मूल अध्ययन तथा ऐतिहासिक स्थलों का व्यक्तिगत निरीक्षण कर सामग्री एकत्र करते हैं। परिणामतः उनके पास बड़ी मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है। क्षेत्रीय इतिहासकारों ने उपलब्ध लिखित दस्तावेजों को एकत्रित किया, उन्हें परखा और उनके आधार पर अपने ऐतिहासिक निर्णय निकाले। राजस्थान के इतिहासकारों ने राजस्थानी, अंग्रेजी, संस्कृत और फारसी स्रोतों का प्रयोग किया है। इनकी कार्यविधि के तीन मुख्य तत्व हैं:-

(i) ऐतिहासिक स्रोतों का व्यक्तिगत निरीक्षण करना।

(ii) ऐतिहासिक वंशावलियों का विश्लेषण करना।

(iii) लिखित दस्तावेजों का उपयोग करना।

उनका झुकाव स्थानीय स्रोतों को अधिक महत्व देने में था।

क्षेत्रीय इतिहासकारों के अनुसार 'सत्य की खोज ही इतिहास है।' इतिहास का उद्देश्य देश के प्राचीन गौरव का उल्लेख करना ही नहीं वरन् सत्य को सामने लाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्षेत्रीय इतिहासकारों ने मूल स्रोतों को अपनी कार्यविधि में सम्मिलित किया। उन्होंने इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि ऐतिहासिक सामग्री की कड़ी जांच की जानी चाहिये। उनकी कार्यविधि में यह सिद्धान्त नहीं था कि वर्तमान पर भूत को हावी नहीं होना चाहिये, क्योंकि भूत उसे तोडमरोड़ देगा। उनकी कार्य प्रणाली का यह भी पक्ष था इतिहासकारों को तथ्य जहां तक ले जायें वहां तक उसे जाना चाहिये। ये इतिहासकार जाति, धर्म और परिवार के विरोध में नहीं थे, न ही इनके मन में इतिहास लेखन में कोई आकार था और न ही कोई विधि थी। उनका लेखन का मार्ग खुला था।

क्षेत्रीय इतिहासकार ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवनचरित के चित्रांकन में सिद्धहस्त थे। उस समय की घटनाओं का वर्णन निर्लिप्त भाव से करते थे लेकिन घटनाओं पर नैतिक निर्णय नहीं देते थे, न ही उनके परिणामों का विश्लेषण करते थे।

12वीं शताब्दी में राजस्थान में हमें ऐतिहासिक महत्व की पद्यात्मक रचनाएं मिलने लग जाती हैं तथा समय के साथ साथ इनका विस्तार होता जाता है। 14वीं और 15वीं शताब्दी में गद्यात्मक रचनाओं का आरम्भ होता है। 16वीं शताब्दी में ऐतिहासिक

बातें अपना स्वरूप ग्रहण करने लगती हैं। 17वीं शताब्दी में हमें ख्यात लेखन की परम्परा उपलब्ध होती है। ख्यात में जिन मुख्य घटनाओं का वर्णन दिया जाता है उसका शीर्षक 'बात' से दिया गया है जैसे राव रिडमल री बात, राव लाखे री बात, राणे कुम्भै री बात, आदि। इस प्रकार के इतिहास लेखन में घटनाओं का बढ़ा चढ़ा कर नहीं कहा गया है। 'नैणसी की ख्यात' और दयाल दास कृत 'बीकानेर राज्य की ख्यात' बातों के आधार पर ही लिखी गई है।

राजस्थान के प्रमुख इतिहासकारों में कविराजा श्यामलदास, डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जगदीश सिंह गहलोत, पं. रामकरण असोपा और विश्वेश्वर प्रसाद रेड के नाम प्रमुख हैं। इन इतिहासकारों के इतिहास लेखन पर यह प्रश्न उठाया गया कि उनका लेखन राज्याश्रित था। इस कारण वे अपने लेखन में निष्पक्ष दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं कर सके। लेकिन इस आरोप के उपरान्त भी उनके ऐतिहासिक कार्यों का महत्व है। ऐसे इतिहासकार अपने ऐतिहासिक ग्रंथों की सीमाओं को समझते थे। वे अपने ग्रंथों में सामन्तों के योगदान के प्रति उदासीन रहे। देशी रियासतों के आपसी संबंधों पर भी उन्होंने कोई जोर नहीं दिया। उनके समय में जनता ने ब्रिटिश विरोधी चेतना जागृत हो चुकी थी लेकिन उनके ग्रंथों में उसे स्थान नहीं दिया गया। अपने कार्य के प्रति उनकी लगन तथा निष्ठा आज के नये इतिहासकारों के लिए प्रेरणादायक है।

सर्वप्रथम राजस्थान के इतिहास लेखन का श्रेय कर्नल टॉड को है। उन्होंने यहां की ऐतिहासिक बातों, ख्यातों वंशावलियों, शिलालेखों तथा अन्य ग्रंथों के आधार पर इतिहास लिखा। लेकिन उनके इतिहास लेखन का तरीका तथा सोच साम्राज्यवादी था। उनके इतिहास लेखन में ब्रिटिश प्रभाव साफ झलकता है। कर्नल टॉड ने देशी रियासतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। परिणामस्वरूप देशी रियासतों में वैमनस्य तथा प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा मिला। उनके द्वारा लिखित इतिहास ने देशी रियासतों की भावनात्मक एकता को तोड़ने में अधिक मदद की। प्रश्न यह उठता है कि कर्नल टॉड ने इतिहास लेखन क्यों किया। वे पोलिटिकल एजेण्ट थे और जब वे इस पद पर उदयपुर आये उस समय राजस्थान पर मराठों के आक्रमण हो रहे थे। देशी रियासतों के सीमाओं के लिए झगड़े चल रहे थे। जमींदारों के आपसी झगड़े भी चल रहे थे। कर्नल टॉड ने इन प्रश्नों को सर्वप्रथम अपने ग्रंथ में स्थान दिया। इस प्रक्रिया में यहां के राजाओं और जमींदारों की जानकारी प्राप्त हुई। इतिहास में रुचि होने के कारण उन्होंने यहां के इतिहास को समझा तथा उसका अध्ययन किया। उन्होंने यहां के ऐतिहासिक स्रोतों को संकलित किया। कम्पनी की सेवा से निवृत्त होकर इंग्लैण्ड में बैठकर इतिहास को लिखा। उनका इतिहास सीमित साधनों पर आधारित था। इस कारण उसमें अधिक कमियां दिखाई देती हैं। फिर भी उनका ग्रंथ 'एनाल्स' एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ है।

राजस्थान के इतिहासकारों की सूची लम्बी है और मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि इस व्याख्यान में उन सबके कार्यों का समावेश कर सकूँ। इतिहास कांग्रेस का यह अधिवेशन मारवाड़ की धरती पर हो रहा है और इस कारण यहां के इतिहासकारों को ही सम्मिलित कर रहा हूँ।

नैणसी ने दो ग्रंथों—‘मुथा नैणसी री ख्यात’ और ‘मारवाड रा परगनां री विगत’ की रचना की थी। 33 वर्ष की आयु में ख्यात लेखन का कार्य प्रारम्भ किया तथा 1666 जून तक, ख्यात की सामग्री का संकलन तथा लेखन किया। ख्यात में जिन आधार स्रोतों का उपयोग किया गया उनका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। नैणसी ने विभिन्न उपलब्ध स्रोतों का अध्ययन कर उनके आधार पर ख्यात की रचना की है।

नैणसी की ख्यात की मूल प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इस कारण ख्यात के वास्तविक स्वरूप के संबंध में कहना कठिन है। नैणसी की ख्यात की एक प्रति ‘अनूप संस्कृत लाइब्रेरी’, बीकानेर में उपलब्ध है। अन्य सभी प्रतियां इसकी प्रतिलिपियां हैं। ख्यात को संकलित करने का श्रेय लालसिंह तथा चारण वीटू पना को है। वीटू पना ने 1666 के पश्चात् के राजाओं और सरदारों की कार्यों की सूचियां ख्यात में जोड़ दीं। ख्यात का समुचित प्रयोग ‘वीर विनोद’ में किया गया है। दयालदास ने अपने ग्रंथ ‘बीकानेर राज्य की ख्यात’ में नैणसी के ख्यात का पूरा लाभ उठाया।

आश्चर्य की बात यह है कि कर्नल टॉड ने अपने ग्रंथ में इस ख्यात का उल्लेख नहीं किया। बांकीदास की ख्यात में नैणसी के परिवार का संकेत दिया है, लेकिन रचनाओं का उल्लेख नहीं है। नैणसी की मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ में उनकी ख्यात की चर्चा हुई। कविराजा मुरारीदान ने ख्यात की एक प्रति इतिहासकार गौरीशंकर हीराचंद ओझा को दी थी। इतिहासकार ओझाजी का कथन है नैणसी की ख्यात को प्रसिद्धि दिलाने का श्रेय कविराजा मुरारीदान को है। विश्वेश्वर प्रसाद रेड, पं. रामकरण ओसापा और नरोत्तमदास के पास ख्यात की प्रतियां थीं। इस ख्यात के दो संस्करण प्रकाशित हुए जिसका अनुवाद तथा सम्पादन रामनारायण दूगड़ और बद्रीप्रसाद साकरिया ने किया। ख्यात में शुद्ध मारवाड़ी भाषा का प्रयोग किया गया है। नैणसी की लेखन शैली सूचना प्रधान, तथ्यात्मक तथा रचनात्मक है। ख्यात में मुख्य रूप से छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है। नैणसी ने ख्यात में संवादों का प्रयोग किया है तथा घटनाओं का कम से कम शब्दों में वर्णन कर ख्यात को नीरस नहीं होने दिया। ख्यात में बोलचाल तथा मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया गया है। ख्यात में फारसी, अरबी तथा संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है।

नैणसी कृत ‘मारवाड़ रा परगना की विगत’ जोधपुर तथा उसके अन्य परगनों का क्रमबद्ध इतिहास है। इस रचना में 1664 तक जोधपुर सहित छः परगनों का इतिहास है।

1666 के अचानक पदच्युत तथा बंदी बनाये जाने के कारण जालोर परगना तथा पोकरण का इतिहास शेष रह गया। दीवान होने के कारण नैणसी को परगनों की ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित करने में कठिनाई नहीं हुई। नैणसी ने विगत के लेखन में सामग्री का संकलन स्तम्भ लेख, ख्यात, पट्टा, वंशावलियां, प्राचीन ग्रंथ और पंचांग आदि से किया है। इतिहास लेखन में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट तथा सुलझा हुआ था। ओझाजी ने लिखा है कि 1300 के बाद से नैणसी के समय तक राजपूतों के इतिहास के लिए मुसलमानों द्वारा लिखी नैणसी की ख्यात फारसी तवारिखों से अधिक महत्व रखती है। मुंशी देवी प्रसाद ने नैणसी को राजपूताना का अबुल फजल कहा है। लेकिन इतिहासकारों का मानना है कि नैणसी ने अपने ग्रंथ का निर्माण अपने स्वामी के कहने से नहीं किया है।

प्रो. कालिकारंजन कानूनगो ने ठीक ही कहा है कि पुस्तकालय तथा राजशाही संरक्षण अनेक अबुल फजल तैयार कर सकता है लेकिन नैणसी नहीं। प्रो. परमात्माशरण ने नैणसी की विगत को 'आइन-ए-अकबरी' से बढ़कर माना है। डा. दशरथ शर्मा ने 'दयालदास की ख्यात' की प्रस्तावना में लिखा है कि वे विद्वान तथा कुशल लेखक थे लेकिन नैणसी की तुलना में थोड़े निम्न थे। नैणसी ने न केवल इतिहास लेखन में निपुणता प्राप्त की बल्कि उन्होंने इतिहास निर्माण में दक्षता प्राप्त की।

जी.आर. एल्टन ने लिखा है कि 'अच्छे इतिहासकार जन्म सकते हैं सच्चे इतिहासकार बनाये जाते हैं।' पं. रेड जन्मजात अच्छे इतिहासकार नहीं थे वे बनाये गये सच्चे इतिहासकार थे। वे ऐतिहासिक अध्ययन की उस कला के प्रेरक थे जो उस समय प्रचलन में थी। रेड के मारवाड़ के इतिहास में वे सभी कमियां विद्यमान थी जो क्षेत्रीय इतिहास में निहित होती हैं। रेड एक संघटित क्षेत्रीय इतिहासकार हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में सभी संकीर्णताओं को जकड़ने नहीं दिया। उनके अध्ययन का लक्ष्य मारवाड़ के इतिहास का संगठित दृश्य प्रस्तुत करना था। उनका विश्वास था कि स्वयं के क्षेत्र के इतिहास का अध्ययन अन्य क्षेत्रों के इतिहास का प्रथम चरण है। वे स्थानीय इतिहास को क्षेत्रीय और राष्ट्रीय इतिहास को जोड़ने वाली कड़ी मानते थे।

1922 में सर प्रताप ने रेड को मारवाड़ का इतिहास लिखने को कहा। वे मारवाड़ के ऐतिहासिक व पुरातात्विक अवशेषों के राजकीय संग्रहालय के अध्यक्ष थे। वे इतिहास के निष्ठावान विद्यार्थी थे। उन्होंने मारवाड़ राज्य के इतिहास विभाग के तीन पूर्ववर्ती अधिकारियों द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को अपनी योग्यता के आधार पर पूरा किया। रेड का 'मारवाड़ का इतिहास' 800 वर्षों की घटनाओं का दस्तावेज है। उनका कार्य एक पूर्ण इतिहासकार की कृति है। रेड के सम्मुख जो भी आया उन्होंने उसे देखा समझा और विकसित किया। रेड के अपने ग्रंथ में मारवाड़ के शासकों का इतिवृत्त, मारवाड़ की भौगोलिक क्षेत्रीय स्थिति का वर्णन किया। ग्रंथ में रेड ने मारवाड़ की नदियों, भूमि,

जलवायु, स्थानीय जीव जन्तु, पेड-पौधों, स्थानीय भाषा की बोलियों का वर्णन किया है। रेड ने इतिहास के राष्ट्रकूटों के धर्म, कला और साहित्य, प्रशासन, सिक्कों, उपाधियों तथा प्रथम विश्व युद्ध में प्राण गंवाने वाले वीरों की सूची, जमींदारों के विद्रोह, जमींदारों की भू प्रबन्ध, स्थानीय व्यापार, सामाजिक अवस्था, कला और साहित्य तथा राज्य पर अंग्रेजों के प्रभाव का वर्णन किया।

रेड के इतिहास दर्शन अनेक समकालीन इतिहासकारों से भिन्न था। डी.आर. भांडारकर ने लिखा है कि रेड ने अनेक पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जिन्हें गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा या तो गलत माना गया था या छोड़ दिया गया था। उनके अनुसार इतिहास लेखन कोई बौद्धिक व्यायाम नहीं है और न ही भूत के बारे में किसी भी बौद्धिक इच्छा को तुष्ट करने का साधन है।

रेड ने अपने ग्रंथ में मारवाड़ में हुए उत्तरदायी सरकार की स्थापना तथा नागरिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का उल्लेख नहीं किया। रेड ने ऐसे तत्वों को दूर रखा। यह स्वाभाविक भी था कि राज्य सरकार का कोई भी सरकारी इतिहासकार राज्य के विरुद्ध जन असंतोष का उल्लेख नहीं कर सकता था।

सामान्यता यह कहा जाता है कि लेखन शैली विषय वस्तु के अनुकूल होनी चाहिये। रेड की शैली विषय वस्तु के समीचीन है। उन्होंने साधारण शैली में लिखा। भाषा व मुहावरों के प्रयोग पर उनका अच्छा अधिकार था।

रेड ऐतिहासिक घटनाक्रम के चित्रांकन में सिद्धहस्त थे। मारवाड़ में अंग्रेजों के आगमन, भाग्य के उतार चढ़ाव, बदलते हुए राजनैतिक दृश्यों, संघर्ष युगीन व्यवस्थाएं और अंग्रेजों के छल कपट तथा उनके राजनैतिक प्रभाव का निर्लिप्त भाव से वर्णन किया। वे न तो राजनैतिक निर्णय देते हैं और न ही ऐतिहासिक समस्याओं का दार्शनिकरण करते हैं। वे उपलब्ध सभी साधनों का उपयोग करने में असमर्थ रहे तथा उनके कार्यों में विशदता का अभाव है। उनका ऐतिहासिक वर्णन संक्षिप्त है। उनके कार्यों में गलतियां भी हैं। वे अच्छे वर्णन कर्ता थे पर उनमें व्याख्या शक्ति का अभाव था।

अंग्रेजों के प्रति महाराजा मानसिंह के व्यवहार पर रेड ने केवल सामान्य टिप्पणी की है। रेड ने 1857 के विद्रोह का विवेचन करते हुए घटनाओं का विवरण प्रस्तुत किया। रेड सरकारी तथा गैर सरकारी मुद्रित तथा समकालिक अर्ध सरकारी पत्रों का उपयोग किया। उन्होंने बिखरी हुई सामग्री से विद्रोह का सरकारी पक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया। एकपक्षीय सामग्री की विपुल मात्रा में उपलब्धि उनकी मुख्य समस्या थी। रेड ने महाराजा के पक्ष में इस सामग्री का प्रयोग किया।

रेड ने इतिहास में राष्ट्रीय भावना के आधार पर जांच करने का प्रयास नहीं किया। उनका ग्रंथ मारवाड़ की अग्रणी राजनैतिक इतिहास है। मारवाड़ की जनता की आर्थिक

दशा का सरसरी तौर पर उल्लेख किया। सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के रूप में यह ग्रंथ पिछड़ा हुआ है। फिर भी यह ग्रंथ रेड द्वारा की गई शोध का साक्ष्य है। रेड उन कल्पित विचारों का निराकरण करने में सफल रहे हैं जो पूर्व में राठौड़ वंश से सम्बन्धित थे। उनके ग्रंथ में अनेक कमियां हैं फिर भी मारवाड़ के इतिहास का प्रमाणिक ग्रंथ है।

मेरे गुरु डा. दशरथ शर्मा प्राचीन भारत और राजस्थान इतिहास के प्रमुख इतिहासकार थे। प्रो. शर्मा ने अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों का प्रणयन किया। उन्होंने इतिहास की विभिन्न समस्याओं पर अनेक शोध पत्र लिखे। राजस्थान इतिहास कांग्रेस के उदयपुर अधिवेशन में डा. दशरथ शर्मा द्वारा दिया गया अध्यक्षीय भाषण इतिहास पर उनके अधिकार को प्रदर्शित करता है। मानव जीवन का अध्ययन प्रो. शर्मा के इतिहास दर्शन का आधार है।

राजस्थान इतिहास के लेखन में एक नया मोड़ आया। इतिहासकारों ने राजवंशों के इतिहास के स्थान पर प्रादेशिक इतिहास का लेखन प्रारम्भ किया। राजवंश के इतिहास के स्थान पर जनता का इतिहास लिखा जाने लगा। डा. शर्मा ने इस लेखन शैली को अपना कर राजस्थान इतिहास के लेखन में अपना प्रमुख स्थान बना लिया। उनका लेखन राजकीय इतिहासकारों के समान नहीं था। उन्होंने अपने लेखन में जनता के जीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों पर बल दिया। 'राजस्थान थ्रू एजेज' में उन्होंने न केवल राजनैतिक इतिहास का विवरण प्रस्तुत किया वरन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का विशद चित्रण किया। इसी प्रकार 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज' में राजनीतिक के इतिवृत्त के अतिरिक्त न केवल सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन का उल्लेख किया वरन् चौहानों के पराभव के कारणों में सामाजिक संगठन तथा 'फ्यूडल आर्मी' के उत्तरदायी होने का नवीन विचार को प्रस्तुत किया। 'परमार वंश दर्पण' तथा 'पृथ्वीराज चौहान' पर लिखित उनकी पुस्तिकाएं भी उनके इतिहास लेखन के दर्शन को इंगित करती हैं।

डा. आर.पी. व्यास आधुनिक राजस्थान के वैज्ञानिक इतिहास लेखन के इतिहासकार थे। वे कर्नल टॉड के कार्य से अधिक प्रभावित थे। उनके ऐतिहासिक जीवन का महत्वपूर्ण वर्ष वह था जब वे इस्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज से जुड़े थे। इस ऐतिहासिक संस्था के संपर्क में आने के पश्चात् डा. व्यास ने राजस्थान के धार्मिक और सामाजिक जीवन, देशी रियासतों के प्रशासनिक व राजनैतिक विकास, राजस्थान इतिहास के प्राचीन स्रोतों, राजस्थान जनता की ब्रिटिश विरोधी भावना पर अनेक शोध पत्र लिखे।

डा. व्यास ने जोधपुर विश्वविद्यालय में दो दशक तक राजस्थान के इतिहास का अध्यापन किया। विद्यार्थी उनके अध्यापन से आकर्षित होकर शोध करने के लिए उनके पास जाने लगे। राजस्थान इतिहास कांग्रेस के सचिव पद पर रहते अनेक शोधार्थियों को

परामर्श दिया। सचिव के साथ उन्होंने अनेक शोध विद्यार्थी को विभिन्न विषयों पर शोध कराया। उनका ऐतिहासिक ज्ञान गहरा व विस्तृत था। राजस्थान इतिहास पर कार्य करने वाले नवयुवक इतिहासकारों के लिए वे प्रेरणा स्रोत थे।

डा. व्यास खुले विचारों के इतिहासकार थे। वे उच्च कोटि के विद्वान थे। उनमें शालीनता व उदारता थी। उनके द्वारा लिखे गये ऐतिहासिक ग्रंथ उनकी विद्वता के प्रमाण हैं। डा. व्यास का शोध-ग्रन्थ 'रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़' अपने तरीके का प्रथम शोध-ग्रंथ था। उसमें उन्होंने लिखा कि मारवाड़ का इतिहास सामंतों का इतिहास है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक ग्रंथ को आलोचनात्मक तरीके से लिखा है। उनके इस ग्रंथ को आधार बनाकर राजस्थान के अन्य विश्वविद्यालयों के शोध विद्यार्थियों ने सामंतों पर कार्य किया।

डा. व्यास के ऐतिहासिक कार्यों पर भांडारकर स्कूल का प्रभाव पाया जाता है। डा. व्यास ने 19वीं सदी के व्यापार तथा व्यापारिक मार्गों पर अनेक शोध पत्र लिखे। डा. व्यास ने 'राजस्थान का बृहत इतिहास' नामक ग्रन्थ का दो भागों में प्रकाशित किया। इस ग्रंथ ने भील व किसान आंदोलनों का वर्णन मिलता है। इसमें विभिन्न रियासतों में प्रजामंडलों का भी गतिविधियों का वर्णन मिलता है। डा. व्यास द्वारा लिखित 'माहाराणा राजसिंह' में स्रोतों पर गहरी पकड़ तथा अध्ययन को स्पष्ट करता है।

डा. व्यास ने अपने इतिहास लेखन के किसी सिद्धान्त को आधारित नहीं किया। उन्होंने वही लिखा जो स्रोतों में लिखा था। ऐतिहासिक सत्य ही उनके कार्यों का आधार था। इस कारण उनके ऐतिहासिक कार्यों में गहराई है।

राजस्थान इतिहास कांग्रेस की स्थापना के दो दशक तक सचिव के रूप में इसका संचालन किया। इस काल में कांग्रेस के प्रति वर्ष अधिवेशन हुए। तथा उच्च स्तर के शोध पत्र प्रकाशित हुए। जब इतिहास कांग्रेस कुछ समय के लिए नहीं हुई तब प्रो. व्यास बेचेन रहते थे तथा इस बात का प्रयास करते थे कि कांग्रेस पुनः प्रारम्भ हो। कांग्रेस के संस्थापक सदस्य थे। इस कारण उसका लगाव अधिक था। राजस्थान इतिहास कांग्रेस उनके पुत्र के समान थी।

डा. व्यास लोकप्रिय प्रभावी अध्यापक, प्रभावी लेखक, विद्वान, उच्च कोटि के शोध कर्ता, तथा मौलिक चिंतक थे। राजस्थान इतिहास की सेवा करने की उनकी इच्छा से एक नया आयाम जुड़ा।

प्रोफेसर व्यास के पश्चात् मारवाड़ के राजनीतिक इतिवृत्त पर डा. मांगीलाल 'मयंक', डा. हंसराज, डा. शिवदत्त दान बारहट, साधना रस्तोगी सर्वोत्तम माथुर आदि ने शोध कार्य किया। मारवाड़ मराठा सम्बन्धों पर डा. घासीराम ने तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ मारवाड़ के सम्बन्धों पर डा. जबरसिंह ने कार्य किया। ब्रिटिश प्रभाव से मारवाड़

में होने वाले सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों पर प्रोफेसर पारस राज शाह ने शोध प्रबन्ध लिखा। अंग्रेजों के विरुद्ध उत्तरदायी शासन तथा नागरिक, स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष पर मैंने स्वयं कार्य किया। डा. विनिता परिहार ने इसी विषय पर राजस्थान के प्रमुख राज्यों में उत्तरदायी शासन के लिए होने वाले संघर्ष पर शोध पूर्ण कार्य किया। ब्रिटिश काल में मारवाड़ की सैन्य व्यवस्था पर डा. मोहनराम चौधरी कार्य किया तो मारवाड़ में प्रतिनिधि संस्थाओं के इतिहास पर डा. पुखराज आर्य ने कार्य किया। अभी हाल ही में शंकर गोयल की ख्यात साहित्य पर एक महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई है। वह मैं उम्मीद करता हूँ कि वे इस गति को आगे बढ़ायेंगे। विद्वानों की यह सूची काफी लम्बी है और सीमित समय में सभी का नामोल्लेख सम्भव नहीं है। इन सबने राजस्थान के इतिहास के विविध पक्षों पर कार्य किया है। विगत कुछ वर्षों में इतिहास के कुछ के नये क्षेत्रों के अध्ययन का आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। मारवाड़ के जल स्रोतों का अध्ययन तथा जोधपुर के टूरिस्ट स्थल के रूप में बढ़ते हुए महत्व को देखते हुए इन क्षेत्रों में शोध की महत्ती आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। मैं आशा करता हूँ कि इतिहासकारों की नयी पीढ़ी इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न करेगी।

मेरे विचार सुनने के लिए मैं आपका आभार प्रकट करता हूँ। राजस्थान इतिहास कांग्रेस के सभी सदस्यों को जिन्होंने यह सम्मान दिया उन्हें मैं धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि तीन दिन के खुले सत्रों में नवयुवक इतिहासकार विभिन्न क्षेत्र में अच्छे शोध पत्र का वाचन करेंगे।

धन्यवाद।

प्रोफेसर जी.एन. शर्मा स्मृति व्याख्यान

18 वीं एवम् 19 वीं शताब्दी में विवाह एवं पुनर्विवाह में आये सामाजिक परिवर्तनों की एक समीक्षा-नाता प्रथा

प्रो. शशि अरोड़ा देवड़ा
(एमेरिटिस फ़ैलो)

माननीय अध्यक्ष महोदय, कुलपति महोदय, राजस्थान इतिहास कांग्रेस के 31वें अधिवेशन के अध्यक्ष, सचिव, कार्यकारिणी सदस्यगण, सरदार पटेल विश्वविद्यालय पुलिस, सुरक्षा एवं दाण्डिक न्याय, स्थानीय सचिव एवं उनके सहयोगी दल, सोशियल साइन्स व ह्यूमनिटिज संकाय, सम्मानित अतिथिगण, विद्वतजन एवम् इतिहास कांग्रेस के सभी प्रतिभागी !

सुप्रतिष्ठित इतिहासज्ञ प्रोफेसर गोपीनाथ शर्मा राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में आचार्य व एमिरेट्स प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे। आपने विशेषकर राजस्थान इतिहास लेखन को पुरातत्व, पुरालेख, ऐतिहासिक साहित्य, स्थापत्य, चित्रकला, तक्षणकला के साथ-साथ ऐतिहासिक प्रकाशित ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से एक नयी दृष्टि व नयी सोच के साथ, नवीन अनुसंधानों के माध्यम से बहुआयामी क्षितिज तक पहुंचाया। एक ओर कर्नल टॉड, कवि राज श्यामलदास, डॉ. ओझा, पण्डित रेऊ आदि गणमान्य लेखकों के ऐतिहासिक घटनाओं के विवेचनात्मक वर्णन से आगे बढ़ कर नयी खोज के अन्तर्गत राजनीतिक तथ्यों व तत्कालीन उथल-पुथल को एक नवीन दिशा प्रदान की। इससे भी अधिक, दूसरी ओर एक साहसिक कदम उठाते हुए उन्होंने जैवबपंस सपमि पद त्रैजिदकनामक पुस्तक का लेखन किया। यह वह दौर था जब सारे इतिहास जगत में राज्य, प्रशासन, प्रशासनिक-व्यवस्था, राजस्व व भू-राजस्व पर आधारित आर्थिक इतिहास लिखने पर बल दिया जा रहा था, परन्तु आपने विपरीत इसके सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अभिलेखागारीय व साहित्यिक सामग्री को भी सम्मिलित करते हुए जैवबपंस सपमिक का चित्रण किया।¹ समाज, परिवार, पारिवारिक व्यवहार एवं त्योहार, सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, संस्थाओं, दैनिक जीवन, खान-पान, वेशभूषा, मनोरंजन, उत्सव, पर्व, शिक्षा जैसे विषयों को रोचक

ढंग से प्रस्तुत कर समाज वैज्ञानिकों के समक्ष एक नया आयाम प्रस्तुत कर भावी अनुसंधानों के लिए द्वार खोल दिये। यह उनकी महत्ती देन है।

1970 ई. में एम.ए. इतिहास की विद्यार्थी बनकर मेरा उनसे एक शिक्षक से अधिक एक पितृवत् व्यक्तित्व से साक्षात्कार हुआ। आगे चलकर जिनकी प्रेरणा व निर्देशन में मुझे सामाजिक इतिहास में अनुसंधान करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। संभवतः उन्होंने भी सामाजिक इतिहास को आगे बढ़ाने के मेरे दृढ़ निश्चय को पहचान लिया था। 'राजस्थान में नारी-स्थिति' की विवेचना के माध्यम से बहुत सी क्रांतिकारी टिप्पणियों से रूबरू होते हुए आज इस मुकाम पर पहुंच कर हर्षित एवम् गौरवान्वित महसूस कर रही हूँ कि प्रो. एस.पी. व्यास, सचिव राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस एवम् उनकी पूरी टीम ने मुझे उनके प्रति अपने उद्गार व श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु चुना। एक विद्यार्थी को गुरु ऋण चुकाने का अवसर कब प्राप्त होता है! सौभाग्य से यह रोमांचित क्षण मुझे प्राप्त हुआ है, इसके लिए ईश्वर के साथ-साथ मैं आप सबकी आभारी हूँ।

राजस्थान के समाज में स्त्रियों की दशा व अधिकारों पर जो भी अध्ययन इन कुछ वर्षों में किए गये हैं वे साधारणतया मुगल काल या औपनिवेशिक काल में सामाजिक व आर्थिक सम्बन्धों के विकास के संदर्भ में ही हुए हैं। मुगलकालीन अध्ययनों ने नारी की दशा का मूल्यांकन विभिन्न सामाजिक सोपानों के स्तर पर जमींदारों व भू-मालिकों की बढ़ती शक्ति के संदर्भ में ही किए हैं जिन्होंने (विद्वानों की दृष्टि में) समाज में नारी की स्वतंत्रता व अधिकारों को प्रतिकूलता से प्रभावित किया। दूसरी तरफ औपनिवेशिक कालीन अध्ययन (वृहत स्वरूपों में) संवैधानिक एक्ट्स या सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में हुए, जिन्होंने सामाजिक असमानता व नारी के प्रति अमानवीय व्यवहार की निन्दा की। ये दोनों ही अध्ययन 18वीं व 19वीं शती की मुख्य समस्याओं की विवेचना नहीं करते हैं तथा इस काल में नारी की दशा Static या स्थिर ही बनी रही इसी की पैरवी करते हैं।

हमें यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि 18वीं व 19वीं शती के राजस्थान का ग्रामीण समाज अपनी संस्कृति, अपनी परम्पराओं एवम् अपने मूल्यों में विलक्षण है तथा जिसका आंकलन स्थानीय आवश्यकताओं व प्रवृत्तियों, सम्पूर्ण प्रशासकीय अपेक्षाओं तथा पर्यावरणीय परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में होना अनिवार्य है, तभी उनके साथ न्याय किया जा सकता है। सौभाग्यवश, हमारे पास ऐसे ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं जिनका प्रामाणिक लेखन इस युग की नारी की स्वतन्त्रता, अधिकारों व सांस्कृतिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की नयी दृष्टि व नयी दिशा प्रदान करता है। राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में सुरक्षित व संग्रहित बहियाँ, विशेषतः बीकानेर रिकार्डस् की कागदों की बही, हासल बही, सावा बहियाँ, बही पेशकसी रे लेखे री; सनद परवाना बही,

जोधपुर; कोटा एवं बूंदी के बस्ता रिकार्डस्; दस्तूर कौमवार, तोजी, चिट्ठियात व अड़सट्टा रिकार्ड, जयपुर; रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़ का गहन अध्ययन इस युग की नारी की गतिविधियों विशेषतः उसका श्रम, उसकी उपयोगिता व उसके योगदान को दर्शाने में सहायक है। साथ ही अभावों से ग्रस्त ग्रामीण समाज को गतिशीलता व निरन्तरता प्रदान करने में किस प्रकार इस युग की नारी सक्रिय भूमिका निभाने में सक्षम है, प्रत्यक्ष चित्रण इनके विवरणों के आधार पर किया जा सकता है। इससे सम्पूर्ण समाज के गठन की प्रक्रिया को आंका जा सकता है।

समाज में विवाह एक महत्वपूर्ण धार्मिक, सामाजिक संस्कार माना गया है। मंत्रोच्चारण एवम् शपथों के साथ सम्पादित होने वाला विवाह संस्कार जीवन की एक स्थायी प्रक्रिया के रूप में मान्य थे। स्वैच्छिक एवम् स्वतन्त्र जीवन चर्या समाज में अमान्य थी इसीलिए विधिवत, मर्यादित एवम् प्रतिष्ठा के लिए सम्पादित होने वाली वैवाहिक प्रक्रिया मनुष्य के जीवन को नियन्त्रित करने हेतु प्रस्तावित थी। वैदिक काल से आधुनिक काल तक आते-आते विवाह के प्रकारों व स्वरूप में कई परिवर्तन आते रहे हैं। ये परिवर्तन साम्राज्य के निर्माण, केन्द्रीकृत शासन प्रणाली, सामन्ती व्यवस्था, कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति एवम् जन साधारण वर्ग की सशक्त उपस्थिति, इन सब से प्रभावित होते रहे हैं। विशेषतः मध्यकालीन शासन व्यवस्था ने जहां एक ओर एक व्यवस्थित शासन तंत्र को जन्म दिया तो दूसरी ओर शासक व शासित के बीच की खाई को जन्म देते हुए एक शोषित वर्ग के रूप में जनसाधारण की स्थिति, अधिकारों व उत्कंठाओं को भी प्रभावित किया है। अतः समाज के गठन, सामन्ती व्यवस्था की विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न जातियों के प्रस्फुटन एवम् परिपक्वता के अध्ययन के लिए समाज वैज्ञानिकों के समक्ष विवाह एवम् उसके विभिन्न प्रकार का अध्ययन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में माना जा सकता है।

समाज की सर्वोच्च शक्ति होने के नाते शासक इस युग तक साधन सम्पन्न एवम् वैभवपूर्ण सुविधाओं के भोगी बन गये थे। राजनीति व कूटनीति ने उन्हें अवसर उपलब्ध करवाये कि वे अपनी सक्षमता व शक्ति का प्रदर्शन कर सकें और उसका एक साधन मिला 'बहुविवाह' जिसे उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा का द्योतक बना लिया, बल्कि विवाह के प्रकारों में नयी भूमिका का सम्पादन करते हुए 'डोला-विवाह', 'खाण्डा-विवाह' जैसी पद्धतियों को सामाजिक मान्यता प्रदान करवायी। यह कह भर देना कि राजस्थान में युद्ध कालीन परिस्थितियों ने यहां के शासक व सम्पन्न वर्ग को वैभव व आनन्द का भोगी बना दिया, उचित नहीं होगा।² इतिहास गवाह है कि मुग़ल सम्राट अकबर के सहिष्णुता भरे व्यवहार ने युद्धों को पृष्ठभूमि में डालने का प्रयास किया व 'सुलहकुल' की नीति ने शांति व समृद्धि की नयी इबारत लिखना प्रारम्भ कर दिया था। तब भी

‘बहुविवाह प्रथा’ बढ़ती ही रही क्योंकि अब तक यह शासकीय प्रतिष्ठा का एक अभिन्न अंग बन चुकी थी। ठाकुरों, जागीरदारों व जर्मीदारों ने सामन्तीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत शासक का अनुकरण प्रतिष्ठाजनक मानते हुए ‘बहुविवाह’ को अपना लिया। वेतन भोगी नौकरशाही वर्ग भी अपनी प्रतिष्ठा व अधिकारों के उपभोग के प्रश्न पर किसी भी रूप में उच्च वर्ग से भिन्न पहचान नहीं बनाना चाहता था बल्कि दरबार के रीति-रिवाजों एवम् सम्पन्न परम्पराओं को अपना कर अपना अस्तित्व खोजना चाहता था। राजकीय अभिलेखागार एवम् व्यक्तिगत संग्रहित स्रोतों विशेषकर ‘भैय्या संग्रह’ से प्राप्त प्रामाणिक सामग्री इसी का अनुमोदन करती है। सम्पन्न व्यापारिक वर्ग जिनके बहुत से सम्बन्धी राजस्व, विधि, गृहमंत्रालय आदि राजकीय विभागों से सम्बद्ध थे, के प्रभावों के अन्तर्गत किसी भी भाँति अलग अस्तित्व के पक्षधर नहीं थे,³ उन्हीं के अनुकरण को शालीन मानते थे। यही वर्ग राजस्थानी समाज का मध्यम वर्ग कहा जाता है। यह बहस का विषय इतिहासकारों में अब नहीं रहा है क्योंकि भारतीय पृष्ठभूमि में मध्यम वर्ग की उपस्थिति का संज्ञान इख्तरदार आलम ने किया है⁴ व राजस्थान की पृष्ठभूमि में यह संज्ञान प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा ने किया है,⁵ जो पूर्णतः प्रामाणिक है।

इस पूरे विवरण में विशेष आकर्षक बिन्दु, जिस पर आगे के पृष्ठों का प्रामाणिक विवरण आधारित है-वह है भूमि, भूमि अधिकार, भूमि से उत्पादित वस्तुओं का संग्रहण (राजस्व वसूली के संदर्भ में), वितरण एवम् इनसे उत्पन्न असमानताएं जिन्होंने समाज के बहुसंख्यक जनसाधारण वर्ग को भिन्न खड़ा कर दिया है। इस वर्ग में ‘बहुविवाह’ के हतोत्साहन के कारणों की विवेचना हमारे समक्ष इन्हीं सब प्रश्नों के उत्तर ढूँढने में सहायक है। शासकीय आदेशों की त्वरित अनुपालना की अपेक्षा, राजस्व संग्रहण की सबसे बड़ी इकाई के रूप में यह जनसाधारण वर्ग सभी परिस्थितिजनक व्यवधानों के विपरीत भी अपनी सांस्कृतिक व सामाजिक पहचान को अपनी ही परम्पराओं, रीति-रिवाजों व गठन में खोजती एक वृहद आकार में राजस्थानी समाज के तृतीय वर्ग के रूप में सुदृढ़ एवम् बिल्कुल भिन्न परिलक्षित होती है। वैभवपूर्ण एवम् सम्पन्न जीवन शैली वाले उच्च वर्गों से भिन्न अपने ही आचार व्यवहार में जीवित रहती है। ‘एक पत्नित्व’ सिद्धान्त को अपनाते हुए ‘बहुपत्नित्व’ को हर संभव प्रयत्न से नकारना न केवल सामाजिक तौर पर बल्कि अधिकारों व कर्तव्यों की कसौटी पर भी 21वीं सदी की ‘नारी’ की अपेक्षाओं को सार्थक दृष्टि प्रदान करती है।

राजस्थान का ग्रामीण समाज इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि कन्या शिशु के जन्म से लेकर, सगाई, विवाह, भरण-पोषण, परित्यक्ता अधिकारों, दत्तक अधिकारों, विधवा अधिकारों, पारिवारिक उत्तरदायित्वों, बेचे जाने वाली परिस्थितियों के विरुद्ध मांगों जैसी सभी अवस्थाओं में ‘नारी की स्थिति’ इस समाज में अपने-अपने जातिगत

नियमों व परम्पराओं में अधिकार के नाम से 'संरक्षित' करने के प्रयासों के अधिक समीप दिखलाई पड़ती है।⁶ ऐसे में आज की परिचर्चा के लिए 'नाता प्रथा'- विवाह का एक प्रचलित प्रकार विषय का चयन, अध्ययन व विश्लेषण सार्थक एवम् समसामयिक है। सामाजिक विज्ञान एवम् जातिगत व्यवस्थाओं, परम्पराओं का रूचिकर तथ्य यह है कि उच्चवर्गों में 'बहुविवाह' मान्य थे परन्तु नाता-विवाह अमान्य थे, जबकि ग्रामीण समाज या जन साधारण वर्ग में 'बहुविवाह' मान्य नहीं थे परन्तु 'नारीश्रम' की पहचान के रूप में 'नाता-विवाह' मान्य थे। इनमें नाता-विवाह, विधवा-पुर्नविवाह का एक आदर सूचक माध्यम था। 'बहुविवाह' ने जहां शासक व उसके परिवार को बहुत सी स्त्रियां पत्नियों के रूप में दीं वहीं 'जनानी ड्यौढ़ी' की भव्यता में उप-पत्नियों को भी सम्मिलित कर दिया था। परन्तु यह सर्वविदित है कि बहुसंख्यक ये स्त्रियां तत्कालीन शासक की जीवित अवस्था तक तो सभी सुविधाओं व सम्पन्नता का उपभोग करती थीं, परन्तु शासक की मृत्यु उपरान्त, दूसरे शासक की अनुकम्पा के साथ-साथ वैधव्य जीवन की कटुता व कठोरता को भी झेलती थीं। इसका निदान उनके समक्ष एक ही था, वह था-सती हो जाना। शासकों की मृत्यु उपरान्त सती होने वाली स्त्रियों की लम्बी सूची इस बात का प्रमाण है। परन्तु राजस्थान का यह ग्रामीण समाज 'सतीप्रथा' से विलग 'विधवा-पुर्नविवाह' में विश्वास करता था साथ ही संबंधित विधवा की इच्छा व स्वीकृति को भी महत्व देता था। क्या यह केवल सुधारवादी दृष्टिकोण था? या इस समाज की महती आवश्यकता! जिसमें 'नारीश्रम' का मूल्यांकन व उसकी परिवार में भागीदारी महत्वपूर्ण थी, और जिसे आज की 21वीं सदी भी सही रूप से परिभाषित नहीं कर पायी है, केवल प्रश्नों के माध्यम से नारी का योगदान परिवार व राष्ट्र के लिए पूछती रहती है। विधवा पुर्नविवाह ग्रामीण समाज में सम्मानजनक माना जाता था इसलिए नाता-विवाह के माध्यम से इसे विधिवत मान्यता भी प्रदान करता था। राजस्थान राज्य अभिलेखागार में संग्रहित बहियों, बस्तों व अड़सट्टों में इस विवाह से सम्बन्धित विवादों व समस्याओं के माध्यम से जो निवारण संबंधित पंचायतों व तत्पश्चात् ब्वनतज या दरबार के न्यायालय से निर्णित होते थे, का अध्ययन एक रोचक व सारगर्भित वर्णन प्रस्तुत करता है।

राजस्थान के ग्रामीण समाज का गठन कृषक, शिल्पकार व दस्तकार वर्ग, श्रमिकों एवम् कबीलावादी जातियों से मिलकर हुआ था। खेती व व्यवसाय से जुड़ी जातियों या श्रम पर आधारित जातियों की अपनी-अपनी अलग पंचायतें होती थीं जिनके संरक्षण व न्याय के द्वारा ही ये जातियाँ अपनी आपासी समस्याओं व झगड़ों से छुटकारा पाती थीं।⁷ वैसे सामान्यतया अपनी परम्पराओं, नियमों व मूल्यों का निर्वहन ये जातियाँ निरन्तर करती रहती थीं, परन्तु इनमें किसी भी प्रकार का व्यवधान इन्हें पंचों की शरण में पहुंचा देता था। यदि पंचों के निर्णयों से वे संतुष्ट नहीं होती थीं तो सर्वोच्च न्यायालय के

रूप में राजकीय न्यायालय या दरबार में न्याय प्राप्त करने हेतु पहुंचती थीं।⁸ दरबार भी जाति पंचायतों के निर्णयों को मजबूती प्रदान करते हुए उनकी अनुपालना करवाने पर ही बल देता था। उसकी दृष्टि में 'वरा परमेसरी' की स्थिति वाले पंच अपनी जातिगत परम्पराओं व रीति-रिवाजों को भली भांति पहचानते थे व जाति की पवित्रता बनाये रखने के प्रयासों में संलग्न रहते थे। अतः अन्ततः उन्हीं के निर्णयों की अनुपालना के आदेश प्रेषित करती थी।⁹ यदि ऐसा स्थानीय जाति से संबंधित व्यक्ति द्वारा माना नहीं जाता था तो 'गुनेहगारी कर' लगा कर या इस शब्द का प्रयोग कर उस कृत्य को 'अपराध' की श्रेणी में रख देती थी। 'गुनेहगारी' की वसूली नकद पैसों या रुपयों में होती थी जो 21 रु. से लेकर 301 रु. या फिर इससे भी अधिक हो सकती थी। यदि अपराध की गंभीरता पूरी जातिगत व्यवस्था को चुनौती देने वाली होती थी तो नकद वसूली के साथ-साथ न्यात भोज का दण्ड भी लगा देती थी। ये न्यात भोज न केवल एक गांव बल्कि आस-पास के गांवों की जाति का सम्मिश्रण था। उस पर भी यह कह दिया जाता था कि जब तक इन वसूलियों की भरपाई नहीं हो जाती तब तक संबंधित व्यक्ति जाति में सम्मिलित नहीं माना जायेगा। उसका 'हुक्का-पानी' बन्द कर दिया जाता था। तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों में ये दण्ड अत्यधिक कठोर थे व आगे अपराधों की संख्या कम हो सके, जातिगत नियम परम्पराएं बनी रह सके इसके लिए एक ऊनपकमसपदमकया दिशा-निर्देश' का कार्य करते थे।¹⁰

'नाता-विवाह' या 'विधवा-पुर्नविवाह' का सबसे अधिक सम्बन्ध ग्रामीण समाज में कृषक जाति से रहा है। इस जाति में 'नाता' एक सामान्य प्रक्रिया के रूप में सम्मिलित था। यही कारण है कि नाता-विवाह के विवरण बहुलता से राजकीय स्रोतों से प्राप्त होते हैं। बीकानेर राज्य व जोधपुर राज्य की बहियों में ये विवरण 'रीढ़ रा कागद' के अन्तर्गत लिखे गये हैं तथा कोटा-बूंदी राज्य व जयपुर राज्य में इन्हें 'छयाली-कागद' के अन्तर्गत लिखा गया है।¹¹ इन दो राज्यों के स्रोतों में नाता-विवाह को 'धरेजना' भी कहा गया है। एक और विशेष बात जो कोटा बूंदी राज्य के सम्बन्ध में यह है, कि 'छयाली' (नाता करने हेतु लिये जाने वाला पैसा) पर एक निश्चित रकम जो चौथानी (द्धभाग) कहलाती थी, राजकीय कर के रूप में राज्य वसूल करता था।¹² ये उदाहरण नाता विवाह की व्यापकता को प्रदर्शित करते हैं। करों के अतिरिक्त भी नाता से जुड़े विभिन्न पक्षों की महत्वपूर्ण जानकारी भी इनसे प्राप्त होती है।

सामान्यतया, राजस्थान की भौगोलिक पृष्ठभूमि में यहां का कृषक अनावृष्टि व अकाल की समस्या से सदैव ग्रसित रहा है। उस पर एक ओर कृषि उत्पादनों की न्यूनता व दूसरी ओर करों का बोझ, इन दोनों परिस्थितियों ने स्थिति को और भी विकट बना दिया था। उसके सम्मुख अपना स्थान छोड़ कर कहीं और चले जाने के विकल्प के

अतिरिक्त कई बार कुछ भी शेष नहीं बचता था। ऐसे में राजस्थान के आस-पास के राज्यों में जाकर जीविकोपार्जन करना ही उसे उचित लगता था। मालवा, ऐसा स्थान था जहां ये जाकर पैतृक राज्य में परिस्थितियों की अनुकूलता की प्रतीक्षा करते थे।¹³ किन्तु कई बार उनकी वहीं मृत्यु हो जाती थी। कई बार एक लम्बा समय व्यतीत होने पर उन्हें मरा हुआ समझ लिया जाता था। ऐसे में उनकी ब्याहता पत्नी का एक विधवा-स्त्री के रूप में परिवार के साथ रहना इस समाज में तभी संभव था जब वह पुनः उस परिवार का एक हिस्सा बने अन्यथा वह अपने पीहर मां-बाप के पास वापिस जाने को स्वतंत्र थी फिर चाहे पीहर वाले उसे किसी अन्य परिवार के साथ नाता करके भेज दें। इन दोनों परिस्थितियों में सम्बन्धित ससुराल पक्ष का उस स्त्री की सक्रिय भागीदारी 'नारी श्रम' के रूप में पाने का यही उपाय था कि वे अपने ही परिवार में 'नाता' कर दें। सामान्यतया ऐसे विवाहों में कोई भी समस्या नहीं आती थी जैसा कि बीकानेर के गांव सरूपदेसर के चौधरी केसे की बेटी का विवाह गांव नोरंगदेसर के चौधरी कमोणी से हुआ था परन्तु चेतन की मृत्यु हो गयी तो उसकी पत्नी का पुनर्विवाह कर दिया गया।¹⁴ इसी भांति बीकानेर के गांव नापासर के चौधरी जोगी की बेटी का विवाह गांव डेलाणे के चौधरी दीपे के साथ हुआ था। दीपे की मृत्यु हो गयी तो उसकी पत्नी का नाता कर दिया गया।¹⁵ अतः नाता विवाह की पहली आवश्यकता यह थी ससुराल पक्ष में ही नाता हो। यह अधिकार देवर यानि मृत पति के छोटे भाई का था कि वह विधवा-भावज के साथ नाता कर यथा स्थिति को कायम रखे। परन्तु कई बार ऐसा संभव नहीं होता था, तब समस्या उत्पन्न हो जाती थी। बीकानेर के गांव कीलोणसर के गोदारा रामचन्द्र की पत्नि के सम्बन्ध में समस्या उत्पन्न हो गयी। गोदारा रामचन्द्र की संवत् 1840 में मालवा में मृत्यु हो गयी। उसकी पत्नी ने अपनी मर्जी से घर छोड़ दिया व सोमीयों (साधु मण्डली) के साथ रहने लगी जहां उसके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु उसके देवर के द्वारा बार-बार उसे घर लाकर नाता करने के अधिकार ने पंचों को व तत्पश्चात् राजकीय न्यायालय को विवश कर दिया कि सोमी तुलछदास आचारज गाजमल से 'कागद' करवाये व विधवा भावज को देवर को सौंप दे।¹⁶ दूसरी समस्या और भी रोचक है जोधपुर राज्य के मेड़ता के गांव पूंदलोत का जाट तेजा जो बचपन में ही अपनी पुत्री का विवाह करवा कर, उसे साथ लेकर मालवा चला गया। पांच वर्ष बाद वापिस आने पर उसे पता चला कि उसके जमाता, जो जाट देदा ढाका का बेटा था, की मृत्यु हो गयी है। देदा ढाका इस बात से सहमत नहीं था कि उसकी पुत्रवधु कहीं और नाते में जाये इसलिए उसने इस बात पर बल दिया कि उसका छोटा बेटा अभी कुंवारा है, वह अपनी विधवा-भावज से नाता कर लेगा परन्तु विधवा के पिता को इस बात की चिन्ता हुई कि चूंकि जाटों में कुंवारे के साथ नाता करने का रिवाज नहीं है, अतः यह कैसे संभव होगा। उसने पहले यह प्रयत्न किया कि उसकी पुत्री का 'कागद' मृत जामाता के पिता कर दें, परन्तु देदा ढाका ने ऐसा नहीं

किया। तब इस समस्या के निवारण हेतु उसे पंचों की शरण लेनी पड़ी। तत्पश्चात् श्री हजूर द्वारा यह निर्णय दिया गया कि गांव फुराड़ा व गांव जावला के पंच भी सम्मिलित किये जायें व अपनी जातिगत व्यवस्था के अनुरूप ही निर्णय लें।¹⁷ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देवर का पहला अधिकार नाता करने का तो था परन्तु कुंवारा देवर इसके लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं हो सकता।

परिस्थितिवश विवाहोपरान्त पत्नी को छोड़ कर मालवा चले जाना चूंकि सामान्य बात थी अतः नाते के सम्बन्ध में कई बार कुछ और समस्याएं सामने आ जाती थीं। तीन या पांच साल व्यतीत हो जाने के बाद भी जब पति मालवा से नहीं लौट पाता था तो उसकी पत्नी का नाता ससुराल पक्ष के किसी सदस्य के द्वारा करने का प्रयास किया जाता था। इस विशेष विवरण में चाचा ससुर द्वारा यह कार्य किया गया व इसमें बेटे की मां यानि सास को भी सम्मिलित किया गया। नाते के 41/- रुपये लिये गये, 21/- रुपये चाचा ने लिये व 20/- रुपये सास को दिये गये।¹⁸ इस हेतु एक विशेष 'कागद' जिसे 'वेर रा कागद' भी कहा जाता था, किया जाता था जो एक विधि सम्मत पत्र होता था, जिसका आशय था कि ससुराल पक्ष ने कागद करके विधिवत अपने अधिकार विधवा स्त्री के सम्बन्ध में समाप्त कर दिये हैं।¹⁹ अब वह स्त्री दूसरे परिवार की धरोहर है तथा नये परिवार वालों से नाता करने की एक 'रकम' ले ली जाती थी। यह 'रकम', 'कागद' करने वाले लोगों में बंट जाती थी। समस्या तब उत्पन्न होती थी जब यह संदेह हो जाये कि 'कागद' करने वाला व्यक्ति या व्यक्तियों का संबंध ससुराल पक्ष से ही है या नहीं; दूसरे, जो 'रकम' नाता के बदले में ली गयी है उसका बंटवारा संतुष्टि के साथ हो पाया है या नहीं; तीसरे, कई बार रकम का हिस्सा विधवा के पीहर पक्ष को भी देना पड़ता था; चौथे, कहीं यह नाता पति की जीवित अवस्था के बावजूद भी कर दिया गया है या नहीं। इस विशेष संदर्भ में जीवित पति के लौट आने पर 'नाता' गयी अपनी ब्याहता पत्नी को वापिस पाने का उसे पूरा अधिकार होता था एवम् पंचों व दरबार के द्वारा इस बात के पूरे प्रयास किये जाते थे। ऐसी परिस्थिति जोधपुर राज्य के गांव जनाणा के दो भाईयों के समक्ष उपस्थित हो गयी थी। मालवा जाने के बाद पीछे से दोनों भाईयों की पत्नियों के 'कागद' कर दिये गये। पंचों के तथा दरबार के समक्ष आह्वान करने पर गांव बीहाला, भाखरोद व कुचोरा तीन गांवों के पंचों को एकत्रित होकर इनकी पत्नियों को पुनः उनके पतियों को लौटाने के आदेक की अनुपालना के निर्देश दिये गये।²⁰ कई बार पैतृक स्थान पर भी जीवित पति के होते हुए भी पति का पुनर्विवाह ससुराल पक्ष के द्वारा करवा दिया जाता था।²¹ ऐसी अवस्था में यथास्थिति बनाये रखने के प्रयास पंचों द्वारा किये जाते थे तथा दरबार द्वारा इसे गुनहगारी की संज्ञा देकर अपराध की श्रेणी में रख कर 'गुनेहगारी कर' वसूल किया जाता था।²² साथ ही जातिगत परम्परा व रीति को बनाये रखने के निर्देश भी दिये जाते थे। विपरीत इसके हमें ऐसे उदाहरण भी कोटा राज्य की गुर्जर जाति

के मिलते हैं जिसमें एक सुधारवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। दो परिवारों के बीच के लेन-देन को नकारते हुए नाता-विवाह किया गया जिसे 'धरम-विवाह' कहा गया।²³ इससे भी अधिक आदर्शवादी व सुधारवादी दृष्टिकोण हमें पंचों व दरबार का प्राप्त होता है जो 'नारी की इच्छा' का सम्मान रखते हुए उसे एकाकी जीने की आज्ञा प्रदान करता है। जोधपुर राज्य के गांव डोहली की जाटणी पेमा ने दरबार में आकर अपना पक्ष रखते हुए कहा कि उसके पति को मरे हुए पांच वर्ष हो गये हैं। वह मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पाल रही है, परन्तु उसके भाई उसे नाता करने के लिए मजबूर कर रहे हैं। उसकी स्वयं की इच्छा कहीं भी नाता करने की नहीं है। इस बात को सुनकर श्री हजूर के यहां से यह आदेश पारित हुआ कि यह जाटणी जैसा चाहती है वैसा ही करे। यदि यह 'बेरीत' नहीं चलती है तो इसके घरवाले, सगे-सम्बन्धी यहां तक कि गांव वाले इस पर कोई दबाव नहीं डालेंगे। यह बेरोक-टोक रह सकती है।²⁴ इसमें यह प्रावधान भी महत्वपूर्ण था कि यदि कोई विधवा स्त्री बिना 'वेर रा कागद' के विधवा ही बैठी रहती है तथा उसकी नाता करने की इच्छा है व ससुराल में कोई कागद करने वाला नहीं है तो पंचों द्वारा कागद करके उसे नाता-विवाह के लिए अनुमति प्रदान की जा सकती थी जैसा कि जोधपुर के गांव बेदूंदे के पंचों ने किया।²⁵

इन विवरणों से एक बात स्पष्ट उभर कर सामने आती है कि पति की अनुपस्थिति, स्त्री के नाता-विवाह को उकसाती थी जिसमें परिवार के लोगों की अहम् भूमिका रहती थी। पुरुष का निष्क्रमण करके मालवा चले जाना एक प्रकार से उन्हें अवसर प्रदान करता रहता था। परन्तु पुरुष के पैतृक देश में लौट आने व स्त्री को पुनः प्राप्त करने के प्रयास यह व्यक्त करते हैं कि वह स्थिर जीवन जीने के लिए उत्सुक रहते थे। पंचों व दरबार की सहायता उन्हें संबल प्रदान करने को काफी थी। निश्चित तौर ऐसे में पुरुषों की बाहर चले जाने की प्रवृत्ति हतोत्साहित होती होगी क्योंकि सारे प्रयास एक स्थिर जीवन जीने की ओर इंगित करते हैं।

इन नाता विवाहों में एक प्रकृति उभरता रहता था, वह था द्विविवाह (ठपवहंडल)की। यह वह प्रकृति थी जिसके कारण यह वर्ग समाज के उच्च वर्गों से बिल्कुल भिन्न दिखलाई पड़ता है। हम जानते हैं कि राजस्थान का बहुसंख्यक ग्रामीण समाज द्विविवाह को हतोत्साहित करता था व ऐसी परिस्थितियों में पंचों व दरबार का सहारा लेकर अपनी स्वस्थ परम्परा की दुहाई देता था। बीकानेर के गांव गाड़गचीये के चौहान गुमाना सारण ने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद, अपनी साली से विवाह करने की इजाजत अपने श्वसुर से मांगी जिसके लिए उसने हाँ कर दी। परन्तु गुमाने ने अपने बड़े भाई की पत्नी से नाता भी कर लिया। इसके पक्कात् भी उसने साली से पूर्व में किये गये वादे के अनुसार विवाह की मांग की तब पिता ने अपनी पुत्री से विवाह के लिए इसलिए इन्कार कर पुत्री

के अधिकारों को संरक्षित कर लिया क्योंकि गुमाने के एक पत्नी नाते से आ चुकी है।²⁶ इसी भांति गांव जांगलु के चौहान नरसिंह, गांव रासीसर के चौधरी जैसे की पुत्री से विवाहित था। परन्तु इसके बाद भी वह नाता करके दूसरी पत्नी ले आया व अपनी पूर्व की ब्याहता पत्नी को भी ले जाना चाहता था। परन्तु जैसे ने अपनी पुत्री को ससुराल भेजने से साफ इंकार कर दिया।²⁷ जोधपुर राज्य के बरण गांव के जाट खींवरराज ने दरबार में आकर शिकायत की कि जाट कुशला ने वि.सं. 1813 में उसकी पुत्री से विवाह किया था। दो वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद वह दूसरी जाट स्त्री नाते में ले आया अतः अब वह अपनी पुत्री को ससुराल नहीं भेजेगा।²⁸ ऐसा भी विदित होता है कि मालवा में रहते हुए जमाता ने दूसरी स्त्री से नाता कर लिया व वापिस आकर ब्याहता पत्नी की मांग करने पर पिता पुत्री को भेजने से इंकार कर देता है साथ ही 'म्हारी बेटी घर में खटावे नहीं' कह कर दरबार से अपेक्षा करता है कि उसकी पुत्री की देख रेख में वह सहायता करेगा।²⁹ एक और रोचक उदाहरण बीकानेर के गांव जैसीधदेसर के विशनोईयों का है। उन्हें यह आशंका हुई कि उनकी ब्याहता पुत्री के होते हुए भी उनका जमाता अपने भाई की पत्नी को नाता करके ले आयेगा और उनकी छोटी बेटी घर पर ही रह जायेगी। उन्होंने दरबार में पहले ही जाकर अपील की कि उनके जामाता को इसके लिए पाबन्द करें।³⁰ कभी-कभी स्वयं पत्नी भी नाते में आने वाली स्त्री के विरुद्ध दरबार में अपील करती थी जैसा कि गांव घटु के माधे भादु विशनोई की पहली पत्नी ने किया।³¹

राजकीय बहियों के अध्ययन एवम् मरदुमशुमारी राजमारवाड़³² में संग्रहित सूचनाओं की सहायता से नाता प्रक्रिया की एक क्रमबद्ध जानकारी प्राप्त हो जाती है। नाता विधवा स्त्री का होता था, जिसमें उसकी स्वयं की इच्छा का भी ध्यान रखा जाता था। पहला अधिकार ससुराल पक्ष का था व छोटा भाई बड़े भाई की विधवा के साथ नाता कर सकता था। यदि देवर कुंवारा हो तो नाता कहीं बाहर करने के लिए ससुराल पक्ष वालों को 'कागद' (स्महंस क्वबनउमदज)विधि प्रपत्र करना पड़ता था।³³ वैसे भी सामान्यतया ससुराल के अतिरिक्त कहीं भी नाता करने के लिए यह एक आवश्यक दस्तावेज था। इसे राजकीय बहियों में 'वेर रा कागद' कहा गया है व मरदुमकुमारी में 'फारखती' नाम से संकेतिक किया गया है। नाता करने व कराने वालों के बीच नाता-ब्यौवहार के रुपये लिए जाते थे जिसका प्रथम भाग ससुराल वालों का होता था व कभी-कभी मां-बाप का भी हिस्सा सम्मिलित होता था किन्तु उनकी रकम या पैसा ससुराल वालों से कम होता था। वैसे इसके लिए कोई निश्चित रकम नहीं थी। साधारणतया 32 रुपये से लेकर 100-125 रुपये तक हो सकती थी।³⁴ नाते में भी विवाह की भांति गोत्र टाले जाते थे।³⁵ नाता करने वाला शनिवार या इतवार की रात को विधवा स्त्री के लिए चूड़ा व जोड़ा लेकर आता था जिसे विधवा पहन कर पुरुष के घर चली जाती थी। इस कार्य में किसी की उपस्थिति तभी तक रहती थी जब तक पुरुष सामग्री लेकर आता था या स्त्री पहन

कर तैयार होती थी।³⁶ गुर्जरों में स्त्री पुरुष दोनों सेहरा बांधते थे।³⁷ फिर चुपचाप वह स्त्री पुरुष के घर उसके साथ चली जाती थी। मुख्य द्वार से उनका जाना वर्जित था वे पीछे वाले दरवाजे से या फिर दीवार कूद कर घर में दाखिल होते थे। नये ससुराल में बहु के लिए जाते ही चक्की पर आटा पीसने का रिवाज था जिसका आशय था कि इस पुनर्विवाह से जो भी कष्ट आयेगा वह इस पत्थर पर आ जायेगा व शेष जिन्दगी खुशहाल रहेगी। ऐसे विधिवत विधान नाते में वर्णित हैं। जो नाता घर में ही हो जाता था उसके पंजीकरण अर्थात् पंचों को या दरबार को सूचना ना भी दी जाती तो इतना समस्याजनक नहीं था अन्यथा परिवार से बाहर या गांव से बाहर जाने पर सूचना देना आवश्यक था। गांव के प्रशासनिक अधिकारी या जागीरदार का परवाना भी करवाया जाता था जिसके सवा रुपये या ढाई रुपये दस्तूर के भी देने पड़ते थे। ऐसा विशेषतः विशनोई जाति में होता था।³⁸ सीरवी कौम में यह विशेष बात थी कि विवाह की भांति नाते में भी सगाई होकर नाता होता था जिसकी रीत 11 रुपये निश्चित थी।³⁹

ग्रामीण समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग बहुसंख्यक शिल्पकार या दस्तकारों का था। ये शिल्पकार या दस्तकार वंश परम्परागत कार्य कुशलता एवम् प्रवीणता को बनाये रखने में विश्वास करते थे। पूरा परिवार एकजुट होकर कार्यरत रहता था एवम् पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी प्रवीणता, उनकी कुशलता बढ़ती रहे इस बात के प्रयास करते रहते थे। अपनी जातिगत एवम् सामाजिक समस्याओं के निवारण हेतु यह वर्ग भी अपनी-अपनी जाति पंचायतों पर निर्भर रहता था। यह वह वर्ग था जो आर्थिक स्तर पर संभवतः कृषक वर्ग से भी अधिक समस्याग्रस्त था। दैनिक कार्य व बिक्री पर निर्भर यह वर्ग किसी व्यापक बाजार या दुकानों का बड़ा हिस्सा नहीं था बल्कि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में स्थानीय अर्थव्यवस्था का एक भाग था। अतः वे भी दिन प्रतिदिन की समस्याओं व राजस्व के भार सभी को सहन करने पर विवश थे। यह वह वर्ग था जिसमें केवल पांच सेर अनाज के बदले बच्चे बेचने या स्वयं बिक जाने को तैयार रहना पड़ता था।⁴⁰ फिर भी इस वर्ग की 'नारी' परिवार के लिए एक सक्रिय सहभागी के रूप देखी जाती थी व उसी रूप में उसकी उपयोगिता का लाभ उठाने में यह वर्ग उत्सुक रहता था। इसीलिए नाता या विधवा पुनर्विवाह इस वर्ग में भी लोकप्रिय था या 'नाता' के माध्यम से पारिवारिक संसाधनों के साथ-साथ नारी की निपुणता की क्षमता का लाभ उठाने के लिए लालायित रहता था। कोटा संभाग के बस्ते हमें इनके सम्बन्ध में सर्वाधिक सूचनाएं प्रदान करते हैं। इस रिकार्ड में फुरौही नाम से लिए जाने वाले कर के अन्तर्गत इनकी विभिन्न समस्याएं व उससे परिलक्षित होती उनकी परम्पराएं सम्मिलित की गयी हैं।

सामान्य नाता-विवाह के जो उदाहरण मिलते हैं उनमें किसी प्रकार की समस्या का उल्लेख नहीं होता जैसे कोटा राज्य में मौजा बोइथ के मेघवाल देवा ने मौजा सीनोदा

के बलाई बिहारी की बहू से नाता किया।⁴¹ या फिर कोटा राज्य के मौजा बटावदी के बलाई घीसीया ने मौजा टारडा के बलाई नरसिंगो के भाई रूपा की बहू का नाता करवाया जिसके 12/- रु. ठहराये गये जिसकी चौथानी राज्य के द्वारा 4/- रु. ली गयी।⁴² इसी भाँति कोटा राज्य के कसबा सांगोद के जुलाहा नाथु की बहू से जुलाहा नुरा ने नाता किया जिसकी छयाली 10/- रु. ली गयी व उसकी चौथानी 4/- रु. 8 आने वसूल की गई।⁴³ कोटा राज्य के कसबा बारां के पिंजारा रवैजी के बेटे की बहू का कसबा सांगोद के पिंजारा पारया से नाता किया गया जिसके 21/- रु. ठहराये गये व तीन महिनों में 6) 6) 6) रु. के हिसाब से देने की छूट दी गयी इसकी चौथानी में कोटा राज्य द्वारा 6 रु. 12 आने लिये गये।⁴⁴

ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ग में नाता करके उसकी सूचना दरबार में ना देने की प्रवृत्ति अधिक थी। संभवतः करों की भार से बचने के लिये वे ऐसा करने को विवश हो जाते थे। जयपुर राज्य के कसबा मजकुर के नान्हों नाई मुसलमान ने एक औरत से नाता कर लिया परन्तु इसकी सूचना भी नहीं दी व कर भी नहीं भरा, इसलिए उस पर जानकारी मिलने पर 8 रु. 8 आने का कर लगाया गया।⁴⁵ इसी भाँति कोटा राज्य में धोबी ऊदों ने अपने भाई की बहू से नाता किया परन्तु दरबार में उसकी सूचना नहीं दी जिस पर 18 रु. कर लगाया गया।⁴⁶ इससे यह भी पता चलता है कि नाता विवाह की सूचना पंचों के साथ-साथ दरबार में करना भी आवश्यक था। बीकानेर राज्य में दाऊगर (बारूद बनाने वाला) ने अपनी जाति से अलग एक 'कंचनी' को नाता करके घर में रख लिया। इस बात को उसने छुपा लिया किन्तु जब किसी ने शिकायत कर दी तो दरबार से 'गुनेहगारी' लगा इसे दण्डनीय कार्य घोषित किया गया। किसी दूसरी जाति की स्त्री से विवाह अमान्य किया जा सकता था। गुनेहगारी के 71 रु. दरबार से निक्खत किये गये बाद में बहुत कोशिश करके इसमें छूट दी गई परन्तु 51 रु. तो वसूल किये ही गये।⁴⁷ जोधपुर राज्य के मेड़ता के सिपाई बीरायम ने अपनी इच्छा से चोरी छुपे सिपाई ताजू की बेटे को बाजरी धान खाने के लिए दी। यह कार्य वह लगभग एक वर्ष तक करता रहा। जब ताजू की बेटे को उसका पिता नाते के लिए भेजने लगा तो सिपाई बीरायम ने इस पर ऐतराज उठाया। परन्तु उसका ऐतराज माना नहीं गया क्योंकि बेटे के पिता को पूरा अधिकार था कि वह जिसे चाहे अपनी बेटे को नाते में दे दे। वैसे भी सिपाई बीरायम ने यह कार्य चोरी छुपे किया था। इसलिए गुनेहगारी के 24 रु. उस पर लगाये गये जिसमें से 12 रु. उसने भर दिये व 12 रु. के छूट के आदेश बड़ी विनती के बाद दिये गये।⁴⁸ जोधपुर राज्य के ही मेड़ता के मोची गोमला ने यह निवेदन किया कि उसके बेटे के नाते में नागौर के मोची रिणछोड़ीया के भाई देवला की बेटे लाई गयी परन्तु मेड़ता के मोची सम्मिलित रूप से इसका विरोध कर रहे हैं। इसका कारण यह बतलाया गया कि नाते

आई स्त्री का पति उसी के कबीले का था अतः अपने ही भाईबंद की बहू को वह नाते में क्यों लाया। इस पर गुनेहगारी का आदेश हुआ। परन्तु समस्या यह हुई कि इन मोचियों में एक बार नाता होने पर जीवित अवस्था में नाता छूट नहीं सकता। अतः बाद में दरबार से यह आदेश हुआ कि यदि ऐसे में नाता छूट नहीं सकता तो अब नाते आई स्त्री व गोमले दोनों को कोई तंग नहीं करेगा।⁴⁹

बीकानेर राज्य के गांव धनेरु के लखारे गोगा का विवाह बीदासर के सरूपाल खां की बहन से हुआ था। विवाह के तुरन्त बाद वह मालवा चला गया। पीछे से डीडवाणे के लखारों से 41 रु. लेकर, जिसमें से गोगे के चाचा ने 21 रु. ले लिये व सरूपे की मां को 20 रु. देकर, उस स्त्री का कागद कर दिया। 1820 संवत् में गोगो मालवा से वापिस आ गया। परिस्थितियां देखकर उसने चाडवास के जागीरदार के यहां कार्य करने लगा फिर उसकी सहायता से उसने अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करने के प्रयास किये व आसे लखारे के घर नाते गयी पत्नी को वापिस ले गया। दरबार ने भी आदेश पंचों पर डाल दिया कि इनकी जात बिरादरी में जैसा उचित हो वही करें।⁵⁰ जोधपुर राज्य के डीडवाना के पिंजारा सादो अभी मेड़ता में रहता है। उसने बताया कि उसकी भानजी की सगाई नवलगढ़ की गयी थी। लड़की की मां व सादो की बहिन पैसों की कमी के कारण अपनी पुत्री का विवाह करने में असमर्थ थी। अतः वह स्वयं नाता करके मेड़ते आ गयी व नाते के रुपये 25 भी उसने ले लिए जिसे अपने भाई को यह कह कर दिये कि वह इन रूपयों से भानजी का विवाह कर दे।⁵¹ इसी भाँति रूपयों के लेन-देन को इन्कार करते बीकानेर के गांव सोमासर के कुम्हार मयाराम की मृत्यु के बाद उसकी पत्नि का पुनर्विवाह बिना रुपये लेन-देन के किया गया जिसके लिए दरबार से आदेश दिये गये कि इस नाते को कोई भी जातिगत व्यक्ति चुनौती नहीं दे पायेगा।⁵² जोधपुर राज्य के गांव भैरूदान खाती का बेटा अपने विवाह में पहले ही एक ठेठणी को लेकर भाग गया वह मगरै में दो-तीन महीने छुप कर रहा। इस कृत्य को 'गुनेहगारी' के अन्तर्गत दण्डनीय ठहराया गया साथ ही जाति की स्त्री से विवाह से पूर्व ठेठणी को छोड़ने को कहा गया व न्यात में चूरमा खिलाने यानी न्यात-भोज का दण्ड लगाया गया।⁵³ इन जातियों के अतिरिक्त छीपा,⁵⁴ लुहार,⁵⁵ दरजी,⁵⁶ बेलदार,⁵⁷ चमार,⁵⁸ तंबोली,⁵⁹ ठठेरा⁶⁰ आदि के विषय में भी ऐसी जानकारियां राजकीय स्रोतों से मिलती हैं। यदि इन सब जानकारियों को मरदुमशुमारी राजमारवाड़ के अध्ययन के साथ जोड़ें तो एक क्रमबद्धता रूप से 'नाता' का उल्लेख किया जा सकता है।⁶¹ विधवा स्त्री का नाता होता था। नाता की रीत के रुपये लेने का प्रथम अधिकार मां-बाप का होता था, फिर इसका विभाजन ससुराल वालों व कभी कभी फैसला करवाने वाले पंचों के बीच भी होता था। रुपये कितने होंगे यह निश्चित नहीं थे, संभवतः व्यक्ति की हैसियत के अनुसार कम व अधिक

100 रु. तक हो सकते थे। नाते में भी चार गोत्र टाले जाते थे। ससुराल वालों की तरफ से 'कागद' या 'फारखती' नहीं होने तक नाता नहीं हो सकता था, फिर भी यदि ऐसा होता था तो राज्य की अदालत व न्याय अर्थात् जाति पंचायत की शरण लेनी पड़ती थी। यदि यह नाता पति के जीवित रहते हुए कर दिया जाता था तो पति अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करने के प्रयास करता था। यद्यपि मरदुमशुमारी के अनुसार स्त्री स्वयं अपनी इच्छा से नाता नहीं कर सकती थी। यदि ऐसा करती थी तो बिरादरी वाले उसको व उसके पीहर वालों को जात बाहर कर देते थे। परन्तु राजकीय बहियों में हमें इसके विपरीत एक स्वतंत्र मंतव्य से किया गया उदाहरण मिलता है। वह उललेख पिंजारा जाति से सम्बन्धित हैं। संभवतः पैसे की कमी के कारण ऐसा कदम उठाया गया था।⁶² संभवतः मरदुमशुमारी का यह वर्णन बाद के वर्षों में आये परिवर्तन का द्योतक है।

'नाता' शनिवार की रात को चुपचाप तरीके से होता था। नाता करने वाला बात पहले से पक्की कर लेता था। जिस रात स्त्री को ले जाना होता था गहना, कपड़ा, चूड़ा लेकर पुरुष आता था व स्त्री को उसके मां-बाप की उपस्थिति में पहनाता था। उस रात को ही स्त्री पुरुष, पति-पत्नी के रूप में नये घर पहुंचते थे। घरवाले पहले से ही चक्की के पास अनाज रख देते थे जिसे पीस कर स्त्री क टों से छुटकारा पाती थी व दूसरे-तीसरे दिन खुशी मनाई जाती व गीत गाये जाते थे। कुछ जातियों में 'नाता' से संबंधी भिन्नता भी पायी जाती थी जैसे मुसलमान लखारों में नाते में भी काजी निकाह पढ़ता था व पंच भी रूपये लेते थे।⁶³ इसी भाँति रंगरेज⁶⁴ व नीलगरों⁶⁵ में भी नाता निकाह पढ़ कर किया जाता था। बंधारों में विशेष बात यह थी कि रुपयों के अतिरिक्त कभी-कभी एक लड़की भी सांटेमें लेकर स्त्री जाती थी जिसका विवाह नये परिवार के किसी सदस्य के साथ किया जाता था। इसको 'सांटू छोकरी' कहा जाता था।⁶⁶ कुम्हारों में मोयला कुम्हारों (मुसलमान) में नाते की मेहर भी बांधी जाती थी व निकाह पढ़ा जाता था।⁶⁷ कई बार पुरुष एक ओढ़नी लेकर काजी के पास जाता था, काजी उस ओढ़नी पर निकाह पढ़ देता था, फिर उस ओढ़नी को स्त्री को ओढ़ा दिया जाता था व नाता मान लिया जाता था।⁶⁸ 40 रु. से लेकर 100 रु. तक मां-बाप को दिये जाते थे। कुछ ना लेने-देने वाले निकाह को 'खैर का निकाह' कहा जाता था।⁶⁹ ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म परिवर्तन के बाद भी लखारे, रैगर, नीलगर, बंधारे, कुम्हार आदि अपनी प्राचीन परम्पराओं से विमुख नहीं हो पाये थे अन्यथा नाता विवाह की परम्पराओं की अनुपालना करना उनके लिए इतना आवश्यक संभवतः नहीं था। परन्तु स्थानीय समाज से जुड़े होने के कारण अपनी पुरानी परम्पराओं का ही निर्वहन कर रहे थे। घांचियों में नाता इतवार के दिन होता था।⁷⁰ सूंगा कलाल नाता नहीं करते थे।⁷¹

ग्रामीण समाज का तीसरा महत्वपूर्ण वर्ग वह वर्ग था जिसे आजकल कबीलाई

वर्ग कहा जाता है। इनमें मेव, मेर, मीणा, भील व गिरासिये सम्मिलित हैं। इन वर्गों की अपनी परम्पराएं व रीति-रिवाज थे व ये भी अपनी-अपनी पंचायतों के संरक्षण में रहते थे। विशेषतौर पर जयपुर राज्य व कोटा राज्य की राजकीय बहियां हमें मीणा व कोली वर्ग के बारे में विवरण देती हैं। इन वर्गों में भी पुनर्विवाह स्वीकृत व मान्य थे। जयपुर राज्य के मौजाखटवाड़ के रूपा के भाई की बहू गंगला मीणा ले आया। उस पर आमिल के गुमासता बछराज सदाराम द्वारा कार्यवाही करवाई गयी।⁷² कोटा राज्य के करनो उदवाल ने मीणा स्त्री से पुनर्विवाह कर लिया परन्तु दरबार में इस विषय में सूचना नहीं दी इसके लिए 6 रु. का कर लगाया गया।⁷³ इसी भाँति कोटा राज्य के देवा कोली के बेटे की बहू से पचेपोहड़ के खेरी कोली ने नाता कर लिया जिसके 40 रु. ठहराये गये व दरबार द्वारा चौथानी 10 रु. ली गई।⁷⁴ मरदुमशुमारी की सहायता से जो क्रमबद्धता निकाली जा सकती है वह इस प्रकार है। मेवों में नाता होता था बल्कि नाते में जाने वाली मां के साथ पहले पति से उत्पन्न पुत्र भी चला जाता था, इसे 'गेलड़' कहा जाता है। नये घर जाकर भी उस पुत्र की खांप नहीं बदलती थी परन्तु पिता की सम्पत्ति में कोई मांग स्वी त नहीं होती थी।⁷⁵ मीणाओं में नाता विधवा औरत का देवर के साथ ही अक्सर सम्पन्न होता था। दूसरे स्थान पर नाता होने पर नाते की रीत के रूपये लिए जाते थे। नाता शनिवार की रात को ही होता था तथा नाता करने वाला व्यक्ति चूड़ा व जोड़ा पहिना कर विधवा के मां-बाप को कुछ रुपये देकर चुपके से ले जाता था।⁷⁶ भीलों में भी यही रिवाज थे।⁷⁷ गिरासिये थोड़े भिन्न दिखलाई पड़ते हैं। यद्यपि एक गिरासिये के कई पत्नियाँ होती थीं तब भी इनमें नाता होता था। नाते के 'दापे' अर्थात् लेन-देन का फ़ैसला 'सेलोट' अर्थात् गांव का मुखिया करता था। नाते में यह नियम नहीं था कि व्यक्ति की पत्नि मर चुकी हो, कुंवारा भी नाता कर लेता था। यदि कोई जीवित व्यक्ति की पत्नि से नाता कर भी लेता था तो 'सेलोट' ही इसका निपटारा करते थे, निपटारे में गाय, भैसों का लेन-देन होता था।⁷⁸

इसके अतिरिक्त बहुत सी जातियों को बीजी कौमों या जातियों में लिया जा सकता है, जिनका समाज में अपना एक स्थान था। राजकीय बहियां भी डूम,⁷⁹ डाकोत,⁸⁰ धाकड़⁸¹ आदि जाति के विषय में जानकारी देती हैं तथा मरदुमशुमारी⁸² से भी इनकी परम्पराओं का ज्ञान होता है। जो निश्चित बात कही जा सकती है वह यह है कि नाता इनमें भी सामान्य था।

अन्त में एक महत्वपूर्ण बिन्दु की ओर ध्यान आकर्षित करना सापेक्ष होगा कि ग्रामीण समाज की यह नाता परम्परा समयावधि के साथ-साथ उपर्युक्त वर्णित जातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों में भी लोकप्रिय होने लगी थी जिन्हें हम उच्च जाति कहते हैं। यह कहना अनुचित ना होगा कि जिनके पास 'भूमि' या 'भूमि-अधिकार' नहीं थे तथा

जो खेती के या उससे जुड़े कार्यों में संलग्न थे, में 'नाता-प्रथा' को धीरे-धीरे स्थान मिलने लगा।

इस बात पर कई मत व प्रश्न खड़े हो सकते हैं, परन्तु हमारे पास अपने मत के पक्ष में कई लिखित स्रोत उपलब्ध हैं जिनमें राजकीय बहियों के साथ-साथ मरदुमशुमारी राजमारवाड़ प्रमुख हैं। बीकानेर बही फुरोही री, बीकानेर बहियात में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सोलंक्रियों में विधवा पुनर्विवाह प्रारम्भ हो गये थे तथा पुनर्विवाह से पहले नाता की अन्य प्रक्रियाओं की भाँति 'कागद' करने का भी उल्लेख मिलता है।⁸³ मरदुमशुमारी राजमारवाड़ से ज्ञात होता है कि पंवारों में जो कि गरीब हैं व जिनके पास 'जमीन' भी बहुत कम है, में नाता होना प्रारम्भ हो गया था। मारवाड़ में रहने वाले ये पंवार गोड़वाड़, जालौर, सांचोर व मलाणी की ओर नाता करते थे।⁸⁴ राजपूतों की एक अन्य शाखा मकवाणा राजपूत जो खेती व नौकरी करती थी, में भी 'नाता' प्रारम्भ हो गया था।⁸⁵ इसके अतिरिक्त फुटकर राजपूत कहलाने वाले राजपूतों में से पड़ियारया राजपूतों की चार खांपों में से एक खांप 'देवल' को छोड़कर बाकी तीनों में विधवा स्त्री का नाता होना प्रारम्भ हो गया था। ये कहीं चौरसिया, कहीं राजपूत तो कहीं नातरायत कहलाते हैं।⁸⁶ इनके पास 'जमीन' नहीं थी। 'मुकाता' पर दूसरे राजपूतों की 'जमीन' पर कार्य करते थे। यह कह पाना संभव नहीं है कि राजपूतों में नाता कब और किन कारणों से तथा किन के द्वारा प्रारम्भ हुआ। इससे संबंधित अलग-अलग मत हैं परन्तु आदू नातरायत दइया राजपूतों को माना जाता है। ये 'दइया' पूर्व मारवाड़ के परबतसर आदि परगनों में हुए राजा लोगों से भिन्न हैं। इनके पास 'जमीन' नहीं है, केवल हल चलाने का कार्य करते हैं। इनके सम्बन्ध में प्रचलित कहावत 'दइया दसोत कदेई नहीं'⁸⁷ भी यह बतलाती है कि देइया मुल्क के मालिक कभी नहीं रहे। यह कहावत पूर्णतः सत्य प्रतीत नहीं होती है क्योंकि दइयों की नागौर, मेड़ता व राजस्थान के आसपास के क्षेत्रों में जमीनें थीं, जो धीरे-धीरे उनसे छिन गयी थीं। मारवाड़ के सात परगनों पाली, बाली, जालोर, जसवंतपुरा, सांचोर, सिवाना और मालाणी में जो दइया राजपूत हैं, वे सभी नातरायत ही हैं। दइयों में एक घर भी बिना नाते के नहीं पाया जाता इसी कारण ये आदू नातरायत माने गये हैं।⁸⁸ जसवंतपुरा के नातरायत राजपूतों के अनुसार राणवा खांप का एक दइया राजपूत पूर्व का देश छोड़ कर मारवाड़ में आया था। उसने जालोर के एक सोनिगरा राजा की बेटी के साथ नाता किया। राजा ने 48 गांव उसको नाते के बदले में दिये जो जालोर में दइया पट्टी के नाम से विख्यात हैं।⁸⁹ एक अन्य मत इसे सोनिगरा खांप के राव कान्हड़दे के साथ जोड़ता है। कान्हड़दे ने अपनी विधवा बेटी का विवाह वीरमदे की सहायता से चित्तौड़ के राणा के साथ धोखे से कटारी की नोक पर किया। यह विवाह वास्तव में नाता-विवाह माना गया। राणा को बदले में गोड़वाड़ का परगना रहने के लिए दिया गया व नया किला

बाली नाम से बनवाकर दिया।⁹⁰

इसी भाँति ब्राह्मणों में जो पुरोहित हैं उनकी भी एक शाखा सेवड़ पुरोयत है। इनमें नाता प्रारम्भ हो गया था। जालोर के ये पुरोयत नातरायत पुरोयत कहलाते हैं।⁹¹ इसी भाँति परगने बाली में कुछ गरीब पुरोयत हैं जो 'डोलिया' कहलाते हैं तथा जिनके पास सांसण के गांव नहीं हैं, नाता करते हैं तथा नाते की प्रक्रिया भी राजपूतों के समान ही सम्पन्न करते हैं।⁹²

पाद- टिप्पणियाँ

1. जी.एन. शर्मा, सोशियल लाइफ इन मिडिल राजस्थान (1500-1800 ई.), आगरा, 1968.
2. जी.एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, प्रथम भाग, क्विवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1973, पृ. 484.
3. जी.एस.एल. देवड़ा, 'अ रिथिंकिंग ऑन दी पोलिटिक्स ऑफ कॉर्मशियल सोसायटी इन प्री कोलोनियल इण्डिया; ट्राजीशन फ्रॉम मुतसद्दी टू मारवाड़ी', ओकेजनल पेपरस् ऑन हिस्ट्री एण्ड सोसायटी, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लायब्रेरी, तीन मूर्ति हाउस, न्यू दिल्ली, 1987.
4. इख्तदार आलम खान, 'दी मिडिल क्लास इन दी मुगल एम्पायर', प्रेसीडेन्टल एड्रेस, मिडिल इण्डिया सेक्शन, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, अलीगढ़, 1975.
5. जी.एस.एल. देवड़ा, 'ब्यूरोक्रेसी इन राजस्थान (1745-1829 ई.)', धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1980, देखें प्रीफेस।
6. शशि अरोड़ा, 'राजस्थान में नारी की स्थिति' (1600-1800 ई.) तरूण प्रकाशन, बीकानेर, 1981, पृ. 21, 25-33, 43, 45, 64-65, 73-75, 76-77.
7. जी.एस.एल. देवड़ा, 'राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574-1818 ई.)', धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1981, पृ. 153-57.
8. वही, पृ. 153-57.
9. वही, पृ. 153-57.
10. राजस्थान राज्य अभिलेखागार में संग्रहित व संरक्षित राजकीय बहियों के दस्तावेजों के आधार पर; जोधपुर सनद परवाना बही, वि.सं. 1830/1773 ई., बही नं. 13. मेड़ता कचेड़ी, पृ. 136, रा.रा.अ.बी.
11. कोटा भण्डार नं. 1, वि.सं. 1777/1720 ई., 'धरेजना' रा.रा.अ.बी.
12. कोटा भण्डार के 'छयाली', धरेजना व चौथानी कर के विस्तृत प्रपत्र।
13. जी.एस.एल. देवड़ा, 'माइग्रेटरी टेण्डेसीज ऑफ दी पीपुल ऑफ बीकानेर डायूरिंग दी 18th सैन्चुरी' (हिन्दी), राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग, 1975.
14. कागदों की बही, बीकानेर रामपुरिया रिकार्ड्स, वि.सं. 1840/1783 ई., नं. 7, रा.

- रा.अ.बी.।
15. बही फरौती की, बीकानेर बहियात, वि.सं. 1756/1699 ई. नं. 70/2, रा.रा.अ.बी।
 16. कागदों की बही, बीकानेर रामपुरिया रिकार्ड्स, वि.सं. 1853/1796 ई. नं. 10, रा.रा.अ.बी.।
 17. जोधपुर सनद परवाना बही, वि.सं. 1823/1760 ई. नं. 5, परबतसर कचैड़ी, पृ. 257, रा.रा.अ.बी.।
 18. जोधपुर सनद परवाना बही, मिति फागुन सुद 8, सोम, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 3, नागौर कचैड़ी, पृ. 16, रा.रा.अ. बीकानेर।
 19. 'सीध मयादास हरनाथ जी का विवाह बीकानेर के गांव करमसर के चौधरी खेमे जाट की बेटी के साथ हुआ था। मयादास की मृत्यु हो गयी तब उसकी विधवा पत्नि का कागद 'वेर रा कागद' पुनर्विवाह हेतु हरनाथ की बहू व बेटे यानि सास व जेठ ने कर दिया।' कागदों की बही, वि.सं. 1840/1783 ई. नं. 7, रा.रा.अ. बीकानेर।
 20. सनद परवाना बही,फागण सुद 9, सोम, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 5, नागौर कचैड़ी, पृ. 54, रा.रा.अ.बीकानेर।
 21. कागदों की बही, वैसाख सुद 13, वि.सं. 1853/1796 ई. नं. 10, रा.रा.अ.बी.।
 22. सनद परवाना बही,भादवा बुद 12, सोम, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 5, परगना मैड़ते, रा.रा.अ.बीकानेर।
 23. कोटा भण्डार नं. 1, वि.सं. 1757/1700 ई. बस्ता नं. 35, दोवर्की पर्चाजात बाबत पचगारा, रा.रा.अ.बी.।
 24. सनद परवाना बही, सावण सुद 15, सुकर, वि. सं. 1832/1775 ई. बही नं. 5, पृ. 7.
 25. सनद परवाना बही, वि.सं. 1824/1767 ई. नं. 6, जोधपुर कचैड़ी, पृ. 7, रा.रा.अ. बीकानेर।
 26. कागदों की बही, वि.सं. 1850/1793 ई. नं. 10, रीढ़ रा कागद, रा.रा.अ.बी.।
 27. कागदों की बही, वि.सं. 1839/1782 ई. नं. 6, रा.रा.अ.बी.।
 28. सनद परवाना बही, जेठ सुदी 6, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 5, नागौर कचैड़ी, पृ. 67, रा.रा.अ.बी.।
 29. सनद परवाना बही,आसाढ बुद 9, सोम, वि.सं. 1824/1767 ई. नं. 6, पृ. 9, रा.रा.अ.बी.।
 30. बही पेशकसी रे लेखे की, बीकानेर, वि.सं. 1833/1776 ई. पृ. 70, रा.रा.अ.बी.।
 31. बही फरौती की, बीकानेर, वि.सं. 1756/1699 ई. नं. 70/2, रा.रा.अ.बी.।
 32. रिपोर्ट मरदुमशुमरी राजमारवाड़, सन् 1891 ई., जैन ब्रदर्स, रातानाडा, जोधपुर,

- 1997, पृ. 46-52.
33. वही, पृ. 47.
 34. वही, पृ. 52.
 35. वही, पृ. 52.
 36. वही, पृ. 47, 52.
 37. वही, पृ. 47.
 38. वही, पृ. 97.
 39. वही, पृ. 101.
 40. सनद परवाना बही, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 5, पृ. 114, रा.रा.अ.बी.
 41. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1777/1720 ई., बस्ता नं. 91, परगना मांगरोल, रा. रा. अ. बी.।
 42. कोटा भण्डार, नं. 1, आगहन सुद 11, वि.सं. 1853/1796 ई., नाता की चौथानी, रा. रा. अ. बी.।
 43. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1777/1720 ई., बस्ता नं. 91, परगना सांगोद, रा. रा. अ. बी.।
 44. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1853/1796 ई., बस्ता, नाता की चौथानी, रा. रा. अ. बी.।
 45. तोजी स्याहा खुफिया परगना मौजाबाद, सावण सुद 6, सुद , वि.सं. 1772/1715 ई. रा.रा.अ.बी.।
 46. कोटा भण्डार, नं. 1, जेठ सुदी 2, वि.सं. 1757/1700 ई., बस्ता नं. 34, फुरौही पर्चाजात, रा. रा. अ. बी.।
 47. कागदों री बही, वि.सं. 1838/1781 ई. नं. 5, रा. रा. अ. बी.
 48. सनद परवाना बही, आसाढ़ सुद 15, सोम, वि.सं. 1825/1768 ई. नं. 8, पृ. 110, रा. रा. अ. बी.
 49. सनद परवाना बही, भादवा बद 13, बुधवार, वि.सं. 1832/1775 ई. नं. 15, पृ. 151, मेड़ता कोतवाली, रा. रा. अ. बी.
 50. सनद परवाना बही, फागुण सुद 8, सोम, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 3, पृ. 16, नागौर कचैड़ी, रा. रा. अ. बी.
 51. सनद परवाना बही, महा सुद 2, गुरुवार, वि.सं. 1824/1767 ई. नं. 6, पृ. 117, मुकाम मेड़ता, रा. रा. अ. बी.
 52. कागदों री बही, वि.सं. 1839/1782 ई. नं. 6, रा. रा. अ. बी.
 53. सनद परवाना बही, गुरुवार, वि.सं. 1830/1773 ई. नं. 13, पृ. 136, रा.रा.अ.बी.
 54. बही पेशकसी रे लेखी, वि.सं. 1833/1776 ई., नं. 38, रा. रा. अ. बी.
 55. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1748/1691 ई., बस्ता नं. 18, जमाखर्च आमदनी

- कोतवाली, रा.रा.अ.बी.।
56. सनद परवाना बही,सावण सुद 6, सोम, वि.सं. 1823/1766 ई. नं. 5, पृ. 236, प्रबतसर, रा. रा. अ. बी.
57. कागदों री बही, वि.स. 1839/1782 ई. नं. 6, रा. रा. अ. बी.
58. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1777/1720 ई., बस्ता नं. 91, परगना मांगरेल, रा. रा. अ. बी.।
59. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1748/1691 ई., बस्ता नं. 20, जमा विवाह के पचगारे की, रा. रा. अ. बी.।
60. वही।
61. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, सन् 1891 ई., जैन ब्रदर्स, रातानाडा, जोधपुर, पृ. 455-494.
62. सनद परवाना बही, महासुद 2, गुरुवार, वि.सं. 1824/1767ई., पृ. 117, मुकाम मेड़ते, रा.रा.अ.बी.
63. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, पूर्व, पृ. 473.
64. वही, पृ. 481
65. वही, पृ. 481
66. वही, पृ. 482
67. वही, पृ. 524
68. वही, पृ. 525
69. वही, पृ. 526
70. वही, पृ. 494
71. वही, पृ. 489
72. तोजी स्याहा खुफिया परगना मौजावाद, माह सुदि 3, दितवार, वि.सं. 1772/1715 ई., रा. रा. अ. बी.
73. कोटा भण्डार, नं. 1, वि.सं. 1757/1700 ई., पर्चाजात फरौही, रा. रा. अ. बी.।
74. कोटा भण्डार, आसाढ़ सुदी 5, वि.सं. 1747/1690 ई., बस्ता नं. 17, पर्चाजात फुरोही, रा. रा. अ. बी.।
75. रिपोर्ट मरदुमकुमारी राजमारवाड़, पूर्व. पृ. 111
76. वही, पृ. 118
77. वही, पृ. 128
78. वही, पृ. 133
79. कोटा भण्डार नं. 1, वि.सं. 1743/1696 ई. बस्ता नं. 9, आमदनी फुरोही, रा. रा. अ. बी.
80. बही पेशकसी री लेखी, वि.सं. 1833/1776 ई., नं. 38, कागदों री बही, वि.सं.

- 1857/1800 ई., पृ. 250, रा. रा. अ. बी.
81. कोटा भण्डार नं. 1, वि.सं. 1747/1690 ई. बस्ता नं. 17; बस्ता नं. 20, फुरोही की जमा, रा. रा. अ. बी.
82. रिपोर्ट मरदुमुमारी राजमारवाड़, पूर्व. पृ. 213
83. बीकानेर बही फरोती री, वि.सं. 1756/1699 ई., नं. 70/2, रा. रा. अ. बी.
84. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़, पूर्व. पृ. 11
85. वही, पृ. 12
86. वही, पृ. 16
87. वही, पृ. 40
88. वही, पृ. 40
89. वही, पृ. 41
90. वही, पृ. 42
91. वही, पृ. 209
92. वही, पृ. 209

Professor R.P. Vyas Memorial Lecture

Rajput States and Vaishnava Bhakti in Later Medieval Rajasthan

Professor Rameshwar Prasad Bahuguna

I am deeply grateful to the Executive Committee and the office bearers of the Rajasthan History Congress for inviting me to deliver the R P Vyas Memorial Lecture at its 31st session. It is indeed a great honour to deliver a memorial lecture instituted in the memory of an eminent scholar of the history of modern Rajasthan.

For the lecture, I have chosen the theme of growing relationship between the Vaishnava devotional preachers and the Rajput states of Rajasthan during the sixteenth, seventeenth and eighteenth centuries. Focusing on the significant shifts in the religious leanings of rulers and their changing preferences in extending patronage to religious dignitaries, centres and shrines, the lecture aims at exploring the trajectories of the integration of Vaishnava Bhakti into the religio-political structures of the Kachhwaha, Sisodiya and Rathore states. The outcome of the steady advance of Vaishnava Bhakti in the higher echelons of power and authority at different points of time in different Rajput states was the gradual transformation of the sacred geography and court- based religious culture of Rajasthan. New line of Vaishnava monks, preachers and devotees - particularly those belonging to the rising centre of Vaishnava Bhakti in the neighbouring Braj region - entered Rajasthan and began to exercise influence on the religious life of the court and common people alike. New shrines, monasteries and pilgrimage centres were established with the support of kings and noblemen. Bhakti-based Vaishnavism virtually became the state religion under some of the Rajput kings of the eighteenth century, a phenomenon that caused or intensified religious rivalries and political cleavages within the Rajput kingdoms.

Despite these changes, it is important to point out that while Bhakt-based Vaishnavism emerged into a powerful religious source of state legitimation, the Rajput kings, even eighteenth century rulers like Sawai

Jai Singh of Jaipur (r. 1699-1743) and Bijay Singh of Jodhpur (r. 1752-1793) who showed marked preference for Vaishnavism, never depended solely on any one form of religious worship for ideological support. They continued to draw upon multiple sources of religious and political legitimation, including those that were established during the Mughal period as a consequence of the integration of the Rajput states into the Mughal Empire and their subordination to it. Before the beginning of the sixteenth century, religious life of the Rajput ruling elites was characterized by the predominance of Shaiva, Shakta and Nathpanthi modes of worship. The central argument that has been advanced in this presentation is that perceptible change began to occur from the beginning of the sixteenth century in the form of the emergence and gradual spread of Vaishnava Bhakti in Rajasthan - a development that was supported and sometimes even sponsored by the rulers.

It has been established by many scholars in recent years that the establishment of the Mughal Empire and its expansion and consolidation under Akbar contributed to the growth of Vaishnava Bhakti movements in various parts of northern India, particularly in the Braj region. The direct and indirect role of the Mughal Empire in the rise of Vaishnava Bhakti as a pan-Indian phenomenon and the emergence of Vaishnava establishments in the heartland of the Empire has led many scholars to propound the notion of 'Mughal Bhakti'.¹

The emergence of Mughal Empire as a pan-Indian and centralized political formation facilitated the process of the spread of the religious ideas of Vaishnava Bhakti preachers and legends about them from one region to the other through the agency of peripatetic musicians, travelers, traders, pilgrims and monks. All these developments resulted in the growth of inter-regional networks of diverse Vaishnava communities. This process may have begun in the pre-Akbar period but it gained momentum in the second half of the 16th century.

Mughal rule also permitted a remarkable degree of flexibility and tolerance in religious matters which allowed many new religious groups to prosper at least till such time as they did not pose a political threat to the state. The proliferation of different sampradayas of Krishna-Bhakti in the Braj region which constituted the heart of the Mughal Empire, and the emergence of Braj as a pilgrimage centre underline the role of the Mughal state in creating favourable conditions for the growth of Vaishnava Bhakti. The Mughal rulers from Akbar onwards and initially the Kachhwaha Rajput

chiefs of Amer patronized the Braj temples and their priests.² Vaishnava hagiographic accounts such as Nabhadass's *Bhaktamal*, Priyadas's *Bhaktirasabodhini Tika* and the Varta literature of the Pushtimargis throw light on close links between the contemporary Rajput rulers and the Vaishnava elites of the Braj and Dhundhar regions.³ As has been pointed out recently by Kumkum Sangari, Akbar's interactions with the representatives of various religious groups facilitated his absorption into Vaishnava and Santic hagiographies.⁴

The Vaishnava followers of Ramanand began to establish their monasteries in the territories of the Kachhwaha rulers of Amer from the beginning of the sixteenth century. An important Vaishnava preacher, Krishnadas Paihari, was able to exercise profound influence on the Kachhwaha king Prithviraj (r. 1503-1523). The Dhundhu-Amer region was under the influence of Nathpanthi ascetics and Prithviraj was himself a follower of Yogi Chaturmath (or Taranath). Galta was a major seat of the Nathpanthi Yogis. Krishnadas Paihari began to propagate Rama Bhakti in various parts of the kingdom and converted many to Vaishnava Bhakti. One of his followers was Prithviraj's favourite queen, Bala Bai, who was the daughter of Rao Lunkaran of Bikaner and had embraced Vaishnavism before her marriage with the Kachhwaha king. Entry of Krishnadas Paihari and his growing influence led to rivalries and conflicts between the Nathpanthis and the Vaishnavas. According to a legend, the Vaishnava monk established his spiritual supremacy over the Nathpanthis and the latter were evicted from Galta which gradually emerged into a major seat of Ramanandi Vaishnavas in the region. Prithviraj himself became an ardent follower of Krishnadas.⁵

In the Kachhwaha kingdom, another Vaishnava monastery was established by Agra Das at Raivasa near Sikar during the sixteenth century. The famous Vaishnava hagiographer, Anantadas composed the *parachais* of the great lower caste disciples of Ramanand roughly at the time when Nabhadass was composing the *Bhaktamal*.⁶ Both Nabhadass's *Bhaktamal* and Anantadas's *parachais* were composed by Vaishnava hagiographers based in the Vaishnava monasteries of the Kachhwaha kingdom. In course of time, several recensions and manuscripts of Anantadas's *parachais* were prepared by other writers and copyists in Rajasthan.⁷

Vaishnava Bhakti preachers began to enter Mewar on a regular basis only from the later part of the seventeenth century. There is not much evidence to show that Vaishnavas of the Pushtimargi and Chaitanya

sampradayas were active in the region during the sixteenth century and much of the seventeenth century. This could have been partly due to the patronage extended by the Sisodiya rulers and their nobles to Shaiva and Shakta forms of worship. The Mewar kings looked upon themselves as servants of Eklingadevji, who was a form of lord Shiva and whose cult was popular among the local tribal people, the Bhils. The cult of Eklingadev and those of various mother goddesses were incorporated into the process of state formation in Mewar.⁸ Before the establishment of Nathdwara as a prominent centre of Krishna worship in the late seventeenth century, Braj-based Vaishnava preachers do not seem to have forged links with the Sisodiya kings and the Rajput ruling elites of the region. The only example of a prominent Vaishnava devotee practicing Krishna worship against heavy odds in a fearless and passionate manner is that of Mirabai in the first half of the sixteenth century. Many recent studies of Mira's devotionism have drawn our attention to the conflicting religious loyalties of the woman bhakta and her husband's family. It was not just Mira's religious non-conformism but her social conduct - her rejection of the patriarchal values of the Rajput socio-political order - that led the Rajput ruling elites of Mewar to demean and ostracize her. Thus, the first historically recorded encounter of the Mewar ruling elite with a representative of the new mode of Vaishnava Bhakti was characterized by extreme hostility on the part of the ruler, though in this case the representative happened to be a member of his own family.⁹ This is in sharp contrast to a parallel development in the Amer kingdom where roughly during the same period, the Vaishnava queen Bala Bai prevailed over her husband to shift his allegiance from the Nathpanthi religion to Vaishnavism. Consequently, while Vaishnavism virtually became the state religion in Amer (later Jaipur) kingdom by the beginning of the eighteenth century, the Mewar rulers and their noblemen continued their strong Shiva and Shakta links. The relative absence of Vaishnava Bhakti preachers in monasteries in Mewar during the sixteenth and most of seventeenth centuries (before the establishment of Nathdwara and Kankroli shrines) was perhaps primarily due to the prevalence of indifference towards the Vaishnava sampradayas who had established close connections with the Mughals and the Kachhwaha rulers. The political conditions in Mewar during the sixteenth century and first fifteen years of the seventeenth century were characterized by continuous resistance to the expansion of the Mughal power. Added to this was the clan rivalry between the Kachhwahas and the Sisodiyas during the reign of Akbar. The loyalty of the Vaishnava sampradayas and monasteries in the Braj-

Dhundhar regions clearly lay with the Kachhwaha rulers (and therefore, with the Mughals). On the other hand, the strong presence of Vaishnava Bhakti in the Kachhwaha territory during the sixteenth century was closely connected with the emergence of strong ties between the Mughals and the Kachhwaha kings.

Mewar, therefore, remained isolated from the general movement of Vaishnava Bhakti during the sixteenth century and much of the seventeenth century. While underlining this aspect of the religious orientation of the Sisodiya ruling elites, it is important to keep in mind that conventional forms of worship of Vishnu and his incarnations remained an integral part of state religion in Mewar during this period of relative isolation. What is being stressed here is the lack of contacts between the new groups of Vaishnava devotional preachers and the Mewar rulers before Maharana Jagat Singh and his successor Maharana Raj Singh took concrete measures to establish connections with the establish connections with the Pushtimargi Vaishnavas.

First Sisodiya ruler to establish links with the Braj-based Vaishnava shrines was Maharana Jagat Singh I (r. 1628-52). Rajaprashasti Mahakavyam refers to the pilgrimage of his mother, Jambuwanti Bai, to Mathura and Gokul in 1647 (v. s, 1704).¹⁰ It has been pointed out by a modern author that the Maharana himself visited Braj shrines as a pilgrim and discussed religious issues with the chief priest of the Dwarikadheesh temple in Gokul. The king had certain apprehensions about the attitudes Pushtimargi Vaishnavas but his doubts were cleared by the priest. We are told that the king was convinced of the truth of Pushtimargi teachings and after returning to his native kingdom, granted the revenue of the village of Asotiya to Gosain Girdharilal of the Dwarikadheesh temple.¹¹

Later Maharana Raj Singh I (r. 1652-80) built a temple in this village a seat of Dwarikadheesh was established there. In the later decades of the 17th century, the seat was transferred to Kankroli. Maharaja Jagat Singh's interest in Pushtimargi Vaishnavism encouraged the Vaishnavas of the sampradya to propagate their religious ideas in Mewar. A prominent Vaishnava preacher Shri Hari Rai entered Mewar in 1648 and set up his camp at a place close to the boundary of Singhad village which was the centre of a Shakti cult. His influence and following began to grow. Maharana Raj Singh is believed to have visited the Vaishnava leader along with his nobles. Gradually Shri Hari Rai's settlement grew and took the shape of a large village. It was this place that was chosen as the new site for Shri

Nathji's new home when the image was shifted there from its original seat in Gokul in early 1670.¹² The Pushtimargi Vaishnava believed in seven swarupas (forms) of Shri Nathji (Lord Krishna). The original seat of Shri Nathji was established at Gokul by in the Bjar region by Vallabhachrya in the beginning of the sixteenth century. It was this image of Lord Krishna which was transferred to Singhad which came to be called Nathdwara. Maharana Raj Singh-I was then the ruling Sisodiya king of Mewar. In addition to the most important seat of Pushtimargi Vaishnavas at Nathdwara, there are six more seats in Rajasthan - two in Mewar, and one each in Jaipur, Kota, and two at Kama in Bharatpur.

18th Century in Rajasthan was the golden age of pro-establishment Vaishnavism. Gaudiya Vaishnavas at the court of Sawai Jai Singh and Pushtimargis at Jodhpur, Kota and Mewar exercised considerable influence over religious and temporal policies. The decline and disintegration of the Mughal Empire offered new opportunities to Rajput chiefs and created new challenges for them. In the heyday of the Empire, most of the Rajput chief had to work outside their patrimonies as Mughal mansabdars and administrators. With the passing of empire, they spent virtually all their time in their own territories. Political conditions in Rajasthan during the 18th century were characterized by five interconnected developments - i. growing irrelevance of Mughal imperial authority in Rajasthan, ii. Enhanced power of Rajput chiefs as virtually independent rulers, iii. Recurrent feuds between the Rajput kings leading to continuous warfare, iv. Growing internal conflicts in the Rajput kingdoms characterized by dynastic disputes over succession, and rebellions by nobles, and v. devastation and instability caused by Maratha raids and plundering activities.

In these changed circumstances, older forms of political legitimacy that were derived from the privileged position enjoyed by the Rajput chiefs as imperial mansabdars were proving to be increasingly ineffective. Although the 18th century Rajput kings never challenged the authority of the Mughal Emperors and continued to express their symbolic allegiance to the Empire, they experimented with the new forms of legitimacy. Elite and upper caste dominated Vaishnavism of the Gaudiya and Pushtimargi varieties filled the ideological vacuum.

It is difficult to accept the recently propounded view that the kingship model of the 18th century Rajput states was based on Hindu principles. The Rajput rulers of the Mughal period were not any less Hindu. It would be more appropriate to characterize the political and ideological moorings

of these states as 'Vaishnava kingship' rather than 'Hindu kingship'.¹³ Sawai Jai Singh, the ruler of Amber in the first half of the 18th century, was more interested in disciplining the non-brahmanical and lower castes religious communities such as the Laldasis, Bairagis and Dadupanthis then reviving the ancient Indian model of Kingship. With the help of his Gaudiya Vaishnava advisors, he made an attempt to fabricate an all-embracing 'reformed Vaishnavism'.¹⁴

Another important development during the 18th century was the rising religious and political significance of Nathdwara. Rajput rulers competed with each other in extending patronage and giving donations to the Nathdwara shrine. The rulers also held political and diplomatic conclaves at Nathdwara to resolve political and territorial disputes. Towards the closing decades of 18th century, Jodhpur grew into an important centre of Pushtimargi Vaishnavism. The reigning king, Bijay Singh had strong Vaishnava leanings. Niranjani monk Atma Ram was his spiritual teacher. Many Pushtimargi Vaishnavas migrated from Brij to Jodhpur during his reign. A large number of Vaishnava temples were built. The influence of Pushtimargi Vaishnavism grew to such an extent that Jodhpur came to be regarded as another Brij.¹⁵

References

1. For a well-argued position in support of the idea of 'Mughal Bhakti', see John Stratton Hawley, "Mughal Bhakti: A Response", *The Journal of Hindu Studies*, Vol. 6, 2013, pp. 73-81, and idem, *A Storm of Songs: India and the Idea of Bhakti Movement*, Harvard University Press, 2015. See also Allison Busch, *Poetry of Kings: The Classical Hindi Literature of Mughal India*, New York: Oxford University Press, 2011, pp. 3-22.
2. For Mughal grants to the Vaishnava priests and temples of the Braj region, see Tarapada Mukherjee and Irfan Habib, "Akbar and the Temples of Mathura and its Environs", *Proceedings of the Indian History Congress*, 48th Session, Goa University, 1988, pp. 234-50, and idem, "The Mughal Administration and the Temples of Vrindavan during the Reigns of Jahangir and Shahjahan", *Proceedings of the Indian History Congress*, Golden Jubilee Session, Gorakhpur, 1989, pp.287-300. For Raja Man Singh's role in the building of the great Govind Devji temple in Vrindavan, see Rajeev Nayan Prasad, *Raja Man Singh Amer (in Hindi)*, Jodhpur: Rajasthani Granthagar, 2005, pp. 212-14.
3. For Nabhadass's Bhaktamal and Priyadas's extended commentary, see Sitaram Sharan Bhagwan Prasad Roopkala, ed., *Goswami Shri Nabhajikrit Shri Bhaktamala* including the commentary entitled *Bhaktirasabodhini Teeka of Priyadas*, seventh print, Lucknow, 1993. For the Pushtimargi Varta literature, see *Chaurasi Vaishnavan Ki Varta*, Bombay: Khemraj

- Shrikishandas, 1988, and *Do Sau Bavan Vaishnavan Ki Varta*, Bombay: Khemraj Shrikishandas, 1986. Both the Vartas were written in Braj prose and contain narratives of various episodes in the lives of the followers of the Vallabh sampradaya. The Vartas were narrated orally and were given final form as written texts during the late seventeenth century by Hariraya.
4. Kumkum Sangari, "Tracing Akbar; Hagiographies, Popular Narrative Traditions and the Subject of Conversion" in Neera Chandhoke, ed., *Mapping Histories; Essays Presented to Ravinder Kumar*, Delhi: Tulika, pp.61-103.
 5. For the legend of Krishnadas Paihari's spiritual conquest over the Nathpanthis and conversion of the reigning Kachhwaha king to the Vaishnava path, see the version narrated by Sitaramsharan Bhagwanprasad Rupkala in his commentary on the *Bhaktamal* of Nabhdadas, p.305. For other versions of the same legend, see Madhukanta Sharma and Govind Shankar Sharma, "Ramamnand Sampradaya Avam Rajsthan" in S. N. Dube, ed., *Religious Movements in Rajasthan: Ideas and Antiquities*, Jaipur; Centre for Rajasthan Studies (University of Rajasthan), 1996, pp 229-30, William R. Pinch, "History, Devotion and the search for Nabhdadas of Galta" in Daud Ali, ed., *Invoking the Past: The Uses of History in South Asia*, p.387, n.46.
 6. David N. Lorenzen, ed. and trans. (in collaboration with Jagdish Kumar and Uma Thukral), *Kabir Legends and Ananta-Das's Kabir Parachai*, State University of New York, 1991, p.75, and Winand M. Callewaert, ed. (in Collaboration with Swapna Sharma), *The Hagiographies of Anantadas: The Bhakti Poets of North India*, Richmond, Survey: Curzon Press, 2000, pp. 1-28.
 7. David N. Lorenzen, *Kabir Legends*, pp. 73-91.
 8. For the Shiva and Shakta leanings of the Mewar rulers and for the legitimizing function of these cults, especially that of Eklingadevaji in the process of state formation in Mewar, see Nandini Sinha Kapur, *State Formation in Rajasthan: Mewar during the Seventh-Fifteenth Centuries*, Delhi: Manohar, 2002, pp.74-76, 211-25.
 9. Much has been written on the socio-religious dimensions of Mira's devotional commitment to Krishna Bhakti. In recent years, scholars have highlighted the resistive character of her devotion and the persecution let loose by the Sisodiya Rajput ruler of the time. While some have focused on the gendered nature of her devotion and have emphasized her personal resistance to the patriarchal socio-political value system of the Rajputs, other have underlined the links between her image as an anti-authority figure and the aspirations of lower caste marginalized groups. For the ways in which Mira's Bhakti has been explored by scholars in recent times, see the contributions of Madhu Kishwar and Ruth Vanita, and Parita Mukta in *Manushi* (Tenth Anniversary Issue: Women Bhakta Poets), Nos. 50-51-52, January-June 1989; Kumkum Sangari, "Mirabai and the Spiritual Economy of Bhakti", *Economic and Political Weekly*,

- Vol.25, No.27 (Jul.7,1990) pp. 1464-1475 Lindsay Harlan, Religion and Rajput Women, Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, 1994, pp. 205-22, Nancy Martin -Kershaw, "Mirabai: Inscribed in Text, Embodied in Life", Journal of Vaishnava Studies, Fall 1995, pp.5-44, and idem, "Mirabai in the Academy and the Politics of Identity" in Mandakranta Bose, ed., Faces of the Feminine in Ancient, Medieval and Modern India, Delhi: Oxford University Press, 2000 , pp. 162-182, and Parita Mukta, Upholding the Common Life: The Community of Mirabai, Delhi: Oxford University Press, 1994.
10. See Motilal Menariya,ed., Rajaprashasti Mahakavyam, Udaipur Sahitya Sansthan, Rajasthan Vidyapeeth, 1973, fifth sarga , shlokas 38-39, p.53.
 11. Dharmapal Sharma, Mewar: Sanskriti Avam Parampara, Udaipur: Pratap Shodh Prathisthan, 1999, pp. 17-18.
 12. See Prabhudas Vairagi, Shrinathdwara ka Sanskritic Itihas, Aligrah: Bharat Prakashn, Mandir, 1977, pp.70-71.
 13. For the view that the 18th century Rajput kingdoms were based on Hindu kingship model, see Monika Horstmann, "The Temple of Govindadevji: The Symbol of Hindu Kingship", in N K Singh and Rajendra Joshi, eds., Religion, Ritual and Royalty, Jaipur and New Delhi, Rawat Publications, 1999, p.129, and Norbert Peabody, Hindi Kingship and Polity in Pre-colonial India, Cambridge University Press, 2003, p. 50-111.
 14. For Jai Singh's attempts to invent a 'reformed Vaishnavism', see R P Bahuguna, "Religion and Sate in 18th Century Rajasthan: Sawai Jai Singh and 'reformed Vaishnavism', PIHC, 74th Session, Cuttack, 2013, Delhi 2014, pp. 353-62.
 15. For the growing influence of Vaishnavism in Jodhpur during the reign of Bijay Singh, see, Munshi Har Dayal Singh, Report Mardumshumari Rajmarwar 1891 AD (in Hindi), Reprint, Jodhpur: Maharaja Mansingh Pustak Prakash Shodh Kendra, 010, pp. 265-282.

An explorative Study of Vastragrah documents

Swanti Kulshrestha

The Vastragrah is an important document related to the costumes pertaining to 1799 V.S. (A.D. 1741) which is preserved in Rajasthan State Archive, Bikaner. We can identify this Karkhana as royal wardrobe. It deals with the texture of various fabrics alongside number of units utilised. Sometimes it also furnishes details of the price. Vastragrah document also tells us about the different embellishment types used on fabrics like mukesdozi, chikandozi¹, gospech, chhint, chhapadar, butadar², phulkari³, geeradpech⁴, kalabattu⁵. It provides us daily expenditure incurred on the fabrics. Chikandozi and Phulkari are the most famous types of embroideries which were repeatedly in demand in our document. The name of several dresses can also be gauged in the document. Such dresses are jama⁶, choli⁷, topi⁸, dupatta⁹, dastana¹⁰, mauja¹¹, qamarbandha¹².

Our major source is Karkhanazat papers, through which we can study about intricacies of such manufactories. Such micro level information is lacking in Ain-i-Akbari. These documents were maintained by royal class of Jaipur in order to maintain the record of expenditure. Details of raw material procured from other states and the expense on embellishment were also recorded. These records thus enhance our awareness about the culture of Amber state. We have a rich profusion of primary sources which are preserved in Rajasthan State Archive, Bikaner. From this source we can also study the numerous varieties of fabrics and the type of embellishments. One finds micro level intricacies like the unit (than), range of price of fabric which are also recorded in our document.

Table showing wide variety of fabrics in Vastragrah

Date/Day	Total Unit [Than]	Raw Material/ Variety of Fabrics	Weight [Tola]	Measurement [gaz]	Price Rs.	Reference (Folio no.)
		Bengal Mashru (mixed silk and			ANNAS	17

	cotton)		
57	Guajrati		7
31	Banarasi		8
Asoj Vadi 5/			57
Wednesday 1	Suqlat	4	57
Asoj Vadi 10/6	Alam (kind		57
Monday	of muslin)		
4	Alamchikanka		57
(Breakup) 2			55 57
1			5 57
2	AlamZarika		57
(Breakup) 1			21 57
1			8 57
Asoj Sudi 8/	Resham(Silk)	2	61
Saturday			
Kaati Vadi 4/ 2		8	63
Wednesday			
	Alaicha (Stripped	8	63
	Silk material)		
	Safed		
Kaati Vadi 5/	Bafta Safed	6	63
Thursday			
1	Suqlat (soft		63
	woolen cloth)		
10	Bafta (expensive	11	63
	cotton stuff)		
10	Momjama		25
902	Saila		25
12	Amari		85
1149	Atlas (type of		
	silk or Satin)		85
3	Mahmudi		37
	(cotton stuff)		
4	Gazi (low priced-		37
	cotton cloth)		
1	Adhotra		39
10	Balabandi		75
32	Tafta (silk cloth)		45
3	Naurangshahi		46
	(white muslin)		
10	Tansukh (high		53
	priced cotton)		

2	Hazarnumai	97
20	Sarbansukh	388
8	Atamsukh	89
50	Botana	75

From the above table we can see nature of versatility of the usage of fabrics. The table made the information easily accessible about the fabrics which were coming from the city Gujrat, Banaras. Different names of fabric do find mention here such as Mashru, Bafta, Tafta, Momjama, Alam, Balabandi, Alaicha, Mahmudi, Saila, etc.

Table indicating different types of embellishment on fabrics.

Date/ Day	Total Unit [Than]	Embellishment on Fabrics	Price. Rs.ANNAS	Reference (Folio no.)
AsojVadi 14/ Friday	1	Zari (Gold)	30	259
	5	Chikandozi	25 5	259
	1	Mukesdozi	55 8	259
AsojSudi 4/ Tuesday	1	Mukesi	13	259
	9	Kalabattu		39
	2	Chhaapadar		29
	27	Butadar		29
	1	Chhintka		29
	8	Phulkari		30
	24	DorReshami		52
		GotaZari		233
		KinariZari		100
	8	Nukrai (Silver)		52
17	Kiran		408	
6	Tilai (Glazed)		424	

This document Vastragrah seems so interesting that it also provides us the information about various embroideries like Chikandozi, Mukesdozi, and other technical work done by gold and silver for example Zari (designs made by gold) work like Gota Zari, Alam Zari, Nukrai (Designs made by silver) like Kurta Zari Nukrai. Embroidery includes all forms of needle work and a kind of practice for ornamenting the textile by embroidrer. We

have one illustration of Agra embroider which shows that old man is engaged in making the design with the help of needle and thread¹³. Bahari-Ajam dictionary explains that cloths were broached between the two wooden stickes¹⁴. Ain also mentions about the Zardozi, Kashidaand Kalabatunn embroidered stuffs¹⁵. The Kalabatun (gold wire) was used as a special weft along with the silk¹⁶. Here we can also analyse the fabric as Rangeen, Sada, and Butadar prints an also be gauged in the table. The nature of the information is so useful that it entails very intricate details of the fabric, its furnishing, techniques, and statistics.

Table indicating versatile costumes in Vastragrah

Date/Day	Total Unit [Than]	Names of the Costumes (Fabric made from)	Pairs [Jodi]	Measurement [gaz]	Price Rs.	Reference (Folio no.)
Asoj Vadi 11/ Tuesday	1	Sarpech			7	258
Asoj Vadi 1 / Saturday		Narma		2	2	257
Asoj Vadi 4 / Tuesday	1	Feta (Banarasi)			10	257
Asoj Vadi 8/ Saturday	1	Bugcha (Momjama Rangeen)			6	257
Bhadwa Sudi / Friday	4	Jama (Selaka)				256
Breakup	2				13	256
					8	
	1				20	256
	1				18	256
Asoj Sudi 8 / Saturday	9	Top (Cap) (Taftaka)			2	261
Asoj Sudi 5/ Wednesday		Mochak (Suqlat)	1 Jodi		5	
	62	Kamarbandh				23
	6	Sari Chhintki				81
	31	Angrakha				82

Moza	54 Jodi	109
Dastana	12 Jodi	102

This table explains us the different types of costumes recorded in the Vastragrah document, Costumes are presentable outfits of a person, group or a society. History of Indian costumes makes us more aware about the cultural aspect of society. Head gear Sarpech, Pagari, Top or Topi, an upper garment- Jama, Angrakha, Qamarbandha, Sari Moja Dupatta etc. We can also find reference of most of the cloths from Ain like Sarpech, Jamawar, Gospech¹⁷.

Interestingly Vastragrah document elucidate details of the faces of animals designed on the fabric eg Madhai Ieepa ki Mewal Mor Ka chehra¹⁸. On the Sarbansukh fabric Hirani (Deer) ka Chehra and Mor Morni (male and female peacock) ka Chehra is mentioned¹⁹. We also come to know the nature of technique employed by the artisans, by gold inlayer (Murasa kari) the face was in layered by the combination of Gold wire and the essence of Jasmine flower phool mogra sangeen murassakari sone ka tar ka lapeta chehra²⁰. But these types of print and designs on the fabric were not favoured by Mughals instead the types of print were designed for muslins were Butas, Chhapas of flowers and plants and nature. Our document also enriches our knowledge the statistical data of wages (Ajuro) of the artisans. Wage given for the artisan for making the face from the gold wire is Ajuro for 1 unit (than), 4 Rupees²¹.

Thus our explorative study of the Vastragrah document is rich source of information various fabric, technical embellishment and about different costumes recorded with its intricate statistical details. We also learn about the artisanal wage. These Karkhanazat papers recorded the royal expenditure and their usefulness of the fabrics and costumes. We thus have at hand the information about the most expensive material used by royalty.

References

1. Jamakharach, Vastragrah, Bundle No (Hence forth B.N.) 2, V. S. 1799/1742A.D., Rajasthan State Archive (Hence forth R.S.A.), f, 2, mukesdozi embroidery with badla (silver- gilt wire), chikandozi is the threads of gold or silver and silk were woven together, while floral motif were embroidered.
2. Jamakharach Vastragrah, f. 29, Gospech is a type of jewel used to wear in Ear, Chhint, Chhapadar and Butadar are the print made from the Blocks.
3. Ibid, f. 30, phulkari is a kind of embroidery in which designs of flower

- made by silk thread.
4. Ibid, f. 31,
 5. Ibid, f. 39, Kalabattu is a type of embroidery done from gold or silver wire on silk cloth.
 6. Ibid, f. 42, A coat for a man with a close fitting bodice.
 7. Ibid, f. 38, A short tight bodice worn by women.
 8. Ibid, f. 51, A Head Gear (Cap).
 9. Ibid, f. 60, A Veil or head cloth for women made from two breadths of fabric sewn together along with their length.
 10. Ibid, f. 102, A pair of hand gloves.
 11. Ibid, f. 109, A pair of socks.
 12. Ibid, f. 23
 13. Watt, George, Indian Art at Delhi being the official catalogue of Delhi exhibition, 1902-1903, Calcutta. Plate no 53 A.
 14. Munshi, Tek Chand Bahar, Bahar-i-Ajam, A.D. 1739-40, ed. Nawal Kishore, Lucknow, 1916.
 15. AbulFazl, Ain-i-Akbari, ed. Nawal Kishore, Vol. I., Lucknow, 1883, p. 67.
 16. Watt George, Indian Art at Delhi, op. cit., p 416.
 17. AbulFazl, Ain-i-Akbari, op.cit., p. 72, for more details see Chandramani Singh, Textiles and Costumes from Maharaja Sawai Man Singh II Museum, Jaipur, 2001, pp - XII to XX : See also Glossary of Textile terms in John Irwin & Margret Hall, Indian Embroideries, Vol. II, Ahemdabad, 1973.
 18. Jamakharach, Vastragrah, op.cit.,f. 122.
 19. Ibid, f 133.
 20. Ibid. f. 130.
 21. Jamakharach Vastragrah, op. cit. p 122

Emergence and Growth of Jaisalmer as a Trading Mart of Medieval Rajasthan

Syed Sumbul Arif

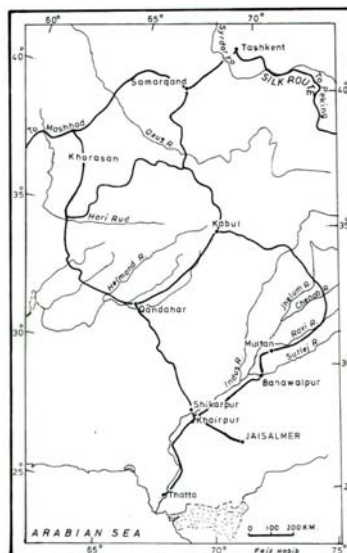
The city of Jaisalmer is located within a rectangle lying of 26° 4', 28° 23' North and 69° 20' 72°42' East Meridian. On the present Map of India, it is the largest district with the thinnest population in the state of Rajasthan¹. Along the western boundary of Rajasthan, India and Pakistan, face each other across the international boundary for about 1,070 kms. This separates the Indian districts of Ganganagar, Bikaner, Jaisalmer and Barmer of Rajasthan from Pakistan districts of Bahawalpur, Khairpur and Mirpur Khas. The boundary between Rajasthan and Pakistan is basically natural as it passes across the bleak inhospitable and arid wastelands, known as the Thar Desert². The city of Jaisalmer shimmers like a mirage amidst the desolate beauty of hot barren desert of Rajasthan.

Bhati Rajputs of Jaisalmer established their kingdom at Ghazni in Afghanistan. When Mahmud of Ghazni forcibly evicted them from Ghazni, Bhati came to Sialkot. After being uprooted from here also Bhatias came further south and founded Bhatner presently known as Hanumangarh. Thereafter, the Bhatias defeated a branch tribe of Tanwar Rajputs and established the new capital on the banks of the river Kak. This place is known as Lodarva, is situated about 7-8 kos north of Jaisalmer. Raja Jaisal erected a fort on a hillock known as Trikuta with the blessing of Ratan Nath, an ascetic³ of the region. The Jaisalmer fort is the second oldest fort in Rajasthan after Chittaur and commands the desertscape from its 250 feet high pedestal on Trikuta hills. Due to its existence in the desert, Jaisalmer was also less prone to invasions, unless invited by its people due to their own acts as witnessed in history before the Mughals. Its major developments started during the reign of Mughals where after an initial fight with Humayun, the Bhatias maintained a cordial relationship with other Mughal kings including marrying them with their daughters⁴. This ensured their peaceful existence leading to economic and cultural prosperity which is highlighted in their 17th and 18th century art and architecture. Jaisalmer also witnessed decline with the downfall of Mughal empire when British opened up ports of Bombay and Calcutta in the mid of 17th century. Thus, new trade routes through the sea were established

lowering the importance of earlier ones through the desert city resulting in decline of prosperity in Jaisalmer⁵.

In Epic period, Indraprasth, the capital seat of ancient Delhi had its link for administrative and trading purposes with the coastal region of Sind, the nearest sea port, and Jaisalmer region held strategic position having fallen in this trade route⁶. Once upon a time, Jaisalmer was a busy pit stop on the 'Silk Route'. As a part of Silk Road- a 2,000- years old trading route that connected China to Turkey and Italy via India and Central Asia- the Thar was once witness to a mirage more improbable than water: colorful caravans travelling across the desert expanse laden with spices, silk, tapestries, precious stones and bronze ornaments, led by wealthy merchants from China, the Middle East and even Egypt, who had their lives and fortunes on surviving the desert⁷.

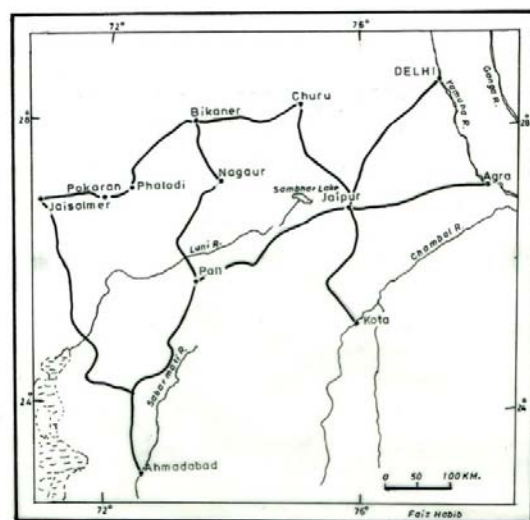
During the medieval times, Jaisalmer made rapid progress due to its strategic location on the camel trade route between India and Central Asia. The river Indus was like a life sustaining entity to the people of Jaisalmer. The river and the people had intimate links. It is noticeable that the people of Jaisalmer had trading connections with Afghanistan, Iran, and other Central Asian towns such as Tashkent, Khorasan and Samarqand⁸ (see Map I). Jaisalmer in Rajasthan became pit stop for the travellers who preferred to cut across 3,20,000 sq km of the Thar rather than traverse the Pamir mountains of Central Asia.



Map I: Jaisalmer's external trading connections

The Rajasthan desert in the west, consist of Barmer, Jaisalmer and Bikaner which has been covered by sand dunes and runs from the great Rann along the Pakistan border to Punjab. The western sandy plain region is not completely infertile. The region receives very low rainfall i.e. about 12 cm to 25 cm⁹. Therefore the grains like, bajra, millets and pulses are the important crops of this region, here gradually the percentage of net sown area decreses to 9%¹⁰. Babur in his memoir mentions about the scanty rainfall and thorny vegetation in the desert area¹¹. Instead this area, excels in other small scale industries like wool and woolen products, limestone, yellow marble, brass and copper utensils and leather products.

Jaisalmer was the main lead in connecting Rajputana and rest of India with Thatta, Bahawalpur, Sindh, Multan, etc. It acted as a nodal point for traders while carrying their products like wool, indigo, sugar and iron products to Sindh (Khairpur) via Shikarpur, in return these traders brought with them coconut (nariyal), dates (khajoor), dry fruits (mava), horses, sandalwood (chandankilakdhi), ivory (haathidant), asafotida (heeng), etc¹². Products from rest of India and Rajputana like indigo (neel) from Ganga Yamuna Doab, opium (afim) from Kota and Malwa¹³, iron products from Jaipur, sugar (misri) of Bikaner were brought forward to Sindh, Multan and Shikarpur via Jaisalmer¹⁴ (see Map II) Details of the routes connected or passing to Jaisalmer are mentioned below.



(A). External trade routes in connection with Jaisalmer:

1. Shikarpur to Jaipur : Shikarpur- Jaisalmer- Jodhpur- Merta- Parbatsar-Rupnagar- Jaipur¹⁵.
2. Bikaner to Thatta : Bikaner- Jaisalmer- Thatta¹⁶.
3. Qandahar to Jaisalmer : Distance from Qandahar to Shikarpur 300 kos and from Shikarpur to Jaisalmer 100 kos¹⁷.
4. Agra to Khaipur or Hyderabad Sindh : Agra- Bikaner- Jaisalmer- Khairpur- Hyderabad- Sindh¹⁸.
5. Bikaner to Shikarpur : Bikaner- Kolayat- Bap- Jaisalmer- Rehani- Sakhar- Shikarpur¹⁹.
6. Bikaner or Jaisalmer to Ahmedabad : Bikaner or Jaisalmer- Pokaran- Phalaudi-Jodhpur- Pali- Palanpur- Ahmedabad²⁰
7. Jaisalmer to Khairpur : Jaisalmer- Ghotaru- Shahgarh- Khairpur- Khaba- Mahajalar- Gadra-Sindh²¹.
8. Jaisalmer to Bahawalpur : Jaisalmer- Deva- Bui- Khanpur²².
9. Khairpur to Jodhpur : Khairpur- Shahgarh- Ghotaru- Jaisalmer- Pokaran- Jodhpur²³.
10. Sindh to Ujjain : Sindh- Jaisalmer- Pali- Sohjat- Ujjain²⁴.
11. Shikarpur to Karauli : Shikarpur- Sakhar- Jaisalmer- Bikaner- Churu- Jaipur- Karauli²⁵.

(B). Internal trade routes of Jaisalmer in connection with other centres of Rajasthan:

1. Jaisalmer to Jaipur : Jaisalmer- Pokaran- Phalodi-Nagaur- Rupnagar- Jaipur²⁶.
2. Bikaner to Jaisalmer : Bikaner- Bidasar- Chaku- Jambha- Phalodi- Pokaran- Lathi- Jaisalmer²⁷.
3. Jaisalmer to Jodhpur : Jaisalmer- Pokaran- Lawa- Mandla- Jodhpur²⁸.
4. Jaisalmer to Churu : Jaisalmer- Pokaran- Phalodi- Bap- Sodawa- Churu²⁹.

Mahajan, Maheshwari, Agarwal and Paliwal Brahmins were major trading communities from Jaisalmer. Kesari Chand Chandag, Jaskaran Bhatt, Jhamat Khatri, Megh Raj Vyas, Aso Bhatt and Devidan Godhi were noted traders of Jaisalmer who extensively traded their goods with Bikaner, Churu and Jaipur³⁰.

In the sources of the 18th- 19th centuries like Zakat Bahi/ Jagat Bahi and Sanad Parwana Bahi, it is explained that the traders of different areas carried goods and send from one place to another as for instance, trader Jaskaran Dammani carried 42.5 manmajeeth and kharaka to Bikaner³¹, trader Khetsi Shah sent 10.5 mann wool to Churu (Bikaner) through Dagah³². It is a noticeable fact that the traders of Jaisalmer and western Rajputana had strong trading contacts with the regions of India, especially Delhi, Gujarat, Malwa and Deccan. As for example, a Gujarati merchant, Maghji Patel bought wool worth of 500 rupees from Jaisalmer³³. The routes were being used for trade from western Rajputana to Multan, Kabul and Sindh were known as 'Camel Route' (qatar) and the route adopted for trade between Delhi, Malwa and Gujarat via southern Rajputana were called 'Bullock Route' (ballad marg)³⁴. R. C. Dutt writes that in Jaisalmer, Bikaner and other western places, camels carried men and women with their packages and supply of water³⁵. Jauhar Aftabchi's Memoirs of Humayun, mentions about such caravans where grains and various other articles were brought from Jaisalmer and other towns at a village of Bhikar, called Ara³⁶. Fray Sebastien Manrique in his travel account of India, mentions, "after crossing the city of Marum (Umarkot), passing through dry, wild and sandy desert for days without water, finally reached Jaisalmer and were fed with drinks and milky food, along with abundance of she-goats"³⁷. Regarding cultural life of Jaisalmer, Manrique tells us about the singing and dancing at festivals and entertainment for travellers³⁸. He was highly impressed by the folk dances at Jaisalmer³⁹.

Rajasthan was also famous for the abundant production of fuller's earth (multanimitti). It was mined in Phalodi, Jaisalmer, and Pugal⁴⁰. From here, it was being sent in large quantity to different parts of Rajasthan. Rughnath Acharaj brought 45 maunds of sajjikhar from Jaisalmer to Bikaner⁴¹. Some import and export items of Jaisalmer are mentioned in Table I and II.

Table I
IMPORTS OF JAISALMER⁴²

S. No.	Name of the towns from where goods were imported to Jaisalmer	Name of the imported goods
1.	Bikaner	Navsadar, lac, dry ginger, sugar, gurand clothes.
2.	Jaipur	Iron, sugar, gur, navsadarand indigo.
3.	Churu	Silk, clothes, rice, sugar, cotton, cloths and indigo.
4.	Sindh	Dry fruits, harmirach, gugal, antimony, asafotida, horses, coconut, sandalwood and alum.
5.	Nagaur	Iron.
6.	Kota	Opium.

Table II
EXPORTS OF JAISALMER⁴³

S. No.	Name of the towns to which the goods were exported from Jaisalmer	Name of the exported goods
1.	Bikaner	Antimony, khar, harmirach, dry- fruits, gugal, asafetida, alum, chilly, cloths and gall- nut.
2.	Churu	Wool, woolen cloths, alum and fullers's earth.
3.	Jaipur	Horses, blankets.
4.	Gujarat	Wool and woolen products.
5.	Delhi	Wool and Dry Fruits.

Jaisalmer has rightly been called the heart of the desert Thar. It was a principal commercial and trade centre, suitably due to its geographical position. It formed the trading link between Sindh, Rajputana and Delhi. Although Jaisalmer route was highly insecure due to theft and robbery, still it was preferred by the majority of the travellers and traders due to its short distance. Even in ancient times Jaisalmer has been part of historic Silk route. The Bhati Rajputs developed a unique architecture and erected

forts, palaces, havelis, cenotaphs and gardens, which are still the pride of the city. Therefore, this greatly attracted attention of the tourists. Although Jaisalmer could not develop as a big agricultural industry, yet it has marked its place in industrial sector, textile industry, handicraft and small- scale industry. The mineral products so far known to exist here are salt, gypsum, fuller's earth, limestone, sand stone, kankar, etc. Other articles manufactured here agricultural implements, tanned leather, soap, ivory, bangles, candles, chalks, etc. Woolen products, blankets, camel hair carpets, khadi and goat- hair bags have flourished as a rural and urban industry⁴⁴.

References

1. R. A. Agarawala, History, Art, and Architecture of Jaisalmer, Agam Kala Prakashan, Delhi, 1979, p. 18.
2. V. C. Misra, Geography of Rajasthan, National Book Trust, New Delhi, 1967, p. 3.
3. Ranbir Singh, Jaisalmer: Art Architecture and Tourism, Shubi Publication, Gurgaon, 2010, p. 7.
4. AbulFazl, Akbarnamah, translated into English by H. Beveridge, pp. 518-19
5. Mohammad Saquib, 'Layers of Silk Route over Sands of Jaisalmer: An Architectural Discourse in History', published in journal ATEET.
6. SureshwaraNand, Jaisalmer- Antiquites, Research Publication, Jaipur, 1990, p. 7.
7. Nirati Agarwal, 'Jaisalmer and the Silk Route: An Intimate Acquaintance in the Desert', published in Forbes India Magazine, 2015.
8. Ranbir Singh, Jaisalmer: Art Architecture and Tourism, op. cit., p. 7.
9. V. C. Misra, Geography of Rajasthan, op. cit., p. 46.
10. Ibid. pp .5-6.
11. Babur, Babur- Nama, translated into English by A. S. Beveridge, Oriental Publication, New Delhi, 1921, pp. 485-6.
12. Sanad ParwanaBahī, No. 3, V. S. 1822 / A. D. 1765; Sanad ParwanaBahī, No. 14, V. S. 1831 / A. D. 1774 p. 36 f- 2; Sanad ParwanaBahī, No. 17, V. S. 1833 / A. D. 1776, p. 37 f- 2, Jodhpur Records; Zakat Bahī, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Bikaner Records.
13. Jibraeil, 'Urban Centres of Rajasthan and their Trading Connection with Malwa in the Eighteenth Century' published in Shodh Sadhana, Sitamau, 2016.
14. Col. James Todd, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol II, Low Price Publication, New Delhi, 1971, p. 1142.
15. Sanad ParwanaBahī, No. 9, Posh Sudi 15, V. S. 1826 / A. D. 1769, Jodhpur Records.
16. Sawa- Mandi- Sadar- Bahī, No. 4, V. S. 1807-10 / A. D. 1750- 53, Bikaner Records.

17. Kharita and Chithies, File No. 32/115, Dastari Records (Jodhpur State).
18. Col. James Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan, op. cit., pp. 1248-50.
19. Jama KharchBahi, No. 240, V. S. 1776 / A. D. 1719, Bikaner Records.
20. Bahi Mahajan, V. S. 1826 / A. D. 1769, Rampuria Records, Bikaner.
21. Lakhmichand, Tawarikh Jaisalmer, Rajasthani Granthgar, Jodhpur, 1999, p. 212.
22. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Bikaner Records.
23. YaddastBahi, No.8, V. S. 1874 / A. D. 1817, MitiFalgunVadi 5, Jaisalmer.
24. Sanad ParwanaBahi, No. 5, V. S. 1823 / A. D. 1766, Miti Posh Sudi 12, Jodhpur Records.
25. Letter from Raja Tulasi Pal of Karauli to Maharaja SawaiMadho Singh dated AsadhSudi14, V. S. 1817 / A. D. 1760, Draft Kharita and Parwana, Jaipur Records.
26. Sanad ParwanaBahi, No. 13, V. S. 1830 / A. D. 1773, f. 58, Sanad ParwanBahi, No. 20, V. S. 1835 / A. D. 1778, f. 193, Jodhpur Records.
27. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Bikaner Records; Bankidas-ri-Khyat, II, pp 284-86.
28. Rajputana Gazetteer, Vol. II, p. 254.
29. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Kota Records.
30. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Bikaner Records.
31. Zakat Bahi, No. 80, V. S. 1799 / A. D. 1742, Bikaner Records.
32. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1799 / A. D. 1742, Bikaner Records.
33. Sanad ParwanaBahi, No. 9, V. S. 1826 / A. D. 1769, p. 238, f- 1.
34. Rajendra Kumar, Woolen Trade in Western Rajputana (1759- 1818 A. D.): Its impact on Society and Economy, Bikaner, 2010, pp. 309- 10.
35. R. C. Dutt, Rambles of India, Calcutta, 1895, p.50.
36. Jouher, Private Memoirs of the Mughal Emperor Humayun (Tezkereh Al Vakiat), translated into English by Major Charles Stewart, Idarah-i-Adabiyat Dilli, Delhi, 1972, p. 35.
37. Travels of Fray Sebastien Manrique 1629- 1643, translated into English by C. Eckford Luard, Vol II, Oxord, 1926, pp. 241- 2.
38. Ibid.
39. G. N. Sharma, Rajasthan Studies, Lakshmi Narain Agarwal Educational Publishers, Agra, 1970, p 108.
40. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Sawa- Mandi- Sadar- Bahi, no. 4, V. S. 1807- 10 / A. D. 1750- 53, Bikaner Records.
41. Ibid.
42. Sawa- Mandi- Sadar- Bahi, No 3, V. S. 1805 / A. D. 1748, Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Bikaner Records.
43. Zakat Bahi, No. 81, V. S. 1807 / A. D. 1750, Sawa- Mandi- Sadar- bahi, No. 4, V. S. 1807- 10 / A. D. 1750- 53, Sanad- Parwana- Bahi, No. 24, V. S. 1837 / A. D. 1780, f. 193, Jodhpur Records.
44. Rajasthan District Gazetteer, Jaisalmer, ed. K.K. Sehgal, Jaipur, 1973, pp. 122- 8.

Cultural Significance of Water Harvesting Monuments in Qasba Merta : Derani Talab A Living Evidence

Dr. Jibraeil

Merta has its own historicity and is known for its cultural importance, antiquity and other structural activities which helped it to make an exciting culture. It is known for its composite nature in its art, architecture and other historical monuments. It is also very rich in other aspects such as political, economy, socio-religious and particularly cultural history. The ancient names of the town were Medantaka¹ and Medantapura². In medieval times, it was called as Medanipura³. This town is situated at a distance of around one hundred and seventeen kms, north-east of the Jodhpur⁴. The earliest reference of this town is found in the Jodhpur inscription of the Pratihara chieftain Bauka with its year 837 A.D.⁵. After Pratiharas, this town came under the possession of the Chauhanas⁶. Merta was captured by Alauddin Khalji in 1302 A.D. and appointed Tajadi Ali as his viceroy⁷. Merta was ruled by Chauhan Maldeo Sangara in 1318 A.D., after that it was in ruined condition and rooted up to a long period of Merta history⁸. Therefore, Merta took waste shape and became deserted and depopulated⁹. Rao Jodha, the founder of Jodhpur, distributed areas among his own brothers and sons. In this regard the region of Merta was given to Var Singh and Dudhaji¹⁰. Both of them fill up the long gap of the area and in V.S. 1519/1462 A.D. foundation stone of Kot near a beautiful water tank called Bejhapa Kundal, where earlier the Merta city flourished¹¹ was laid and with their own efforts distributed villages among the Jat farmers. Finally Merta pargana regained its position.¹² Dudhaji successfully constructed a big reservoir in Merta known as Dudasar¹³. It is still alive and the water of it is being used mostly by the animals. For some time Merta was also occupied by Sher Shah when Viramdev advised him to capture this pargana. After She Shah's death Maldeo again took possession of Jodhpur¹⁴.

It is fascinating to note that the Merta City was an excellent example of extraordinary water management system, but gradually destroyed its catchments' area through unplanned process of modernization and urbanization. For this, while earlier selecting the location of the city, its ruler must have seriously considered its water potential and strategic situations. In the qasba we explored surface as well as ground water bodies.

In Rajasthan generally we found talabs and talais¹⁵. Talab, basically is a popular word and used locally for water reservoirs situated in valleys and natural depressions. Some of the talabs have less deep wells called beris¹⁶ in their beds. Special care was given for the maintenance of the catchments (agor) of each talab. These talabs have been the main source of water for the human and animal population in present days too.

We have consulted many records and also met to knowledgeable persons and elder men at the survey sites and then came to know about five talabs¹⁷ and two baoris either in destroyed or polluted form. Water of these talabs are still in use but mainly for drinking of animals and other purposes by the local population. More or less the catchment area of talabs has been destroyed and constructed buildings in the agor.

There are altogether five tanks in Merta City; First Derani Talab, Second Kunda; Third Dangolai Talab, Four Baapji Dargah Talab, Five Belampura Talab and two beautiful baori such as Bamb Baori and Fort Baori. The existing talabs can become a good source of potable water and need immediate attention. If the talabs go dry, the survival of a large number of wells and baoris will be threatened. Through the source based survey work an attempt is made to explain how the monuments are constructed on embankments of Derani talab: In our survey we explored a large number of religious and secular monuments in the town¹⁸. Of these, Derani can be considered as a talab of composite nature.

Derani Talab

In our survey we explored following monuments which are situated on the embankments of the Derani Talab:

- 1) Dargah of Hajrat Baba Lakhan
- 2) Dargah of Shah Barkat Ali
- 3) Dargah of Jina Shah Baba

- 4) Two Temples
- 5) Other monuments

Dargah of Hajrat Baba Lakhani: This water-body was surveyed by us with the help of a person Janab Hafiz Abdul Gafoor who is curator of this dargah since 40 years. Left side of the inlet of the talab, a shrine of Hajrat Baba Lakhani is situated. A qatba is also explored which is attached on the entrance wall of the shrine.

Dargah of Shah Barkat Ali: This shrine is situated on the right bank of the talab, just opposite the Hajrat Baba Lakhani. According to a survey record, on average, everyday it is being visited by 50 to 100 people of different communities and religions from the different corners of the state to pay homage to dargah.

Dargah of Jina Shah Baba: It is shrine of Qadiriya silsila. It has around seven mazaars inside the estate of the shrine. The leading dargah of the campus is of dargah of Sufi Qari Shaikh Hussain and locals call him as Qadiri Sahab Baapji. Every year urs is celebrated and the followers and small traders visit this place. This shrine has a beautiful gate called Buland Darwaza.

Temples and other monuments

There are two temples situated on the banks of the Derani Talab. People of the different places of the state are regularly visiting these two temples. One temple based on the faith of the Nath Sampradaya and another temple is based on the faith of the different Gods and statues are placed inside the campus of the temple. Many other monuments are situated on the banks of the talab. Peoples of nearby talab are still using water for the drinking and other purposes.

The above surveys of the monuments are situated on the embankment of the Derani Talab in Merta city of Rajasthan. This study reflects an impact on the people of different social strata, irrespective of caste and creed. The gathering of large number of people in and around the talabs, temples and dargah, and to involve in the Hindu festival by Muslims and in the Muslim festivals especially in urs of dargahs by Hindus, give boost to the growth of the settlement and these kinds of activity help in the progress of the healthier culture known as composite culture. Around it gradually big markets were developed as the number of devotees/pilgrims increased

and also the settlement was expanded. On the occasion of the annual celebrations and traditional fairs, a large number of pilgrims from the different corners of the state and country come to give impetus to the growth of centre in the respect of culture. The significance of these existing monuments of two religions on the embankments of Derani Talab is considered as the place of love and affection and boosts the development of composite nature of culture in said town.

References

1. Epigraphia Indica, XVIII, p. 98
2. Peterson's Report Bombay, 1883-84, III, p. 274. See an article of Hukum Singh Bhati, 'Pargana Merta: Aitihāsik Adhyayan', Vishvambhara, Hindi Vishva Bharti Shodh Pratishthan, Bikaner, Ank-1, January-March-1981, pp. 10-18.
3. K.C. Jain, Ancient Cities and Towns of Rajasthan, Motilal Banarsidas, Delhi, First Edition, 1972, p. 177
4. Ibid.
5. Epigraphia Indica, XVIII, p. 98
6. K.C. Jain, Ancient Cities and Towns of Rajasthan, op. cit., p. 177
7. Hukum Singh Bhati, 'Pargana Merta: Aitihāsik Adhyayan', op. cit., p. 10; K.C. Jain, Ancient Cities and Towns of Rajasthan, op. cit., p. 177. [The conquest date of Merta in 1328 by Alauddin Khalji is incorrect date mentioned by K.C. Jain because his ruling tenure was between 1296-1316 A.D.]
8. Hukum Singh Bhati, Rajasthan Ke Metatiya Rathor, Rajsthani Granthagar, Jodhpur, 1986, p. 21.
9. Ibid. [Nainsi in his Khyat, mentioned that the foundation time of Merta was VS. 1515/ AD 1458. Hukum Singh Bhati is denied this date for the foundation of Merta because this date is the foundation stone of Jodhpur Fort by Rao Jodha and after that he had provided Merta region to his sons and then Merta city was re-founded by them. See Nainsi, Khyat, III, 80-81, Vigat-I, 41; R.P. Vyas, 'Marwar Mein Samanti Pratha', Parampara, Bhag-49-50, p. 79. The author of this article is agreeing with the view of Hukum Singh Bhati].
10. Bankidas, Khyat, 57; Vigat-I, 39 (As quoted by Hukum Singh Bhati, 'Pargana Merta: Aitihāsik Adhyayan', op. cit., p. 10).
11. Vigat-II, 37-39. Nainsi, Khyat, III, 80-81, Vigat-I, 41, R.P. Vyas, 'Marwar Mein Samanti Pratha', Parampara, Bhag-49-50, p. 79.
12. Hukum Singh Bhati, 'Pargana Merta: Aitihāsik Adhyayan', op. cit., pp. 10-11.
13. Vigat-II, 47. Hukum Singh Bhati, 'Pargana Merta: Aitihāsik Adhyayan', op. cit., p. 12; K.C. Jain, Ancient Cities and Towns of Rajasthan, op. cit., p. 177.

14. Hukum Singh Bhati, 'Pargana Merta: Aitihāsik Adhyayan', op. cit., pp. 13-14.
15. The difference between talab and talai is basically related to their size and the slope to their size. The slope of talab is on the corner while that of talai is kept in the centre of the water body.
16. It is small well in the talab (lake) bed. See Dying Wisdom (Traditional Water Harvesting System), ed. Anil Agarwal and Sunita Narain, CSE, p.389 (Glossary). Beris means shallow well without tanks. Nainsi recorded more than 400 beris in qasba Phalodi. Sometimes ten feet deep sweet water, Munhata Nainsi, Marwar - ra-pargana-ri-Vigat, ed. Narain Singh Bhati, Vol-II, 1969 (Chapter on Qasba Phalodi).
17. Physical survey of the site.
18. Monuments are alive in the city are: Derani Talab, Kunda Talab; Dangolai Talab, Baapji Dargah Talab, Belampura Talab, Vishnu Talab, Duda Sagar, Bamb Baori, Fort Baori, Dargah of Hajrat Baba Lakhani, Dargah of Shah Barkat Ali, Dargah of Jina Shah Baba, Dargah of Hajrat Syed Shaikh Fazlur-Rehman, Fort Dargah, Dargah of Hafiz Abdul Razzaq Shah Baba, Derani Temple, Nath Sampradaya Temple, Shri Vijay Chintamani Parshvanath Temple, Balaji Temple, Meera Temple, Meera Mahal, Ghoshi Masjid, Malkot Fort, Fort Mosque (Lunkot Masjid), Idgah, Shahi Jama Masjid and other monuments of the city. A Physical Survey and Interviews at the Site.

Secular and Religious Monuments of Merta : A Survey

Dr. Yaqub Ali Khan

Merta city is situated at a distance of one hundred seventeen Kms. north-east of Jodhpur. It was known in the ancient period as Medantak and Medatpura¹ and during the medieval period as Medinipura.² It is known from the inscription dated Samvat 894 of Pratihar Samanta Baouka that Nagbhata, one of Baouka's predecessor's is represented to have made Medantaka his capital who was the grandson of Rajjila who ruled over Mandore in 6th century AD.³ After the Pratiharas it came under the possession of Chauhans. The ruler of Merta was attacked and defeated by the Sultan Alauddin Khalji in 1302 and there he appointed his fauzdar, Tajuddin Ali.⁴ According to a Jain source this place was being ruled by Chauhan Maldev Songra.

After the death of Raimal, his son Rao Jodha fled away from Chittor and came to his ancestral land and occupied Mandore. Making the base to this place he founded a fort near Mandore which is known as called Mehrangarh in Samvat 1515⁵ and a city after his name known as Jodhpur. When Rao Jodha settled and secured his position at Jodhpur, he assigned jagirs to his brothers and others who helped him greatly achieving this position. In this connection he assigned the Merta region to Varsingh and Duda who were the son of Jodha and born from his queen Songari Champa Khivawat. Rao Varsingh and Duda founded Merta in the VS 1518.⁶

The fauzdar of Ajmer who was appointed by Sultan Nasir of Malwa, attacked on Merta in 1491 and looted to it but he was defeated.⁷ After the death of Varsingh his brother Rao Duda was enthroned on the seat of Merta where he constructed Dudasar.⁸ Rao Duda was succeeded by his son, Rao Viramdev. Rao Viram Dev was a brave and enthusiastic and he participated in the battle of Khanwa against Babur assisting to Rana Sanga with 4000 armed forces.⁹

After the battle of Sevki Merta became a bone of contest between

Rao Viarmdev and Rao Maldev. Rao Maldev attacked on Mera and occupied it.¹⁰ So Viramdev came to Shershah who assigned to him Merta in 1544 after the defeat of Rao Maldev in the battle of Sumel.¹¹ After the few years Maldev occupied Merta defeating to Jaimal and destructed many buildings of Merta constructed by Jaimal and the city was renamed as Nayanagar and started a new fort which is known as Malkot after his name.¹² Akbar's commander Muhammad Sharfuddin Hussain Mirza attacked on Malkot of Merta in 1561 and made blast in the walls of the fort and its holder Jagmal fled away and Jaitawat Devidas along with numerous Mertiya chieftains was killed. The fort and city was assigned to Jaimal.¹³ During the reign of Jahangir, Merta was given to Maharaja Gaj Singh as a gift.¹⁴ After the death of Maharaja Jaswant Singh, Aurangzeb declared as a Khalisa land and the whole Marwar region including Merta came directly under the control of the emperor but in 1679.¹⁵ Mughal fauzdar Saadullah Khan was defeated but in retaliation of this conflict, Mughal Subedar Tahwwur Khan attacked on Merta and regained it. Sometimes it came under the control of Ajit Singh and sometimes it was occupied by other Rajput ruler of the area. In 1790 Mahadaji Scindhia sent a big force under the command of D.Boine who who captured Merta. Later on getting huge amount of compensation from the Rajputs he handed over Merta to them.¹⁶ From that period onward, Merta became free from the jaswls of Marathas and the Mughals and it came under the direct control of its locale feudatories.

Merta is a place of historical importance and antiquity. There are a number of historical monuments related to medieval Indian History. The monuments of Merta have been divided into two parts: Religious monuments and Secular monuments regarding the religious monuments there are many mosques, shrines and mazars of the Muslim Sufi Saints.

There exists a huge mosque which was built during the reign of Emperor Aurangzeb. This mosque was built by Haji Muhammad Sultan who was the son Payanda Muhammad Bukhari. Bukhari was the Muthatsib and Mutawalli of the Jodhpur Suba.¹⁷ It is a unique specimen of Islamic architecture. Entering into the dalan or courtyard of the mosque there are to inscription of Maharaja Dhonkal Singh dated V.S. 1864 written in Urdu and Devnagari in which it is mentioned that the mosque was not in use due to some political disturbance in the Marwar region. When Dhonkal Singh declared himself as the ruler of the Marwar state, he opened the

mosque for the Muslims for prayers and at the same time he also declared that income from the shops which are constructed around the mosque will be used for the expenditure of the mosque and gave some charity to the mosque also.

The next monument was related to Sufi saint, Hazarat Faqir Shah situated on the bank of a big tank. This is situated on the bank of Derani talab. This talab is very large. On the other side of this talab there is situated a beautiful Hindu temple called as Derani Nadi Mandir. On the bank of the same tank there are the some graves of sufi saints named as Baba Lakhan and Zinnah Shah Baba. There exist some other shrines of the Suri saints particularly Shah Barkat Ali's dargah¹⁹ and other religious places of the Hindus such as Sati Chhabutra and a place of local deity. Another shrine on the bank of Kundal talab is situated which is known as the dargah of Shaikh Fazlu-ur-Rahman Sahib. At present the shrine has big plot of land and some of the land has been encroached by the locale peoples. It is compound of seven sufi dargahs.

There are some Jain monuments and Jain temples of the ancient and medieval period. The temple of Sri Vijay Chaintamani Parshwanath is very ancient and in its compound there are three small temples having the idols with the inscriptions on them.²⁰ Another Jain temple is related to Yugpradhan Jinchandra Suri's famous disciple Jinraj Suri's temple. There is an inscription in it. According to it was constructed by an Oswal Gandhar Chopra. It is also evident from this inscription that Akbar assigned the title of 'Jagadguru' on Vijaydev Suri and Jahangir has conferred the title 'Mahatapa' on the same.²¹ Near to Jain temple there were few water bodies and most important among them was a step well which is called as Bamb Baori and near it there was a Shiv temple. Near this place there is a place where near about 160 water berries are existing and the area is known Kundal talab²² where the old Merta was founded by Nagbhatt.

The Idgah of the city is also a place of historical importance. There is a suri shrine in it and few graves are there. The most interesting thing of this Idgah is that it was built during the reign of Shahjahan, which is proved by an inscription. The inscription is situated on the front wall of the idgah in which it is stated that it was built by Farasht Khan and Misri. It was constructed after the due consent of Maharaja Jaswant Singh, the

ruler of Jodhpur and the mansabdar of Emperor Aurangzeb. On the corner of the inscription there are the names of Syed Muhammad Sattar son of Pir Muhammad Khazanchi (treasure) and a Darogha of the Rathore of Marwar. It is proved by the inscription that the Maharaja Jaswant Singh as well as his ancestors were the persons of liberal outlook and they employed Muslims in the administration of the state.²³ During the reign of Maharaja Udai Singh, he granted two Sards to a Qazi to lead the prayers in Jodhpur on Friday on 21st July, 1583. First sanad was assigned to Qazi Firoz who was appointed as Qazi by Udai Singh on 30th April, 1595 when he was posted in Lahore.²⁴

The most important Muslim monument of the city is the Shahi Jama Masjid, built during the reign of Aurangzeb. It is a very huge and accommodating. There is also a mosque in the city which was built during the reign of Aurangzeb, which is called 'Hafiz Sahab-Ki-Masjid.

There are few mazars and a huge mosque in the fort. The mosque of this fort is known as Lun Kot. It is huge and attractive mosque which is constructed in purely Mughal style. The mosque has three big gates and it is having arches of the simple design. In the front wall there is tree niches and pulpit from where Qazi or the Imam of the mosque used to deliver religious sermons of Khutba. It has three domes but the middle dome is bigger and mounted. The mosque is purely constructed by the finished red stones. It has stairs to go on the top of the mosque.²⁵ Who built this mosque? It is not clear but seeing the architecture of the mosque, it seems that it was built during the reign of Akbar because after Merta's victory in 1561, it was given to Muhammad Sharfuddin Hussain Mirza who lived in this fort for a short time²⁶ or it may be that the mosque was built during the reign of Aurangzeb. Near to Lunkot mosque there is a ruined well which is supposed to use by the Muslims for ablutions and the other purposes.

There is another mosque in the city which is supposed to be constructed during the time of Shahjahan which is evidenced from a broken inscription. It is incised in this inscription that after the death of Maharaja Sursingh, Mughal Emperor Shahjahan occupied it and assigned to it to Abu Muhammad. He is supposed to have built this mosque.²⁷

Another mosque of Aurangzeb's time is situated which is called as

Ghonsion-ki-Msjid because near about of mosque most of the Muslims are Ghonsi who is supposed to be related milk producing the selling. It is a small one but now it has been renovated.²⁸

There is another shrine of Hazrat Hafiz Abdul Razzaque Shah Baba which also a centre of attraction of peoples of Merta and its surroundings. There is an inscription inside the mosque which is situated in it which shows that it was built during the time of Aurangzeb. It is said that the Kalash of the mosque was presented by some traders known as Banjra.

About 2 km from this city there is situated the fort which is assigned to Rao Maldev. It is a very big and gigantic fort. It is known as Malkot. It is said that it was built by Rao Maldev. it is said that first of all he consulted to Rathore Devidas for the construction of the fort at Merta, he answered that it is a plain land and Mertiya Rathores will be attacking on this so there is no reason to construct the fort at such a place. But Rao Maldev did not accept this advice and started fort construction in Samvat 1614 (1557 AD) and completed it in Samvwat 1616.²⁹ It was named as Malkot or Malgarh.³⁰ It was a war-post and Rathore Devidas was posted in the Merta fort. Later on several additions and new buildings were constructed by Rao Maldev. It has three entrance gates. Most of the parts of the fort are in ruined condition. There are no remains of the residential structures but as we have seen that within the fort that it was assigned to Rathore Devidas of Jaitawat Devidas and for a considerable period Muslim Fauzdars and their armed forces lived in this fort which is evident from the existence of a large mosque and few Mazars. there are few mazars in the fort. The mosque of this fort is known as Lun kot. Nowadays the fort's entry is restricted. The fort has a ditch around the parapet all.³¹

At the Western part of this fort there is situated a big step well which supplied the water to the residents of the fort. It is very beautiful and huge and the only source of water in the fort. It takes its water from the Kundal talab which as about one hundred and sixty water berries. It used to be full of water even during the summer season. On the top of this step-well pavilion consisting of three pillared arches. The step-well is attached to a big water reservoir probably which was used for the animals and other works. There are some water channels connected to this reservoir which were used for the gardening and other purposes.

On the Nagaur road there is a ruined palace known as "Meera-Bai-Ka-Mahal". It is in ruined condition and having two big entrance gates leading to the internal buildings. All of us know that Meera Bai (1498-1546) was living here who belonged to the Shaguna Krishnaites.³² She was a leading Bhakti saint of the Rajasthan. She was the daughter of Ratansingh, a younger brother of Rao Viramdev and a son of Rao Duda. She was born in the village named as Kudki. Rao Viramdev married Meera Bai with Bhojraj, son of Rana Sanga but Bhojraj died in 1523.³³ Enormous literatures are available on the Meera Bai. The ruined palace is situated on the bank of Duda Sagar. Near to Meera Mahal there is situated Idgah, Belampura water tank, phoolon-ki-haveli (Haveli of the flowers) and other monuments.

From the above pages it is evident that Merta was a place of importance through the earliest times. It has its political and cultural significance throughout the periods. Apart from these known historical monuments there are several less known places of antiquity. In the city there are several water bodies having inscriptions on them showing their historicity and antiquity. An attempt will be made to write about all these monuments of the Merta city which will be helpful for the re-writing of Medieval Indian history as well as the history of Rajasthan.

References

1. Epigraphica Indica, Vol. XVIII, 1925-26, p-98
2. Ancient Cities and Towns of Rajasthan, L.C. Jain, p 117
3. Rajasthan Ke-Itihas-Ke-Strot, GN Sharma, vol.I, p. 57
4. Jodhpur Rajya-Ka-Itihas, GH Ojha, P. 33-34
5. Jodhpur Rajya Ki Itihas, Mangilal Vyas, p.41
6. Marwar Pargana-ri-Vigat, Mutha Nainsi, Vol.II. P.37-39
7. Marwar-Ka Itihas, Reu, vol.I, p.106
8. Marwar Pargana-Ri-Vigat, Mutha Nainsi, Vol. II, P. 47
9. Marwar-Ka-Itihas, Reu. Vol.I, P. 112
10. Marwar-Ka-Itihas, Reu, Vol. I, P. 118-19
11. Ibid.P. 134-135
12. Ibid, p. 138
13. AkbarNama, Abul Fazl, vol.ii, p. 247-250
Tahaqat-i-Akbari, Nizamuddin Ahmad, p 256
14. Marwar-Ka-Itihas, Reu, vol.-I, p. 202
15. Ibid.P. 250
16. Vishambhara, Jan-March, 1983, p.18
17. Annual Report on Indian Antiquary, 1962-63, no. D-211

18. Vir Vinod, Vol-IV, P. 1574; Annual Report on Indian Antiquary, 1962-63, no. D. 212
19. Unpublished Inscription on the tomb.
20. Based on the physical survey of the temple.
21. Rajasthan-Ke-Abhilekh, GL Shrimali, vol.-II, p. 382-383
22. Presently this Kundal talab is in Merta
23. Annual Report on Indian Aniquery, 1962-63,no. C. 335
24. AkbarNama, Abdul Fazl, vol-iii, p. 662; Marwar-Ka-Itihas, Reu, Vol-I, p. 177
25. Based on physical survey of the fort and mosque.
26. AkbarNama, AbdulFazl, Vol. ii, p. 247-250
Tabaqat-i-Akbari, Nizamuddin Ahmad, p 256
27. Annual Report on Indian Antiquary, 1962-63, no. D. 210
28. As mentioned in the inscription
29. Rajasthan Ke-Mertiya Rathore, Hukumsingh Bhati, p. 70
30. Rajasthan-ke-Abhilekh, GL Shrimali, vol-II, p.
31. Based on physical survey of the fort and mosque.
32. Bhakti movement in Medieval India, Shahabuddin Iraqi. p. 134
33. Rajasthan Ke-Mertiya Rathore, Hukumsingh Bhati, p. 38

Muqata System in the Medieval Hadouti : A Study based on Archival Records of Kota State (1670-1820 CE)

Dr. Narayan Singh Rao

The Islamic theory of taxation aimed at the increased exploitation of the peasantry by appropriating the major portion of the peasants surplus produce significantly and deeply impacted the land revenue and fiscal administration of not only the countries of Islamic world but even the states controlled by the indigenous tribes, clans and communities of the Indian subcontinent in general and the states ruled by the Rajput, Marathas and Jats in particular. Due to frequent military encounters and expeditions, there was need to maintain a standing army to protect the boundaries of the state and also to support the administrative machinery. Therefore, the successive rulers of the different states in medieval period were constantly under pressure to generate greater amount of revenue to ensure survival of their state. Just after the occupation of northern India, the Sultans of Delhi introduced Iqata system in northern India for collection of taxes due to the Sultan and distributed the conquered territory among the military commanders. The term Iqata or 'villayat' signified territorial assignment of a commander and the term vali or muqti signified the holder of the Iqata (villayat). Subsequently, the Sultans carefully stripped off the muqatis from the military responsibilities of their villayat by separating the office of a military commander and the role of muqti was merely reduced to that of a collector of taxes. The authority of the muqti was further eroded when the Sultans started assigning Iqatas to persons belonging to trading classes including the Hindus who were ready to pay higher amount of revenue compared to the officially assessed net income of a pargana. Ziauddin Barni inform us that Nizam Main a man of low birth : took the Iqata of Kara, on muqata'a at some lakhs of tankas and Nusrat Khan, a merchant took the contract for the Iqata of Bidar, upon a promise to pay one crore of tankas. Similarly, Isami mentions that Ali Shah Khalji, having occupied Gobar, paid a fixed amount to the Diwan every year. But then Sharan a Hindu, who held the Iqata of Gulbarga, offered to pay half as much more and obtained charge of Gobar as well. This shows that Muqti

were not under an obligation to maintain troops or furnish armed contingents to the Sultan and the troops were stationed in an Iqta under a separate establishment. The primary responsibility of a muqti was to ensure the timely collection of Kharaj.¹

Professor Irfan Habib in his monumental work 'The Agrarian System of Mughal India (1556-1707), New Delhi, 2009 mentions that there existed a system where the state was not required to directly deal with individual peasant proprietor and that system was known as muqtai. According to him muqtai means a system in which muqtai prevailed. But this term alone is not used in medieval period. It was always used in a phrase, bi-l-muqta meaning "stipulated fixed". In our records, it appears uniformly in the sense of a fixed amount to be paid periodically, salaries paid to the officials at fixed rate, fixed rate of revenue per bigha, fixed revenue demand on the whole village/area, fixed amount to be paid to a jagirdar in cash irrespective of amount collected from the peasants and imposition of a fixed amount of assessed revenue of several villages on proprietors (maliks) was also known as bi-l-muqta. There were also peasant held villages, which insisted on paying a fixed amount (bi-l-muqta) of revenue and no more. Muqta was normally disapproved of and permitted only in exceptional circumstances. Similarly arrangements came to be known as muqarrari or muqarrari-i-istimrari ("fixed" or "permanently fixed") or simply istimrari in various parts of northern India.² The muqata is defined by Wilson as a "fixed rate of assessment".³ He also finds that muqata was synonymous with Bi-l-Mukata, Bi-l-Mookata or Bi-l-Muquata which applied "especially to a tenure by which a ryot holds his land at a fixed rate per plough or per bigha or to the engagement by which his rent is fixed for a given term without liability to enhancement."⁴

In the light of the significance of the muqata system as an instrument of the exploitation of peasants and extraction of surplus produce by the state. This paper aims at the study of the muqata system in the twin Hada state of Kota and Bundi situated in the fertile tract of south-eastern Rajasthan. The Bundi state which was the nucleus of the Hadouti region was founded by Rao Deva in 1342 A.D. by defeating the Meena Chief. In 1569, Rao Surjan Hada accepted the suzerainty of the Mughal ruler Akbar by concluding a treaty of perpetual friendship. The Hada ruler of Bundi was inducted into the imperial service and conferred with 500 Zat and Sawar. During the reign of Shahjahan, the principality of Bundi was divided and a new Hada state was created by recognizing Rao Madho Singh the son of Rao Ratan of Bundi as an independent ruler. The agrarian and

administrative institutions of the twin Hada states got deeply influenced by the mughal system of administration. However, the Hada rulers were very innovative and practical. They retained local customary practices and modified the mughal institutions to suit their local requirement. In this paper, the author has made a humble attempt to study the working of muqata system in the Harouti region on the basis of archival records such as Khato Muqata Ko, Jamai Jama Kharch, Chitthis, Jhadas, Adsattas, Jama bandis, Taqsim records, Khatas etc. preserved in Rajasthan State Archives, Kota and Bikaner.⁵

In the archival documents pertaining to the Harouti region, the term muqata signified a contract arrived at between the two parties, where one party agrees to perform certain tasks in lieu of a predetermined amount.⁶ In the context of revenue administration, the muqata implied the farming out of revenue of a given area or particular head of taxes to a muqati by the state or the jagirdar. The contract could involve the Maharao and muqati,⁷ or a Mughal jagirdar. The Maharao of Kota also played the role of a muqati and took muqata of the jagir villages of the Mughal mansabdars.⁸ The contract was made for the collection of land revenue and various agricultural cesses, which were to be paid to the state in accordance with the terms and conditions stipulated in the patta of muqata. In normal condition the muqati had to bear all the risks entailed in the collection of revenue.⁹ If it fell short of the stipulated amount, the muqati was required to bear the loss. In case the hasil exceeded the stipulated amount, the collection made over and above the amount of muqata would be his legitimate income. Muqati was expected to make personal efforts for the extension and promotion of agriculture. The Hada rulers also reviewed upati figures periodically to make the revenue demand on muqati more realistic. As such the amount contracted in muqata did not remain constant. The state made endeavours to maximize income through a progressive increase in the amount payable by the muqatis. Sometimes there was no scope for further improvement in the state of agriculture in a particular pargana or mauza.¹⁰ In some cases, the amount of muqata became a fixed sum as a mark of special favour to certain categories of the muqatis particularly the Hada bhomias.

The Kota records preserved at Rajasthan State Archives, Bikaner and District State Archives, Kota¹¹ provide valuable information on working of the muqata system. Our records inform us that there were four types of muqata or contracts awarded to a muqati (contractor) for collection of revenue/taxes or produce from forest and orchards. These are as follows:

(1) The parganas of mughal mansabdars taken on muqata by the Maharao of Kota for collection of land revenue.¹² (2) Awarding Patta of muqata to private parties/individuals for collection of land revenue and other cesses in different parganas¹³ (3) Awarding patta of muqata for collection of non-agricultural taxes in a pargana or at 'ghata' or chowkis (custom outposts)¹⁴ (4) Muqata Dalali (to act as broker) in a market or mandi and (5) Muqata for collection and marketing of products from state orchards/gardens and forest land. Besides these types of muqatas broadly speaking the definition of muqata also included performing of certain tasks or work in lieu of a fixed amount of money.¹⁵

Extent of Muqata System :

In different parganas of Kota state a sizable number of villages were given on patta of muqata for the purpose of the collection of agricultural taxes. In pargana Urmal, out of 57 villages, 7 villages were declared as ujad (depopulated), 13 were given in jagiri, 27 were Khalsa villages and 2 were given in muqata /izara to Chaudhary Parasram (mauza Khorasi) and Chaudhary Narayan Das (mauza Khakhuli) respectively in Rs. 115 and Rs. 31.25. The percentage of muqata villages in this pargana comes at 3.50.¹⁶ In pargana Gaghrona 1772 V.S./1715 A.D. there were 43 villages out of which 28 were ujad and jagiri villages and 14 were muqata villages. The percentage of muqata villages comes at 32.55 in this pargana.¹⁷ The details about the patta of the muqata granted in this pargana is as follows -

S.N.	Asami mauza	Name of muqati	Amount of asli patto (Rs.)	Amount of sair taxes (Rs.)	Total amount of muqata to be paid (Rs.)
1.	Mauza Jhadod	Nathu Ram Jhala	66.50	9.10	75.10
2.	Mauza Arno	Ajaipal Jhala	23.50	6.35	29.85
3.	Mauza Dumya				
	Khedi	Bhil Hathu	8.00	5.50	13.50
4.	Mauza Patyapuro	Patel Kanho	41.00	7.55	48.55
5.	Mauza Patakhedi	Anop Singh Jhala	63.15	8.85	71.70
6.	Mauza Kajalpuro	Rupa Patel	43.00	7.55	51.55
7.	Mauza Vavdi				
	Khedo	Patel Vala	23.00	6.35	30.35

8.	Mauza Vadarvai	Gujar Madho			
		Va Mana Ke	51.00	8.25	59.25
9.	Mauza Valyo	Bhil Kanahiyo	36.00	7.25	43.25
10.	Mauza Vasghati	Bhil Harji	10.00	5.75	15.75
11.	Mauza Nalo	Bhil Isar	64.00	9.00	73.00
12.	Mauza Manpuro	Patel Ramo	31.00	6.85	37.85
13.	Mauza Morat Suko	Sukhram Hado	35.00	7.15	42.15
14.	Mauza Kisanpuro	Bhil Nathu	1.75	0.00	1.75

If we look at the social background of the above mentioned 14 muqatis, we find that there were 5 Bhil, 4 Rajput, 4 Patel and 1 Gujar muqatis. The muqatis were required to collect the land revenue and sair taxes and remit the amount of muqata (asli patta) plus sair taxes in the royal treasury in three instalments in the month of Kati, Maha and Baisakh in a fiscal year. The amount of sair taxes to be collected by the muqatis included (1) Bhait (2) Faujdari (3) Bhaiso (4) Aghori (5) Ani etc. Here all the muqatis were issued patta of muqata for a one year.¹⁸ A document of 1798 V.S./1741 A.D. inform us that in pargana Delhnapur, there were 172 villages out of which 33 villages were granted in muqata. The percentage of muqata in this pargana comes at 19.20.¹⁹ In 1798 V.S./1741 A.D. the document pertaining to pargana Barsana inform us that out of 993 villages, 198 Asli plus 20 Majre villages, total 218 villages of the pargana were granted in muqata through a patta. The upti figure of these 218 muqata villages comes at 64517.50, which is 3.86 percent of the total upti of the pargana i.e. 1669150. The percentage of total villages given on patta of muqata, in pargana Barsana comes at 21.95. But these villages given in muqata were not very productive as their upti figures were very low and muqatis were entrusted with the task of improving the state of agriculture as well as revenue collection of these villages by making personal efforts.²⁰ In Tappa Bakahani during the year 1798 V.S. out of 38 villages 15 villages were given in muqata to revenue farmers. The percentage of muqata villages comes at 39.47.²¹ In pargana Sangod, there were 6 muqata villages, granted 3 each to the two muqatis belonging to Vohra caste. The percentage of muqata village in this pargana comes at 8.33.²²

Muqata For Collection of Land Revenue :

Maharao Bhim Singh of Kota granted patta of muqata to Purohit Gokalji Bhikhaji for three years to collect land revenue of mauza Kaknakhedi

and Kacholya for Rs. 4352 in pargana Sangod. The value of mauza Kaknakhedi was fixed at Rs. 2401 and the muqati was required to pay Rs. 751 in 1768 V.S. (Rs. 251 on Baisakh Sudi 15, Rs. 250 on Maha Sudi 15, Rs. 250 on Kati Sudi 15). In 1769 V.S. the muqati was to pay Rs. 800 (266 on Kati Sudi 15, 267 on Maha Sudi 15, 266 on Baisakh Sudi 15). In 1770 V.S. the amount of muqata was Rs. 850 to be paid in three instalments i.e. Rs. 283 on Kati Sudi 15, 283 on Maha Sudi 15 and 284 on Baisakh Sudi 15. For payment of the amount of muqata in respect of mauza Kacholya for three years is as follows :

Mauza	Amount of muqata		Year of muqata	Instalments for payment		
	Total for 3 years	Annual installment		Kati Sudi 15	Maha Sudi 15	Baisakh Sudi 15
1768	1951	628	1768 V.S.	208	209	208
1769		651	1769 V.S.	217	217	217
1770		675	1770 V.S.	225	225	225

The muqati in his qabuliat promised to make timely payment of the instalments of the amount due to the state as per conditions laid down in the patta and make payment of Rs. 4352 to the state.²³ Arjun Rathore s/o Kalyan Singh was granted mauza Guraitho and Sakarpuro for one year in muqata for Rs. 3251 and was directed to pay Rs. 1101 on Kati Sudi 15, Rs. 1450 on Maha Sudi 15, and Rs. 700 on Baisakh Sudi 15, 1765 V.S.²⁴

Mauza Rampuro pargana Sangod was granted in patta of muqata for Rs. 1201 in 1768 V.S. for one year. The muqati was directed to pay Rs. 351 on Kati Sudi 15, Rs. 425 on Maha Sudi 15 and 425 on Baisakh Sudi 15, 1768 V.S.²⁵ In 1752 following villages were also given in muqata for collection of land revenue.²⁶

Village/mauza	Name of muqati	Amount of muqata for a year (Rs.)	Period/ duration of muqata (Rs.)
Mauza Kishor Puro Mauza Mamore	Patel Jhaju and Kushal	1351	1 Year
Kankad Ki Dharti	Vohra Madho Ram	179.25	1 Year
Mauza Morslai	Patel Jagannath	120	1 Year

By the end of 18th century the practice of issuing the patta of muqata became widespread. In this period generally the patta of muqata was given just for one year only so as to ensure maximum earning from the land revenue of the mauzas earmarked in muqata.

A document of 1871 V.S. show that sometime the Maharao of Kota prescribed land revenue rate for different category of soil cultivated by peasants in the patta of muqata and accordingly calculated the amount of the patta of muqata awarded to a muqati. Maharao Umed Singh granted a patta of muqata to Shah Shankar Ram for mauza Dodo in pargana Urmal. Out of the total area (chak) of the village consisting of 1603.25 bigha Shah Shankar Ram was given only 'hakat' land consisting of 375.50 bigha in muqata. The cost of the patta of muqata was fixed at Rs. 413.7. In the same patta the Maharao prescribed per bigha zabti rates for the muqati to collect land revenue from the Karshas as stated in the following table.

Type/Category of soil	Chak (area) of each category of soil	Per bigha revenue rate	Remissions granted in revenue rates to sahkars	Final revenue rates applied	Total revenue to be collected (1871 V.S.)
Goiro	12.25	4.00	1.50	2.50	30.60
Peet (area under irrigation)	24.50	5.00	2.0	3.00	73.50
Mallki Dharti	309.60	1.50	0.50	1.00	309.60
Total	346.35				413.70

The table show that state claimed Rs. 413.70 from 346.35 bigha of land whereas the muqati collected 635.90 Rs. from the karshas. Thus muqati earned a profit of Rs. 222.20 as remuneration of his efforts and enterprise which comes at 34.97 percent of the value of the patta of muqata. Thus the muqatis earned a huge profit out of their investment in land at the cost of peasantry. Out of the total collection of revenue about 60-70 percent as paid by them to the state towards the cost of the patta of muqata and rest i.e. 40-30 percent was retained by them as their profit.²⁷

Muqata of Non-Agricultural Taxes :

Maharao of Kota also privatized the collection of non agricultural and commercial taxes and deployed muqatis who could ensure the highest

earning to the state. By deploying muqatis to collect commercial taxes the state did away with expensive revenue administrative machinery and eliminated cost of maintaining offices and record keeping work.²⁸ A document Jamai Jama Kharch Pargana Kota, Mapo, Nav, Rahdari, Muqato 1749 V.S./1692 A.D. inform us that Shah Keso and Udo was granted patta of muqata for collection of Mapo, Nav and Rahdari taxes from Jeth Vadi 10, 1748 V.S./1691 A.D. to Jeth Vadi 9, 1749 V.S./1692 A.D. for a period of 13 months. The amount of the patta of muqata was fixed at Rs. 275. This amount also included Rs. 72 which is an increment of about 35.46 percent in the amount of same muqata ka patta for the last year.²⁹ In an another case a patta of muqata was issued by Maharao to Subha Chand Baliram Saha Ram Bagda Ko for collection of Mapo, Nav, Rahdari taxes for the period Bhadwa Sudi 11, 1749 to Bhadwa Sudi 10, 1750 V.S. for 12 months. The amount of muqata was fixed at Rs. 311. Previously, the same patta of muqata was given in Rs. 275.00. So we see an izapho (increment) of Rs. 50 in the current year, which comes at 18.18 percent. The amount of muqata was realised by the state in monthly installments.

A document Khato Muqata Ko of 1836 V.S./1779 A.D. inform us that the Maharao of Kota issued a patta of muqata in Rs. 5001 to Saha Ugarchand Manorathram Sambharya to collect jagati tax in Khatakhedi Delhnapur, Qasba Jawar and Vanaiga from Shrawan Budi 1 to Asadh Sudi 15 covering a period of 12 months. Saha Ugarchand Manorathram accepted the terms and conditions of the patta of muqata. He promised to collect the taxes as per norms and rates prescribed by the Maharao. The muqati further undertook to pay monthly instalment of the amount of muqata in lieu of jagati tax collection. Instalment payment details are given below in a table against the jagati tax collection by the muqati Ugarchand Manorath Ram from pargana Khatakhedi, Delhnapur, Qasba Jawar and Qasba Vanaiga.

Asami/month	Installment of the Khatakhedi and Delhnapur	Installment of the muqata payment from Qasba Jawar	Installment of the muqata payment from Qasba Vanaiga
Shrawan	225	25	20
Bahdwo	175	20	16
Asoj	250	35	24

Kati	350	41	32
Aghan	375	45	36
Posh	400	45	36
Maha	401	45	36
Chaitra	375	45	51
Baisakh	400	60	45
Asadh	375	51	35
	3326	412	331

Here muqati was required to ensure payment of Rs. 5001, but due to mistake in the document two installments of Jyestha and Baisakh months are not mentioned and that could have completed the amount due to the state.³⁰ An another document Jama Mauza Rangpur Ko, Rahgir Muqato inform us that Shah Ramo Vagdo of Kaithon was issued a patta of muqata in 1743 V.S./1686 A.D. for collection of Rahdari tax from the mauza Rangpur during the year 1743 V.S. His patta was renewed in 1744 V.S./1687 A.D. with increased amount of patta of muqata. He was required to collect Rahgiri tax and pay instalment of the muqata in state treasury.

In the payment schedule some installments are missing so the total amount of muqata is not matching with the payment schedule. Here also muqati is granted deduction of Rs. 4 in 1743 V.S. and Rs. 5 in 1744 V.S. towards the cost of dress material (pahravani or pahrava) for the muqati presented by the Maharao of Kota annually.³¹

Bagh Ko Muqato (Muqata of Gardens and Orchards) :

Forests, gardens (bagh) maintained by the state in medieval Harouti were also a source of income for the state. The revenue department maintained records on various gardens and orchards. Though the baghs (gardens) and orchards were maintained by the baghwans (gardeners) supervised by bagh ka darogha (Superintendent of gardents and orchards). But regular staff was not appointed by the state for harvesting and marketing of garden and forest products. The Maharao preferred to issue patta of muqata to Tambolis, Kunjdiyas and Mahajans for harvesting and marketing of the products of the gardens and orchards. Fruit growing or fruit bearing trees raised in state gardens were given in muqata to the muqatis. A document Jamai Jama Kharch Pargana Kota, Jama Bagaiti 1747 V.S./1690 A.D. mentions that net assessed income from Kota Ka Vag (gardens of Kota) and Sukh Ka Vag was Rs. 144.50 in 1747 V.S./1690 A.D. in

pargana Kota, out of which Rs. 137.36 was recovered and Rs. 7.10 remained 'baqui' due or unrecovered from the muqatis. In Qasba Kota, Tambolis took lemon trees on muqata for Rs. 10.85, Emli weighing 18.80 mound was taken away by the mahajans for Rs. 18.60. Mango bearing trees of Qasba Kota Ka Bagh Ka Amba, Jagpura Ka Bagh Ka Amba, Rang Vavdika Bagh Ka Amba, Raipur Ka Bagh Ka Amba were given in muqata to Kunjdiyas of Qasba Kota in Rs. 98.75 in 1747 V.S. However, due to thunder storm sizable amount of mangoes fell down so the Maharao of Kota granted concession of Rs. 8 and the amount of muqata was reduced to Rs. 84.75 in that season. The Jama Muqato also mentions a long list of 52 mahajans who bought emli (Avali) from the state at the rate 16.25 taka per mound and total produce from emli, grooves was 18.80 mound in Qasba Kota in 1747 V.S./1690 A.D.

A document called Bagait Ko Jama 1747 V.S. further adds to our information that Kunjdiya Natha and Noora took mango trees of the different gardens in Pargana Kota on patta of muqata for a season. The details of revenue receipts from gardens (bagait) is given in the following table gardenwise -

Name of muqati	Name of Garden farmed out in muqata	Amount of the patta of bagait muqata (1747 V.S.) (in Rs.)
Kunjdiya Natha		
and Noorya	Bada Bag Ka Amba (mango tree)	79.00
-do-	Khadi Ka Amba	10.00
-do-	Vavadi Ka Bag Ka Amba (Mango orchard)	34.00
-do-	Hari Kishan Ka Bag Ka Amba	2.50
-do-	Khutdiya Ka Bag Ka Amba	8.00
-do-	Kachnari Ka Bag Ka Amba	3.50
-do-	Gulabi Bag Ka Amba	13.50
-do-	Baiji Tanwari Ji Ka Bag Ka Amba	3.00
-do-	Bahuji Shekhawatiji Ka Bagh Ka Amba	3.00
-do-	Rang Vavadi Ka Amba	7.00

The patta in respect of the muqata of above mentioned mango groves/baghs were issued by Maharao Kishor Singhji of Kota in 1747 V.S.³² In mauza Kachari 1846 V.S./1789 A.D. the state issued patta of

muqata to private parties for collection and marketing of mango fruits and mahua flowers in Rs. 7.80.³³ Thus in every village there were gardens and orchards and income from these gardens and orchards was received by the state through a class of muqatis who specialized in marketing of fruits, vegetables and forest products.

Other Categories of the Patta of Muqata :

The profession of Dalali (brockering) was also regulated by state through the instrument of muqata. The brokers dealing in food grain, cloths, tobacco etc. were allowed to operate in the market by taking patta of muqata of dalali. Veeru Chipa and Pancholi Badri paid Rs. 31 to act as broker in food grain market. Pancholi Badri paid Rs. 6.50 for acting as broker in cloth market by securing patta of dalali muqato. The state also took Rs. 3 for awarding patta of muqata to act as broker in tobacco products. The state also awarded patta of muqata for Chhapo and Mapo (measurement) in tappa Siswali and received Rs. 951 from the muqatis of mapo and chapo.³⁴

In Hadouti region the boats and ferries were important means of transport for crossing the rivers and transporting goods. The task of playing boats on water ways was also given in muqata to kevats/navadyas. Kevats were issued patta of muqata and the state collected a fixed amount from the boat runners facilitating transport of goods and passengers on the waterways.³⁵ Shah Pemraj was issued in patta of muqata for mapo in mauza Jholpa in 1856 V.S. for 12 months in Rs. 75, out of which Rs. 5 was adjusted against Sirpav (robe of honour) conferred on muqati by the Maharao of Kota. The Muqati paid Rs. 39.00 in the current year towards the amount of his muqata ka patta but Rs. 31 were accounted as 'baqui' in this fiscal year to be recovered in the next year.³⁶

Relationship Between the Maharao of Kota and the Muqatis:

The state exercised strict control over the muqatis through chaudhari, qanungo, patel patwari etc. and ensured that the muqatis strictly adhere to the conditions laid down in the patta of muqata. Whenever a muqati failed to make payment of the instalment of the amount of muqata. A warning was issued to clear the amount due to the state. Jhorawar Singh Hada who was Izaradar of mauza Dhava and failed to adhere to the payment schedule stipulated in his patta of muqata in 1752 V.S./1695 A.D.

The Maharao wrote a letter on Baisakh Vadi 1, 1752, Kati Vadi 8, 1752, Aghan Vadi 3, 1752 and Asadh Vadi 11, 1751 that there is an amount which is baqui/due in his account of last year, so immediately deposit the outstanding amount in the treasury as early as possible. The representative (tehalva) of Izaradar was given similar instructions through the local officials.³⁷ By and large most of the muqatis were able to meet their revenue obligations in full towards the state as we do not come across defaulting muqatidars on large scale. Cordial relation existed between the muqatis and the rulers of Kota state. The Maharao used to periodically confer robe of honour (pahravani) upon the muqatis on the occasion of festivals and also grant remissions in cash as token of favour from the state. Gifts and presents were also offered to the muqatis on the occasion of the marriage of their children. The document of 1771 V.S. inform us that on the occasion of the marriage of the daughter of muqati Hathi Ram the Maharao of Kota presented a brass vessel to the muqati for his daughter.³⁸ The muqatis played vital role in promotion of agriculture during the period of our study. The patta of muqata was granted by the state to persons belonging to all castes and communities such as Mahajans, Vohras, Kayasthas, Rajputs, Patels, Bhils, Meenas etc. Some state officials were also allowed to enjoy the patta of muqata. But such cases were very rare and were the mark of special favour from the Maharao. The muqatis were also granted remissions in the amount of the patta of muqata, if the crops were damaged by movement of armies and war in a mauza held by the muqati.³⁹

Conclusion :

Thus the institution of muqata originated in the sultanate period and became widespread in Hada states of Kota and Bundi during the Mughal period especially in the 17th and the 18th centuries. The muqata literally signified a contract arrived at between the two parties for accomplishing a given task in lieu of a fixed amount. But in revenue or fiscal matters it signified the payment of a fixed amount of revenue or rent by an individual against the patta of muqata issued by the Maharao irrespective of the actual amount of revenue realized from an area. The institution of muqata is part of the innovative efforts of the state in which Hada rulers sought to deploy private/individual entrepreneurship in extension and promotion of agriculture, progressive increase of the amount of revenue of a mauza

and ensuring better management of fiscal affairs. The institution of muqata was introduced by the Hada rulers to escape from the burden of maintaining large sized administrative machinery, and ensuring participation of private entrepreneurs in management of the affairs of state. The Maharao of Kota took jagiri villages of Mughal Mansabdars on muqata/izara and earned huge profit. They also issued patta of muqata to private parties/individuals for collection of land revenue. The state also farmed out the task of the collection of non-agricultural taxes such as jagati, rahdari, chapo, mapo etc. to the highest bidders. Patta of muqata were also issued to professionals and experts to act as brokers (dalals) in the markets and mandis. Gardens, fruit bearing trees and forests were also farmed out to muqatis to earn profit. Thus the scope of the term muqata got diversified and its application became very wider in the Hada state of Kota as compared to Sultanate and Mughal empire. The muqatis played an important role in promotion of agriculture and trade. This resulted in enhancement of the revenue resources of the state. Our record show that inspite of the large number of villages given in muqata, the muqatis were successful in meeting their financial obligations towards the state. Cordial relationship also existed between the Maharao and the muqatis during the period of our study.

However, the muqata system was a device used by the state to exploit the natural resources and labour potential of the peasants to the optimum. But in ultimate analysis the muqata proved to be a covert coercive method to force the karshas to give up their personal holdings and work on the state farms as tenants and halis. The position of the karsha in relation to the state was greatly undermined as the upward revision of the land revenue rates and introduction of the state farming coincided with each other. The karshas who managed to hold on their land holdings also felt the brunt of increased burden of land revenue demand. The growing subversion of the peasants economy and subordination of the karshas were the linear consequences of the muqata system which tilted the balance of power more and more in favour of the Hada states.

References

1. Raychaudhuri Tapan and Habib Irfan, Cambridge Economic History of India, Cambridge, 1984, p. 68-74.
2. Habib, Irfan, The Agrarian System of the Mughal India, 1556-1707. Oxford, 2009, pp. 273-75.

3. Wilson, H.H., Glossary of Judicial and Revenue Terms, Delhi, 1968, p. 352.
4. Ibid, p. 87.
5. Rao Narayan Singh, Rural Economy and Society, Study of South-Eastern Rajasthan During the Eighteenth Century, Rawat Publications, Jaipur, 2002, pp. 17-45, 339-51.
6. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 8, Jama Qasba Madhkargarh Ki Jagati Ki, 1747 V.S./1690 A.D.
7. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 13, Jamai Jama Kharch Pargana Sangod, 1752 v.S.
8. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 16, Pargana Ghatoli Ka Paibaqui Ko Muqato, 1753 V.S.
9. DSA-KR. Dusri Manzil, Basta No. 276, Dovarkhi Parchajat, 1771 V.S.
10. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 23, Taqsim Pargana Sangod Ka Gaon, Teriz Muqato, 1832 V.S.
11. The Kota records preserved at Rajasthan State Archives, Bikaner are referred to as RSA-kR and those available at its Kota repository are abbreviated as DSA-KR (District State Archives, Kota records).
12. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 15, Pargana Urmal Ko Muqato, 1754 V.s.
13. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 13, Dovarkhi Jamai Jama Kharch, Pargana Sangod, 1752 V.S.
14. RSA-KR Bhandar No. 1, Basta No. 8, Qasba Madhkargarh Ki Jagat Rahgiri, 1747 V.S.
15. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 8, Jhado Sada Sukh Vag Ko, 1745 V.S./1688 AD.
16. RSA-KR Bhandar, No. 1, Basta No. 10, Dovarkhi Pargana Urmal Ki, 1747 V.S./1690 A.D.
17. Ibid, Basta No. 30, Jamai Jama Kharch Pargana Gaghrone, 1772 V.S./1715 A.D.
18. Ibid
19. Ibid, Basta No. 51/1, Taksim Pargana Delhnapur Ka Gaon Ki, Chakri Deski, 1798 V.S./1741 A.D.
20. Ibid, Basta No. 51/1, Sirsatto Pargana Barsana Ko, 1798 V.S./1741 A.D.
21. Ibid, Bhandar No. 1, Basta No. 51/1, Tappa Bakahani Ka Muqata Ka Gaon Ki Teriz, 1798 V.S.
22. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 23, Taksim Pargana Sangod Ka Gawan Ki, 1828-1832 V.S./1771-1775 A.D.
23. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 27, From Maharao Bhim Singh of Kota to Raiji Sri Fateh Chandji, Pancholi, Shivdutt Ji and Pandit Sukhramji Asadh Vadi 6, 1767 V.S./1710 A.D.
24. Ibid, Basta No. 25, From Maharao Bhim Singh to Raiji Fateh Chandji and Others, Baisakh Sudi 5, 1766 V.S.

25. Ibid, Basta No. 27, From Maharao Bhim Singh to Pargana Officials of Sangod, Asadh Sudi 6, 1767 V.S.
26. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 13, Dovarkhi Pargana Sangod Ka Jamai Jama Kharch Ki Muqata Ka Gaon Ko Hasil, 1752 V.S.
27. RSA-KR Bhandar No. 3, Basta No. 8/1, From Maharao Umed Singh to Shah Shankar Ram of Jhalarapatan, Bhadwa Budi 11, 1871 V.S.
28. DSA-KR, Teesri Manzil, Dovarkhi Pargana Baran Ki Jagati Ka Maha Ek Ki Sihav Va Mukata Ka Jama 1814-71 V.S. The document show that Rs. 571.25 were assessed as the expected income from Jagati tax in villages in which collection of this tax was farmed out to the muqatis.
29. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 10, Jamai Jama Kharch Pargana Kota, Mapo, Nav, Rahdari Muqato 1749 V.S./1692 A.D. T
30. DSA-KR, Teesri Manzil, Basta No. 201, Khato Muqata Ko Pargana Khata Khedi, Delhna Pur Ki Jagati Ko and Kabuliat Saha Ugarchand Manorathram Sambharya, 1836 V.S./1779 A.D.
31. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 5, Jama Mauza Rangpur, Rahgiri Muqato, 1743 V.S.
Thus Shah Kheto Neto was granted two pattas of muqata continuously to collect Jagati, Rahdari, Mapo, Chapo taxes. However, the Maharao increased the amount of patta of muqata by 7.25 percent in the next year. The document do not contain amount of few monthly installments to be paid by the muqatis to the state so the amount of the value of muqata and amount given in monthly installments cannot be reconciled or matched.
RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 8, Jama Kasba Madhkargarh Ki Jagati Ki, 1747 V.S./1690 A.D.
32. Ibid, Basta No. 8/1, Bhandar No. 1, Jamai Jama Kharch Pargana Kota, Jama Bagait Ko, 1747 V.S./1690 A.D. Also see Ibid. From Maharao Kishor Singh to Kunjdiya Nathu and Noora, Baisakh Sudi 9, 1747 V.S./1690 V.S.
33. DSA, KR, Dusri Manzil, Basta No. 41, Jama Pargana Sangod Ke Talke Gaon 7 Ki, Tika Hasil Ki Jama, Shrawan Budi 1 to Asadh Sudi 15, 1846 V.S.
34. Ibid
35. DSA-KR, Dusri Manzil, Basta No. 41, Jhado Pargana Barsana Ko, Jama Mauza Jholpo Pargana, Barsana Ko Shrawan Budi 1 to Asadh Sudi 15, 1856 V.S./1799 A.D.
36. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 15, Roznamo Chapo Mapo, 1754 V.S./1697 A.D.
37. RSA-KR, Bhandar No. 1, Basta No. 13, From Maharao Kishor Singh of Kota to Jhorawar Singh Hada Baisakh Vadi 1, 1752 V.S./1695 A.D.
38. DSA-KR, Dusri Manzil, Basta No. 276, Muqato Mauza Dhingaro Pargana Kota, 1771 V.S./1714 V.S.
39. RSA-KR, Bhandar No. 3, Basta No. 7/1, Talik Bahi, 1870 V.S./1813 A.D.

Commuting Money by Hundi in 17th-18th Century Jaipur State

Mohammad Shahnawaz

The concept of cashless economy and minimisation of physical currency are alive themes in India today. It therefore would be easy to comprehend the commuting of money by hundi. Hundi is defined as bills of exchange and can be understood as a simple present day Demand Draft. This promissory note carried vital information related to addressee, time and place.

Money was commuted by means of hundi not only in Rajasthan but in Mughal Empire at large. During this period it was not easy and feasible for the traders to carry cash with them due to insecure routes because of this reason they preferred payment through hundi. The practice was initiated to combat problems associated with commuting money on large scale, gradually it became commonplace instrument of transaction.

State was the major clientele of hundi business. The entire bureaucracy such as diwan, amil, potdar, wakil etc. got associated with state thus utilised this means. The Amber State availed the benefit of hundi to remit money and also encash it. An organised business network paraphernalia consisting of sahuakar, bohra, mahajan and sarraf operated in the rural and urban sector. The sahuakar issued hundi for a particular amount and particular place after exaction of a commission termed as hundawan.¹ The commission was shared by members of the agency who were effective in transportation.

The information on above aspects is culled primarily from rich profusion of data available at Rajasthan State Archive Bikaner such askhatut ahalkaran, arzdashts, kharitas, wakil reports both in Rajasthani as well as Persian. These documents show that the practice of payment of money by means of hundi was widely operative in Amber State. Hundi had become most important mode for the transfer of money from one place to another and was availed by individuals, rulers and businessmen especially in 18th century.

Hundis were of different types like the darshani was payable on demand while muddati hundi or usance bill was payable after a stipulated period which was mentioned in the hundi and reckoned from the date of issue. The owner of the hundi was permitted to get interest if the amount of muddati hundi not paid at the stipulated period.² Whenever a hundi has been lost there was a provision of peth³ (a copy of hundi) and if peth also lost then another hundi as perpeth⁴ (second copy of hundi) could be issued.

Utility

In order to understand how the hundi was utilized or to know what was its application in everyday affairs one can see it was used for various purposes like for running of administration, meet court expenditure, expenditure incurred on dawabkharch (cattle expenditure), jagir, ijara etc. A scrutiny of documents indicates that regular operation of hundi streamlined each facet of the state machinery. The subsequent discussion intends to highlight the archival information on multidimensional application of hundi.

Administration

The hundi business facilitated smooth conduct of the administration. Evidence indicates the money procured through hundi was utilized in order to crush revolt in parganas under the Raja's control.⁵ For instance, Shyam Singh reported to Maharaja Sawai Jai Singh in an arzdasht the details of the robbery committed in the house of Than Singh, a sarraf of qasba Baswa. He informed also Maharaja that instruction have been made to the amil of pargana Bahatri to take proper measures to ensure law and order in the pargana.⁶ Wakil Meghraj informed the Maharaja (Bishan Singh) to condonement of capital punishment to rebels is also under Bakhshi ul Mulk and he demands a hundi. The wakil therefore asks for the same to be via the agency of sahuakar.⁷

Darbar kharch (Court expenditure)

Raja's agents were present at the Imperial court to safeguard the interest of the Raja. In order to carry out these responsibilities and obtain favours etc. considerable expenditure was incurred.⁸ It is understood that during this period the importance and significance of the hundi can be imagined that all the financial transactions at the court were accomplished through hundis. Shiv Singh Kumbhani informed Maharaja (Jai Singh Sawai) that Purohit Harasram was sent hundis amounting Rs. 11000-12000 every

month. The debt of the bohras concluded 60000 rupees. Total work was done only through hundis. He further informed to him the loan obtained if it is necessary for expenditure. He made a request to send more money through hundi so that he can pay bohras' loan and the salary of the imperial servants.⁹

According to Parwana dated 28 Rajab A.H. 1113, it informed about the receiving of Rs. 15000/- through hundi for court expenditure. Much difficulty was faced to get the hundi. An order was issued to send perperth hundi quickly, accordingly Rs. 29400/- was sent by hundi. Amount of Rs. 10000/- was also sent by hundi for shagird pesha (apprentice). Difficulties were faced in payment to bohras due to famine.¹⁰

Wakil Jagjiwan Das elaborates the financial problems and requests Mirza Raja to send money through Santokh Ram by means of hundi. He says everything is at a standstill due to financial constraint. Kindly instruct Santokh Ram to send hundi so that work is accomplished.¹¹ Without payment of money no one agrees to accomplish work at darbar.¹²

Diwan Bhikhari Das demanded a hundi of Rs. 25000/- for Nawab Mahabat Khan. Diwan Bhikhari Das informs Raja Jai Singh that he has assured Mahabat Khan about the hundi worth Rs. 25000/-.¹³ This evidence is corroborated by other wakil reports and arzdashts also.

Money was commuted by means of hundi for the personal expenditure of wakil, rulers, prince etc. Wakil Jagjiwan Das informed the Maharaja that he is facing acute financial crisis. He expects help from the Maharaja.¹⁴ Finally an order issued for the hundi amounting Rs. 500/- for the poor financial condition of wakil but when three hundis were received it amounted to only Rs. 450/- and a hundi amount of Rs. 50/- still remained.¹⁵

Bohra was also involved in issuing and discounting hundis. For instance Purohit Harasram informed Maharaja (Jai Singh II) that a hundi worth of Rs. 12000/- drawn by the bohras was sent to the hazuri.¹⁶ This hundi was received at the hazuri after 3 or 4 months.¹⁷

According to parwana dated 2 zilhaj A.H. 1115, an order was issued for officials of the State to make a hundi amounting Rs. 20000/- but because of lack of money they were sent only Rs. 10000/- by means of hundi. This problem was created because of indebtedness to the bohras and they (bohras) did not agree to give more.¹⁸

Hundis could be sent in the name of mutasaddis also. e.g. A hundi worth Rs. 5000/- was sent in the name of Jai Ram and Amar Chand mutasaddis.¹⁹ Devi Das informed Thakur Hari Singh that a hundi amounting to Rs. 16097/- was received alongwith a parwana and it was given to the mutasaddis of Momin Khan.²⁰

Land Revenue

Land revenue administratsion also depended on hundi transaction. Arzdashts refer that the payment of unhalu(kharif)was made by means of hundi. The land revenue exacted from the peasants and sold to the traders or mahajans in order to acquire money. This money was deposited by amil on behalf of the state to the banker. The banker issued a hundi of the said amount to the state diwan. Bhupati Ram informed Maharaja Bishan Singh that according to parwana dated 13 safar, A.H. 1105, the realization of baqaya (arrear) of the sarkar of Malpura was sent through hundi. Problems were faced in expediting it.²¹

According to parwana dated 19 Shaban A.H. 1109 an order was issued to send a hundi of kharif and rabi harvest in the year V.S. 1754.²² Bohras were paid for issuing hundis and advanced loan through hasil of the rabi and kharif.²³ The information relates to Kedar Rao Sinde of Gwalior who informed Sawai Madho Singh of Jaipur regarding the installments of arrear through hundi to be sent.²⁴

Butat kharch (Household expenditure)

Arzdashts and wakil Reports informs that a number of hundis were used for the butat expenditure. A hundi amounting of Rs. 7200/- was received for butat kharch (household expenditure).²⁵ An order was issued in the parwana to send a hundi amounting to Rs. 6000/-every month for the expenditure of hazuri. According to this order, two hundis worth of Rs. 19400/- and Rs. 10000/- were sent for the butat kharch (household expenditure) and dawab kharch (cattle expenditure).²⁶ Only at once instance we find that a big amount of Rs. 305063/- was sent to the hazuri for the butat kharch etc. by means of hundi.²⁷

Dawab Kharch (Cattle expenditure)

Certain portion of salary claim of Mughal jagirdarwas deducted under dawab kharch. Our documents indicate the payment of dawab was made by means of hundi. In an arzdasht Purohit Harshram requested

Priyag Das to acknowledge the receipt of a hundi worth Rs. 26,000/- which was for the purpose of dawab kharch.²⁸ At one instance bohras demanded Rs. 160000/- which they gave for the dawab kharch.²⁹ An order was issued in the parwana that if all the nobles pay dawab then you (wakil) also inform the Raja. Therefore a hundi is needed for dawab kharch.³⁰

Expenditure for muhimsazi

Muhimsazi was a stipulated amount given in lieu of accomplishing important work. It was an acknowledged practice and it required money. Our documents inform a hundi worth of Rs. 40000/- was received for muhimsazi. The payment of hundi which was received for the muhimsazi was delayed because theshahukar had to go to another town. Therefore officials were also delayed for a period to acquire money from the shahukar.³¹

Jagir

Jagir related finances were handled through hundi. We learn from the document that an amount of Rs. 80/- was disbursed for the purpose of repair and maintenance of rath (chariot).³² Money has been commuted through hundis procured from hasil of mauzas in jagir of Raja.³³ There was a problem also for retaining jagir with the Maharaja because of lack of money. Wakil Pancholi Jagjiwan Das informed Maharaja Jai Singh that he has fulfilled requisite formalities for retaining the traditional jagir of the Maharaja. The papers were accepted and wakil requested the Maharaja to send money to acquire orders for the same.³⁴

Ijara

For the purpose of ijara money was commuted by means of hundi. The hasil of mauzas (villages) has been sent through hundis to hazuri and if there was baqaya (arrear) payment of ijara etc. then it would be sent through hundis after sale of grain.³⁵ We learn from the wakil report that Maharaja was sent a hundi for the expenditure in order to grant ijara of Jaitpura in pargana Khohri.³⁶ It is worthwhile to note that the money collected from ijara of pargana Bahatri was sent through by means of hundi.³⁷

Salary

The payment of salary of Jaipur officials was also made by hundi. The delay in receiving the hundi led to complications. It is noteworthy

that money was commuted for the salary through hundi. Sometimes this money was collected from the hasil of ghas charai (grazing tax) of parganas. Regarding this we have one instance that hundi was from the hasil of ghas charai (grazing tax) of pargana Amber for the salary of Mishr Chakrpani.³⁸ A hundi worth Rs. 1000/- was dispatched for the salary of khanazad (wakil Jagjivan Das).³⁹

Our documents provide a detailed list of expenses for different purpose such as for the expenditure of naubat (a band sounding at the gateway of great men),⁴⁰ expenditure for the grant of pargana in watan,⁴¹ expense for the celebrations of Holi festival,⁴² etc.

Table showing use of hundi for different purposes

Date (V.S.)	Amount (Rs./As.)	Purpose of hundi
Jyeshth Sudi 1, 1750	350/-	Holi ki goth (celebratory feast for Holi festival)
Mangsir Vadi 11, 1754	7200/-	Butat kharch (household expenditure)
Phalgun Vadi 9, 1754	20000/-	Butat kharch (household expenditure)
Mangsir Vadi 8, 1756	6001/-	Butat Kharch (household expenditure) and shagird pesha (apprentice)
Paush Sudi 5, 1756	7000/-	Butat kharch (household expenditure) and shagird pesha (apprentice)
Asarh Sudi 15, 1761	305063/-	Butat kharch (household expenditure) etc.
Asarh Sudi 15, 1761	30000/-	Butat kharch (household expenditure) and dawab kharch (cattle expenditure)
Asoj Sudi 12, 1761	43000/-	Butat kharch (household expenditure), Shagird pesha and dawab Kharch (cattle expenditure)
Paush Sudi 4, 1761	15000/-	Darbar kharch (court expenditure)
Paush Sudi 4, 1761	10000/-	Shagird pesha (apprentice)
Paush Sudi 9, 1769	40000/-	Muhimsazi
Mangsir Sudi 3, 1774	10000/-	Salary, punya (charity) etc.
Sawan Vadi 1, 1741	2200/-	Darbar kharch (court expenditure)
Sawan Vadi 1, 1741	1300/-	Muhimsazi
Mangsir Sudi 12, 1758	26000/-	Dawab kharch (cattle expenditure)
Baisakh Sudi 11, 1768	950/-	Dawab kharch (cattle expenditure)
Baisakh Sudi 8, 1769	1000/-	Salary

Distance

Since cashless transactions were the order of the day a number of hundis were sent from one place to another. For instance 13 hundis worth Rs. 16007/- was sent to Burhanpur.⁴³ Another arzdasht refers that nine hundis amounting Rs. 30406/- were dispatched.⁴⁴ Mahajans were also active in hundi business. Sahukars and mahajans of Sanganer had sent a hundi worth Rs. 3040/- to Burhanpur. Such instances can be multiplied.⁴⁵ The following is an illustrative table.

Table showing commuting of hundis to distant states

Date (V.S.)	Amount (Rs./As.)	From	Destination
Paush Sudi 14, 1690	26001/-	Sanganer	Burhanpur
Sawan Vadi 3, 1691	16007/-	-	Burhanpur
Ashwin Sudi 15, 1691	3040/-	Sanganer	Burhanpur
1826	5000/-	Lahore	Hazuri
1826	1000/-	Peshawar	Hazuri
Jyeshth Vadi 2, 1762	10000/-	Hazuri	Kabul
Jyeshth Sudi 8, 1733	20000/-	Agra	Patna
Baisakh Sudi 8, 1769	10000/-	Lahore	Delhi

State Patronage

The state extended protection and patronage to the bankers to get their money refunded from their clients. A number of documents show that state gave enough protection and encouragement to the bankers and their gumashtas (agents). If the peasants, officials etc. procured money from the bankers, state took responsibility for safe return of money borrowed.⁴⁶

Maharaja Surat Singh of Bikaner requested Maharaja of Jaipur for the enough protection and care of Amar Chand Meghraj, a sahuکار of Bikaner, who had a firm in Jaipur.⁴⁷

Documents show that whenever bankers were oppressed by the officials and others, state immediately helped the bankers. Damodar Das complained to Bhaiya Prayag Das that sarrafs were tortured by Sanghi Roop Chand's oppressive attitude.⁴⁸

Variation in Hundi of Aurangshahi (Alamgiri) and Shahjahani Rupees

Hundis were issued against both Aurangshahi and Shahjahani rupees. At times both the hundis were operative simultaneously. However there were prescribed rules that Shahjahani hundi could not be converted in Aurangshahi.

Thus, we see Purohit Hari Ram informed Maharaja Bishan Singh that three hundis amounting to Rs. 880/- Aurangshahi were drafted at the tahsil by the potdar of pargana Niwai to send hazuri.⁴⁹ Three hundis, from the hasil of mauza Khoh and Ramgarh, amounting to Rs. 1800/- Aurangshahi were sent to the hazuri.⁵⁰ Two hundis amounting of Rs. 1218/- Shahjahani were sent.⁵¹ Diwan Bhikhari Das Informed Mahraja (Jai Singh) in an arzdasht that the hundi reached earlier was in Shahjahani rupees, the present hundi is of aurangshahi rupees. The difficulty is that the dastur approved was for Shahjahani sikka due to which encashment of Aurangshahi hundi posed problems.⁵²

Hundawan

Hundawan was the commission charged by the banker. The agent of the banker encashed it at the destination and was a beneficiary of hundawan. The rate of hundawan fluctuated according to distance availability of money at issuance and remittance. Lesser availability effected high rate and greater availability led to low rate. Kanwar Pal informed Maharaja Bishan Singh that an amount of Rs. 6900/- was commuted by means of hundi. It was sent by vyaparis (traders) of Mathura from the vyaparis (traders) of Baswa. For the said amount of Rs. 105/- worth 1.52% was deducted as hundawan (commission).⁵³

It is understood from an arzdasht that the rate of hundawan (commission) for purpose of muhimsazi was higher. Diwan Bhikhari Das informed Maharaja Jai Singh that Sah Nain Sukh wrote to me you may deduct hundawan at the rate of 13½ percent which were disbursed for muhimsazi.⁵⁴

In an arzdasht Sundar (an official) informed the Maharaja (Jai Singh Sawai) that hasil of the mauza Rajsar etc. (jagir under the Sah Ramchand) is 600 rupees. After the deduction of Rs. 18/- as hundawan (commission, 3.09%) the remaining amount of Rs. 582/- was sent to hazuri by means of hundi.⁵⁵

Sometimes the payment of hundawan (commission) was not paid to the bankers by officials due to certain issues and problems. At one instance according to parwana dated 21 jamad ul awwal A.H. 1107, an order was issued not to give hundawan (commission) to Jawahar and Devi Das.⁵⁶

Conclusion

The foregoing analysis thus indicates that the system of hundi facilitated everyday administrative conduct. It was an acknowledged practice and induced a filip to mercantile hierarchy. The bankers became such an integral segment of the state that they were appeased and dress of honour were conferred upon them, such information are replete in dastur komwar papers. Bankers gradually become potdar and tahvildar amil etc. also. The eighteenth century witnessed their heyday.

References

1. Arzdasht Sawan Sudi 3, V.S.1742/1685 R.S.A.B; Arzdasht Paush Sudi 7, V.S.1742/1685 R.S.A.B; Wakil report dated Paush Sudi 1, V.S.1768/ A.D. 1711 R.S.A.B, and different arzdashts and wakil reports. For detail on hundawan see, Gupta, S.P., 'Money Lending and Banking in Eastern Rajasthan during the 17th and 18th Centuries', PIHC, Srinagar, 1986 p. 382-390; Sharma, G.S., Sources on Social and Economic History of Rajasthan 17th -20th Century A.D., Vikas Prakashan, Bikaner, 2005, pp. 05-32.
2. For details see, Sharma, G.S., sources on Social. opcit., p. 22-23.
3. Arzdasht dated Mangsir Sudi 14, V.S. 1760/A.D. 1703 R.S.A.B, A peth (copy or second hundi) of Rs. 50/- was sent.
4. Sakaria, Badriprasad & Sakaria, Bhupatiram, Rajasthani -Hindi ShabdKosh, Panchsheel Prakashan, Jaipur, 1982, pp. 727.
5. Arzdasht dated Sawan Sudi 3, V.S.1733/ A.D. 1676R.S.A.B.
6. Arzdasht dated Sawan Vadi 4, V.S.1760/ A.D. 1703 R.S.A.B.
7. Wakil Report (persian) dated 21 Shaban 35 Regenal Year/ A.D. 1692 R.S.A.B.
8. Wakil Report dated Phalgun Sudi 1, V.S. 1763/A.D. 1707 R.S.A.B.
9. Arzdasht dated Asarh Vadi 8, V.S.1760/ A.D. 1703 R.S.A.B.
10. Arzdasht dated Paush Vadi 4, V.S.1761/ A.D. 1704 R.S.A.B.
11. Wakil Report dated Baisakh Sudi 10, V.S. 1764/A.D. 1707 R.S.A.B.
12. Wakil Reportdated Paush Sudi 9, V.S.1768/ A.D. 1712 R.S.A.B; Arzdasht dated Phalgun Sudi 9, V.S.1753/ A.D. 1696 R.S.A.B.
13. Arzdasht dated Magh Sudi 3, V.S. 1767/A.D. 1711 R.S.A.B; Arzdasht Report dated Phalgun Vadi 4, V.S. 1767/A.D. 1711 R.S.A.B; Arzdasht dated Magh Sudi 11, V.S. 1767/A.D. 1711, R.S.A.B; Arzdasht Report dated

- Phalgun Sudi 4, V.S. 1767/A.D. 1711, R.S.A.B; Arzdasht Report dated Phalgun Sudi 5, V.S. 1767/A.D. 1711, R.S.A.B; Wakil Report dated Chaitr Vadi 13, V.S. 1767/A.D. 1711, R.S.A.B.
14. Wakil Report dated Sawan Sudi 13, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B; Wakil Report dated Ashwin Vadi 11, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B; Wakil Report dated Kartik Sudi 6, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B; Wakil Report dated Kartik Sudi 12, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B, Wakil elaborates the financial problem thus that all assets have been sold. Now the situation is such that he has no clothes and home to live. Even then I am at your service. People say that I am your servant and even then facing such financial problems.
 15. Wakil Report dated Bhadwa Vadi 11, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B.
 16. Arzdasht dated Phalgun Vadi 5, V.S.1759/ A.D. 1702, R.S.A.B.
 17. Arzdasht dated Jyeshth Vadi 11, V.S.1760/ A.D. 1703, R.S.A.B.
 18. Arzdasht dated Asarh Sudi 6, V.S.1761/ A.D. 1704, R.S.A.B.
 19. Khatut Ahalkaran dated Bhadwa Sudi 11, 1750/1693, R.S.A.B.
 20. Khatut Ahalkaran dated Chaitr Sudi 7, 1751/1694, R.S.A.B.
 21. Arzdasht dated Kartik Vadi 11, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B.
 22. Arzdasht dated Chaitr Vadi 7, V.S.1755/ A.D. 1698, R.S.A.B.
 23. Arzdasht dated Magh Vadi 3, V.S.1759/ A.D. 1702, R.S.A.B; Arzdasht dated Baisakh Vadi 4, V.S.1760/ A.D. 1703, R.S.A.B; Arzdasht dated Jyeshth Sudi 3, V.S.1761/ A.D. 1704, R.S.A.B; Arzdasht dated Jyeshth Sudi 15, V.S.1761/ A.D. 1704, R.S.A.B.
 24. Kharita of Gwalior-Jaipur dated Jyeshth Sudi 1, V.S. 1820/A.D. 1763, R.S.A.B.
 25. Arzdasht dated Mangsir Vadi 8, V.S.1754/ A.D. 1697, R.S.A.B; Arzdasht dated Asarh Sudi 15, V.S.1761/ A.D. 1704, R.S.A.B, A hundi worth of Rs. 30000/- was sent to the hazuri for the butat and dawab kharch.
 26. Arzdasht dated Magh Vadi 2, V.S.1761/ A.D. 1704, R.S.A.B.
 27. Arzdasht dated Asarh Sudi 15, V.S.1761/ A.D. 1704, R.S.A.B.
 28. Arzdasht dated Mangsir Sudi 12, V.S.1758/ A.D. 1701, R.S.A.B.
 29. Arzdasht dated Chaitr Vadi 3, V.S.1740/ A.D. 1683, R.S.A.B.If there was no settlement for the payment by the court to the sahkars, bohras etc. then they demanded themselves the payment.
 30. Wakil Report dated Baisakh Vadi 11, V.S. 1768/ A.D. 1711, R.S.A.B; Wakil Report dated Baisakh Sudi 11, V.S. 1768/ A.D. 1711, R.S.A.B.
 31. Wakil Report dated Paush Vadi 8, V.S. 1769/A.D. 1712, R.S.A.B.
 32. Arzdasht dated Paush Sudi 11, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B.
 33. Arzdasht dated Kartik Vadi 12, V.S.1752/ A.D. 1695, R.S.A.B.
 34. Wakil Report dated Chaitr Sudi 6, V.S. 1769/A.D. 1712, R.S.A.B; Wakil Report dated Chaitr Sudi 13, V.S. 1769/A.D. 1712, R.S.A.B.
 35. Arzdasht dated Asarh Vadi 12, V.S.1752/ A.D. 1695, R.S.A.B; Manram informed to the Maharaja Bishan Singh that the hasil of mauza (village) Basai amounting of Rs. 30,500/- was commuted to the hazuri by hundi.

36. Wakil Report dated Kartik Sudi 6, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B.
37. Wakil Report dated Mangsir Sudi 6, V.S. 1768/A.D. 1711, R.S.A.B.
38. Arzdasht dated Asarh Vadi 14, V.S.1753/ A.D. 1696, R.S.A.B.
39. Wakil Report dated Baisakh Sudi 8, V.S. 1769/A.D. 1712, R.S.A.B.
40. Wakil Report dated Sawan Vadi 5, V.S. 1762/A.D. 1705, R.S.A.B.
41. Wakil Report dated Baisakh Sudi 10, V.S. 1764/A.D. 1707, R.S.A.B.
42. Arzdasht dated Jyeshth Sudi 1, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B.
43. Khatut Ahalkaran dated Sawan Vadi 3, 1691/1634, R.S.A.B.
44. Khatut Ahalkaran dated Kartik Vadi 6, 1691/1634, R.S.A.B.
45. Khatut Ahalkaran dated Ashwin Sudi 15, 1691/1634, R.S.A.B; wakil Report dated Baisakh Sudi 8, V.S. 1769/A.D. 1712, R.S.A.B; wakil Report dated Sawan Sudi 11, V.S. 1772/A.D. 1715, R.S.A.B.
46. Kharita of Gawalior-Jaipur dated Jyeshth Sudi 1, V.S. 1820/A.D. 1763, R.S.A.B.
47. Kharita of Bikaner-Jaipur dated Mangsir Vadi 2, V.S. 1881/A.D. 1824, R.S.A.B.
48. Khatut Ahalkaran dated Paush Vadi 7, 1743/1686, R.S.A.B.
49. Arzdasht dated Kartik Vadi 3, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B; Arzdasht dated Magh Sudi 12, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B.
50. Arzdasht dated Bhadwa Sudi 3, V.S.1753/ A.D. 1696, R.S.A.B; Arzdasht dated Phalgun Sudi 9, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B; Arzdasht dated Kartik Vadi 14, V.S.1750/ A.D. 1693, R.S.A.B.
51. Arzdasht dated Asoj Sudi 3, V.S.1747/ A.D. 1690, R.S.A.B.
52. Arzdasht dated Paush Sudi 1, V.S.1768/ A.D. 1711, R.S.A.B.
53. Arzdasht dated Jyeshth Vadi 13, V.S.1752/ A.D. 1695, R.S.A.B.
54. Arzdasht dated Paush Sudi 1, V.S.1768/ A.D. 1711, R.S.A.B.
55. Arzdasht dated Magh Vadi 12, V.S.1759/ A.D. 1702, R.S.A.B.
56. Arzdasht dated Paush Sudi 15, V.S.1752/ A.D. 1695, R.S.A.B.

Kapdho ka Kothar : Structure & Working Mechanism during 18th Century Marwar

Miss Sumit

The present paper focuses on the nature and various activities undertaken in the Kapdho ka Kothar under Jodhpur rulers. The kapdho ka kothar seems largely working as a store -house of clothes of the state. In the archives the kapdho ka kothar records survive in these major heads: Kapdho ke kothar ki bahi's, Zanana Talke records, Sanad Parwana bahi, and Patta Sika ri bahi etc.

Rajasthan State Archives, Bikaner and Maharaja Man Singh Pustak Prakash Research Centre, Mehrangarh Museum Trust, Jodhpur, Rajasthan, contain huge repository of textiles records.

The data throws interesting light on the royal textile karkhana. My paper is divided into two sections; first part deals with the types of cloths used for making a royal dress and second part on the basis of the royal dress on that time.

Types of Cloth

A wide variety of fabrics were used in the Jodhpur textile store. Due to the warm climate of Jodhpur, the most preferred material appears to be cotton in the region. Various kinds of cotton fabrics used in Jodhpur were: bafta, khasa, panchatolya, sirisaf, patra, and tansukh. A large variety of silk cloth was also frequently used the elite circles on account of its rich look. The common varieties available in the records are: alam, atlas, siklqat, ilayacha, sela. Among the woolen texture we get the references of pasmi and thrima known for its finesse. Abul Fazl also mentions presence of variety of cotton cloths like bafta, khasa, tansukh, sirisaf, malmal, salu, mahmudi, etc.¹

Dresses

Our record mentions three types of dresses. First, dresses used by royal men of that period; these were feta, chira, kurta, sarpech, dhoti, jama, angarakha etc. second dresses used by royal elite women of that

time. Among them recorded are - dupatta, ghaghra, choli, nima, sari, odhani. Third, cloth used for making flags, bed spreads, hand bags, chhatbandi, kanat, etc.

Male Attire

Turban

Turban was the most important part of medieval costume. At was a sign of honour and prestige. Head dresses were of different types and were known by different names such as a safa, chira, pagadhi, pagh, feta, etc. Jodhpur records throw ample light on the types of chira, feta, pagh were used and types of cloth used for it.

a) Chira - Chira appears to be the most common form of turban. A variety of cloth was used for chira - tafta, alam, sela, malmal and tansukh. It is suggestive of the fact that chira were generally colourful and printed. Chira was made out of the most moderately priced cloth.²

b) Pagh - Pagh appears to be little expensive than chira. While chira was made out of a numbers of varieties of cloth, we get only one reference to pagh but that is of expensive cloth pasmi³ which is suggestive of the fact that it catered to little higher group of elites and chira might have been used for common distribution as well.

c) Feta - Feta was comparatively smaller than chira and mostly multicoloured. Again a variety of cloths were used for feta-bafta, tafta, narma, mukeshi, and Gujarati.⁴ The most favourite cloth for feta appears to be bafta and mukeshi.

d) Topi - Among the headgears topi was another important item. According to Yusuf Ali, 'caps are worn exclusively by men, and are gradually coming more and more into public favour.'⁵ He mentions five types of silk caps. Bafta and sirisaf were used for making caps.

Jama

Jama was one of the oldest garments in vogue since ancient times. It was a long full sleeves tunic. It was made of variety of fabrics - bafta, narma, sela, mahmudi, pasmi, sirisaf, khasa, and amri. For jama generally high quality and expensive cloth was used. Mahmudi of Rs. 62 per than⁶ is the highest recorded quality we get from our record. However, comparatively lower quality cloth was also used. Narma of Rs. 2 Annas 14 was the lowest quality cloth used for jama.⁷

Angarakha

Angarakha is a costume of Indian origin. Vandana Bhandari mentions that 'angarakha is long sleeved full skirted upper garment of varying length generally open at the chest and tied on the front with an inner flap or parda, worn mostly by men.⁸

Kurta/Kurti

Yusuf Ali mentions that 'kurta, a shirt-like light garment worn by men and by Musalman women of the western districts: the skirt ends are left hanging outside the trousers and are ornamented with borders. The kurta is usually worn as a dress at home; for full dress, a sadri, angarkha, or achkan (which is not woven in whole pieces), and chauga or a combination of some of these would be worn over the kurta in the case of men and dupatta in case of women.⁹ We only get two instances of kurta/kurti. Sela¹⁰ and mahmudi was used for making kurta/kurti.¹¹

Dresses of Women

Dresses most popular amongst women were Ghaghara, kurti, chadar, sari, choli, kachli, dupatta and odhani. By our records it is extremely difficult to discern whether it were exclusively meant for royal ladies or also used as awards meant to be given and distributed.

Odhani/ Dupatta

According to Chandramani Singh odhani/Dupatta was, 'A piece of material usually three meters long and one and a half metre wide, women wear it with ghaghara, kurti and kanchali. It covers head and right shoulder and taken across the skirt is tucked into the waist or sometimes is left hanging in the front.¹² Yusuf Ali mentions that its 'literally a cloth in two widths: formerly these pieces were woven narrow, and were joined alongside of one another to produce the proper width; now, however, the dupatta is all woven in one piece. This is a piece of cloth worn entire as it comes out of the loom. It was worn either round the head or over the shoulders and is used by both men and women, Hindu and Muhammadan.¹³ Odhani since requires to be light our records shows that was exclusively made from panchtolya.

Choli/kachali

Choli is bodice and kachali is a bodice with sleeves. It was made of sela, atlas and sirisaf. For making kachli extremely high quality of sela

was used; mulmal and atlas used for making kachali.¹⁴

Ghaghara

Ghaghara was a frilled long skirt which usually comes down to the ankle. According to Chandramani Singh, 'The ghagharas' usual length being sixty to seventy centimeters, depending on the height of the women who wore it. In the early medieval times ghaghara was not very heavy.¹⁵ Ghaghara was made out of bafta, atlas, and khasa.¹⁶

Sari

Chandramani Singh suggests that sari was a southern dress which was introduced in northern India in the late medieval period. According to Singh, 'In Rajasthan sari was not a regular dress for women regardless of class or community. It was used as an occasional wear.¹⁷ According to Yusuf Ali, 'sari, probably so called because it covers the entire body (Sara badan); the gender on account of its invariable association with feminine garments.¹⁸ A variety of fabrics used for sari are alam, pasmi, panchtolaya and khasa. The fabric used for sari appears to be expensive in general.

Other Textile Items

Among other items store in the kothar were peelangpos, jhalri and chhatbandi, kanat etc. Peelangpos were bed spreads. It was made of expensive bafta, malmal, atlas and ilayacha.¹⁹

Printing and Colouring style

In the Jodhpur mainly Kari bhat, ful bhat, angoor bhaat, gol bhat, jhumar bhat, pankhi bhat, leheriya bhat, shank bhat, printing styles existed. Apart from this gold-silver and enamel work was also done in Jodhpur.

Rich and dark colours were used. For the colouring and printing of clothes, colours like sosani (green) were used. Saffron and red colour was used extensively as it was considered lucky and holy and chunari was made for brides.

The saffron colour was obtained from keshu or harsingars flowers. Keshu flowers mixed with harsingar saffron portions to prepare red colour. Similarly by adding kesu flowers in a pink dye the vermilion colour was obtained.²⁰ The colours they used mostly:-

Table-1
Vegetables Flowers and Minerals Used For Making Colours

S. No.	Vegetable/Flowers/ Minerals	Uses
1.	Kesar (Saffron)	Orange
2.	Haldi (Turmeric)	Yellow
3.	Pevrdhi (Cherry)	Yellow
4.	Neel (Indigo)	Blue
5.	Hinglu (Mahogany)	Red
6.	Kusum (Safflower)	Red
7.	Saftalu (Peach)	Peach
8.	Zarad (?)	Yellow
9.	Multani clay	Light Yellow
10.	Amal Flower (?)	Red
11.	Naspal (pomegranate rind)	Yellow and fast green

Textile market

In Jodhpur royal family, clothes' varieties came from different parts of the country. According to the information culled from bahis we can say that the clothes came from traders. First these clothes were purchased by the traders and submitted to store house later given to the royal family and their relative according to order.

Purchasing places

S. No.	Market	Types of dress	Type of work
1.	Jaipur	Dusala	Chiz
2.	Pali	Dusala	Small buti
3.	Sojat	razai	Pink clours
4.	Bundi	Pag	Inlay and enamel work
5.	Viranpur	Dupatta and pag	Kusubal colour
6.	Jamnagar	Dupatta	Bandani work
7.	Delhi	Pecha and pag	Kusumbal
8.	Balotara	Dupatta	Red colours
9.	Nagor	Pag	Kusumbal
10.	Jaisalmer	Topi	Kimkab gujarti cloths

Sources - Sanad Parwana bahi 1-5 & Zanana Talke bahi no. 613.

Above were bought and submitted to Kapdho ke Kothar (textile store house) and were given in siropav and for the personal use of the royal family.

Artisans and their wages

Our record lists six major artisanal classes who were associated with textile store house. These were chhipa (printer), rangrez (dyer), darji (darzi;- tailor), spinners (pinjaras) and embroiderer. Although no separate mention of embroiders (kasidekars) is available in our records. Nandita Prasad Sahai also mentions presence of spinners (pinjaras), weavers (julahas), dyers (rangrez, rangaras, nilgars or indigo-dyers), and printers (chhipa), tailors (darzis) in early modern Rajasthan.²¹

Mostly, wages were given on assignment basis. But tailors were given wages on monthly basis about which we find information in the bahis.²²

Some time state give the extra eminent of our artisans who give the good works. We get some instance in Ruka Hakikat bahi when state gave the privilege to a Darji. In one instance golu son of mala darji of Jodhpur made the khas posak and state presented the jagir of vabhor village with a rekh of Rs. 600 as a privilege.²³ In another instance Mahesh son of kushala darji of Jodhpur made the khas posak and state gave the jagir of Madhli bika village, in Jodhpur, of rekh Rs. 625, as a privilege.²⁴

Conculsion

Thus, to conclude, from our primary data we came to know of various kinds of cloths' variety being used by the royalty, and different attires being worn at that time. Also, we know about the price of cloths. We also know system of the textile store, their artisans, their wages, cloths market and uses of these clothes.

References

1. Abul Fazl, Ain I Akbari, (1989) [1873]. tr. H.Blochmann, New Delhi: Publication, Atlantic Publisher & Distributors, p.100.
2. Kapdho ke kothar ki bahi, no. 1, V. S. 1777, f.3a.
3. Ibid, 7a.
4. Kapdho ke kothar ki bahi, No. 7, V.S. 1810, f. 94b.
5. Yusuf,A. Ali, (1900). A Monograph on Silk Fabrics Produced in the North-Western Provinces and Oudh, Allahabad: N. W. Oudh Governement

- Press.p. 78.
6. Zanana talke ki bahi no. 613,p. 48a.
 7. Kapdho ke kothar ki bahi, No, 144, f. 26a.
 8. Bhandari. Vandana, (1998). Costume, Textiles and Jewellery of India Traditions of Rajasthan, London: Publication Mefury books, London, p.25.
 9. Yusuf, (1900). p. 83.
 10. Zanana talke, bahi no. 613, f, 29.
 11. Ibid.
 12. Singh, Chandramani, (2002). Textile and costumes from the Maharaja Sawai Man singh II museum, Jaipur: Maharaja Sawai Man singh II museum Trust, 162.
 13. Yusuf, (1900). p. 71.
 14. Zanana talake bahi no. 613, f. 29A.
 15. Singh, (2002). p. 35.
 16. Kapadho ke kothar ki bahi, No. 300, f. 6a.
 17. Singh, (2002). p. 38.
 18. Yusuf, (1900). p. 71.
 19. Kapadho ke kothar ki bahi, No. 144, f. 6a.
 20. Field survey undertaken by me dated on (08/11/ 2016), old city ,Jodhpur, Rajasthan.
 21. Sahai, Nandita Prasad, (2006). Politics of Patronage and Protest: The State Society and . Artisans in Early Modern Rajasthan, New Delhi: Oxford, p.12.
 22. Zanana talake ki bahi, No. 148, V.S. 1826. F, 11.
 23. Sika hakikat bahi No. 4, V.S. 1857, image 116.
 24. Sika hakikat bahi No. 4, V.S. 1845, image 111.

Mirza Raja Jai Singh I of Amber - His Cultural Activities

Samreen Iram

Introduction

Mirza Raja Jai Singh (1622 A.D.-1667 A.D.) was a prominent noble of Shahjahan and Aurangzeb's reign.¹ He was the son of Maha Singh² and the great grandson of Man Singh (1592 A.D. 1614 A.D), he belonged to the prestigious Kachhwaha family of Amber.³ He entered into the Mughal service in his early age during Jahangir's reign. He was raised the mansab (rank) of 1,000 Zat and 500 Sawar in 1026 A.H. / 1617 A.D,⁴ and later ascended the throne of Amber in 1031 A.H. / 1621 A.D.⁵

He was a spectacularly successful politician and general, fought important expeditions under Shahjahan and Aurangzeb. His reign was important for his other activities as literature, art and architecture. He spent some time in his capital of Amber, but was still able to make substantial additions to the city and ensure that culturally the Amber court mirrored the Mughal one.⁶ Man Singh and Jai Singh were two famous names in Kachhwahas history in 16th and 17th century. They were not only interesting in battles and politics but also cultural activities. They did not stay in their state but they were involved their activities in capital. They were received highest mansab from Mughal rulers. M.L. Sharma says that, "The accession of Jai Singh heralded a new age of power and prosperity for house of Amber."⁷

His Cultural Activities

In the present paper an attempt is made to highlight the cultural activities of Mirza Raja Jai Singh. He introduced a new cultural phase at Amber. His patronage was not confined to a single language. He had acquired knowledge of Persian, Turkish, Sanskrit and Urdu. He possessed extra-ordinary intelligent and soon developed his efficiency in these language together with his studies in history, geography, mathematics, politics, court-etiquette and in skill of warfare. He was a very good horseman and knew

the use of manuscripts, painting, weapons, carpets and other artobjects.⁸ His contribution in literature and poetry is excellent. Behari, Kulpati and Narottam were famous Hindi poets, they enriched literature under the patronage of Jai Singh. Narottam wrote the single surviving copy of Manchrit⁹ at the request of Jai Singh.¹⁰ Manchrit is one of the indications of Jai Singh's interest in the riti literature and poetry. Rasik Priya¹¹ was illustrated manuscript of Keshavdas, it was written for Jai Singh's wife Chandravatiji.

“ अर्थसंवत् 1697 शाके 1561 प्रवर्तमानेमहाराजधिराजराजि, श्रीजैसिंहजीराजेगद ।
श्रीअम्मावतीनग्रेपौथीलीबाईमहारानीश्रीचन्द्रवतीजीआत्मास्वार्थे..... । । ”¹²

Bihari was a famous braj poet, he enriched poetry work under the patronage of Jai Singh, whose single surviving work Bihari Satsai¹³ (his collection of seven hundred verses) is one of the pinnacles of riti poetry.

He introduced PanditarajaJagannath (he was the author of Ganga Lahari and Rasagagandharaa) in the court of Shahjahan.¹⁴ He was also interested in other branches of learning as grammer, Puranas, Jyotish, Prosody, Kosa, Kavyas and Katha-akhyayikasby Nilakantha, Vishnu-purana with Vais'nava-Kuta-ChandrikaTika by Ratnagrabha Bhattacharya, these are very important sources during his time and bearing the seal of Persian of jai Singh dated 1059 A.H.. Manohar Mahatma was his favourite scribe.

He was founder a Sanskrit college at Banaras. This college gave the education of the youth and to which he sent his sons [Ram Singh, Kirat Singh] for their education. He brought PanditJagannath to Amber, where Jai Singh being pleased, took him to the imperial court. Shahjahan appointed him as a tutor to DaraShukoh and conferred all his favours the Panditand he passed his youth under the patronage of him (Shahjahan).¹⁵ Jai Singh had organised a Pandit-Sabha [Assembly of Scholars] at his own court at Amber, the members of this meeting were front ranking scholars of Dharma-s astra.¹⁶ He had collected the manuscripts of important Sanskrit dramas like Shakuntalam of Kalidas and Ratnavali of ShriHarsa with their Hindi rendering and commentaries in Sanskrit.¹⁷

Persian garden carpet (char-bhag-1632 A.D.)

The magnificent Persian Garden Carpet (Char Bagh), purchased in 1632 AD by Mirza Raja Jai Singh from Persian king Shah Abbas. It is 28' 4" by 12' 4" size is of a Persian garden replete with designs of ponds,

sectioned gardens, water tank and other animals, including a dragon. This carpet is available in Albert Museum at Jaipur.¹⁸

Painting-

The first Ragmala to be ascribed to Amber have been painted during the reign of Mirza Raja Jai Singh.¹⁹ One of the rare and important groups of paintings the royal studio at Amber under him. His artists trained in Mughal style.²⁰ O.K. Taknet says that, "The Amber style of paintings is characterised by use of colours such as geru, safeda and Kuluns. Red and black predominate and paintings are flat and one-dimensional."²¹ In the 17th century, Rajasthani painters were confronted with two contradictory sets of traditional instructions. One was the composition of the Ragamala and second was the composition of single Ragmala painting.²² Amber rulers had to establish their own workshop with personal painters who trained in high Mughal style. Other thing is that different style of painting found in Amber. Bhagavata Puranas and rangmalas are two series of painting of Amber which depict moods (rasas) established by the playing of raga musical modes, and other types of paintings style of Jain traditions and classical Hindu.²³

The women of this period are characterised by donning the Rajasthani style of the ghaghra and odhni and adorned in Mughal ornaments similar to those seen in the chaghtai women. Miniature of this period are more geometric like the murals and possibly their artists immersed in the technique of the folk art of Mandana.²⁵

Architecture under Jai Singh

Man Singh and Jai Singh are two famous names in Kachhwaha history for their architecture activities. They did not stay in their state but they were involved their activities in capital. Their period was new era of architecture in Amber. Man Singh was the founder of Amber fort and Jai Singh further additions and the palace completed. Two famous halls in Amber fort. These halls are Diwan-i-Khas (hall of private audience) and Diwan-i-Aam (hall of public). I have founded in Diwan-i-Aam that the Mughal and Rajput styles of architecture but Rajput architecture is main features of this building. Such as beautiful ornamented in carved patterns of elephants head and vines. The inner ones in coupled pairs are of white marble and outer ones of red sand stone. Floral design in round

shapes are found in this hall. Ceiling is a distinctive construction, the four curved sides rise towards a central, flat rectangle. This design is founded commonly in Rajput and Mughal architecture.²⁷

Shesh Mahal

One of the building attractions of the Amber palace is the Shesh Mahal also called Jai Mandir. This building was constructed by Jai Singh. It is the best example of his architecture activities. It is the double storied building. Its first storey centrally situated on the east overlooking the lake below, its second storey covered with bangla roof. It is divided into two halls and these halls surrounded by a corridor with double columns. The off white marble is used for this building and marble work on the base of the columns are magnificent.²⁸

The upper part of Sheesh Mahal is known as Jai Mandir and is spell binding in the intricate floral designs with glass in them. This place was kept cool in the summer by covering its arched openings with screens woven with the roots of the aromatic grass. In the front of this building is a parterred little garden in the classic Mughal pattern called Char-Bhag of four gardens. The front of Sheesh Mahal is a parterred little garden in that classical Mughal pattern called Ch?rBhag of four gardens. Facing of this is Sukh Niwas (pleasure palace), the Raja's private apartments where he retired to rest.²⁹

Jai Singh was also participated in other activities. He represented the elevation of kingly splendour. In his reign the Kachhwahas attained to the zenith of its prosperity and affluence. He was not a master of diplomacy, he had acquired knowledge of language, art and architecture which was a leading prince and an eminent noble of his age in Amber. His career was one of unapproached eminence.

We can see that the workers are working in the second storey of Shesh Mahal. They are painted the mirrors with different colours.

References

1. Shaikh Farid Bhakkari, Zakhirar-ul-Khawanin, Vol-III, ed. Syed Moin-ul-Haqq., Asiatic Society of Bengal, Karachi 1974, p.117, Kachhwan Ri Vanshawali (A genealogical account of the Kachhawa Nobility), ed. Shyam Singh Ratnawat, Jaipur, 1981, p.96, Munhat Nainsi-Ri-Kheyat, Vol-I, ed. B.P.Sakaria, Rajasthan oriental Research institution, Jodhpur, 1960, p.297.

2. Khwajah Kamgar Husaini, Ma'asir-i-Jahangiri, ed. Azra Alvi, Centre of Advanced study, Department of History, A.M.U., Aligarh, Asian Publishing House, Bombay, 1978, p.339, Jahangir, Tuzuk-i-Jahangiri, ed. Saiyid Ahmad Khan, Ghazipur, 1863, p.130, James Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan or The Central and Western Rajput 3. Jahangir, Op.cit, p.356, AbulFazl given the account of Raja Jai Singh's ancestor, AbulFazl, AkbarNamah, Vol-II, ed.MaulviAbdur Rahim, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1879, p.156, Qazvini also given the information about the Raja Jai Singh's family, Qazvini, BadshahNama, pt-b, Rotograph (R No- 191), Rieu i /258 b, B.M MS. No. or. 173., Centre of Advanced study Department of History, A.M.U., Aligarh, ff.276a, b.
4. Tuzuk, p.192.
5. Tuzuk, p.337, Shyamal Das, VirVinod, Vol-II, Pt-b, Delhi, 1986, p.1287, James Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan or The Central and Western Rajput States of India, Vol-III, p.1340.
6. Catherine B. Asher and Cynthia Talbot, India before Europe, Cambridge University Press, Delhi, 2016, p.211.
7. M.L. Sharma, History of Jaipur State, The Rajasthan Institution of historical Records, Jaipur, 1969, p.92.
8. Pothikhana of Jaipur (Khasmohar collection), Jaisinghestuti (poetry), M.S. No.599, verses-2, city palace library, Jaipur, f.2, M.L. Sharma, p.92, G.N. Bahura, p.37-38.
9. Narottam, MancharitaR?so M.S. no. 1977, 1697 V.S./1640 A.D., city place library, Jaipur, it is the second manuscript. The first Mancharit (M.S. no. 1901) was composed by Amitraj and AmitRai the date of composition 1642 V.S./1584 A.D.
10. Allison Busch, Poetry of Kings The classical Hindi literature of Mughal India, Oxford University Press, New York, 2011, p.173.
11. Keshav Das, RasikPriya ,m.s. no.4/39-1847, dated 1646 V.S./1639 A.D. I have found many colourful paintings in this manuscript. These paintings are Krishna and gopis, cows and flowers designs, many colures (Red, Yellow, green, black and sky blue, ff.22-24.
12. Ibid.
13. Bihari, BihariSatsai, m.s. no. 1581, dated 1714 V.S./1657 A.D., City Place library, Jaipur, Allison Busch, p.174.
14. Bahura, p.38.
15. Ibid.
16. Ibid. p.39.
18. Based on physical survey, Albert Museum Hall, Gallery collection, Accession No. add/p/681/2225, Jaipur.
19. Klaus Ebeling, Ragmala Painting, publisher Ravi Kumar, Basel. Paris, New Delhi, 1973, p.42.
20. Falk. And Digby,s. Paintings from Mughal India, P&D. colnaghi& co, London, 1979, p.19.

21. O.K. Taknet, Jaipur Gem of India, ed. Razia Grover, NanditaBhardwaj, Monica Arora, IIME, Jaipur, 2013, p.316.
22. RagmalaPainting,Op.cit., p.18.
23. India before Europe, Op.cit.p.213.
24. Based on physical Survey, Albert museum, collection of Ragamala paintings, Jaipur.
25. T.K. Taknet, pp.316-319.
26. Based on physical survey, Albert Museum, Ragmalacollection, Jaipur.
27. G.H.R. Tillotson, The Rajput Places The development of an architectural style 1450-1750, Oxfort University Press, Delhi, 1987, p.98, physical survey of Amber fort, Plate-1.
28. Catherine B. Asher, The new Cambridge history of India Architecture of India,Cambridge University Press, 1922, p.248, physical survey Plate-2.
29. G.H.R. Tillotson, pp.99-100, Architecture of Mughal India, p.248, Physical survey, Plate-3.

Maharaja Surajmal : Real Builder of the Bharatpur State - An Assessment

Prof. (Dr.) Brij Kishore Sharma

The establishment of Jat State of Bharatpur during the early years of 18th century is considered as one of the important event of Indian history. It was not an outcome of sudden event. It has a long history since last two decades of 17th century when a Jat leader Bhajja or Brij came into limelight by withholding the Mughal revenue. He was zamindar of revenue Mauja Sinsini. Thus the Sinsini became a centre of Jat activities. His son Rajaram (1686-1688) reorganized the Jat power against the Mughals. He gave stiff defeat to the Mughal armies on various occasions and finally he lost his life in struggle with the Mughals. Again his old father Bhajja assumed the Jat leadership and he resisted the Mughal and Amber armies for seven years. But still there were no signs of emergence of Jat political power. The foundation of Jat political power to the west of Agra or in the areas of Bharatpur was laid by Churaman (1695-1721). But his political power was crushed by Sawai Jai Singh (Maharaja Jaipur), acting on behalf of the Mughal Government in the reign of Muhammad Shah. Churaman committed suicide in 1721; his hold at Thun was destroyed in 1722.¹

Churaman's nephew and successor, Badan Singh (1722-1756) was the real founder of the Jat State of Bharatpur. He acknowledged himself as a vassal of the Jaipur Maharaja, but he ruled independently over the Agra and Mathura districts, organizing a regular government, building palaces and paying out gardens.² But he always considered himself as subordinate of Maharaja of Jaipur. At the same time he assumed the title of Brij-Raj (King of Brij). He emphasized the connection of his house with the ancient yadava rulers. Finally he won the title of Raja from Mughal court.³ The credit of achieving the title of Raja to the Jat chief Badan Singh goes to Surajmal.

Badan Singh was the founder of Bharatpur State, while Surajmal (1756-1763) was the real builder of the state. Surajmal took keen interest

in the administrative and military affairs of the Jat Chiefship since his age of sixteen during his father's lifetime. He came into limelight in 1732 when he captured the fort of Bharatpur from its lord Khem Karan Jat Sogaria.⁴ Thus, the city of Bharatpur emerged as the capital of Jats. K.R. Qanungo has rightly evaluated the event as follows : "At that time, the place was only a small mud fort without any of the formidable fortification with which its name was afterwards associated. His untutored genius turned into an impregnable stronghold and around it grew up a prosperous city lying in grandeur with the imperial capital of Delhi and Agra. The fame of his just and wise rule attracted men of all classes, professions and creeds to the principality, which was the only spot where peace and security reigned in the midst of the chaotic plains of Hindustan."⁵

During his father's lifetime Surajmal became favourite of Maharaja Sawai Jai Singh and under his patronage the Jat power of Bharatpur grew uninterruptedly. In the opinion of Qanungo, Surajmal's sincere devotion to Maharaja (Jaipur) was repaid with fatherly affection by that great ruler. After the death of the Maharaja, Surajmal, true to the dying wish of his beloved patron, stood faithfully by his eldest son Ishwari Singh whose rightful claim to the throne was unjustly disputed by his younger brother Madho Singh in pride of the Sisodia blood derived from his mother.⁶ He was immensely benefited by this event. On the one hand he performed his moral duty towards his mentor and patron and on the other he got rocking political fame. In collaboration with Jaipur forces he defeated the combined forces of Mahrathas, Mewar, Marwar and Kota in the battle of Bagru in 1748.⁷ This victory filled his political career very high. Before this victory Surajmal encountered the Ruhelas from the side of Mughal Empire in 1745. In a changed situation he defeated the Mir-Bakshi and compelled him to come into peace terms in January, 1750.⁸

By 1750 Surajmal became a smart and shrewd politician. He also became a skilled player of diplomacy and successfully dealt with the Rajput, Marathas, Mughals, Ruhelas etc.. He became close and confident associate of Wazir Safdarjang. After the Ruhela campaign of 1751-52 Safdarjang rewarded Surajmal's services by creating Badan Singh a 'Raja' and Surajmal a 'Kumar Bahadur', thus giving them 'rank among the potentates of Hindustan'. What was of greater practical importance, he conferred the office of Faujdar of Mathura on Surajmal. This gave him authority over

most of the territory on the two sides of Yamuna.⁹ In 1754 Surajmal made a successful defense against Mughal-Maratha combined army of 80,000 men at Kumher. With his chivalry and diplomacy he made the invaders to agree to retreat which heightened his reputation. An understanding was then reached between Surajmal and Raghunath Rao; the former promised not to oppose the Maratha incursions into north India and latter agreed to acquiesce in Jat occupation of much of the territory of Agra Subah. This arrangement facilitated the territorial expansions of the Jat power till 1756.¹⁰

Surajmal's father Badan Singh died on 7th June, 1756 and Surajmal became legitimate successor undisputedly. He ruled the state of Bharatpur as sovereign ruler only for about seven and a half years. In an encounter with the Ruhelas he was killed on 25th December, 1763.¹¹ During 1757-1761 he could not protect his state from invasions of Ahmed Shah Abdali. His differences with Marathas compelled him to remain neutral in the battle of Panipat. But his generosity towards the defeated Maratha was appreciable. John Malcolm wrote : "The feeling of all Marathas towards the Jat of Bharatpur is strong from a recollection which still exists of the protection the Raja of that place afforded their ancestors after the disastrous battle of Panipat. He not only clothed and fed the fugitives who came to his territories but furnished them with means of reaching their houses in the Deccan. In consequence, there is hardly a family of any note in this nation that has not a tradition of adept of gratitude to the Jats of Bhurtpoor."¹² After Abdali's retreat from India in March, 1761 Surajmal captured Agra in June, 1761.

Surajmal's name and fame reached on height, but his untimely and premature death proved a greater disaster in the history of Jats and as well as the history of India. The Abdali's retreat from India left Surajmal as the strongest potentate in India with absolutely unimpaired forces and an overflowing treasury while every other chief had been more or less ruined.¹³ He was reputed to have a standing army of 40,000 strong men, 300 pieces of cannon of all kinds, 5000 spare horses, 60 elephants and plenty of ammunitions. His fortresses were well stocked with provisions and guns. His treasure amounted to 10 crores of rupees. No wonder he envisaged a scheme of building from the wreckage all round a strong Jat state that would knit the Jat race into a homogeneous people. The Jats would join hands with the Sikhs of the Punjab, effectively bar the Abdali's advance to

Delhi and rule over the region from the Ravi to the Chambal.¹⁴

Maharaja Surajmal contributed remarkably in developing basic structure of the state. The old Jat forts of Sinsini and Thun were in ruins and when Badan Singh was installed as Jat Chief, there was no Jat fort or fortress. During the reign of Badan Singh four new forts viz. Deeg, Kumbher, Bharatpur and Veir were constructed. In fact all these were the creations of Surajmal. The forts of Deeg, Kumbher and Bharatpur were in the main defense chain.¹⁵ The establishment and constructions of Garhis (fortresses) was an outcome of Surajmal's defense strategy as the main forts were protected by these garhis.¹⁶ These garhis were located within a distance of six to eight miles from each other. The garhis such as Ballabgarh, Halena, Pathana, Bhutoli, Akhaigarh, Garu, Kathumar, Sonkh, Thun, Badangarh, Sinsini, Sogar, Kama, Gopalgarh, Khoh, Nuh, Garhi Bajna etc. are well known which were constructed by Surajmal. All such small forts or garhis were also designed on the model of main forts and were also equipped with army, arms, ammunitions and provisions. Surajmal was also a great builder of forts, Palaces, gardens, water tanks (kunds or kundas), sarovers (Talaos) etc.. The Udayn Bhavans of Deeg are finest examples of art and architecture. These palaces include Gopal Bhavan, Suraj Bhavan, Hardev Bhavan and Sawan Bhandon Mandap (Pavilion). All these are located in large gardens decorated with trees, flowers and fountains. The Gopal Sagar named huge kund water tank and Roop Sagar kund were also constructed at Deeg. The Jat monuments of Deeg, Bharatpur, Brindaban and Goverdhan were constructed by Surajmal.

During the reign of Surajmal the growth and development of Bharatpur State was all-round. At the time of Surajmal's death the possessions of the Bharatpur State consisted of Agra, Dholpur, Mainpuri, Hathras, Etah, Meerut, Rohtak, Farrukhnagar, Mewat, Rewari, Gurgaon and Mathura apart from the original principality of Bharatpur.¹⁷ He brought the Jat Zamindars and Chiefs of Haryana, Mahtura and Doab under his leadership through matrimonial relations, caste and clannish sentiments and by force. He snatched Mewat from Jaipur State and large parts of Haryana from Mughal Jagirdars. As regards the finances of Raja Surajmal he was the best manager. During his reign the state expenditure ranged between 60 or 65 lakhs while his annual revenue was approximately 175 lakhs.¹⁸ He left about 10 crore rupees in the state treasury to his successor.

Besides the huge treasure he left to his successor 15000 cavalry, 25000 infantry (besides those in fortresses), 5000 spare horses, 3000 canons, 60 elephants and ammunition in proportion. The author of Siyar says "He (Surajmal)" had in his stable twelve thousand horses, mounted by so many picked man, amongst whom he had himself introduced an exercise of firing at a mark on the horseback, and then wheeling round in order to load under shelter and these men had by continued and daily practice become so expeditious and so dangerous marksmen, and withal so expert in their evolutions, that there were no troops in India that could pretend to face them in the field."¹⁹ K.R. Qanungo remarks about the personality of Maharaja Surajmal as follows : "He possessed preeminently all the nobler qualities of his race, energy, courage, shrewdness dogged perseverance and an indomitable spirit that would never accept a defeat. But in the pursuit of an exciting game, whether in war or diplomacy, he was of no more delicate conscience than most of his contemporaries. In an age of intrigue and unscrupulous diplomacy, he equally baffled the dissembling Mughal and the cunning Marathas. In short, he was a very old bird that picked up grain from every net, without getting entangled in the noose."²⁰

It is evident from the foregoing pages that Maharaja Surajmal was the real builder of the state of Bharatpur. He developed an efficient military and defense system, civil administration and court life. The credit of expansions of the state boundaries also goes to Maharaja Surajmal. Ghulam Ali, author of 'Imad-ul-Saadat' writes about his character as follows:²¹ "Surajmal spoke Braji, dressed like a Zamindar (peasant), and was very simple in his lifestyle. He was very intelligent and shrewd; in sagacity and foresight he was regarded Plato of Jats. He was far superior in character to the amirs of Hindustan (North India), and in administration, organization, statecraft, management of financial and political matters he was unrivalled, except Asaf Jah Bahadur of Hyderabad (Deccan)". This concluding remark of a contemporary author tells many things about the character, personality and achievements of Maharaja Surajmal. Since 1730 to 1763 he contributed remarkably in building the Bharatpur state. Thus, he was the real builder of Bharatpur state.

References

1. A.C. Banerjee and D.K. Ghose, A Comprehensive History of India, Vol. IX, PPH, New Delhi, 1978, p. 495.

2. Ibid, K.R. Qanungo, History of the Jats, Calcutta, 1925, p. 32.
3. J.N. Sarkar, Fall of the Mughal Empire, Vol. I, Calcutta, 1932, p. 164. The title of Raja was conferred on Badan Singh in 1752 in lieu of Surajmal's services to the Mughals.
4. K.R. Qanungo, op.cit., p. 35. The year of capture of Bharatpur has been recorded 1733 in the Imperial Gazetteer of India (provincial series), Rajputana, Calcutta, 1908, p. 323.
5. K.R. Qanungo, op.cit., p. 35.
6. Ibid., Sawai Jaisingh (Maharaja Jaipur) died in 1743.
7. A.C. Banerjee and D.K. Ghose, op.cit., p. 496.
8. Ibid.
9. Ibid.
10. K.R. Qanungo, op.cit., pp. 48-52.
11. Selection from Peshwa Daftar (Ed. G.S. Sardesai), vol. XXI, pp. 89 and 90, . Ibid., vol. XXIX, p. 23.
12. J. Malcolm, Memoir of central India, vol. I, London 1880, p. 129.
13. J.N. Sarkar, Fall of the Mughal Empire, Vol. II, p. 324.
14. A.C. Banerjee and D.K. Ghose, op.cit., p. 497.
15. The fort of Veir received special attentions of Badan Singh. Father Wendels description has also recorded this fact. But the credit of construction of these forts goes to Surajmal. The writing viz. Tarikh-I-Almgir Sani and Tarikh-I-Ahmadshahi confirmed the fact. Also see Dr. Vir Singh (Ed.), The Jats, vol. 2, New Delhi 2006, pp. 132 and 140. In this volume article "Character and Personality of Surajmal as viewed by contemporary Indo-Persian Historians" by Prof. Z.U. Malik.
16. Girish Chandra Diwedi, Jat aur Mughal Samrajay (Editor - Dr. Vir Singh), New Delhi; 2002, pp. 124-125. Vir Singh (editor) : The Jats, vol. I, New Delhi; 2004, pp. 234-240. See the article entitled "History and life of the Jat rajas as reflected in the historical monuments of Bharatpur State" by Prof. S.M. Azizuddin Hussain. The forts and fortress of Nimrana, Lachhmangarh, Govindgarh, Kishangarh etc. in Mewat area were either repaired or constructed by Sruajmal. In the same manner the fortresses at Aligarh, Khurja and at various places in Doab were also constructed.
17. K.R. Qanungo, op.cit., p. 90.
18. J.N. Sarkar, op.cit., vol. II, p. 333.
19. K.R. Qanungo, op.cit., p. 91.
20. Ibid., p. 35.
21. Ghulam Ali, Imad-ul-Saadat (Printed 1897 Lucknow), p. 56.

Maharaja Dungar Singh of Bikaner : A Progressive Ruler, An Able Administrator and a Pre-cursor to the Modernity

Prof. Kanti Lal Mathur

Maharaja Dungar Singh acceded the throne of Bikaner state in 1872 AD after a chaos and ruled over the state for a short span of 15 years i.e. up to 1887 AD.¹ He, in fact, bequeathed to the state a legacy of the unprecedented achievements and innovative works. His political acumen and far-sightedness in administration brought the state in to a frontline state in the Rajputana.

However, his regime was very short-lived i.e. for only 15 years from 1872 to 1887 AD and was suffixed by a long span of the prominent ruler Maharaja Ganga Singh who ruled over the state for about a period of more than 50 years i.e. 1887 to 1943 AD had virtually sidelined the regime of Dungar Singh in the historical circles. Consequently, a justified probe of the significance of his achievements and innovative works could not be focussed in history neither he is highlighted in the hierarchy of the rulers because of the high profile of his immediate successor Maharaja Ganga Singh and Maharaja Dungar Singh's immediate precedence.

It is therefore, a pertinent probe of his achievements and his progressive approach is needed. A legitimate review of his attitudes, perspectives and progressive rule and his contributions to the state is indispensable.

Fortunately, we have an ample body of the archival source material extant in the Rajasthan State Archives, Bikaner to the testimony of his works. A noticeable series of Council re Hukma ri bahis (vs. 1931 to 1945)² is worth mentioning, besides the other records, of which have been gainfully utilized to supplicate the presents theme in the paper.

I. Condition of Bikaner State at the Accession of Dungar Singh in 1871-1872 AD

It would be pertinent to narrate the contemporary condition of Bikaner state in order to appreciate the changes brought about by Maharaja

Dungar Singh in his times and examine its significance.

Firstly, Maharaja Sardar Singh his immediate predecessor (1851-1871) died issueless and could not decide his successor in his life time, which caused confusion and factions in the feudality regarding deciding the successor.³ But soon the Maharani Bhatiyani, the widow of Sardar Singh prevailed upon and ultimately She was allowed to adopt Dungar Singh in 1871-72 who was still was 17 years and 09 months old.⁴ It is because a regent council was constituted to perform administrative works till the attainment of Dungar Singh's adult status.⁵

Secondly, Maharaja Sardar Singh's rule of about 20 years (1851-1871) was marked by misrule and anarchy. It was marked by persistent revolts and conspiracies hatched by the thakurs and nobles. Because of the administrative slackness and the debacle of the authority the relations of the chief and the feudal were tensed.⁶ The feudals often attacked the capital city and created problems for the state and also they encouraged the delinquent elements to disturb the law and order situation.⁷ The economic conditions were not at all conducive. Due to the increased military activities, the extravagance and over borrowings from the sahuks by the state the fiscal management was seriously affected.⁸ The trade routes were insecure and the Dhadvees (Dacoits) often looted the caravans of merchandise in the katars (camels' load) and the Balads (oxen loads) either transiting through the state territory or traversing on the routes. The land revenue of the state often remained pending and the pendency increased year by year significantly. In such conditions the bureaucracy was also failed due to corruption and could not manage the administrative responsibility. In the north-east of the state the 41 villages of Tibbi, which in turn of the services rendered by Sardar Singh to the Britishers and their families in the event of 1857-58 were not still properly under control. The resettlement of the land revenue was disallowed in these ceded fertile villages by the British. This was a recurring loss to the state. The entire worse condition has been described by Col. Brooke's letter to Dungar Singh in 1873 and is also evidenced by the contemporary indigenous sources of the state. So, the period was so vulnerable and of mal-administration that during the period of 20 years 18 Diwans were changed as they could not fulfil the demands of the ruler.⁹

Hence, a stern authority a strict ruler was needed in the time; which

was provided by Dungar Singh, who had a strong ideology, a progressive vision and an approach of modernity. By his contributions he not only consolidated the state Administration but also did some innovative works for which he should be given a due credit.

II. Dungar Singh's Progressive Works in the Administration and Innovative Approach of Modernity in the State

Restored Law & Order: - At the very outset he ventured to establish the law and order in the State at the priority. He sternly dealt with the restive feudals and recalcitrant revoltees by suppressing their revolts and inflicting heavy punishments to professional culprits with the help of British authority.¹⁰ To supplicate the move he established a Police Department in the year 1874 along with Secrecy (Girai) Department in the year 1876 in the state.¹¹ He also initiated the regular Police patrolling in the state to supervise the law and order and to deter the delinquent elements.¹² He ensured the security of the markets and its activities by employing the state personnel.¹³ He also started the security of the Gates and Baris (small gates of the city wall) by posting the security men.¹⁴ He rehabilitated the Dhadvees (Dacoits) and the Barothias (Exiled) people to secure the trade routes and outskirts of the settlements.¹⁵ He initiated the Bail system of the culprits lest they may not escape and put up themselves whenever required.¹⁶ He held responsible to the employees, officials, choudharis and Muqaddam, Kotwals and other officials for security and to deter the crimes in the state.¹⁷

Re-defined the relations between the Feudals (thakurs) and the ruler:- The nobility in the state had become so restive that they have been frequently hatching the conspiracies against the chief and often created problems in the different corners of the state. This gave him an idea to deal with them with a new approach so they may become powerless and cannot afford to bear the financial expenditure of revolting. He converted the military obligations in to cash and increased the levy from rupees 200 to rupees 400 per sawar in the name of Ghora rekh.¹⁸ Those who were not obeying the orders and paying the regular dues then their jagiri villages were confiscated and later released on payments.¹⁹ Also, he resettled the rekh (the land revenue dues of the villages assigned) with them.²⁰ Dungar Singh in his orders asked the Jagirdars to either obey the orders of the authority otherwise they would be ejected from the assigned jagirs and

would be declared Khalisa land. Thus, he not only redefined the relations of the ruler and the sub-assignees but also gave a strong message of discipline and subordination to the ruler.

Initiated Revenue and Economic reforms:- To increase the revenue and stabilise the financial position he initiated many financial reforms and took up positive steps. First of all, he resorted to strict realizations of the land revenue collections to reduce the pendency of the dues in addition to revising the revenue rates and the taxation slabs. This helped to improvise financially. The toll tax (the Jagat) rates at the Mandis and the Chowkis in the state were restructures to earn by the transit trade in the year 1875 AD. To improvise the agriculture he established an Agriculture Department in 1874 to monitor the growth and development of agriculture in the state.²¹ An attempt was also made to resettle the land revenue as per the fertility of soil during 1882 to 1886 AD with increasing the irrigational facility as far as possible.²² He secured the trade routes and their linkages so that the merchandise traversing through may pass safely and invited the traders and merchants to avail the concessions and exemptions to initiate their business in the state. He was so innovative that he encouraged the local traders to venture their new products in the market. The Bhujia Udyog was started in the year 1877 in Bikaner and first of all Dunganarshahi Bhujia came up for consumption in the market which has now become a big industry in Bikaner.²³ He continued with the Muqata system (leasing out the realization of due income) to ensure the easy collection of the income from the state sources.²⁴ He also attempted to manage in the event of famine and scarcities in the desert by offering the rozgars to needy people.²⁵ Such works and reforms helped him a lot to improvise the states' economy.

Launched Administrative Reforms: - With the advice of the council he overhauled the administrative structure in the state to have an effective control of the state. He substituted the old Chira-Pargana System by the new Nizamat and Tehsil administrative units. The whole state was divided in to four Nizamats and Fifteen Tehsil. The four Nizamats were Suratgarh (04 Tehsils, Reni (04 Tehsils), Bikaner (02 Tehsils) and Sujangarh (05 Tehsils). Consequently, a permanent large officialdom was needed and that was created to run the administration.²⁶ The 41 fertile villages of Tibbi were virtually retrieved and a new settlement of revenue was

undertaken in the year 1882 which enhanced the state income.²⁷ He also established new chowkis and Mandis wherever necessary to collect the toll revenue.²⁸ He created a contingent of personal fauj for his own security.²⁹ He systemised the Jail system afresh in 1872 to help the prisoners to live properly.³⁰ The Postal system (Dak) was also looked in to and various innovative steps were taken. Offices & Dak Chowkis and determination of the Postal routes were earmarked. The registry system was introduced. The security of the postal material and routes was ensued in 1884. The modern telegraph lines were laid down to enhance the communication system.³¹ Apart of these, village and town and administration were toned up to run smoothly.³²

Judicial Administrative Reforms: - Judicial administration was also restructured. Courts at the village, Tehsil and Nizamat level were established with the separation of jurisdictions to hear the civil, criminal and revenue cases.³³

Social and cultural Reforms: - Ideologically Dungar Singh was Progressive and therefore he for the first time abolished the Begar (bonded labour) in the state in 1877 and decided the various considerations (Marzads) for the labour put up by the villagers to anybody.³⁴ He declared illegal the sale and purchase of Girls/woman by anybody in the state in the year 1869.³⁵ He also prohibited the practise of Sati and punished in the cases of Sati.³⁶ He also re-determined the age of marriage of bride and the groom. He used to punish offenders of the set social rules.³⁷ He even proscribed the practice of observing the Ausar/Mosar at the obituary of anybody in the society in 1876.³⁸ He also issued a proclamation declaring illegal the termination of pregnancy in 1878 AD.³⁹

Educational and Health Reforms: - Dungar Singh did not lag behind in the field of education and health sector. He was the pioneer ruler to introduce the modern education system in the state in 1886-87. He opened the primary and Middle schools to dispense the modern education with the modern curriculum.⁴⁰ He was the ruler to introduce the female education in the state in 1887-88. The arrangement for the education of women was done. Importantly, the modern allopathic system of medicine was for the first time brought in to the state with a doctor and a dispensary to cure the people in 1884-85.⁴¹ By appointing a Huwaladars as the in-

charge the land in the villages termed Oran, Rakhat, and Johad Beed were protected.

Famine Administration: - In the event of famine and scarcity he managed the eventuality to ensure the proper supply of the food and the grains. He also provided the rozgars with the limited hours of the work (11 to 04 pm) to the poor and the labour classes. He also encouraged the vyaparies to import the grains and the necessary items in the state to stabilize the prices of the edibles. The state partially exempted the taxes and deferred the dues. The fodder for the animals was managed and medical facilities were made available. Thus, he was very keen to the welfare of the people in the event of emergencies.

III His innovative vision and attempts

Maharaja Dungar Singh was not only a progressive ruler but he had a innovative vision and acted accordingly. When he found that the Britishers can be useful for the state to suppress the recalcitrant feudality he maintained the harmonious relations with the Britishers. With the help of the Britishers he could manage to resolve the issue of resettlement of the retrieved 41 villages of the Tibbi in the North- East of the state. Apart of these, he did many new things in the state for the first time which proves his vision of modernity. He managed to undertake the census of the people in 1881. He brought in the state the electricity and electric pumps to drain the underground water in 1886. He for the first time laid down the railway track in the state to start a rail 1886. He abolished the bonded labour and setup the minimum considerations. In 1874 he established the local bodies like Nagarpalikas for the local administration in 1879. He had an idea of bringing a water channel in to the state to deter the water shortage and accordingly he laid down proposals in 1887.

In the last but not the least, the state was under a debt of rupees 42, 30,352 from various sahkars. But under an agreement of 08 years he repaid the whole debt to the sahkars and made the state free of the pressure of the debtors in 1885-86. Thus, he brought the State in to a new phase of life and attempted to bring about the modern amenities for the people.

IV In this backdrop the following points of conclusion may be derived -

i-That, Maharaja Dungar Singh was a progressive Ruler and an

able administrator who fished out the state from a worse condition to a consolidated position.

ii-That, he had a vision of Modernization and hence he had initiated an innovative works and brought about modern amenities like electricity and allopathy in the state. He restructured administrative setup and repaid the long pending debt upon the state as well as established various new departments like Agriculture and Secret departments as well as restructured the Judiciary.

iii- That, he was a pre-cursor to the modernization and provided a base for further enhancement of the state upon which maharaja Ganga Singh worked and earned the name. But for these achievements Maharaja Dungal Singh should be duly credited. He has been a forgotten hero of Bikaner. In fact, he was the fore- runner of Maharaja Ganga Singh in Bikaner.

References

1. Captain P.W. Powlett, Gazetteer of the Bikaner State, Jodhpur, 2nd Edition, 2017, p.79; K.D.Erskine, Imperial Gazetteer of India- Provincial Series: Rajputana-Bikaner, Jodhpur, Reprint, 2007, p.404.
2. The series Council Re Hukma Ri Bahis (CRHRB) runs from VS1931/1874AD to VS1945/1888AD and are 55 in numbers in all pertains to the period of Maharaja Dungal Singh and extant in the Bikaner State Records in the Rajasthan State Archives, Bikaner (RSAB).
3. P.W.Powlett, Op.cit. , p.79.
4. Ibid.
6. The reasons of the tensed relations were following- I) The seizure by the Darbar of certain villages of their estates .ii)Exactions made from them under the name of Nazrana etc. iii) The collection direct from their villages of certain cesses. Cf. P.W.Powlett, op.cit, p. 79.
7. Col. Brook's (A.G.G.) letter dated 12th June, 1873 narrated the pitiable condition of the state. See Rao Gopal Singh Private collection in Rajasthan State Archives, Bikaner, Basta No.01, file No.6/A, dated 12th June.1873.
8. There was a debt of Rupees 42, 30,532 due in the state of the sahuksars apart of the pendency, of the land revenue. Kagdon RI bahi, No.88, VS 1885-86, Bikaner Records, RSAB.
9. P.W.Powlett, Op.cit, p .78.
10. Council Re Hukma Ri Bahis, No. o2, VS 1931, ff.4, 15.
11. Ibid. No. 03, VS 1931, ff. 570,571.
12. Ibid.
13. Ibid., No. 32, VS 1936, f.624.
14. Ibid., NO. 23, VS 1935, f. 06.

15. Ibid., No. 10, VS 1933, VS. 119-120.
16. Ibid.
17. Ibid., No. 09 VS 1933, ff.175-176.
18. Rao Gopal Singh Sangrih, Op.Cit. , Basta No. 04, file No. 264-G, Yr. 1870, RSAB.
19. Sujangarh Agency Report, 1873-74 AD, p220, RSAB.
20. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 45, VS 1939-40, ff.07, 15.
21. Kagad Bahi, No. 75, VS 1929, ff.126-127.
22. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 02, VS 1931-32, ff. 11-12.
23. I.H.Qadri, Bikaner Bhujia Udyog, Bikaner Udyog Visheshank, Bikaner, (Editor.) V.P.Sharma, January, 2001 pp.103-107; Also see Kagad Bahi, No.81, VS 1935 ff. 05&07.
24. Kagad Bahi, No.80, VS 1934, f.071.
25. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 18, VS 1934, f.11.
26. Kagad Bahi, No76, VS 1929, f. 04.
27. Ibid., No. 79, VS 1933, f.67.
28. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 20, VS 1934, f.174.
29. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 20, VS 1934-35, ff.19-20
30. Ibid., No. 06, VS 1930, ff.24-25,225.
31. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 14, VS 1933, ff.8-9; No. 41, VS 1938-39, f.112;NO. 06, VS 1932, f. 229.
32. Ibid., No. 03, VS 1931, f.200.
33. Ibid., No. 49, VS 1940, f.04.
34. Marzads Re Kagdon RI Bahi, No. 01, VS 1934, f. 146.
35. G.S H.C.Ojha, Bikaner Rajya Ka Itihas, Vol. II p.87.
36. Political and Administrative Report, Bikaner, 1874& 1876 p.220.
37. Sawa Bahi, Rajgarh, No. 44, VS 1933, f.33.
38. Council Re Hukma Ri Bahi, No. 10, VS 1933
39. Bahi Talab Tayara RI, No. 47, VS 1936-37, f.200.
40. Seema Verma, Maharaja Dungar Singh and Bikaner Mein Adhunik Shiksha wa Istri Shiksha ka Vikas, Proceedings of Rajasthan History Congress, vol. XXIII, Year 2008, p.366.
41. Ibid.

Assessment & Realization of Revenue in Bikaner State during 18th Century

Dr. Kanchan Lawaniya

The present paper seeks to study the economic condition of Bikaner state during 18th century. That deals with the assessment & realization of revenue in the context of agricultural production and taxation system.

The study is primarily based on archival records known as Hasil Bahis & Habub Bahis , preserved at Rajasthan State Archives in Bikaner. These sources are written in muriya or marwari language and Nagri script, prepared by Sub-divisional officers such as head clerk or clerks of the Rathor State Bikaner.

A large number of Hasil or Habub Bahis¹ for different years and different princely states are available in Rajasthan State Archives, Bikaner. For the present study, Gusaisar re Cheere ri Hasil Bahi V.S.1767/A.D. 1710, Khalise re Gaonva ri Bahi V.S.1798/ A.D. 1741, Khalise re Gaon Va ri Bahi V.S.1808/ A.D. 1751, Habub Bahi V.S 1831/ A.D. 1774 and V.S. 1851/ A.D. 1794 have been taken into consideration.

These documents could be defined as account books, which provide the detailed valuable information regarding the number of villages in a pargana² or cheera,³ along with the details of the classification of cultivators, agricultural production, crops, revenue demand & realization and the pattern of cesses⁴ collected from a village.

Bikaner was known as jangal pradesh⁵ in medieval period and it was the second largest state of Rathor principality of Rajasthan. Whereas the largest state of Rathors was the Marwar state.⁶ The state of Bikaner was founded by Bika,⁷ a Rathor Rajput, who was the eldest sixth surviving son of Rao Jodha, ruler of Marwar. Rao Bika laid the foundation of a fort near Kodamdeshasar in 1485⁸ and of the present city of Bikaner three years later in 1488 A.D.⁹

Geographically Bikaner lies in the heart of Great Indian Desert of Thar, having an area of 23,317 square miles¹⁰ which covered more than

one-sixth of the natural division of Rajasthan.¹¹ It is the Northern most state of Rajasthan situated between 27°12" and 30°12" north of latitude and 72°12" and 75°41" East of longitude.¹² Presently the state bounded on the North and West by Pakistan, on the South- West by Jaisalmer, on the South by Marwar, on the South-East by the Shekhawati district of Jaipur.¹³ The South-East portions of the state formed the part of the vast sandy track known as the bagar¹⁴ and the South-West part, which is productive but under good rainfall, is known as the magra.¹⁵

During the 18th century, Bikaner was under the suba of Ajmer & sarkar of Jodhpur,¹⁶ being a part of Mughal Administration. The state was divided into division or sub-divisions known as cheeras or parganas. The main Cheeras were gosainsar, magra, khader, kharipatti, sheikhsar, jasrasar, and suratgarh, parganas were punia, reni, nohar and bhatner. There were two types of villages in these cheeras or parganas viz asli & dakhili.¹⁷ On the basis of nature of land holding, these villages were further classified into five categories i.e. khalsa¹⁸ villages, patta¹⁹ villages, sasan²⁰ villages, village of hazurians²¹ and villages of bhai-parsangis.²² A big village was also divided in many localities i.e. called Vas or mohalla.²³

Since Bikaner rulers were in Mughal services, they had to discharge two fold duties firstly, they had to serve the Mughal empires in and out of their state and secondly, to administer their own territory as watan jagirs.²⁴ So the administrative system was meant to fulfill the twin purpose of collecting revenue and maintaining law & orders.

The main source of income of a state was the revenue derived from the agrarian and non-agrarian categories. Since the major source of income of Bikaner state was land revenue so the State had given emphasis on the revenue assessment by adopting various methods. Many of the methods of assessment were prevailing in the state. There were no uniformity in the modes of assessment; these varied from pargana to pargana or cheera to cheera. The main systems of revenue assessment prevailed in Bikaner state, were as follows.

Plough System

Halgat or plough system was a separate mode of assessment prevailing all over the area of Bikaner, except of north- west part of the state. It was the easiest method of assessment under which land revenue was realized on the basis of number of plough and the number and type of animal employed in cultivation.

The revenue derived from halgat was levied in cash. The rates were differing for single²⁵ or double plough and the pasaities.²⁶ For example- in cheera khedra, it was fixed Rs.30.00 for the permanent villages while for the out comers, it was charged at the rate of Rs. 15.00 in A.D. 1781.²⁷ There was the revenue derived under the plough system at the rate of Rs.2.00 and takka 2 for a pair of ploughs while it was Rs. 1.50, takka 1 and dams 25 for an ekliya hal or single plough.²⁸

Table - I²⁹

Revenue Realized Under Plough System in Rajahad of Bikaner State

S. No.	Name of Peasants	Amount of Halgat in		
		Rs.	Taka	Dam
1.	Kano Kheechi	2,	2	
2.	Gumano Kheechi	2,	2	
3.	Sarupo Kheechi	2,	2	
4.	Salvo Keesara	2,	2	
5.	Sarupa Kachhvaho	2,	2	
6.	Veedavat Bhamo	4,	4	
7.	Keesan Chuhan	2,	2	
8.	Chhtuldavat	1.50,	1,	25
9.	Khichi Gero	2,	2	
10.	Parihar Jesi	2,	2	

The Muqata Mode

The word Muqata was used for a fixed amount of revenue which was to be paid by a cultivator or by the village.³⁰ The rate of assessment was different for different kinds of crops and castes of people. In Bikaner, this system was also known as boliyara. It was a contract system between two cultivators or officers for a period of a year or more. In Bikaner the rate of per plough was ranging from Rs.0.75 to 2.00.³¹

Table - II³²

Revenue Realization under Muqata Mode of Assessment

S. No.	Name of Peasants	Revenue in Rs.
1.	Karno Amarsan	0.75
2.	Sado Seelkhi	1.50
3.	Udo Kumar	0.75

4.	Megho Chhelo	0.76
5.	Nata Chand	2.00
6.	Teli Utharo	0.76

The Bighori Mode

This system was also in vogue in Bikaner³³ Under this mode a fixed rate per bigha was paid in cash or kind. It was mostly levied on cotton, sugarcane, vegetables, tobacco and commercial crops.³⁴ The crops were measured with a dori every year and accordingly state share was fixed.³⁵ One third to one fourth was the acceptable share of the state.³⁶ In Bikaner, the length of the dori was Bees Angul, Equal to 69 hands that was called Bikaneri beegha. In cash, the rate was Rs. 6.00 per hundred bigha of land³⁷ under this mode.

The Kunta Mode

In Bikaner state, the assessment was made under the kunta mode prevailing all over the area. It was very popular system. The share of the demand ranged from 1/8 to 1/5 of the produce.³⁸ In cheera gusainsar, the demand was fixed at the rate of 1/8 of produce, so the state share was realized 24.4 man from the total production of 192.5 man.³⁹ In the cheera the jats were given concession as they were allowed to give one man less in revenue in comparison to other castes of the state.⁴⁰ Under this kunta mode there was 18.8 man was realized from the khalsa village of nahar sar ro vas out of total produce of 91 man according to the rate of 1/5 of total produce.⁴¹

Table - III⁴²

Revenue Realized under the Kunta Mode of Assessment

S.No.	Name of Peasants	Production in man
1.	Gango Shahram	12
2.	Keesano Machara	20
3.	Udo Kisan	04
4.	Beejo Aasani	03
5.	Dudo Lalana	10
6.	Kheechara Jagani	11
7.	Anando Aasana	07
8.	Kano Tenni	20
9.	Chataro	04

Land Revenue Demand

Generally, the state share was one-fourth to one-sixth of the actual production in Bikaner⁴³ state. But in the time of emergency, it could be higher or lower.⁴⁴ There were various factors which were taken into account while fixing the revenue demand.⁴⁵ Such as the status of the peasants, nature of soil, kind of crops, irrigation facilities and the caste of the cultivators. The higher castes like brahmins, rajputs and mahajans were given the concession in the land revenue demand. The khatis⁴⁶ paid at the rate of 3.4 to 4.8%, baniya & mahajans 2.6 to 2.9% and telis⁴⁷ 1.8 to 5.3%.

Our evidence provides the revenue figures for the individual cultivators as well as all the villages of the cheera.⁴⁸ So that it is possible to make a comparison among the villages of the cheeras.

Table - IV⁴⁹

Revenue Demand Assessment from the Villages of Cheera Rajahad of the State

S.No.	Name of Villages	No. of Peasants	Amount of Revenue			
			Rs.	Anna,	Takka,	Dam
1.	Navsariyo	05	14,	14		
2.	Gheerasar	06	09,	08,	11,	25
3.	Jasrasar	40	31,	04,	31,	12
4.	Devadsar	29	50,	08,	50,	25
5.	Dudero vas	02	03,	08,	03,	25
6.	Golsar	02	03,	08,	03,	25
7.	Aabhasar	03	06,	08,	06,	25
8.	Pabusar	02	03,	08,	03,	25
9.	Kogar	30	21,	08,	21,	25
10.	Godisar	60	117,	117,	25	
11.	Ratansar	21	35,	08,	35,	25
12.	Sehalo	11	24,			24
13.	Rampuriyo	14	25,	08,	25,	25
14.	Pati	09	15,	08,	15,	25
15.	Ladhasar	19	33,	08,	33,	25

Apart from land revenue, there were many other taxes which were imposed on the peasant either in direct or indirect way. These were known as agricultural taxes. Our sources, the bahis provide us not only the rate of these taxes but also the amount of collection as well. So it is possible for us to calculate the total fiscal income contributed by the tax one. Here, we made a brief account of the various agricultural taxes which were levied in the Bikaner state that are as follows-

Hasil

In Bikaner, the tax known as hasil, comprised with three additional taxes namely bhog, rokad rakam or bija rakama. Bhog was infesting an agriculture tax and the main part of the hasil, while rokad rakam or bija rakama, the cesses which received from the cultivators to meet the expenses of collection of bhog.⁵⁰

Table - V⁵¹

Revenue Realized under Hasil in Bikaner State

S.No.	Name of village	Amount of Hasil in Rs.		
		Rokad	Bhog =	Hasil
1.	Gusainsar	336	425	761
2.	Punarasar	283	31	314
3.	Lakhamdesar	50	96	145
4.	Delu	52	08	60
5.	Aahadsar	29	44	73
		750	603	1353

Table - VI⁵²

Revenue Realized under Hasil from the Villages of Bikaner State

S.No.	Type of Cultivators	Shekhsar		Somalsar		Gusainsar	
		Aasmi	Hasil	Aasmi	Hasil	Aasmi	Hasil
1.	Hali	03	09	32	81	51	92
2.	Pasaiti	26	125	-	-	56	267
3.	Muqati	13	37	13	25	35	92
4.	Bahrla vas- ra	22	62	04	04	-	-

The perusal of the above table prose that there was no pasaiti in

village somalsar. The village Gusaisar had not any peasant of bahrla vas ra means outside area of locality.

Ghaschara-ra

It was a grazing tax, levied on the cattle which were taken to graze in the fields and forest of the state. It was also known as chara ra in the Bikaner state. This was a very prominent tax in the state during the period of our study. It was realized according to the number of cattle. The following table shows the tax- income of chara ra in cheera kharipatti of Bikaner state

Table - VII⁵³

Revenue Realized under Ghaschara ra from the Villages of Kharipatti of the State

S.No.	Name of villages	Amount of tax in Rs.	S.No.	Name of villages	Amount of tax in Rs.
1.	Aanbasar	4.00	18.	Dasalsar	9.00
2.	Bhabhatsar	7.00	19.	Gagasar	5.00
3.	Soisar	5.00	20.	Veedasar	10.00
4.	Udhasar	7.00	21.	Ghatu	7.00
5.	Ghahto	10.00	22.	Sahvo	5.00
6.	Jeshardesar	11.00	23.	Buhadalo	9.00
7.	Seehalvo	9.00	24.	Rado	14.00
8.	Khari	10.00	25.	Sathu	11.00
9.	Somalsar	12.00	26.	Damnu	6.00
10.	Jogal	14.00	27.	Parvo	11.00
11.	Nokho	7.00	28.	Harnokh	7.00
12.	Kantausabhar	5.00	29.	Thagsara	9.00
13.	Seejgarh	11.00	30.	Maidusar	3.00
14.	Gadno	2.50	31.	Nathusar	16.00
15.	Peethasar	7.00	32.	Charkado	10.00
16.	Panchu	14.00	33.	Kudsu	10.00
17.	Hsasar	8.00	34.	Kathiyo	10.00

The above table shows the received amount of chara ra from the village of kharipatti.⁵⁴ The highest amount of chara ra was Rs. 16.00 from

nathusar and lowest Rs. 2.50 from gadno. The amount of the tax was quite normal in all villages of the cheera kharipatti. The result is that certain village such as nathusar had a larger pastoral area as well as the cattle than others.

Korad Bhuraj

Korad Bhuraj was a tax, extracted from the peasants on the production of grass, grown in their fields. The rate of the tax varied in the state and the peasants had an option of paying the tax in cash or in kind. The rate of the tax ranged between Rs. 1.00 and 3.00 for per loaded cart of grass in almost all villages of Bikaner. In A.D.1783 The State received an amount of Rs. 16.00 from village molisar of cheera Rajahad as korad bhuraj,⁵⁵ while it was Rs. 14.00 from a village of Cheera khadra⁵⁶ in A.D. 1789.

Table - VIII⁵⁷
Revenue Realized under Korad Bhuraj in Cheeras of Bikaner for
Continuous Five Years

S.No.	Name of Cheeras	A.D.1794	A.D.1795	A.D.1796	A.D.1797	A.D.1798
1.	Gusainsar	137.00	127.00	132.00	134.00	145.00
2.	Jasrasar	161.00	138.00	257.00	143.00	176.00
3.	Kharipatti	180.00	181.00	166.00	168.00	166.00
4.	Rajahad	154.00	171.00	207.00	199.00	201.00
5.	Khedra	135.00	124.00	139.00	148.00	123.00
6.	Shekhsar	97.00	96.00	100.00	101.00	102.00
7.	Seehagoti	68.00	66.00	49.00	73.00	44.00

Above table sets up the tax income from korad bhuraj in various cheeras of Bikaner for continuous years As we can see in the table that from A.D. 1794 to 1795, the state received the highest income from cheera kharipatti, in A.D. 1796 from jasrasar, in A.D.1797 from Rajahad and in A.D.1798 from khedra. In all five years the amount received from cheera Seehagoti was the lowest, due to more sandy area of the cheera.

Kaamdar -Ro- Rozagar

There were many taxes which were derived from the peasants to meet the expenses of the officials such as potdar,⁵⁸ siqdar,⁵⁹ hazuardar⁶⁰

and kanwari⁶¹ known as kaamdar ro rozagar in Bikaner. The remuneration for siqdar was fixed at the rate of Rs. 1.00 per village. The State received an amount of Rs. 245.00 as Kaamdar ro Rozagar from cheera gusainsar in A.D. 1794.⁶²

Mode of Payments

The mode of payments was mainly dependent on the adopted method of assessment. Where the state share was received in kind, it was sold in market,⁶³ and the amount was deposited in the state treasury by the state officials. For example, in the khalsa Village of Bikaner, the revenue demand was fixed at the rate of 1/5 of produce and the bhog was commuted in cash at the rate of Rs. 2.00 and annas 1 on per 2 man. On the basis of information, it can be said that the cash- nexus was in vogue in almost all parganas and cheeras of Bikaner state during 18th century.

To sum up, Bikaner state during 18th century paid great attention for the development of various systems of revenue assessment and a full fledged taxation system was evolved. Since agriculture was the main source of income so main focus of the state was on the land revenue demand and other various taxes which were levied in addition to land revenue.

References

1. Bahis are the rolled-registers which are bound in leather or cloth with a long string to tie double roll formed by the body of the bahis.
2. Sub-division of a sarkar ; a tract of country consisting of many tappas or villages.
3. Cheera was a fiscal-cum administrative unit, equal to the pargana of the Mughal Sarkar.
4. The term cesses were used for miscellaneous taxes.
5. G.H. Ojha, Bikaner Rajya ka Itihas, Part I, Ajmer, 1939, p.1; Ramdin Parasar, Rajputane ka Bhugol, Part II, Ahmadabad, 1912, pp.1-2.
6. K.D. Erskine, Rajputana Gazetteers, Gurgaon, 1992, p.315.
7. Kar ni Singh, The Relations of the House of Bikaner with the Central Powers, Delhi, 1974, p.20.
8. Ibid.
9. Ibid.
10. Kar ni Singh ,p.1.
11. G.H. Ojha, Bikaner Rajya ka Itihas, Part II, p.361.
12. K.D.Erskine, Rajputana Gazetteers, op.cit., p.309.
13. Ibid.
14. K.K. Sehgal, Rajasthan District Gazetteers, Jaipur, 1972, p.4.

15. Ibid.
16. Abul Fazal, Ain-I-Akbari, trans. In eng. By Col.H.S.Jarreett, Vol. II, p.276.
17. The asli was the older village while dakhli was established by detaching lands of asli village, S.P. Gupta , The Agrarian System of Eastern Rajasthan, Jaipur, p. 116.
18. The villages which were under direct jurisdiction of the state.
19. The villages which were allotted to the jagirdars for a fix time period.
20. The villages which were given to charan or Brahmins as a gift or reward by the state and these were revenue free.
21. The hazurian are those who were given land in lieu of their services to the state.
22. The bhai - parsangis included that land grant which was bestowed to the kinsmen of the rulers for their maintenance.
23. There were five locality or vas in village gusainsar i.e. vas rane ra, vas balera, vas kanera, vas lokara and vas bane ra , Khalise re Gaon va ri Bahi, No. 103, V.S. 1768/A.D. 1711, RSA, Bikaner.
24. The rajputs chiefs entered imperial service and obtained mansabs or ranks, their ancestral domains were considered a special type of jagir, untransferable and hereditary known in official terminology as watan.
25. In Bikaner , the rate of plough system was Rs. 2.00 and taka 2.00 per hal in A.D. 1791, Habub Bahi No. 52, V.S. 1831/A.D. 1774, RSA, Bikaner.
26. The term pasayati was used for the higher castes.
27. Kagada Bahi No. 5, V.S. 1838/A.D. 1781, pp.19-20, RSA, Bikaner.
28. See table no. I.
29. The table has been prepared on the basis of information contented in Habub Bahi No. 52, V.S. 1831/A.D. 1774, RSA, Bikaner.
30. G.S.L. Devra, Rajasthan ki Prashashnik Vyavastha , Bikaner , 1981, pp. 150-51.
31. See the table No II.
32. The table has been prepared on the basis of information contented in Khalise re Gaon va ri Bahi , No. 105, V.S. 1808/A.D. 1751, RSA, Bikaner.
33. G.S.L.Devra, p.228.
34. Kagada Bahi No. 5, p.47, RSA, Bikaner.
35. K.D. Erskine, Rajputana Gazetteers, p.140.
36. Sanad Bahi, No. 63, pp. 116-119, RSA, Bikaner.
37. Kagad Bahi, p. 47.
38. Gaon va re Hasil re Lakhe ri Bahi , No. 49, V.S. 1768/A.D. 1711; Khalise re Gaon va ri Bahi , No.103, V.S. 1768/A.D. 1711, RSA, Bikaner.
39. Hasal re Cheere re Futkar Gaon va ri Bahi , No.39, V.S. 1761/ A.D. 1704, RSA, Bikaner.
40. Gusainsar re Cheere re Gaon va ri Dej Muqata ri Bahi , No. 48, V.S. 1767/ A.D. 1710, RSA, Bikaner.
41. See the table no. III.
42. The table has been prepared on the basis of information contented in

- Khalisa re Gaon va ri Hasal Bahi No. 105, V.S. 1808/ A.D. 1751, RSA, Bikaner.
43. Gaon va re Hasil re Lakhe ri Bahi, No. 49, V.S. 1768/ A.D. 1711, RSA, Bikaner.
 44. G.S.L.Devra, pp. 224-25.
 45. K. R. .Sharma, p.155.
 46. The term khati was used for the carpenters.
 47. Telis were the oil pressers.
 48. See table no. IV.
 49. The table has been prepared from Habub Bahi , No. 52, V.S. 1831/ A.D. 1774, RSA, Bikaner.
 50. See the table no. V.
 51. The table has been prepared on the basis of information contained in Gusaisar re Cheere ri Hasil Bahi, V.S. 1767/A.D. 1710, RSA, Bikaner.
 52. The table has been prepared on the basis of information given in Khalise re Gaon va ri Bahi , V.S. 1798/ A.D. 1741, RSA, Bikaner.
 53. The table has been prepared on the basis of information provided in Khalise re Gaon va ri Bahi No. 105, V.S. 1808/ A.D. 1751, RSA, Bikaner.
 54. Kharipatti was a administrative unit of the Bikaner state.
 55. Kagad Bahi No. 7, V.S. 1840/A.D. 1783, p.13, RSA, Bikaner.
 56. Bikaner Kagad ri Bahi No.8, V.S. 1846/A.D. 1789, RSA, Bikaner.
 57. The table has been prepared on the basis of information provided in Habub Bahi, V.S. 1851/A.D.1794, Basta No. 1, RSA, Bikaner.
 58. Potedar was a revenue officer responsible for the state treasurer.
 59. Shiqdar was an officer of provinces or sub divisions of the state .
 60. Hazurdar was the officer of revenue department of central level.
 61. Kanwari was an officer of village who was responsible for guarding the fields and prevented the cultivators to remove grains to evade the land revenue.
 62. Habub Bahi , V.S. 1851/ A.D. 1794, Basta No. 1, RSA, Bikaner.
 63. Marwar ra Pragana ri Vigat, ed. by N.S. Bhati, part II, pp.396-97.

The Jats and the Rajputs : In late eighteenth century and early nineteenth century Rajputana

Dr. Etee Bahadur

The Jats, who- form a very large caste in North western and West Central India. A brief look into the question of origin, would not be out of order here, as it would help in understanding the Jats better, albeit, to a lesser extent only. James Tod, Alexander Cunningham and H.M. Elliot maintain that the Jats were of "Indo-Scythian stock. Cunningham associated them with the "Zanthi" of Strabo and the "Jatti" of Pliny and Ptolemy. Cunningham believed that the Jats entered the Punjab from the land of Oxus after the Indo-Scythians. Ibbeston also emphasized their non-Aryan origin, adding that they lived in Samana, the early Indo-Scythian Kingdom.¹ Richard Burton wrote that the Jats were connected by consanguinity with the gypsies.²

Some nationalist historians also considered the Jats as non-Aryans, but they wrote only of the Bharatpur Jats/Dr. K.R. Quanungo, attests that Jats were the earliest occupations of land from where they were ousted by the Rajputsof Malwa, who in turn were displaced by the Parimhars, Bhatiis, Rathores and Tanwars.³

Others have attempted to identify them with the Kshatriya tribe of the 'Jatharas', but F.S. Growse argued that the home of the Jats was placed in the south-east quarter and at the same time, he added that he was certain that Jats came from the West.⁴ They were in the time of Justin known as Aratta, i.e., Arashtra or people without a king and are represented by the Adraistae of Arrian who were placed on the banks of the river Ravi. Nesfield held that the word 'Jat' is nothing more than the Hindu pronunciation of 'Yadu' or 'Jadu', the tribe in which Krishna was born, which is now represented by modern 'Jadon' Rajputs.⁵ In this fashion the debate went on without producing any convincing answer to the question of origin.

Similar to the question of origin, for which we have only debatable answers, was the problem of absence of a chronicler. The Marathas had Grant Duff to record their achievement and exploits, while the Rajputs had James Tod to write their annals and antiquities but the Jats had none to chronicle their career and growth. Works on Jats thus have been few. Dr. K.R. Qanungo wrote within a Hindu nationalist paradigm in 1925. Some general work on Jats relating to their origin appeared in reaction to the prevailing colonial and Brahmanic discourse.

This lack of historic interest in Jats is beyond comprehension as the Jats do have, historic reference from seventh century onwards. In the seventh century Hiuen Tsang found a large pastoral population, though left unnamed. They were described in similar terms in the Chachnama. Besides pastoralism, the only occupation they pursued were as soldiers and boatmen. In Circa, 1031, Al-Beruni's experience in India, which was limited to the North-West, took the Jats to be "cattle owners, and low shudra people." The Ain-I-Akbari, dealing with a code of Akbar's regulations for all departments and also has a statistical account of his empire. In this we find a list of Zamindars along with their castes for each paraganas. The list reveals that the Jats were concentrated in a region extending from Ganga-Jamuna Doab to the South of Chambal. From the scanty information, which we derive from different sources it does not appear that the Jats played any significant historical role prior to the reign of Aurangzeb although stray references are often found. In the third decade of the eleventh century the Jats were bold enough to attack the army of Sultan Mohamud of Ghazni on his return journey from Somnath. It was to punish them that in the autumn of A.D. 1026 he undertook his seventeenth expedition to India. Firishta provides an account in *Tabaqat-I-Akbari*.⁶

The four centuries between the eleventh and, the sixteenth not only saw a great explosion of the Jat population, but also witnessed a great technology transformation, which led the Jats towards a sedentary agriculturist subsistence.⁷ A wide extension of cultivation led to the expansion of the settlements. The spread of extensive agriculture was also aided by the wooden Persian wheel as the wheel was found to be better than the Araghatta.⁸ The coming of the Persian wheel, a device which could lift water from depths and could be worked by animal power brought about a critical change in agricultural practices in areas where

irrigation depended mainly on wells, Kunds(ponds), Bawris (stepwells) and Talab (lakes).

Apart from the development in irrigation technology, the Kings in Rajputana also contributed to the expansion of Jat settlements. The Bahis, especially the Patta Bahi and Sanad Parwana Bahis provides a great deal of information pertaining to the settlement efforts of the state. Marwar Ra Pargana Ri Vigatis replete with documents accounting for the settlement of Jats in the parts of western Rajasthan.⁹ Thus in western Rajasthan, the process of colonization of land by Jats went on simultaneously along with the process of state formation. Jats being good agriculturists flourished in numbers. Necessity led to the development of a symbiotic relationship between the Jats and the state. The state required the Jats for colonization of land and the Jats needed the state to legitimize their claims over land, which the state could do by granting Patta to land. Gradually, in the course of time, the Jats emerged as prime agriculturists and as a vital caste in the rural social structure of Western Rajasthan. Marwar, Jaisalmer, and Bikaner make-up the western portion of Rajasthan. Caste wise the Jats are numerically dominant in this portion, as compared to the eastern and southern portions of Rajputana.¹⁰

The Jat's primarily being an agriculturist was extremely sensitive to land but for a Rajput who considered himself to be an administrator and warrior, sensitivity to land was more in terms of property prestige. This clash of occupational interest of Jat in land and the prestige value associated with Rajput to land often led to quarrels between the Jats and the Rajputs, Rajputs owing to their superior ritual rank in caste hierarchy often usurped the fields granted to the Jat peasants. Durbar often rewarded the Jats for exemplary service by giving them Inami Khet in both Khalsa and thikanedari areas. The Inami Khets of Jats in khalsa areas were usually not disturbed but if the Khet happened to be in the thikanedari villages, there was every possibility of it being usurped by the Rajput state officials. We find numerous petitions filed by Jats to get back their lands usurped by the administrative officials. One such petition is the appeal made by Jat Radho of village Bugara. The durbar had granted patta of land to Radho as inami for his services since the inami khet was in a thikana village, Radho had to renew the patta with the local Jagirdar, who in turn coveted that inami khet because it was attached to a well, hence it was well irrigated. The Jagirdar

at the time of renewal got the patta transferred in his name citing heirlessness of Radho as the cause. On Radho's appeal the durbar ordered that till Radho was alive he could cultivate the land but after him it would lapse to the Jagirdar.¹¹

Apart from usurpation by administrative connivance the, Rajput Bhogta often occupied Jat peasants fields by using force. In one brief petition filed by a Jat peasant, mentioned in Sanad Parwana Bahi, we find an instance of forceful occupation by a Rajput Bhogta. In response to the appeal, the durbar ordered the Rajput Bhogta to return the land to the Jat.¹² From both the above cases, one can conclude that 'legal' usurpation was acceptable to the durbar but forceful occupation was resisted by the durbar. Immovable property, besides acting as a source of quarrel directly also contributed indirectly to disputes.

The Jat peasants of western Rajputana were burdened with numerous taxes and cesses, additional Malwa expenses and the extra lagan often imposed arbitrarily by the Jagirdar. At times, to avoid default in making payments, the peasant often mortgaged his land to the Rajput Jagirdar. The Rajput Bhogta never missed a chance to occupy the mortgaged land on the pretext of failure on the part of peasant to repay the borrowed sum. This is evident from the numerous appeals found in Bahis, made by the peasants to the durbar to get back the land.¹³ A very unusual kind of property dispute, arbitrated by the durbar arose due to the harsh and arid conditions of Rajputana. Recurring famines often forced the Jats to migrate to Malwa temporarily. When migrating the Jats usually left behind their immovable property like Gwari (House), cattle and land with the intention of reclaiming them after coming back at the end of famine. But the Rajput Jagirdar seldom left the deserted immovable property untouched. We come across numerous such petitions filed by the Jats, to reclaim their property, these kind of disputes were very tricky for durbar to handle as, on one side were the Rajput Jagirdars who could not be antagonized and on the other hand were the Jat peasants, who were the main revenue providers for the durbar hence the durbar had no reason to let them down at the cost of another migration. Thus the durbar tightrope walked by enquiring into each case and where ever possible made the Jagirdar return the land.¹⁴

Agriculture always had animal husbandry as its allied activity and

in western Rajputana where the productivity of soil was limited, most of the cultivators practiced cattle rearing as a means of supplementing their income. Hence, cattle in addition to land became a source of property and dispute as well. The Rajputs did not desist from capturing cattle belonging to Jats. Aajan Bamboo of village Desari filed a petition to get his two cows and two buffaloes back from the Rajput Puran Singh. After establishing the ownership of the cattle, the durbar forced Puran Singh to return the cattle.¹⁵

Property also served as a cause for mutual quarrels among Jats themselves. The Jat peasants fought with each other on Pasu (cattle), Gwari (house), Sitiya (fodder) and women. These disputes more than often went to the durbar for arbitration. In all the above instances of usurpation we find the Rajputs to be the aggressor and the Jats were often at the receiving end. But this does not mean that the Jats were less covetous and predatory. The Jats did indulge in land and house grabbing. In village Midri, Jat Nagthi took over the house of his fellow kinsmen, who had left the house in Nagthi's custody as he was migrating to Malwa due to famine. Using the desertion as a pretext, Nagthi took over and occupied the house of his kinsmen. On an appeal to the durbar, the house was restored to the original owner after the necessary documentation.¹⁶ In another instances at village Hussainpura, Jat Nathina's house was taken over by another Jat Raya. On appeal the durbar after establishing the ownership of the house restored it to Nathina.¹⁷ Another common civil dispute among Jats was concerned with the Nata. Dispute like the one at Maharana village of Merta Pargana, involving Jat Mivre, who appealed to durbar to intervene not only to get his land back but also to get his Bair Ka Kagad, were very common.¹⁸ Apart from these common civil disputes, another kind of dispute which necessitated durbar's intervention was related to Chaudhar Ka Jaghada. In Rajgarh Tehsil, few men enquired about the Chaudhari of a particular village, for which they received a reply, saying that the office of Chaudhari was disputed hence there is no Chaudhari till the durbar decides.¹⁹ The durbar was theoretically the prime and supreme owner of land and it did permit the Jats to establish new villages in order to promote cultivation and the Jats in return were appointed Chaudharies. As a chaudhari, the Jat did not receive any title to land but were endowed with state authority. To keep the title of Chaudhari, the Jat remitted 'Chaudhar Bab' to the durbar.²⁰

As a chaudhari the Jat performed duties of administration, which were contrary to the Varna Dharma. As a state official, playing a role in administration a Jat chaudhari. In the Hanumangarh Tehsil the Rajput Chaudhari also had to remit Chaudhari Bab. Both the Jat and Rajput Chaudhari enjoyed the same privileges and rights. The Rajput Chaudhari also collected the same taxes like, Bighoti tax on land per bigha, (Zamin per Bigha), Dhua Bach (Tax on hearth), Desh Pret Kar (Land Tax), Courd, Rakhwali Ri Bach (Protection fee), Kasi Ri Singhoti (Tax on horned cattle), Teli Ra Bab (Tax on oil pressers), Ghas Charai (Tax on Grass), Garh Su Rakm (Tax on Fort) as by the Jat Chaudhari.²¹ In cases where the Bhogtas were two in number disputes were inevitable. The two Bhogtas collected tax according to the 'Rakmbandi' given by the state to the Bhogtas. The Dhua Kar and Desh Pret Kar were to be collected equally by the two. A look at the 'Jamabandi' figures during the partition (Batwara) between the Rajput and Jat Bhogtas reveals the partial attitude of durbar. The total 'Kharch Ki Rakm' of the 'Jamabandi' figures out of which the Jat had to collect Rupiya Forty eight, the Desh Pret Kar, Dhua Kar, Pan Charai and Ghas Marai, fifteen Hal, Zamin rupiya nine was given to the Jat Bhogta. The rest of the money of Jamabandi figures was to be taken by the Rajput Bhogta. It was the Rajput Bhogta who took the lucrative Peshkashi' tax.²² The durbar's partial attitude towards the Rajputs was due to the feeling of caste solidarity. In villages where the Jats dominated the durbar had no qualms in sharing power with Jats, but in mixed village of Rajput presence the durbar was partial. This could also mean that social relations were governed more by necessity than by rules of Varna.

Jats as Chaudhari's could perform administrative functions and could enjoy rights given to Rajput Chaudhari's, but the Jats could never enjoy symbols of social prestige. Attempts on the part of the Jat bridegroom to ride a horse or to ride on an elephant before the hearth of Rajputs or even wearing of a sword by Jats were resisted by Rajputs. All such acts were penalized since they involved threat to Rajput power and were against the social norm.

In a case, mentioned in the Sanad Parwana Bahi, Jodhpur V.S.1885 (A.D. 1828), a Jat purchased a horse and had dared to ride it before the hearth of Rajputs. The Rajputs had the Jat taken in by the state authorities immediately, as it involved a challenge to their social prestige.²³

In the Bahi of Merta Pargana Ri Kacheri Ra Mahindara Ri, V.S. 1835, we come across a document wherein any deviation from the social norm was considered a crime and a fine (Farohi Ra Jama) was taken from the Jat, if found guilty of wearing a sword on his person in the presence of a Rajput. In this Farohi Ra Jama document the Jat, is mentioned to have paid a penalty tax (Gunahgari Rakm) sum of rupiya forty-three.²⁴

Rajputs considered themselves, as Kshatriyas hence, bearing arms was their privilege. Any threat to that privilege was resisted by the Rajputs quite vehemently. Relations between Jats and Rajputs were always tense due to disputes. The well off Jats especially the Chaudharies challenged the social supremacy of Rajputs, which often led to disputes and quarrels. In matters concerning taxation, where in the Jats collected, Tikani Kar and Dol Gwar, the Rajput Jagirdar created problem for the Jat. The durbar, however, intervened in cases like these, and after a warning to the Rajput Jagirdar, instructed the Jat Chaudhari to collect the tax revenue from each house accordingly.²⁵

The instrument (Dol), in the village always belonged to the Bhogta of the village, who also collected the Dol Gwari. The Dol was taken, from the house of the Bhogta, by the villagers at the time of any ceremony, at their house, especially the marriage ceremony. Even a Rajput Bhogta had to pay Dol Gwar to the Jat Chaudhari of the area, for using the Dol in the marriage ceremony. This was because traditionally the Dol belonged to the Jat.

"The Dol, which was played always belonged to the Jat house (Gwari) and will continue to belong to the Jat House (Gwari).²⁶

Disputes on Dol Gwar were not infrequent because the Rajputs resented the very idea of making payments to a socially inferior caste.²⁷ The social relations between the Jat Chaudhari and the Rajput was at two levels, on administrative level the Chaudhari's considered themselves as equal to the Rajputs and on the social level the Rajputs considered them as social inferiors.

In all the above petitions, the remarkable fact is that, all have been made by the Jats to durbar. Both inter and intra caste disputes have been referred to the durbar for arbitration, by passing the village panchayat. This implies that the panchayat had a very limited role to play in civil disputes and its role was limited in regulation of caste affairs and

maintenance of caste boundary. The durbar was not only partial towards Rajputs in civil cases it also tilted in favour of their caste brethren in criminal cases also. This partial attitude of durbar paved the way for Rajput suppression of peasantry. The above petitions expose not only the suppression of Jat peasants by the officials but also reveals how the superior caste status allowed the culprits to escape prosecution and this was possible only by the durbar's willing connivance. The durbar's dual nature stands exposed in these petitions. On one hand it wanted the Jats to collaborate at the lower level and on the other it did not seek collaboration at the cost of antagonizing fellow caste men who served as main pillars of support.

References

1. See Tod. James, Annals and Antiquities of Rajasthan. ed. W. Crooke, Vol.I, (London), p. 72-75, 96-101, 1920 Elphinstone, The History of India, The Hindu and Mohammedan Periods (London) pp 250-253, 1889. E.M. Elliot, Memories of the History, Folklore and Distribution of Races of the North Western Provinces of India (London), Vol. I, pp. 130-137, 1869. Rose H.A. and D.C.J. Ibbestson, A Glossary of the Tribes and Castes of the Punjab (Lahore) pp. 322-663, 1919.
2. Burton, Richard, Sindh and the Races that Inhabit the valley of Indus, (London, rep. Karachi), p. 411, 1851.
3. Qanungo, K.R., History of the Jats :A contribution to the History of Northern India (Calcutta, 1925), See also Jadunath Sarkar's View on Bharatpur Jats in. Fall of the Mughal Empire (N. Delhi 1989).
4. F.S. Mathura - A District Memoir Pt. I (The North-Western Province's Govt. Press), p. 8, 1874. Also quoted in William roake, The Native Races of India, the Tribes and Castes of North Western India, Vol.11, Cosmo Publications, p. 26, 1975.
5. Nesfield, John C. Brief view of the Caste System of the North Western Provinces and Oudh, Allahabad: North-Western Provinces and Oudh Educational Department, 1885.
6. Majumdar, R. C. ed. The Mughal Empire, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1984, p.390.
7. Punjab Past and Present, Essays in Honour of Dr. Ganda Singh, ed. By Harbans Singh and Barrier. Article by Man Habib Jatts of Punjab & Sind, pp. 92-103, 1976.
8. The Nagaur District Gazetter (1908 editions) p. 82, includes Merta among the Parganas where the Persian wheel were in use.
9. Marwar Ra Pargana Ri Vigat. Narain Singh Bhatti (ed.) Vol. I, II & III, Jodhpur, 1968.
10. See, Census of India, 1891, Vol. XXVI Rajputana, Part I, The Report, Imperial Tables and Supplementary returns by Liuet, Col. H.B. Abbott, In-charge census operations, Calcutta, Office of the superintendent of

- Govt. Printing Press, 1892.
11. Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1898, Bahi No. 12, p. 100, R.S.A.B.O.
 12. Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1882, Miti Asoj Sud 6, Somvar, R.S.A.B.O.
 13. Bahi Kagada Ri, Bikaner, Rampuria Record, V.S. 1878, p. 23, Baisakh Sud 4, R.S.A.B.O.
 14. Sanad Parwana Bahi, Rampuria Record, V.S. 1829, Bahi No. 12, p. 32, R.S.A.B.O.
Also see: Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1829, Bahi No. 12, p. 120 Miti Kathi Bud 4, R.S.A.B.O. Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria record, V.S. 1829, Bahi No. 12, p. 67, R.S.A.B.O.
 15. Bahi Kagada Ri, Bikaner, Rampuria Record, V.S. 1878, p. 6, Baisakh Bud 9, R.S.A.B.O.
 16. Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1877, Bahi No. 72, p. 203, R.S.A.B.O.
 17. Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1877, Bahi No. 72, p. 103A, R.S.A.B.O. Also see, : Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1877, Bahi No. 72, p. 101, Baisakh Bud 3; p. 103, Jait Bud 12; p. 119, Miti Kathi Bud, R.S.A.B.O.
Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1885, Miti Fagun Sud 3, R.S.A.B.O.
For land dispute between Godaras and Bishnois, see : Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1899, Bahi No. 104, p. 150, Miti Mikhsar Bud 4, R.S.A.B.O.
 18. Sanad Parwana Bahi, Jodhpur, Rampuria Record, V.S. 1829, Bahi No. 12, p. 34, Miti Jait Bud 13, R.S.A.B.O.
 19. Bahi Kagada Ri, Bikaner, Rampuria Record, V.S. 1881, Bahi No. 30, p. 333, R.S.A.B.O.
 20. P.J. Fagon, Settlement Report of the Khalsa Villages in the Bikaner State, 1893, R.S.A.B.O.
 21. Bahi Kagada Ri, V.S.
 22. Bahi Kagada Ri, V.S. 1854, Bahi No. 10, p. 26, R.S.A.B.O.
 23. Sanad Parwana Bahi, V.S. 1885 Miti Jait Sud, 6, R.S.A.B.O.
 24. Bahi Merta Pargana Ri Kacheri Ra Mahindara Ri, V.S. 1835, R.S.A.B.O.
 25. Bahi Kagada Ri, V.S. 1877, Bahi No. 26, p. 236, R.S.A.B.O.
 26. Bahi 'Kagada Ri, V.S. 1880, Bahi No. 29, p. 140, Miti Po Bud 5, R.S. A.B.O.
 27. For disputes on Dol Gwar also see, Bahi Kagada Ri, V.S. 1877, Bahi No. 26, p. 236, R.S.A.B.O.

The Untold Story of Brewing Discontent in Sirohi State: Agitation for Responsible Government, 1939

Dr. Rajesh Kumar

1939 was an important year in the development of the People's movement in the Princely States because the All-India States People's Conference (AISPC)¹ received a new mandate from the Haripura Session 1938, of the Indian National Congress (NIC). Till 1938, according to Jawaharlal Nehru, the Congress considered the people of the Princely States 'unprepared' and therefore, Congress 'husbanded its energy in the struggle outside.'² From 1938 Haripura session the State People's movement was pushed forward to a new level. Nehru in his Presidential Address to the AISPC on 15 February 1939 took an uncompromising position: 'The States in modern India are anachronistic and do not deserve to exist.' Further, 'the integrity and unity of India was an essential part of the independence we worked for, and the same full measure of political, social and economic freedom was to come to the States as to the rest of India.'³ It was obviously the anti-feudal and anti-imperialist character of the movement in the Princely States which attracted Nehru and like-minded Congressmen.⁴

In that scenario Gokul Bhai Bhatt⁵ left Ville Parle, Bombay, and reached Sirohi where he formed Sirohi Praja Mandal in January 1939. Before talking about the discontent, People's agitation for responsible government in 1939, it is to mention here that the Sirohi Praja Mandal was formed at Ville Parle, Bombay in 1934 under the leadership of journalist Bhimshankar Sharma, Vardhishankar Trivedi and Samrathmal Singhi⁶. Now, in these circumstances Gokul Bhai Bhatt organised the workers, peasants tribes and spread the message for agitation for responsible government⁷. In February, 1939, Gokul Bhai Bhatt presented a memorandum with people's demands to the Maharao of Sirohi for the demands viz: (i) To abolish the forced labour; (ii) remission of land revenue in years of scarcity and trade depression; (iii) reduction in Bighori, and, hasil should not exceed 1/7th of the produce; (iv) removal of Pakhi lag (share of the green fodder)

and Sukhri lag; (v) reduction in grazing fees; (vi) abolition of forest taxes on wood for agricultural purposes (for carts, Persian-wheels, ploughs, etc); (vii) throwing open of the reserved grass lands called 'Jods' for public use; (viii) removal of cart licence and camel fee; (ix) abolition of Chowki and Gharginti taxes; (x) opening of state controlled co-operative credit societies and seed stores in all the Tehsils and the issuing of seed on loan (without interest); (xi) reviewing the old, and starting new cottage industries to provide work to the peasants in leisure time; (xii) reduction of custom duty on coarse cloth and articles of food, (xiii) removal of Khola bab (adoption tax), Kapoor bab (succession tax), Bechan haq (conveyance fees on sale of houses, etc.) and substituting them with an Act on the lines of the Indian Stamp Act; (xiv) abolition of Sagpan bab (betrotal tax); (xv) opening of at least one secondary school in each Tehsil; (xvi) introduction of travelling dispensaries in interior areas; (xvii) reforming the Judiciary and Revenue Departments; (xviii) introduction of legal practitioners' Act in the interest of public; and, (xix) immediate appointment of a non-official Enquiry Committee to investigate into the grievances of the public (including the Kisans) and a declaration to put into effect the recommendations of the Committee.⁸

Simultaneously, the workers of Sirohi Praja Mandal tried to create awakening among the villagers by holding meetings.

An Enquiry Committee was appointed on 20 May, 1939, by the Chief Minister of Sirohi to examine and give its report regarding the land rent and forced labour prevalent only in the Khalsa villages. The State nominated Jagirdars and State officials to work on the Committee.⁹

Sirohi Prajamandalists were not fully satisfied with the appointment of this Enquiry Committee, because the terms of reference did not include the examination of the conditions of the peasants on Jagir lands where heavy land revenue, begar, and other lag-bags were illegally charged. The workers of the Praja Mandal continued to hold their meetings in Jagir villages and told the peasants not to pay hasil of more than 1/7th part of the crop. They also advised them not to pay other lag-bags and begar to the Thikanas. This caused consternation among the Jagirdars and they demanded that a ban should be imposed on the meetings of the Praja Mandal in Jagir villages. Consequently upon, the Government of Sirohi restricted the holding of the meetings in Jagir-villages.¹⁰ The Praja Mandal then started their movement in Hath-Kharch villages (villages given for personal expenses). They told the villagers to pay only 1/7th part of the

crop as hasil. On 1 June, 1939, the meetings of Praja Mandal were also banned in the Hath-Kharch villages.

The activities of the Praja Mandal of Sirohi aroused a great awakening among the peasantry and forced the Government to appoint another Cultivators' Enquiry Committee to consider the conditions of the peasants both on Khalsa and Jagir villages on 25 August, 1939. This Committee was constituted to enquire into: (1) The incidence of land revenue, (2) Lag-bags, (3) wages paid to Suthar, Lohar, Kumhar, Dhed, etc. (4) Begar (5) Concessions to begaris and (6) Forest dues.¹¹ The President of the Sirohi Praja Mandal, Gokul Bhai Bhatt, opposed this Committee because all the members were either Government servants or Jagirdars.¹² In between Public Societies Act came in the last week of July 1939. It required all existing associations to get them registered within one month of its introduction. It contained certain impossible and dishonourable conditions to be fulfilled before an association could be registered by the State Government. The Prajamandalists made representations to the Chief Minister¹³ and to the Maharao¹⁴, and requested them to repeal the Act or to amend it suitably. A 'Protest Day' was observed on 12 August when meetings were held at all important towns and villages throughout the State and outside the State to protest against the Act. Perhaps, this made some effect on the authorities and twenty days were extended for all existing associations to get registered. Representations continued and one condition of the Notification was radically amended. But that was not enough. Eight day of September was the last day of registration; the Praja Mandal did not apply for it and all expected action to be taken by the State Government against the Praja Mandal, which organised a meeting on that night at Sirohi. While Shri Gokulbhai Bhatt, the President was speaking, there came a police party all of a sudden, laid hands on the Praja Mandal flag and began to snatch it. This was resisted by the President and a few others who did not leave hold of the flag even under lathi blows. A few goondas also had joined the police party and a lathi charge began on the peaceful audience which remained non-violent throughout. This lasted for about 5 to 7 minutes; nearly forty persons were injured severely.

Another twenty days were extended for the registration, representations continued to the Chief Minister, the Maharao and the Resident¹⁵ but to no avail. On 28 September 1939, the Praja Mandal had been an unregistered body. But no action was taken until about 5 weeks

when Praja Mandal was declared as unlawful by an extraordinary issue of the State Gazette dated 8 November 1939 which contained chimerical, vague and unfounded charges against the Praja Mandal. A Hartal was going on in Sheoganj thana - an important town of Sirohi State, on account of bungling by the Police in a double murder case which roused public opinion to such an extent that the whole town unanimously declared Hartal for an indefinite period till the case was investigated by some competent and impartial Police Official. It was alleged in the Gazette that the Hartal was initiated and promoted by the Praja Mandal who refuted this allegation along with others and offered to prove otherwise.¹⁶ Seven arrests¹⁷ were made under Defence of India Act; the Hartal continued; more arrests were made. But nothing could be found against any of the Praja Mandal workers. The Hartal came to an end on 16 November 1939. After this, three Praja Mandal workers were arrested under section 147 CrPC at Sheoganj. Two were arrested at Abu Road and one at Rohira under the Societies Act. After that, no arrests were made. Of Course, two mild lathi charges were made at Rohira on 5 December 1939, one on people taking out evening Pheri and another on the meeting place the same night. But the Praja Mandal activities were continued along with representations to the State Government and the Resident. The attitude of the Chief Ministers and IG Police had not been very bad; the majority of workers were still free. Evening Pheris and meetings were held whenever and wherever the President instructed to hold.¹⁸

Again, 8 December 1939 become a memorable day for the people of Sirohi State, as it was on this day that a first lathi charge was made by the Police and its hirelings on the peaceful citizens at a public meeting; it was on this day of the last month that the Praja Mandal was declared unlawful by the Darbar. This being the importance, it was observed on 7 December 1939. Meetings and Pheris were organised at all important places in and outside the State and several persons kept partial fasts.

In Sirohi, usual Pheri was taken out at about 7:45 p.m. which passed through important streets of the town, the processionists shouted Praja Mandal Zindabad, Inquilab Zindabad and other slogans. The Pheri ended at Azad Maidan where after some songs, a public meeting was held. Speeches were delivered by Shri Tarachandra Dosi, Dulichand Singhi and Shri Gokulbhai Bhatt, President, Sirohi Rajya Praja Mandal. Shri Bhatt spoke for about an hour and was heard with rapt attention by the audience. He exhorted the people to burn their boats and join the peaceful band of

Praja Mandal soldiers who were out to save the honour of Sirohi people, and asked them to prepare themselves for heavy sacrifices. He concluded by saying that people will keep up their balance of mind and remain non-violent even under strong provocation, their behaviour at the time of various lathi charges till now gave him good hopes for the future. A resolution requesting His Highness to grant civil liberties and remove people's grievances was unanimously passed. The meeting concluded with a song by a girl and Praja Mandal ki Jai¹⁹.

On 27 December 1939, a procession was taken out which passed through the main streets of the town, people shouting slogans like Praja Mandal Zindabad', 'Inquilab Zindabad'etc. It turned into a meeting later on where a Patrika issued under the signatures of the Joint Secretaries of Sirohi Rajya Praja Mandal was read out and then Shri Purshotambhai addressed the gathering. During the speech, he criticized in scathing terms the present laissez-faire policy of the State Government in every matter. While referring to the deplorable indifference that the State Government was exhibiting with regard to the famine conditions existing in the State, he appealed to the State subjects to organise themselves under the Praja Mandal flag and make their voices felt by self-sacrifice and suffering. While concluding, he gave a note of warning to the powers that be that no association whatsoever with a strong public opinion behind it can be suppressed or crushed by declaring it unlawful or by taking recourse to repressive measures²⁰.

References

1. The All India States People's Conference (AISPC) was formed in 1927, but some of its leaders like C.Y. Chintamani and Ram Chandra Rao, former Chief Minister of Mysore were conservative politicians and did little to activate the body. Only in the later 1930s, under the leadership of Pattabhi Sitaramayya and eventually Jawaharlal Nehru, did the conference take a militant turn.
2. Jawaharlal Nehru, 'Presidential Address', AISPC, Ludhiana, 15 January 1939, Selected Works of Jawaharlal Nehru, Volume 9, pp.418-31.
3. Ibid.
4. Sabyasachi Bhattacharya, 'General Editor's Preface', Towards Freedom: documents on the Movement for Independence in India, 1939, Indian Council of Historical Research (ICHR), Oxford University Press (OUP), New Delhi, 2008, pp.vii-xiv.
5. Gokul Bhai Bhatt was born at village Sirohi, on 25 February 1899 in a Brahmin family; a close associate of Mahatma Gandhi for many years; established the Sirohi State Praja Mandal in 1939; actively participated

- and gave a boost to the Sarvodaya movement in Rajasthan.
6. Praja Sevak, 26 January 1941. Vardhishankar Trivedi was born at Sirohi; one among the founders of Sirohi Praja Mandal at Ville Parle, Bombay, Minister in Praja Mandal. Bhimshankar Sharma was belonged to village Pandir, Sirohi; well educated and journalist; he was the key person who organise the youth of Sirohi and founded the Sirohi Rajya Praja Mandal at Ville Parle, Bombay. Samrathmal Singhi was born at Sirohi and founder member of Sirohi Praja Mandal at Ville Parle, Bombay in 1934.
 7. Sumnesh Joshi, Rajasthan mein Swatantrata Sangram ke Senani, Granthagar, Jaipur, 1977, p.304.
 8. Sirohi Rajya Praja Mandal Records, File No.13,B-1 of 1939, Rajasthan State Archives, Bikaner (hereafter RSAB).
 9. Bombay Chronicle, 25 May 1939.
 10. Letter from Chief Minister, Sirohi, to President, Praja Mandal Sirohi, No.C/243 of 1935, F.No.21,B-1, RSAB.
 11. Notification No.73 dated 25 August 1939; Sirohi Political Records, File No.176 of 1939, RSAB.
 12. The Members of this Committee: Girdharilal Jekrishna Dave, District and Sessions Judge (President), N.R, Lallubhai Desai (Revenue Commissioner), Thakur Udairaj Bharat Singh of Bhatana; Thakur Anop Singh, Sarup Singh of Arathvada; Kanwar Lakuman Singh of Dhavli, Khem Chand Rupchand Singhi, Bhati Nathu Singh of Rohera, Unkar Modi of Awal, and Girdawar Lal Chand (Secretary).
 13. Rao Bahadur Ichhashander K Pandya, BA and LLB; Chief Minister of Sirohi; carried on administration through Council of State consisting of himself and two other members.
 14. Maharao: Sarup Ram Singh, Raja of Sirohi; born in 1888; succeeded to the throne in 1920.
 15. Sir Arthur Cunningham born in 1887; education at University of Aberdeen and Oxford; entered ICS in 1910; joined Indian Political service in 1915; Resident in Jaipur 1929-31, 33-34; Prime Minister, Alwar 1933; Resident for Rajputana 1937-42
 16. All India States People's Conference (AISPC) Papers, File No.192(ii)/1939, Nehru Memorial Museum & Library (NMM&L), Teen Murti House, New Delhi.
 17. The following seven persons were arrested:
(i)Ruprajji Singhi, Hall Shivgang, Sirohi; (ii).Babumalji Shahji; (iii) Pukhrajji Singhi, B.Com, LLB., first Law Graduate in Porwar; (iv) Jagannathji Jani; (v) Nainmal ji; (vi) Nathmalji Shah; (vii) Tarachand ji Dosi.
 18. AISPC Papers, File No.192(ii)/1939, NMML.
 19. Ibid, File No.182 (ii)/1939, NMML.
 20. Ibid.

Process and the Cost of Railway Construction Linking Rajputana to Punjab : A Case Study of Bikaner to Bhatinda Railways

Khalid Ahmad

In the Indian history April 16, 1853 is remembered as the new epoch in the field of Transportation which revolutionise the transport system in India. As on that day the first railway was run from Bombay to Thana.¹ After opening of the first railway line, the construction of railway was started in full scale to connect the other parts of India with Railways. By the end of 19th Century more than 40233.6 Kilometres of railway line was bisected and opened for traffic into the Indian Sub - Continent. Definitely this big work was the result of Individual as well as collective efforts of the British as well as Indians respectively.²

My present study encompasses how a Native State constructed railways line beyond its own territory i.e. British part (Punjab) as well as other Native (Patiala) State territories. My study also enquired firstly who had financed the construction of railway line from Bikaner to Bhatinda. Secondly what was done with the profits as decided in advance? Thirdly a comparison of the cost of railway construction between all sections will be done. Besides an investigation has to be carried to find out that whether lands were provided by these states free of cost or by its actual cost and what were the general rules for the acquisitions of lands for the railway purposes.

This proposed railway line from Bikaner to Bhatinda having great importance. This proposed railway line was the expansion of Jodhpur - Bikaner Railway reached up to Bhatinda. This railway line was connected Rajputana states with Punjab which was already connected with other parts of the country through Broad Gauge line and this railway line was also connected the Native State of Patiala. This railway line was connected Rajputana States with British Province Punjab (Bhatinda) which was already

connected with other parts of India through railway line. Defiantly Bhatinda would supply food grains to these deficit regions.

In 1889 the construction of railway was started from Jodhpur to Bikaner and on December 9, 1891 this 268.8 kilometres long line was opened for traffic.³ After the successful opening of Railway line From Jodhpur to Bikaner, The Maharaja of Bikaner wanted to connect Bikaner with Bhatinda by railway, because Bhatinda was the one of the significant centre of trade in Punjab, which was not far from Bikaner State and connected with broad gauge railway system. The Maharaja of Bikaner decided to extend Jodhpur Bikaner Railway line up to Bhatinda via Dulmera⁴ and Suratgurh.⁵

This proposed Bikaner - Bhatinda Railway line had to be financed by Bikaner state itself and to be constructed under Jodhpur Bikaner Railway System.⁶ The first section of the Bikaner - Bhatinda Railway from Bikaner to Khari (Now Dulmera), a total length of 66 kilometres was constructed and opens for public traffic⁷ on June 2, 1898.⁸ This branch line was constructed at the rate of Rs. 14,207 per kilometre.⁹ Further this construction work was progressed from Dulmera to Lunkaransar, a distance of about 14.5 kilometres, and another proposal was submitted for the extension of this line from Lunkaransar to Suratgurh, a length of 101.4 kilometres. At the same time a survey was done for the construction of railway from Suratgurh to Bhatinda. The length of line from Suratgurh to Bhatinda was 136.8 kilometres.¹⁰

Dulmera to Lunkaransar railway line had to be constructed on the rate of Rs. 16,505 per kilometre.¹² D. Joscelyne Esq. C. E., Secretary to the Agent to the Governor General for Rajputana, Public Work Department submitted an estimated cost of Rs. 12,71,300 for the construction of railway from Lunkaransar to Suratgurh (Third section of the Bikaner - Bhatinda Railway) before British Indian Government for its approval.¹³

On April 11, 1896 the British Indian Government sanctioned the first alignment of the extension Jodhpur Bikaner Railway line from Bikaner through Dulmera or Khari to Suratgarh. While this railway line to be due to further extend up to Bhatinda and also take necessary measures to provide required lands for proposed railway which had to be covered British¹⁴ and Patiala state territory.¹⁵

Table No. 1.

Following table described the total estimated cost for the section of Lunkaransar to Suratgurh Railway of the Bikaner - Bhatinda Railway.¹⁶

S. No.	Particular head of Account	Sub Heads		Main Heads	
		Total cost	Rate/Km	Total cost	Rate/Km
1.	Preliminary Expenses	In Rupees	In Rupees	In Rupees	In Rupees
	A. Survey	3,000.00	29.58	7,000.00	69.04
	B. Plant	500.00	5.00		
	C. Establishment	3,500.00	34.49		
2.	Land	Nil	Nil	Nil	Nil
3.	Formation			2,52,800.00	2,493.38
	A. Earth work	2,52,800.00	2,493.38		
	B. Tunnel				
4.	Bridge work			15,000.00	148.00
	A. Large Bridges				
	B. Minor Bridges	15,000.00	148.00		
5.	Electric Telegraph	Nil	Nil	Nil	Nil
6.	Ballast & permanent way			7,35,400.00	7,253.27
	A. Ballast	83,000.00	818.60		
	B. Permanent way	6,52,400.00	6,434.67		
7.	Stations & Buildings			61,400.00	605.60
	A. Stations & Offices	6,000.00	59.15		
	B. Workshops & store	6,000.00	59.15		
	C. Staff quarter	12,200.00	120.30		
	D. Station machinery	37,200.00	366.92		
8.	Plant			8,200.00	81.00
	A. Construction	2,500.00	24.70		
	B. Engineering				
	C. Locomotives	3,200.00	31.60		
	D. Carriages & wagons				
	E. Station & Office furniture		2,500.00	24.70	
9.	Rolling Stocks			1,51,200.00	1,491.30
	A. locomotives	56,700.00	559.24		
	B. Carriage & wagons	94,500.00	932.06		

10.	General Charges			38,800.00	382.64
	A. Engineering	38,000.00	382.64		
11.	Fencing etc.			1,500.00	14.80
	A. Mile & gradient posts	1,500.00	14.80		
	Total Cost			12,71,300.00	
	Cost Per Kilometre			12,538.84	

Mr. W. Home, the Manager of Jodhpur - Bikaner Railway mentioned in his report that earlier on November 30, 1896 the Secretary of State for India was gave his assent for the construction of railway from Bikaner to Bhatinda.¹⁷ The British Indian Government provisionally sanctioned Rs. 12,17,300 estimated cost of the Railway line from Lunkaransar to Suratgurh prepared by Chief Engineer of the Bikaner - Bhatinda Railway.¹⁸ Finally in January 1899, the Secretary of State for India was gave his assent on these estimated costs for railway.¹⁹ Shortly the construction work was started to extend this line from Lunkaransar to Suratgurh, a distance of 115.6 kilometres. This branch line was completed shortly and on January 1, 1901 opened for public traffic.²⁰

Above mentioned three branch of Bikaner Bhatinda Railway, the first section from Bikaner to Khari was constructed at the rate of Rs. 14,207.67 per kilometre or at the total cost of Rs. 95,2,766.35, second branch of this line was constructed at the rate of 16,505.48 per kilometre or at the total cost of Rs. 2,26,358.47 while third section of this railway line from Lunkaransar to Suratgarh was constructed at the rate of Rs. 12,538.65 per kilometre or at the total cost of Rs. 12,71,300 respectively.

After successful construction of railway line from Bikaner to Suratgarh, the Bikaner state proceeds to extend this line up to Bhatinda. In April 1899 the British Resident at Bikaner raised the question regarding required lands for railway which had to be constructed from Bikaner to Bhatinda which had be passed British territory (Punjab) and Patiala state.²² On the other hand the British Indian Government assured to provide required lands for this proposed railway.²³

Till July 15, 1899 there was not any final resolution was made for the acquisition of lands from Patiala and British Indian Government.²⁴ On July 15, 1899 the British Indian Government sanctioned this proposed railway line.²⁵

On the other hand the Patiala state demanded compensation for lands or share in the railway within its territory.²⁶ While British Indian Government ordered to the Patiala state to provide lands for railway to the Bikaner state.²⁷

Finally on November 30, 1899 the British Indian Government sanctioned the proposed project for its construction and assured to the Bikaner state to provide required lands free of cost for the construction of railway from Suratgarh to Bhatinda as the whole.²⁸

The British Indian Government in their letter no. 1351 RC issued on July 15, 1890 sanctioned Rs. 19,42,757 for the construction of railway from Suratgarh to Bhatinda. Further Government added that British Authority at Punjab would be requested to state to surrender required lands for railway.²⁹

When I gone through British Indian Government letter of note 01 dated November 30, 1899, I found that the Patiala state released an order for surrender of required lands for the extension of Bikaner Bhatinda Railway from Suratgarh to Bhatinda which had to be constructed by Bikaner state on their own expense but Patiala state demanded compensation for lands.³⁰

The British Indian Government enquired that whether the Agent of Governor General for Rajputana would see any objection to giving Patiala state the option of leasing cost of proposed part of line in Patiala territory and taking reliable share of profits. This question appears other territories for the Bikaner state and they prima facie could not object to the Patiala state leasing cost of the line which had to be fall under Patiala territory and sharing the profits that might be determined upon.³¹

While the confidential papers clearly described the conditions on which compensations was demanded for ceded lands for railways would be entertained or otherwise. But the rules were widen for lands required in the Suzerain Power in the territories of its tributary Chiefs and except in rare situation the acquisition of lands for railways has generally free

On the other hand the Bikaner state prepared not to share the cost of any section of the Bikaner - Bhatinda Railway line with Patiala State and also opposed to pay any compensation to the Patiala state.³³ While the Political Agent of Bikaner state asked to the British Indian Government to

adopt the "General Rules" for the construction of railway and for the use of locomotive engines and rolling stock on the Suratgarh - Bhatinda section of the Bikaner - Bhatinda Railway line³⁴ and also to sanction the General Rules for working the open line when this line to be opened.³⁵

The total length of the line from Suratgarh to Bhatinda of the Bikaner - Bhatinda Railway line was 141.62 kilometres, out of these the northern 33.8 kilometres are covered Patiala territory, the next 17.7 kilometres are covered by British Territory and the rest are Bikaner territory. But by June 5, 1901 only British section was sanctioned.³⁶

But at the same time the Foreign Department provides the adoption of the "General Rules of 1895" for the open lines of railways to the part of the Suratgarh - Bhatinda section which was situated within the Native state territory through notification Nos. 3063 I.B. Dated August 13, 1897 and No. 1280 I.B. dated March 26, 1901 related to the question of lands for railway in Jodhpur, Bikaner and Patiala states respectively.³⁷

Finally on September 9, 1902 the last section of Bikaner - Bhatinda Railway was constructed and opened for traffic.³⁸

Summary of the construction of Bikaner - Bhatinda Railway line, as follows:³⁹

Sections of Railways	Date of Sanction	Date of Opening	Length in Kms	Total
Bikaner to Dulmera	December 1895	02-06-1898	67.6	
Dulmera to Lunransar	27-01-1898	01-01-1901	13.4	
Lunransar to Suratgarh	09-02-1899	01-01-1901	102.24	
Suratgarh to Bhatinda	15-07-1899	09-09-1902	141.62	324.9

Conclusions

The above study described that the whole line between Bikaner to Bhatinda was constructed by Bikaner State by its own expanse, and not only financed, constructed and managed in its own territory but also in the Native State of Patiala and British territory in Punjab.

The construction of railway line from Bikaner to Bhatinda was passed through many phases. In other words it was not constructed in one go.

Being a colonial power, the British Indian Government resolved all the problems or hurdles came in construction as land acquisition etc. It

was done by British Government not only in the favour of providing cheap means of transportation to the Indians, but also to serve the colonial interest.

References

1. Sahni, J. N., Indian Railways one Hundred Years, 1853 - 1953, Ministry of Railway (Railway Board) Government of India, New Delhi, 1953, p. 2; See also. History of Indian Railways, Government of India, Ministry of Railways (Railway Board), 1968, Maulana Azad Library, Aligarh Muslim University, Aligarh, p. 1.
2. Kerr, J. Ian, Building the Railways of the Raj, 1850 - 1900, Oxford University Press, Delhi, 1995, p. 28.
3. Agarwal, D. B., Rajasthan Districts Gazetteers, Jodhpur, Directorate of District Gazetteers, Government of Rajasthan, Jaipur, 1979, p. 243.
4. Bhandari, R. R., Jodhpur State Railway, A Northern Indian Railway Publication, 1982 p. 20.
5. Bhandari, p. 21.
6. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, National Archives of India, New Delhi, Construction Report, p. 1.
7. Ibid; According to Administration Report on the Railways in India for the Calendar Year 1908, The Railway Board, Government Central Press, Simla, 1909, Rajasthan States Archives, Bikaner, the length of the line from Bikaner to Dulmera was 67.6 kms, See p. 228.
8. Administration Report on the Railways in India for the Calendar Year 1908, p. 228; Sehgal, K. K., Rajasthan Districts Gazetteers, Bikaner, Directorate of Districts Gazetteers, Government of Rajasthan, Jaipur, 1972, p. 213; Pandey, p. 29. Bhandari mentioned that first section of Bikaner - Bhatinda Railway from Bikaner to Dulmera was opened on June 2, 1896, See, p. 21.
9. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, Office note, p. 1; The total cost of railway from Bikaner to Dulmera might be Rs. 9,37,710.
10. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, Construction Report, p. 1.
11. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, Office Note, p. 1. The total cost of line from Dulmera to Lunkaransar might be Rs. 2,39,322.
12. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, No. 302, Letter No. 27475, August 29, 1898.
13. Rajputana Agency, Western Branch, Railway, File No. B-5, 1899, National Archives of India, New Delhi, Office Notes, Paragraph No. 31.
14. Ibid, Para. 86.
15. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, No. 302, Report, No. 305 Jodhpur, July 24, 1898 p. 4; See

- also, No. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, No. 313, Enclosure to Railway Despatch No. 1 of 1899.
16. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, Construction Report, p. 1.
 17. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, No. 310, Letter No. 1790-RC, November 17, 1899.
 18. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, List of papers, No. 314.
 19. Rajasthan Districts Gazetteers, Jodhpur, p. 213; Bhandari, p. 21; Pandey, p. 29.
 20. P. W. D. (Railway Construction), Government of India, Nos. 302 - 314, January 1899, Office Note, No. 2747 - S, August 29, 1898.
 21. Rajputana Agency Western Branch, Railway, Office Note, Para. 1.
 22. R. A. W. B., Railway, Para. 3.
 23. R. A. W. B., Railway, Para. 12.
 24. R. A. W. B., Railway, Para. 22 and 24.
 25. R. A. W. B. Railway, Para. 25.
 26. R. A. W. B. Railway, Para. 26.
 27. R. A. W. B. Railway, Para. 28.
 28. R. A. W. B. Railway, Para. 33.
 29. R. A. W. B. Railway, Para. 34.
 30. R. A. W. B. Railway, Para. 35.
 31. R. A. W. B. Railway, Para. 36.
 32. R. A. W. B. Railway, Para. 52.
 33. R. A. W. B. Railway, Para. 58.
 34. R. A. W. B. Railway, Para. 59.
 35. R. A. W. B. Railway, Para. 86; see also Para. 53, 55, and 57 of this note.
 36. R. A. W. B. Railway, Para. 89.
 37. Administration Report on the Railways in India for the Calendar Year 1908, p. 228; Bhandari, p. 21; Pande, p. 29.
 38. Administration Report on the Railways in India for the Calendar Year 1908, p. 228.

Transformation in the Position of Charan Community in Rajputana States during Colonial Period

Professor V.K. Vashishtha

The position of Charans and that of the people of their stock, the Bhats and the Raos, underwent a transformation in the society of the Princely States of Rajputana owing to radical alterations in the pre-colonial institutions during the Colonial period. Among them, the Charans had gained influence in the Rajput Courts by assuming the status of their hereditary bards, "Court laureates and historiographers of Rajasthan" in place of the Brahmins on the gradual replacement of Sanskrit by Vernacular literature during the medieval period (1400-1800 A.D.)¹ Their rank in social hierarchy was below the Brahmins as they did not possess the Vedas.² They commanded perhaps even greater respect in the Rajput society for their possessing the power of spreading fame and renown of their Rajput patrons through their ballads. They were appointed as polpats by the Rajput rulers and nobles,³ and in this capacity they accompanied the Rajputs to battlefields and transmitted "valour, bravery and heroic idealism" to them through their stirring words and songs recited in sonorous tones.⁴ However, they gained notoriety in Rajputana, Malwa and Gujarat on the weakening of the Rajput aristocracy and decline in their heroic idealism during 1650-1818.⁵ This change was revealed in the Charans' composing romantic poems for pleasing their Rajput patrons.⁶ On their gaining ascendancy among the Rajputs their relations were embittered with the damanis (Rana Dhawal caste),⁷ while their insane urge for material gains, such as, exorbitant demand of tyag, exemption from customs duties, illegal usurpation of land and defiance of the State authority by threatening a Chandi or traga (the practice of self-wounding by dagger to extort concessions) led to their banishment sometimes from a State or confiscation of their Udak land (Muafi or religious land grant) by powerful rulers like Maharaja Udai Singh of Jodhpur (1583-1595),⁸ Rana Kumbha (1433-1468) and Rana

Amar Singh I (1597-1620) of Mewar⁹ during pre-colonial period.

After the establishment of the British paramountcy in the nineteen Princely States of Rajputana in 1818, the Charans were deprived of their privileges. They were brought to the level of other social groups by modification or replacement of obsolete feudal institutions and by enforcement of centralized administration in the Rajput States to strengthen the hands of the rulers as well as to serve the imperial interests. It is notable that the colonial power had no right to interfere in the internal affairs of Rajputana States according to the treaties of 1818, still it brought about this social transformation by direct and indirect channels, such as, the Political Agents, Regency Councils, British Dewans, and the pro-British Indian tutors, Mayo College and Noble schools and the Imperial Darbars.

I

Suppression of the privileges of Charans

The colonial power assisted the Rajputana States in improving their administrative structures ever since establishing its treaty relations with them in 1818 till the lapse of its paramountcy in 1947. This was reflected by its efforts of to increase its influence in the States by introducing the rule of law, and also by its exploiting their economic resources by opium, salt, railway and postal agreements for fulfilling imperial needs. The Political Agents guided the rulers to initiate the socio-economic changes in their States only to the extent that they did not come into conflict with the imperial interests. So also, the British Government brought the nineteen Princely States of Rajputana under a single political agency in 1832 known as the Rajputana Agency for implementing a uniform policy towards them and exercising its greater control on their interstate relations from the central position of the British territory of Ajmer.¹⁰ It was in its zeal to strike social equality that it also undermined the preponderating position of the Charans in the body-politic of the Rajputana States by the mid of the nineteenth century.

(i) Transit duties levied on the Charans

Several Charans and Bhats were mere wandering mendicants in Rajputana States. They took advantage of their sacred position by assuming the occupation of carriers and traders as they were exempted from the payment of customs duties in Rajputana and the adjacent regions of Malwa

and Gujarat in the pre-colonial period. They abused their privileges of exemption from customs dues by becoming carriers for merchants caravans (tandas) and also as an escort of the travellers; and thereby they evaded customs dues, causing enormous loss to the exchequer of the States.¹¹ Only a few powerful Rajput rulers like Maharana Amar Singh I (1597-1620) of Mewar could take action against them.

On hearing of the restitution of their privileges and jagirs after the establishment of the British paramountcy in Mewar State, several Charans and Bhats returned to Udaipur in 1818. The Bhats also earned social position among Rajput families as genealogists, the preserver of their pidiavalis (line of generations) and the vamshavalis (line of descendants).¹² The notable among the Bhats were the Bamanias who were banished from Mewar and their 84 villages in Bamania were confiscated by Maharana Amar Singh I (1597-1620) for their constant evasion of customs duties through the territory of Mewar. James Tod, the first Political Agent in Western Rajputana States (1818-22) made this event as his guideline to deal with the Bamanias, who showed no change in their recalcitrant attitude during their banishment and even after the Anglo-Mewar Treaty of 1818. Their headman Pema beset Maharana Bhim Singh (1778-1828) and demanded exemption from the payment of customs taxes for his caravan (tanda) and threatened to commit Chandi. Thus, he placed the Maharana under restraint and into considerable alarm. Maharana Bhim Singh had "not the nerve of his ancestor" to deal with the Charans and the Bhats. Therefore, he made over Pema's claims to James Tod.¹³ Tod urged Pema that:¹⁴

"duties must be paid by all who chose to frequent the passes of Mewar, and that they would get nothing by their silly mode of endeavouring to obtain remission; that if they would give a written agreement to abide by the scale of duties laid down, they should receive exemption for five hundred bullocks of their tanda, and be reinducted into Bamania; if not, there were daggers (showing them on the table), and they might begin as soon as they pleased. I added that, in addition to Rana Amar's penalty of banishment, I would recommend confiscation of their entire caravan. Pema was no fool: he accepted Bamania and the muafi for five hundred, and that day received his gold bracelets and clothes of investiture for Bamania from the Rana".

This stringent measure of the Political Agent against the Bamanias Bhats proved beneficial for the Mewar State. The income of the Mewar State from transit duties rose from a nominal amount in February 1818 to Rs.2,17,000 in May 1822.¹⁵ The other Rajputana States also followed the example. For instance in 1882, the Jodhpur (Marwar) State levied the customs duties on the goods of the Charans, Bhats, Brahmins and other privileged classes who were till then exempted from the payment of customs dues.¹⁶

(ii) Prohibition on the practice of Chandi

The success of Tod in Mewar encouraged the Political Agents in the other Rajputana States to negate the rite of Chandi as the Charans extorted several privileges by resorting to it. The Rajput rulers declared the practice of Chandi illegal and punishable throughout their dominions during 1844 and 1847. It was enforced that those Charans who would violate the tyag rules and defy restrictions on their going from one State to another on the occasion of the marriage by threatening or actually performing Chandi would be seized and imprisoned. Besides, the British Government categorized the Chandi as a heinous offence in the Extradition Treaties (1868-70).¹⁷

(iii) Punishment to the Charans on threatening Chandi

These strict measures shook the position of the Charans and the Bhats in the feudal society. The Rajput rulers dealt with them firmly when they threatened Chandi for defying the socio-economic reforms in the States. For instance, in January 1849 two instances of sati took place in Charan families in the vicinity of Nagaur (in Jodhpur State). On the imposition of fine on the Charans by Maharaja Takht Singh (1843-73), they threatened to mutilate their bodies which alarmed the local authorities and pressed them to refer for orders to the Jodhpur Darbar. Captain D.A. Malcolm, Political Agent at Jodhpur, commanded the Maharaja for his "firmness and good sense" in enforcing fine on the defaulters as by this step he could demonstrate to the public his determination to uphold his decisions.¹⁸ Captain Jackson, Political Superintendent of Malani (in Jodhpur State), adopted similar stern attitude on the occurrence of a Chandi at Barmer in December 1849.¹⁹ So also, William Anderson, the Political Superintendent in the Sirohi State (1844-1857), punished a Bhat and a Brahmin for various terms of imprisonment for their committing Chandi

on themselves to extort money.²⁰ The deprivation of Charans, Bhats and Brahmins of all their special privileges was a breakthrough in the feudal society of Rajputana as it placed them at par with the other castes in the eye of law.

II

Transformation in the position of the Charans

These exemplary punishments deterred the Charans, the Bhats and Brahmins in Rajputana to repeat the crime of Chandi as they were convinced that they would not be spared by the law on threatening Chandi. Hence, the Charans and the Bhats also abandoned trafficking in slaves in Rajputana States. This growing British pressure of law also mobilized the Charans of all Rajputana States to follow the tyag regulations of the Walterkrit Rajputra Hitakarini Sabha (the Sabha formed by C.K.M. Walter, Agent to the Governor-General for Rajputana States for the welfare of Rajputs and Charans) from 1889. These tyag regulations resolved the tyag tangle, and made provision for the payment of tyag to the fund for the Charan schools. Thus, the Charans were restrained from demanding exorbitant tyag (neg) at the time of the marriage of the daughter of Rajput jagirdars. This resulted in the abolition of female infanticide among the jagirdars.²¹

The social-legal measures taken against the Charans had also their dark side as the tyag rules paved the way for the decline of the social position of the Charans. The tyag rules reduced their chances to visit the capital towns of the Rajput States and those of the thikanas. This in turn deprived them of the patronage of the Rajput aristocracy, retarded a process of their urbanization, discouraged the tradition of their literary activities and caused among them illiteracy, indolence and poverty.²² Further, the Rajputs manifested aversion to socially backward class of the Charans for their enjoying equal status with them as the members of the Walterkrit Rajputra Hitkarini Sabha even after resolving the tyag tangle. Therefore, in 1934, the Charans were dropped from its membership on the plea that they had formed their own separate All India Charan Mahasabha (1921) for initiating reforms among their caste fellows.²³ This estranged the relations between the Rajput and the Charan communities, and defeated Colonel C.K.M. Walter's objective of the Walterkrit Rajputra Hitkarini Sabha for regulating harmonious relations between them.

The abolition of Chandi coupled with the deteriorating social position of the Charans and the enforcement of efficient administrative machinery in Rajputana States also deprived them of their occupation as carriers and traders by the later part of the nineteenth century. The construction of roads and the development of several Political Corps²⁴ for restraining the Bhil, the Mina, and the Girassia tribes from plundering raids and border depredations (1824-1845), regularization of the customary right of the Bhils to collect Bolai from the travellers and the merchandise (1822) provided security to the trade and mail routes across Rajputana. These security measures also made the necessity of local insurance on merchandise peripheral by the mid of the nineteenth century.²⁵ Moreover, the enforcement of customs dues on the goods of the Charans and the Bhats in Rajputana States between 1818 and 1882 undermined their importance as carriers of merchandise as they no more enjoyed exemption from customs dues.²⁶ Besides, the appearance of port cities, such as, Calcutta, Bombay and Madras, and development of new urban centres in Rajputana, such as, Nasirabad, Bhilwara, Sheoganj, Beawar, Kekri and Ajmer; and the abolition of feudal rights of the jagirdars over the migration of Mahajans (1856),²⁷ helped in the emergence of Marwaris as a formidable business community all over India under the British patronage.²⁸ These Marwari businessmen further undermined the position of the Charans as a trading community. Besides, the monopoly of the Imperial power on opium and salt trade and the railways in the Rajputana States gave set back to the traditional occupation of the Charans as the carriers of merchandise. In addition to this, in the face of the restrictions on committing Chandi and enforcement of stringent law of contract in the Rajputana States between 1839 and 1880s, a Charan considered it a liability to give security in any kind of transaction. In the face of the political changes and an efficient system of administration of Rajputana States, he could not use coercive method of Chandi to force the debtor to pay the creditor without proceeding to a Court of Law,²⁹ nor did the people eagerly covet any sort of security from him in view of his lost social status during the Colonial period. Moreover, the modernization of the civil and judicial administration of the Rajputana States between 1839 and 1884 had made the Charan agency as sureties, obsolete and ineffective.³⁰

The modern system of administration and socio-legal measures at

last compelled Charans to turn to cultivation in Rajputana States.³¹ They grabbed the land illegally and invariably involved themselves in litigation with their partners owing to the law of inheritance which was observed by equal division of property (charinia-bant). Their mutual dissensions were so numerous in Marwar that a separate law court under the name of the Adalat Kahatdarshan was established for their settlement in 1839 which conducted its work throughout the nineteenth century.³² The submission of the land disputes by the Charans to the newly created court for seeking justice revealed that they had abandoned the practice of Chandi for securing justice, and reconciled with the laws of the States. Thus, the Rajput States secured success in establishing their authority over them during the colonial rule.

Change in literary and intellectual pursuits

The interaction of the Charans with the colonial power also brought about changes in their literary and intellectual pursuits. In the first half of the nineteenth century, the Court Charan poets like Bankidas of Jodhpur State (1771-1833) and Suryamal Mishran (1815-1868) of Bundi State had condemned the Rajput rulers for their accepting subordination of the British Government.³³ However, the stringent measures of the States against the Charans, made some of them submissive and pliant to the British Government. The Charans who enjoyed the Court patronage began to demonstrate a favourable attitude towards the British Government and the western education.

Kaviraja Shyamaldas (1836-1893), a Charan historian of the Mewar State, deviated from the traditional style of Khyat writing under the influence of the works of British officers James Tod and K.D. Erskine. He was the first among the Charans to write an objective and scientific history of Mewar State, viz., *Vir Vinod* in several volumes. The colonial power extended its patronage to him and bestowed on him the titles of Mahamahopadhyaya and Kesar-i-Hind. He helped the British government in resolving the tyag tangle between the Charans and Rajputs through the *Walterkrit Rajputra Hitkarini Sabha* since its formation in 1888. Krishna Singh (1849-1907), a Charan of Shahpura State, composed a *kavit* in praise of Queen Victoria. Another Charan, Ramnath Ratnu (1860-1919) deviated from his hereditary profession of composing laudatory poems and served as the Principal of a school at Jaipur; he visited England and

wrote the History of Rajasthan in Hindi. Udairaj Ujjawal, a Sidayach Charan (1855-1907) was the first among the Charans of Marwar who had obtained B.A. degree. Even after joining the Jaipur State Government service, he pursued his literary activities as was apparent by his writing a book entitled, *Vir Puja* in English besides several other works. In his appreciation of western education, he advocated for the extension of educational facilities to the Charan boys as illiteracy was rampant among them owing to socio-economic changes which had taken place in the middle of the nineteenth century in Rajasthan.³⁴ This gap was filled in by the All India Charan Mahasabha which was formed (1921) to revive the social position of the Charan community under the influence of the new emerging socio-economic forces unleashed during the colonial period.

All India Charan Mahasabha and its impact

The All India Charan Mahasabha, a modern adaptation of the caste Panchayat, was formed at Pushkar (in Ajmer District) in 1921 to provide a common platform to the Charans from Rajputana, Malwa, Gujarat and Kutch, to rejuvenate the tradition of literary activities, to discourage the exorbitant expenditure on marriages and funeral feasts, to abolish Reet (bride price) and tika and to provide facilities for education to the Charan boys residing in rural areas.³⁵ The Greater Gujarat Charan Sabha, Rajkot; the Marwar Prantiaya Charan Sabha, the Mewar Charan Sabha and the Alwar Charan Mandal worked at the Provincial level for the implementation of this social programme in the Charan community. The All India Charan Conference (Mahasabha) organized its annual sessions both in Rajputana and outside with the aim of giving wider publicity to its social reform programme. It held its Fourth and Fifth annual sessions at Jodhpur (1938) and Rajkot (1939) respectively.³⁶ The All India Charan Conference and its constituent Provincial Sabhas in Rajputana opened hostels for Charan students at Jodhpur, Udaipur and Alwar.³⁷ Shri Hatudan Ujjwal, a Charan resident of Jodhpur and the President of the All India Charan Conference, in a letter of 11 September, 1940 to the Prime Minister of Jaipur State expressed his gratitude for making provision for the education of the Charan boys in the rural areas of the State but also appealed to him for opening a hostel for them in the capital city of Jaipur.³⁸ These activities of the Charan caste reform associations gave fillip to educational activities among the Charans. For instance, Kethdan Kalpit of Jodhpur (Jodhpur

State) who was born in 1924, received education up to B.A., LL.B., while Chandra Dan of Churu (Bikaner State) obtained the degree of M.A. (in Hindi) and Sahityaratna. Vijaydan (1926) hailing from the village of Borunda (in Jodhpur State) passed B.A. from Jaswant College, Jodhpur. He established Rupayan Sansthan as a research centre of Rajasthani literature at Borunda to revive and preserve the cultural heritage of Rajasthan in the form of bardic literature and folk songs.³⁹ The Historical Department of the Jodhpur State also surveyed and collected vast bardic literature which is now preserved in the form of Non-Archival records of the Jodhpur State at Rajasthan State Archives, Bikaner.⁴⁰

Adoption of peaceful means for redressal of grievances

The enforcement of British socio-legal system in the Rajputana States for restraining the Charans from committing Chandi as well as the influence of the modern system of education, social reforms and non-violent political movements, channelized their energies for adopting constitutional and peaceful means for redressing their grievances and for safeguarding their privileges during the colonial period. The socio-political transformation was evident in their organizing themselves to secure justice through deputations and appeals under the auspices of the All India Charan Mahasabha and its branches in the Rajputana States.⁴¹ The President of the Mahasabha opposed the decision of the Rajput representatives of Rajputana States in 1934 for dropping the Charan community from the membership of the Walterkrit Rajputra Hitkarini Sabha not by threatening Chandi but by appealing the Rajput rulers as well as the Agent to the Governor-General for Rajputana States against this decision.⁴² Even on his failure to achieve success in this objective, he did not instigate the Charans to thrust their daggers into their flesh.⁴³ The meeting of the delegation of the Mewar Charan Sabha with Thakur Dharam Naryan, Dewan of the Mewar State (1938) and Maharana Bhopal Singh (1939) averted the confiscation of several jagirs of the Charans in the Mewar State,⁴⁴ while to achieve the same objective in the medieval Rajasthan, 2000 Charans had sacrificed their lives through traga in Marwar State (1586 A.D.) during the reign of Raja Udai Singh.⁴⁵ Thus, the Charans discarded the ghastly rite of Chandi and instead of it adopted peaceful methods to resolve their grievances. This change was brought about in the Rajputana States by the rulers through the assistance of the British

paramountcy and above all by the adaptability of the Charan community to the new changing political conditions in the Princely Rajputana. This transformation also established equality for all before the law as the Charans, the Bhats and the Brahmins who formerly enjoyed special privileges in the Rajputana States, were now punished like other criminals for breaking the law.⁴⁶

Thus, the inequitable features of the customary tradition of pre-colonial era were abandoned in the Rajputana States during the colonial period in favour of more equitable system of criminal justice. The colonial power applied axe to the normative framework that governed the Rajput society by striking at the root of inequality and abolishing abhorring social customs. It brought about transformation among the life of Charans by ceiling on the payment of tyag, and by abolishing the evil social practices, such as, sati, trafficking in slaves and Chandi which were encouraged and supported by them under the patronage of the Rajput rulers. Besides, it stressed on social equality as was evident by its efforts to bring the Charans, the Bhats and the Brahmins on equal footing with other castes in the eye of law and to deprive the Charans of their right of exemption from the customs dues. It could not be denied that the colonial power only enforced socio-legal change to build up its image of a benevolent paramount power among Rajputana States and also to suit its imperial interests. However, it left the social structure considerably intact for strategic reasons in the Princely Rajputana as it did in other parts of India.

References

1. C. Von Furer-Haimenlor, "The Historical Value of Indian Bardic Literature", *Historians of India, Pakistan and Ceylon*, ed.by C.H. Philip, Oxford University Press, London 1981, p.88.
2. Norman P. Ziegler, "Marwari Historical Chronicles : Sources for the Social and Cultural History of Rajasthan", *IESHR*, Vol.13, 1976, p.226. See also, G.N. Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan (1500-1800 A.D.)*, Lakshmi Narain Agrawal, Educational Publishers, Agra 1968, pp.94-5.
3. Gunarathi Ramesh Chandra, *Rajparijanya Parichya*, Vedic Yantralaya, Ajmer 1946, p.108.
4. Ziegler, op.cit., p.226.
5. Mohanlal Jigyasu, *Charan Sahitya ka Itihas*, Jain Brothers, Reprint, Jodhpur 1973, pt.I, pp.222-29.
6. Ibid.
7. Gunarathi Ramesh Chandra, op.cit., p.108.

8. Muhnot Nensi, Marwar Ka Pargana ri Vigat, Vol.I, ed.by Narayan Singh Bhati, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur 1963, p.78; See also, Shyamaldas, Vir Vinod, Udaipur 1943 V.S., p.816.
9. James Tod, Annals and Antiquities of Rajasthan, ed.by William Crooke, Motilal Banarsidass, Delhi, Reprint 1971, Vol.I, p.339; Vol.II, p.815.
10. Vijay Kumar Vashishtha, Rajputana Agency, 1832-1858, Aalekh Publishers, Jaipur 1978, pp.36-42.
11. File no.1493-1-1818, S.no.36, Confidential Files, Ajmer. Rajasthan State Archives, Bikaner (hereafter abbreviated as RSAB). See also, John Malcolm, A Memoir of Central India, including Malwa and Adjoining Provinces, Parbury, Allen and Co., London 1832, Vol.II, pp.131-34.
12. Ziegler, op.cit., p.227.
13. Cons. 18 June 1819, Nos.30-34, Foreign and Political Department (hereafter abbreviated as F&P), National Archives of India, New Delhi (hereafter abbreviated as NAI). See also, Tod, op.cit., Vol.II, p.816.
14. Tod, op.cit., Vol.II, p.815.
15. Ibid., Vol.I, p.584.
16. P.R. Shah, Raj Marwar During British Paramountcy, Sharda Publishing House, Jodhpur 1982, pp.41, 52.
17. Vijay Kumar Vashishtha, "Abolition of Chandi in the Rajputana States". Proceedings of the Rajasthan History Congress, Sirohi Session, Vol.XIII, pp.126-129.
18. File no.8, Vol.I, S.no.137 (Vernacular), English Records, Jodhpur, RSAB.
19. File no.1493-1-1848, S.no.36, Confidential Records, Ajmer, RSAB.
20. Cons. 11 April 1859, Nos.232-233, F&P, NAI.
21. Progs. July 1888, Nos.19-24, Internal-A, Foreign Department, NAI; Progs. June 1889, Nos.295-302, Internal-A, Foreign Department, NAI.
22. Charan - A Quarterly Journal of the All India Charan Conference (in Hindi), Vol.I, No.2, 1995 V.S., pp.1-5.
23. G-20, File no.150, Jaipur Government, Secretariat Records, Rajasthan State Archives, Branch Jaipur (Abbreviated as RSAJ).
24. Following Political Corps were organized for maintaining peace and tranquility in Rajputana States; the Merwara Battalion at Beawar (1824), the Shekhawati Brigade at Jhunjhunu (1835-1847), the Jodhpur Legion at Erinpura (1836, later known as 43rd Erinpura Regiment), the Mewar Bhil Corps at Kherwara (1840) and the Kota Contingent at Deoli (1840, later known as Deoli Irregular Force).
25. Vashishtha, Rajputana Agency, 1832-1858, pp.13, 16, 175.
26. Nirmala M. Upadhyaya, op.cit., p.77.
27. Edmonstone to Henry Lawrence, 31 December, 1856, Cons. 2 January 1857, Nos.62-67, F&P, NAI; See also, Vashishtha, Rajputana Agency, p.253.
28. Thomas A. Timberg, The Marwaris : From Traders to Industrialists, Vikas Publishing House, New Delhi 1978, pp.93-100.

29. In 1839, the civil criminal courts were established in Jodhpur. In 1880s a rule was introduced in the Jodhpur State according to which 25 per cent court fee was charged on the amount recovered by the creditor. Cf. Shah, *op.cit.*, p.40.
30. *Ibid.*, pp.39-45. See also, Upadhyaya, *op.cit.*, p.68-92.
31. The monopoly of the British Government on salt and construction of railways in Rajputana had also destroyed the trade of the Baldias and the Lohanas whose occupation was to carry merchandise on bullock carts. Cf. Munshi Devi Prasad, Marwar Census Report, 1891, Jodhpur 1891, pp.137-39.
32. *Ibid.* See also, File no.1493-1-1848, S.no.36, Confidential Records, Ajmer, RSAB.
33. Girija Shankar Sharma, Sources on Social and Economic History of Rajasthan, 17th-20th Century A.D., Vikas Prakashan, Bikaner 2005, p.160.
34. For details see, Mohanlal Jigyasu, *op.cit.*, pp.143-44, 155, 161-62.
35. Charan - A Quarterly Journal of the All India Charan Conference (in Hindi), Year 1, no.2, 1995 V.S., pp.1-5. See also, Charan, Year 1, No.3, 1996 V.S., p.43.
36. Charan, Year 1, No.4, V.S. 1996, pp.13, 27, 33-37. See also, Charan, Year 2, No.4, 1997 V.S., p.43.
37. Charan, Vol.I, No.2, V.S. 1995, pp.31, 35; See also, Charan, Vol.II, No.4, 1997 V.S., pp.40-41.
38. G-20, File no.150, Jaipur Government Secretariat Records, RSAJ.
39. Jigyasu, *op.cit.*, Pt.II, pp.143, 158, 161-62, 389, 393.
40. Girija Shankar Sharma, *op.cit.*, pp.223-233.
41. Charan, Year 1, No.1, 1995 V.S., pp.1-5.
42. G-20, File no.150, Jaipur Government Secretariat Records, RSAJ.
43. *Ibid.*
44. Charan, Year 1, No.2., 1995 V.S., p.36.
45. Nensi, *op.cit.*,p.78; See also, Shyamaldas, *op.cit.*,p.816.
46. Cons. 2 January 1857, No.62, F&P, NAI.

Bhils Origin : A Mythological Connection

Pratyusha Das Gupta

Bhils are one of the largest scheduled tribes in India. They resided in the greater part of the Southern Rajasthan. Most of the princely states such as Banswara, Dungarpur, Udaipur, Jodhpur, and Kota believed to have named after the Bhil chieftains who formerly ruled over them. The name of Bhils appeared for the first time in Sanskrit literature Katha-saritsagar in 600 A.D. According to Gazetteer of the Udaipur state, "The name Bhil is derived from the Dravidian word for a bow, which is the characteristic weapon of the Tribe and by others from the root of the Sanskrit verb meaning to pierce, shoot or kill in consequence of their proficiency as archers."¹ Dravidian word 'Villu' or 'Billu' meaning a bow, aboriginals referred to as 'villuvar' meaning a bow man. As the Bhils invariably keep bow as a weapon it has been accepted that the aboriginal referred to in Tamil literature are Bhils.² There is a controversy about the origin of this tribe. Many scholars are having different opinion but which has no scientific explanation but still it reveal with their characteristic and attitude. Through this paper researcher will analyse their origin have a connection with Indian Mythology.

In the ancient Sanskrit literature the word Bhil has been used almost synonymously with

Other forest tribes like Nishads and Shabar, consequently it would not be safe to generalise from such references. The word Nishads has been referred to in the samhitas and the Brahmanas. According to B.C. Law this term is explained by the commentator means a Bhil or Bhilla.

The origins of the Bhils are found in Bhagawat Purana, Shiv puran and other Sanskrit literature. According to the Bhagawat puran version and reported by Venkatachar, the Bhils have descended from the thighs of veena the son of Anga who had no child. According to Puran, the sages rubbed his thigh and produced a man like a charred log with a flat face who was extremely short. He was told to sit down. He did and was known as Nishads. From who sprang the Nishads, dwelling on the

Vindhyan Mountains distinguished by their wicked deeds.³ Hindu version which gives the origin of human race through Manu. But in the Bhil version, the Bhils originated not from Manu but from the incestuous union of a dhobi with his sister who was married by Rama, had a son. Rama presented him with a horse but the son being unable to ride it left the horse in the forest to cut the wood and he and his descendents became forest men and started the Bhil tribe.

There is another reference we found in Shiv Purana. Mahadeo, sick and unhappy was reclining in a shady forest were appeared before him a beautiful women. Her first sight cured him of all sickness and led to sexual intercourse between the two. Thus of them where born several children one of whom was ugly and vicious. He killed the favourite bull of his father for which he was expelled to the woods and mountains. His descendants have been called Bhils and Nishada.⁴

Another reference we find in the Mahabharata that the famous Archer Ekalavya was a Bhil. The story goes that Dronacharya did not accept him as his disciple when the latter approached him to learn the art of archery. He made an idol of Dronacharya and treating it as his Guru, practised the art of knowing this Dronacharya came to him and asked for the thumbs of his right hand as Guru Dakshina, which he gladly offered.⁵ The Mahabharata also refers to Parwati who in the guise of a Bhil woman attracted Shiva. The legend runs that Shiva once went for meditation to the Himalayas leaving Parwati behind, and lived there in penance for several years. Sick of loneliness in Kailash she went to Shiva. Seeing he engrossed in meditation, she assumed the form of a Bhil woman and began to dance before him. The Jingling sound of her ornaments broke the meditation of the lord Shiva, who at once fell in love with her and persuaded her to marry him. When she reminded him of parwati, he told her not to be afraid of Parwati and embraced her. As soon as he embraced the Bhil woman, Parwati at once transformed herself to her original form, at which he became ashamed.⁶

According to a local traditional account of the Bhils they were the earliest settlers on earth. Their origin to the era of 'Satyuga' when Ninama and Maira Bhils were born as twins. The gods were surprised at the smell of human flesh in their vicinity. They hailed the birth of Bhil twins with mixed feelings and decided to test the bravery of the twins. They entrusted

a fairy (pari) named Kakai to ask them for their head and eyes. Kakai accordingly went to them and demanded the maira's head and Ninama's eyes. Maira without any hesitation cut off his head and gave it to the fairy. So, did Ninama offer his eyes, Kakai went to heaven with the offering given by the Bhil Brothers. Pleased at this the god asked the fairy to re set the head and eyes of the two brothers and give them life. Since then the Bhils have been living in the world.⁷

According to Rajputana Gazetteer "The Bhils seem to be the pygmies of Ctesias (400 B.C) who described them as black and ugly, the tallest being only two ells high, their hair and beards were so long that they served as garments and they were excellent bow men and very honest."⁸

Colonel Tod the author of The Annals and Antiquities of Rajasthan says that the Bhils might have come from remote region. They must have entered the country from the north and north east region several hundred years before the Christian era. They were driven to the forest and Hilly region during the time of Hindu invasion. Tod mentioned them as a 'Vanaputra' or children of the forest. He told,

"I do not reckon that the Bhils raids from their jungle abroad in search of plunder supply any argument against the innate principle of locality. The Bhil returns to it as truly as does needle to the north."⁹

Historian S.L.Doshi states that "In all probability the Bhils were pre Aryan and non Dravidian settlers of this land. The Dravidians evidently belonged to a higher stage of culture".¹⁰ In Sanskrit literature, Manu traces the origin of Nishada as an offspring of a Brahmin father and a Sudra mother.¹¹

The most important two epics Mahabharata and Ramayana also refer to the Bhils. The death of Krishna at the hands of a Bhil Jaratha.¹² Krishna was reclining at the foot of a tree under its shade, after the destruction of yadavas, when a Bhil archer, thinking him to be a deer, shot an arrow which took him away from this world. It was on account of this sinful act that the Bhils have been cursed not to handle the bow with the forefinger of the right hands.¹³ According to Major Hendly, "Times have to change since then, but I noticed in examining their hands that few could have changed since then, but I noticed in examining their hands that few could have the fore finger without the second finger; indeed the

fingers appeared useless as independent numbers of the hands".¹⁴

There are many references to the Bhils in the Ramayana. Valmiki, from whose pen this great epic had its birth, was himself a Bhil named Valia, according to the traditional accounts of his life. Another reference to Bhils is made in the Ramayana, which mentions Guhraj (Nishad) who helped Rama, Laxman and Sita crossing the Ganges.¹⁵ While in his exile Lord Rama also ate the plums (ber) offered by Shabari, a woman belonging to a Bhil tribe.¹⁶

In a Jain work named 'Kuvlaymala Kaha' written in the eighth century in Rajasthan the 'Bhils' are referred to as 'Melechhas'.¹⁷ Similarly in a Jain work of the tenth century in Karnataka the 'shabars' i.e. Bhils are referred to as untouchables.¹⁸

The anthropologist views the origin of Bhils as very difficult to trace. They are inter-mixing between the Bhils and other tribal groups of Hindus. R.V. Russell and Hiralal stated that "The Bhils are a wild, daring outcast race scattered over Rajputana. They are regarded as the aborigines, although this supposition must be taken in limited significance, as much as in some parts exceedingly probable that while some tribes have been formed unions between the Bhils and Rajputs, other is altogether of pure aboriginal Bhil blood."¹⁹ According to Prof Gauri Shankar Heerachand Ojha Bhils are non Aryans, but it's difficult to tell their ancestors. D.N. Majumdar has written that "they do not differ in their appearances from the various agricultural castes of Northern India."²⁰

Hence it is very difficult to tell about their exact origin but it is true that they are the aboriginal of this country. There is no doubt that they represent a race which inhabited in India earlier than the Aryans and Dravidians. Many anthropologists suggest that they are proto Mediterranean race who spread far and have a connection in Hindu mythology.

Reference

1. Gazetteer of Udaipur state, Ajmer, 1908, 227.
2. Mathur, L.P, Resistance Movements of Tribals of India, (Udaipur: Himanshu Publication, 1988), 7.
3. Bhagawat Purana, Skanda 4, chapter 14, Shloka 45.
4. As quoted by Maj. Erskine in Mewar residency, vol. II, A, 227.
6. Sharma, S.L. Social Stratification among the Tribes, (Jaipur: Himanshu Publication, 2004), 32.

7. Tod, James. Annals and Antiquity of Rajasthan, (London: Routledge and Kegan Paul Limited, 1829), 5.
8. Rajputana Gazetteer, 1879, vol.II A, part V, 227.
9. Tod James, The Annals & Antiquities of Rajasthan,(London: Routledge and Kegan Paul Ltd, 1829), 6
10. Doshi S.L, Bhils: Between Societal Self-awareness and Cultural Synthesis, (New Delhi: Sterling Publication1971), 11.
12. Mahabharata, Mosal Parba, 4th Chapter, Shloka 22.
13. Doshi, S.L, Bhils: Between Societal Self awareness and Cultural Synthesis, (New Delhi: Sterling Publication, 1971), 6.
14. Major Hendely, "An account of the Bhils", Journal of the Asiatic society of Bengal, vol.XLIV, pt.J, (1875):369.
15. Valmiki Ramayana, Ayodhya Kand, chapter 50, Shloka 35.
16. Ibid, Aranya Kand, chapter 50, Shloka 17-18.
17. Jain, P.C, Udhoyatam Suri, Kuvlayamala Kaha Ka Sanskritik Adhyayan, 108.
18. Jain, Gokul Chand. Yashshastilaka Ka Sanskritik Adhyayan, 66.
19. Russel, R.V and Hiralal. The Tribes and Castes of the Central Provinces of India, (London: Macmillan), 182.
20. Majumdar, D. N. Races and Cultures of India, (Bombay: Asia Publishing House, 1971), 224.

Govind Guru and the Bhagat Movement

Dr. Vijayalakshmi

"The names of those, who in their lives fought for life, who wore at their hearts the fire's centre -Born of the sun they travelled a short while towards the sun and left the vivid air signed with their honour....."

--Stephen Spender

In any social movement, ideology plays a significant role. As all social movements are aimed at transforming the existing social structure it should have an ideology of its own. According to Herberle such an ideology attempts "to justify their aims ... typically records abstract principles concentrating on the nature of man, his destination and his natural rights in combination with a critique of the existing economic, political and social institutions. The ideas of liberty and equality are common to all major movements, sometimes in combination with the idea of national movement". In order to sustain their movements and get maximum participation of the members of the society it is necessary for the leaders to project their ideology which includes non-material rewards at the level of values. As such there can be no readymade sets of ideology. In fact the ideology of a movement is formulated by its leaders on the basis of their perception, assessment and interpretation of its past and the existing stress and strains on the social, political, economic and cultural spheres of the society to which it relates.

In the last two decades of the 19th century, several areas of Rajputana suffered from acute scarcities from time to time. Among them the famine of 1899-1901 was the severest in the recorded history of Rajputna. During this natural calamity the Bhils with other tribals were the worst sufferers. Their reluctance to come to relief works, dislike of poor houses and difficulties in transporting grains and fodder to the hilly areas added to the misery of the impoverished Bhils. In the opinion of the Agent to the Governor General in Rajputana the situation in these areas was the worst in the whole of India. Due to acute famine conditions accompanied by the epidemic of cholera in 1900 the mortality rate was high. Peoples

woes knew no bounds and were in acute distress. Bhils resorted to high-way robberies and theft. From 1881-1901 numerous cases of plunder on the roads and thefts were reported from Bagar, Mewar and neighboring areas. During this period of distress the morale of the tribals as well as their capacity to work was adversely affected to a great extent. Govind Guru, a banjara of village vedesa in the state of Dungarpur, was born on 20th December, 1858 was deeply moved by their deteriorating conditions. In the 1st decade of the 20th C he launched a movement for raising their moral, religious, social and economic status.

Tribal groups prior, were existing as non- political entities. He was important in bringing about Socio-religious changes among people of Southern Rajputana. His importance lies in the fact that he was the foremost in bringing about political awareness among the people of this region.¹

Though he had no formal education, his thinking was of a high order. He was disciplined, he is said to have led an austere and ascetic life since 1884. He worked as a Hali (cultivating tenant) at Natva, urkeli and Surpur (in Sunth State) from 1902-07. When he returned to his native village at Bersa and started preaching monotheism among the Bhils and there within a short period of 1 year several of them became his disciples and called themselves Bhagats.

He was very much influenced by Swamy Dayanand Saraswati's preachings. It is said that during latter's Rajasthan visit Swamy Dayanand Saraswati visited Udaipur and Govind Guru had spent some time with him. In 1894 he took 'diksha' as a mendicant. For about a decade he seems to have preached in his village but due to death of his wife and two children he shifted to village Natwan in Sant Rampur in the state of Gujarat. Shortly afterwards he married the widow of his elder brother. He returned to his village in 1908. Due to his preachings he soon became popular among Bhils and Kolis and he began to visit the neighbouring areas of Bagar and Gujrat.²

Though illiterate he was well versed with the prayers and hymns of Kabir and had appreciation for the British Government for taking measures for the reclamation of the tribals in the Southern Rajputana States and adjacent Bhil tracts. The evangelical and philanthropic activities of the Christian missionaries in the Mewar Hill Tract and the Bhil tracts of southern Rajputana states, and Bhagat Movement under Kheradi Surmal

in Mahikantha had also impressed him so much that he devoted his energies for elevating socio-religious conditions of the Bhils inhabiting the states in Southern Rajasthan. He began the Bhagat movement for reclaiming them by Sanskritisation from 1907 to 1931.

In 1908, Major K. D. Erskine recorded that : "In Dungarpur an order of priesthood is said to have been recently started : the priest is styled Bhagat, abstains from flesh and wine, and declines to take food from the hands of a Bhil unless he too be a Bhagat, his house can be recognized by the flag which is fixed to it."³

Swami Govindgari was a genuine ascetic belonging to the Bundi Dashnami panth which was a religious sect of Sadhus. He was a disciple of Ragugarji. He was a sansari and had family and children, used to smoke ganja. He was a god fearing man and said "He who digs a pit for others will himself fall into it. As one sows, so he reaps. As one acts so he reaps the fruits of his action". He believed in what Kabir said "What we do, shall bear fruits some day or other". He had no pretensions to make or indulged in supernatural practices. He had no worldly possessions except a wallet and gourd. He lived by begging which he considered as the attribute of Lord Shankar. He opined that all have to die but righteousness, would be lasting , "The Divine world is the protector of jogi's righteousness".⁴

He engaged himself in the laudable task of improving the moral character, habits and religious practices of the backward community of Bhils and of other tribals of Dungarpur, Banswara Idar and Sunth states. In 1907, he started preaching monotheism from his to the Bhils and Kolis. He advised them to be clean and to be more refined. Showed them the path of religion and truth, and preached among them to worship God, abstain from enmity towards others, to adopt agriculture for sustenance. To give up thefts and robberies, to wear clean clothes, to give up eating meat etc.

He wanted to cleanse their society of the evil practices which had taken root in their everyday life. So he asked them to give up their belief in Virs (ghosts), vantaras (witches), bhopas (enchanters) and superstitious practices and as a safeguard against them to establish dhunis (firepits) and nishans (flags) and to worship them. To remain obedient to parents and above all, to forsake murder, theft, adultery, deception and hunting. He condemned Brahmins, Banias and Rajputs for keeping their women in

degrading position, committing the sin of prohibiting their child widows from remarriage and thereby forcing them to lead an immoral life. He opposed dapa and polygamy. Espoused the cause of widows and advocated widow remarriage. He himself set an example to his followers by marrying a widow. He criticized Rajputs for practising the barbarous custom of female infanticide. He claimed himself and his disciples as *vedi* (knower of truth).⁵

Religious Preachings

1. He believed in monotheism and opposed the worship of several deities.
2. He denounced the worship of images;
3. According to him the world was only a myth;
4. In order to release one's self from the cycle of rebirth, a person has to suffer consequences of his wrong deeds in his future life but one could achieve salvation by leading a purely virtuous life.
5. He was opposed to superstitions. He advised his followers not to believe in 'bhopas' and those who professed to cure with the help of charms and mantras. He did not believe in ghosts and spirits.
6. He asked his followers to perform 'havans' at 'dhunis' (in which fire was to be kept lighted) because gods reside around them.
7. To observe fast
8. To bathe regularly and to wear clean clothes.
9. He was a devotee of Shiva and asked his followers to worship Shiva in his nirguna form.
10. He asked his followers to chant the name of Rama.

As far as his ethical code was concerned he asked his followers to live a life of virtue and discipline. He asked them to abstain from seducing other man's wives, not to drink, smoke and be greedy. In order to ease oneself from the carnal behaviour he asked his followers to give up their love for meat.⁶

He asked his followers to take to agriculture. To dig wells and to construct 'medh' (boundaries for their agricultural land holdings)

We can see the impact of Arya Samaj on him from performing of havans at 'dhunies' wearing clothes like Arya Samaj mendicants, lending

support to widow remarriage and opposing idol worship.

Since a large number of Jains residing at Bagar and nearby places were quite sympathetic to his movement the British officers expressed the view that he was greatly influenced by them. Strict adherence to vegetarian food, non-violence, prohibition of liquor was thought to be the influence of Jainism on him. He was influenced by the Bhakti cult. As admitted by him, Kabir's sayings had great influence on him. He showed his devotion to mahadeo (Shankar) whom the tribal people had worshipped since the remote days. He wore Rudraksha.⁷

Impact of his Teachings

So profound were his teachings that in a letter to the Resident of Mewar, Stockley, the commandant of Mewar Bhil corps at kherwara, praised the excellent tone and content of his teachings. In his opinion they aimed at the moral and social improvement of the Bhils. The political Superintendent of Hilly tracts of Mewar also regarded him as a true saint and a devotee, a religious leader who believed in truth and was not given to any pretensions. According to him as a result of his preaching the Bhils were giving up on their old crude habits and were getting transformed and were emerging as a conscious lot who worked for their rights and gaining immensely in self-confidence and were freed from the shackles of superstitions. They found his teachings acceptable and practicable, so much so that about 6,00,000 of them inhabiting the panchamahals, southern Rajputana states and south west of central India became his followers within a short span of 6 years during 1907-1913.⁸

As some of the British officers remarked about his preachings, Pure and ennobling in its effect, as the Bhils, who became his disciples, were raised to a higher plane of morality and decency than they had ever reached before he took them in hand. This transformation they thought would help the Bhils in adjusting to the modernization of the administrative and judicial set up of the states. Though Jains were in no way connected with this movement but were greatly sympathetic to it for it followed some tenets such as abstinence from killing of animals and taking liquor which were similar to their tenets.

Bhagat Bhils hailed Guru Govindgiri's doctrines as a gospel of freedom and redemption. His revealing of the social evils prevalent in the upper castes and Rajputs undermined their authority among Bhils. They

began to fear less and become less amenable to the autocratic behavior of the Rajput thakurs and their officials. They even refused forced service (Veth or begar). This overbearing attitude/social change was greatly resented by the Rajput rulers. They began to feel that the gathering of Bhagats at dhunis portended a Bhil rebellion against their states.

The Rajput rulers and their liquor contractors disliked the Guru's preachings as he gave them a clarion call to refrain themselves from drinking. As a result the sale of liquor fell in Banswara, Sunth and the surrounding states. The liquor contractors apprehended heavy financial losses. In Banswara, the sale of liquor fell in October 1913, from 18,470 gallons for the same period last year (1912) to 5,154 gallons. This naturally stirred them and their agents, and state officials did their utmost to stem the tide of their losses by resorting to oppressive measures against Bhagat Bhils for making them to revert to their habit of drinking.⁹

Since the exchequer suffered from heavy losses due to the fall in the sale of liquor, Govind Giri had to face the brunt. He was arrested at first at Dungarpur. He along with the members of his family were kept in police custody and his scanty belongings were confiscated. He was then externed from the state. Few other states of the area also prohibited him from entering their territories. Meanwhile even his followers were harassed by authorities in several ways. Their 'dhunis' were destroyed and they were forced to eat meat and drink wine. Subordinate officers exacted begar from the Bhagat Bhils and on latter's refusal they threatened them with imprisonment and extracted bribes from them. Two of the disciples of Govindgiri were prosecuted without evidence at Babrol. For fear of harassment by the state authorities, Govind Giri's disciples moved from village to village or fled away to jungles which caused loss to their own crops.

The Resistance Movement

Harassment and ill feelings which were directed towards Bhils, ultimately changed the complexion of the Bhagat movement. The Bhagat Bhils hailed Guru Govindgiri's doctrines as a gospel of freedom and redemption. His principal adviser, Punja Dhirji in consultation with the other Bhil leaders from Sunth, Dungrapur, Garhi and Banswara, Jhalod, and Panchmahal district and after talks with several patels and Banias of Idar, Kadana and several other states decided to establish a Bhil Kingdom.

With this intention a delegation under Punja Dhirji brought their guru to Mangarh hill on October 1913 on the pretension that his presence was required in the large gathering of Bhils where they proposed to pass a resolution abolishing the custom of dapa prevalent in their community.⁹

Guru Govindgiri chose the inaccessible Mangarh Hill on the border of Banswara and Sunth States, as his permanent abode as a protest against the prosecution of his disciples and for pursuing his prayers peacefully. His lieutenant secured Govind Guru's acquiescence to the policy of indirectly coercing the states of Banswara and Sunth either to remove the main grievances of the Bhils or they would overthrow their authority and establish the Bhil Raj as the panacea for suffering and oppression of the Bhils. This changed the nature of Govind Guru's movement. From hence forth his socio religious movement was transformed into a distinct political one.¹⁰

The increasing number of the Bhils at Mangarh alarmed a few rulers of the region. The ruler of Sant Rampur requested the political Agent, Southern States of Rajputana to arrest him and prevent the Bhils from going to Mangarh. A French missionary stationed at Thandla, a village near Ratlam, expressed his apprehensions about the gathering of the Bhils at Mangarh. The political Agent of Rewakantha, Banswara, Kushalgarh and Dungarpur asked their forces to move towards Mangarh to help the forces of Sant Rampur.

On the night of 31st October 1913, a party of Bhils under Punja unsuccessfully attacked the police outposts of Pratapgarh or Khedapada fort situated at a distance of 2 miles from Mangarh. In this attack about 18 to 20 Bhils were killed. The British sent 33 policemen of the Rewakantha Agency to assist the contingent of Sant Rampur in their watch around Mangarh. Next day district Magistrate of Panchmahal wired to the Bombay Government about the tense situation at Sant Rampur and alert the commanding officer of British cantonment at Mhow to be ready for any eventuality.

The selection of Mangarh Hill, formerly a stronghold of a Bhil dominion, was specifically made to arouse aspirations of the Bhils to reestablish Bhil Raj there. It being situated in the central position, the Bhils of adjacent tracts could easily assemble there. The credit for selecting the site goes to the ingenuity of Punja Dhirji, a young literate Bhil patel of

Dungar taluka in the Sunth State and that of his militant associates. As a leader of the extremist section of Govind Giri's disciples, he assumed full temporal power on Mangah Hill while his Guru continued to be the spiritual head.¹¹

The Bhils collected on Mangarh wore saffron coloured pagris on their heads, and armed themselves with guns, swords, bows and arrows slings etc. and were under the full command of their Guru. Whether the gathering of Bhils on Mangarh was spontaneous or under direct or indirect coercion, would remain a matter of mystery.

The large gathering at Mangarh and their growing aggressive activities seriously alarmed the neighbouring state of Banswara which feared their attack. It failed to take effective measures to disperse the Bhil gathering between October 15 and November 8, 1913 and therefore, it took initiative in asking for British military assistance to quell the Bhil uprising. The British government as the paramount power considered it as its bounden duty to suppress internal rebellion in these states to maintain their authority and peace and tranquility in the neighbouring territories.

Accordingly, the political agents of Rewakantha and the Southern Rajputana states along with the British troops and those of the states of Banswara, Dungrapur and Sunth states began the siege of the Mangarh fort on 9 November, 1913.¹²

The political Agent at Rewakantha after reaching the Pratapgarh fort, sent a letter to Govindgiri on 9th November, 1913 to prevent the situation from escalating into a big one. But it bore no fruits. On 10th November, R.P. Barrow, commissioner, Northern division, Sunth himself went towards Mangarh and was turned back by an armed party of Bhils. However, it was only on the arrival of Mewar Bhil Corps under the command of captain J. P. Stockley at Pratapgarh fort that Govindgiri deputed 5 emissaries to meet the political officers of Mewar and Rewakantha. The letter was addressed to the political Agent, Rewakantha. In his message Govind Giri briefly described his life as a preacher and also gave details of the harassment meted out to him and his followers in Sant Rampur and Dungarpur. According to him he and his followers had taken shelter at Mangarh only with the objective of saving their lives and worshipping God.

Govindgiri demanded freedom for his disciples to pursue religious and moral principles and the right to collect Timber free of cost for their dhunis. Flags and 'nishans' confiscated were to be returned with permission to hold fairs there. The officials should be asked to desist from intimidating his followers. He should be allowed to live in Mangarh where a portion of the land should be given to him for erecting a house. An enquiry should be made regarding the murder of his disciples at pratapgarh by the 'thanedar' and compensation should be given to them. He also asked the British Government to allow him to employ a battalion of 200 Bhils with rifles for his protection. He demanded the abolition of forced labour and the right to the ryot to use forest products and quarries free of charge He suggested to the British Government that it should exercise the prerogative of nominating a Diwan in Sunth state and to forbid the ruler of Sunth from using abusive language for his ryots. He desired that the police warrant issued to Punja Dhiriji and his other ten disciples, alleging against them the charges of sedition, murder of a constable and burning of the Gadra outpost, should be withdrawn. He asked for the fixation of the amount of his lagat (levy) of Bekh (alms) from all communities to meet his expenditure and to feed Sadhus on Mangarh. On top of these somewhat vague demands, he desired that the agreement (tharav) bearing the seal and signature of the political officer should be sent to him.¹³

The representation of Govindgiri were considered as vague allegations against the rulers, and formulating, not temperately worded request but insolent demands. The political agents did not give reply to the demands but promised Govindgiri and his Bhil disciples greater freedom in their preaching and practices of their social and religious precepts in all the princely states and districts under British protection. They expressed sympathy with their reform movement but ordered them to disperse immediately as it amounted to a rebellious act to assemble in such a large number on a hill.

The number of Bhils present at Mangarh on the day of attack was estimated by Stockley to be about 3,000. But according to local tradition about 1,00,000 Bhils were present at Mangarh on that day.

The repeated warnings issued on Nov 13 and 14, 1913 to Govindgiri and his followers to leave Mangarh failed to dissuade them to give up their struggle as they were determined to force the Rajput states to accept the

terms of a Bhil Raj. They were warned that the hill would be cleared on November 15, but the postponement of attack on this date in order to allow them more time stiffened their resolution to hold on to the hill. Under British pressure they released the police Jamadar Yusuf Khan from their custody. They attributed the postponement of attack to Govind Giri's miraculous powers and circulated the news that Sahibs were afraid of Babas and the British would be defeated in the struggle. The failure of the negotiations of the political officers and the alarming news of the general conflagration of the Bhil risings in the neighbouring tracts of Banswara, Dungarpur, Kushalgarh and over the Bombay border forced them to give warning to the Bhils on 16th November to evacuate the hill.

Bhils showed great strength and resisted the allied army with the war cry, hoping that the British attack would be repulsed by Govindgiri's miraculous powers, but their hopes were belied. Seeing the Government regiments using firing revolvers and machine guns, Punja Dhirji and others fled away and concealed themselves. Punja was the first person on the hill to lay down his arms when called upon to do so. A body of 900 Bhils laid down their arms and came forward to offer submission only when they were covered by the rifle wielding troops and persuaded by Punja who in this way prevented further bloodshed.¹⁴

In the military operation on Mangarh, one Sepoy was severely wounded and about 25 Bhils were killed. All the 900 Bhils captured on the hill were released except Govindguru and Punja. But the adherents of Govind Giri maintain that as a result of indiscriminate firing by the troops about 1,500 Bhils were killed. It is now regarded by them as a tragedy akin to Jallianwala Bagh.¹⁵

The assemblage of Guru Govindgiri and his disciples on Mangarh hill was more than a mere traditional mode of tribal protest against their oppression and to attract the attention of the states towards their grievances. Like Mavji and Surmal Das he was instrumental in the promotion of feelings of self-confidence and self respect among the tribals. He established 'dhunis' at various places and organized cultural functions and discussed ways and means to solve their problems. From these centers, which are now known as Samp Sabhas, they developed feelings of mutual love and brotherhood among themselves. Many of the social evils prevalent in their society were eliminated by the Bhagat Bhils.¹⁶

References

1. Sharma G.N.; Social and Political Awakening among the Tribals of Rajasthan, Centre for Rajasthan Studies, University of Rajasthan, Jaipur.
2. Singh C.S.K.; Tribal Movement in Rajasthan, Manak Publishers, New Delhi, 1995.
3. Erskeine, K.D.; Rajputana Gazetteers, Volume II A.B., The Mewar Residency, Ajmer, 1908.
4. Mathur L.P.; Movement of Tribals during the Colonial Rule; Role of Ideologies, Inter India Publication Scheme, Jaipur.
5. Vashishta Vijay Kumar; Bhagat Movement, Shruti Publications, Jaipur, 1997.
6. Singh K.S.; Tribal Society in India, Manohar, New Delhi, 1985, pg. 1-4.
7. Ibid.
8. Vashishta, Vijay K.; Beneshwar Fair - A Symbol of Tribal Unity Devotion and Tradition, Lok Rang, National Cultural Festival, Jawahar Kala Kendra, Jaipur, 1995.
9. Mathur L.P.; Resistance Movement of Tribals in India, Publication Scheme, Jaipur, 2000.
10. Radhey Shyam Sharma and Bhagwan Lal Kachchawa; Rajasthan Ki Bhil Janjati; Bhartiya Itihas ke Pannon pe; in Tribe, Rajat Jayanti Visheshank, Vol. 25, Nos. 1-2, p.86.
11. Vashishta, Vijay K.; Beneshwar Fair - A Symbol of Tribal Unity Devotion and Tradition, Lok Rang, National Cultural Festival, Jawahar Kala Kendra, Jaipur, 1995.
12. Mathur L.P.; Resistance Movement of Tribals of India (A Case Study of the Bhils of Rajasthan in the 19th Century), Himanshu Publications, Udaipur, 1988.
13. Mathur L.P.; Movement of Tribals during the Colonial Rule : Role of Ideologies, Inter-India Publications, 1995.
14. Raghaviah, V.; Tribal Revolts, Adimjati Seva Sangh, 1971.
15. Mathur L.P.; Movement of Tribals during the Colonial Rule : Role of Ideologies, Inter-India Publications, 1995.
16. Vyas N.N., Mann R.S. and Choudhary N.D. (Eds); Rajasthan Bhils, Manikyalal Verma Tribal Resarch and Training Institute, Udaipur, 1978.

Heroic Deeds of Vaishya Communities in Rajasthan

Dr. N.K. Upadhyay

The status of Vaishya community undergone change as other varnas of ancient India, due to the change of their professions. In Manusmriti the status of Vaishya is described as determined by his wealth.¹ The rich man recognized in the community who advances money at rates and people he deals with, A Vaishya is inferior to a Kshatriya and Brahman but above that of a Sudra.² The twelfth century evidence prove that vaishya's permitted to study Vedas, but with this they were disallowed to trade in salt, wine curds, clarified butter, milk, lac, hides, flesh, indigo, poison, arms and idols.³ In the jaina sources a prosperous vaishya community is described, as they were adventurous traders. The doors of the vaishya varna were open to every new comer who took up the profession of trade, even though the incomes generally fell in to a sub caste of their own.⁴ The agrawalas the Maheshwaris the jayaswals, the Khandelwals and the Oswals were the five main division of the vaishyas in Rajasthan.⁵

The classification of society in four Varnas was the result of the various function performed and the profession followed by them. Men and groups of men were at liberty to change their Varna. Evidences show that the various members of family and sometimes the son's of the same father belonged to different varnas.⁶ The vaishya formed a class, who were governed by common social rules and regulations and common customs and usages. There were no caste and sub caste in ancients times. Latter owing probably to a variety of causes including among others, the spread of those tenets of "achar" (conduct) preached by the vaishnava Acharyas resulting in accentuating the disruptive tendencies and helping the disintegrating forces working in Hindu society and the acceptance by large numbers of people of the doctrines of Ahinsa and Bhakti. The vaishya community broke up in to a number of separate sub castes. Those sub-castes were formed according as the various professions its member followed and the localities they inhabited, or an circumstances permitted.⁷

The origin and growth of the vaishya community during medieval

period onwards holds various viewpoints.

The Maheshwaries, the well-known Vaishya community claims its origin from Rajasthan. According to a legend their ancestors were Chouhan Rajput. They were feudatories to Raja khadgal Sen of Khandela (Siker) may be of fourth century. The 72 feudatories were called, Umaraos, who were originally Buddhists. They embarrassed shavism at the instance of mythological god Shiva himself. they left the Kshatriya community and became Vaishyas and hence vegetarian.⁸ They assumed the name Maheshwari "of great Aishwariya" (Material Prosperity).⁹ There were originally 72 "Khamps" (sub-caste) as they were descendants of 72 Umaraos.

Another legend about the origin of Maheshwaries is that this community came in to existence when the great Shankaracharya of 8th century embered as an influensive saint and preacher of Adwaita vedant. the countrywide Shaivite revolution had its vibrations in Rajasthan too. Consequently a section of Jains along with other became follower of Lord Shiva and styled themselves of Maheshwaries or the worshippers of Mahesh, the other name of Shiva.¹⁰ This appears more reliable as Jains and the Maheshwaries are traditionally vegetarians and teatotalers and believe in non-vilance.¹¹ The branch Didu Maheshwaries originated from Deedwana which was the original home of the Jains.¹² The other Maheshwari sects known as khandelwals, Meratwals, Pakaras etc. were considered inferior.¹³

The Khandelwals, also known as saravagis claim their origin from Khandela (Siker). The town was center of Jainism, where about 900 temples were there in first century B.C. Due to epidemic (Plague) broke out in the town taking heavy toll every day. The ruler Khandelgiri summoned the local priests and asked them as how this calamity would be warded off. The priests explained that it was a nemesis send by gods to punish the people and that a 'narmedh yagna would have to propitiate the gods. The ruler expressed his inability to hold any yagna involving human sacrifice. The priests and their supporters decided to hold the yagna on their own. Some 5000 Jains visited Khandela and stayed in park outside the town. While the monks were engaged in meditation one evening the priests whisked away one hundred and one of them and scarified them in yagna. The plague continued to take its toll unabated.

When Jain Acharya heard about it. he rushed to the town and advised. The resident of Khandela to vacate the town and stay outside it during the

epidemic. His Jain followers acted accordingly but the ruler and non-Jains preferred to stay inside the town. The ruler himself became seriously ill and he was taken to the Acharya who followed his advice and stayed outside the town and survived the illness.

The grateful ruler honored the Acharya and his fellow monks in a Darbar and embarrassed Jainism. About 3 lakhs of people accepted Jainism. These Jains and their descendants migrated from Khandela to other parts of the country were known as Khandelwals after their hometown Khandela.¹⁴ The non-Jain Khandelwal Vaishyas also come from Khandela.

In 457B.C. Acharya Ratnaprabha suri accompanied by 500 monks came to Osian (Jodhpur) the ruler and people of town who were all shavites ignored the Jain Acharya and his fellow monks. The Jain monks faced difficulties even to get food. The Acharya along with 35 disciples decided to observe 'Chaturmas' at Osian.¹⁵ It is said that the son in law of the ruler Trilokya Singh had a severe snakebite; all treatment failed and he was very serious. On some one's suggestion he was taken over to the Jain Acharya Ratnaprabh who merely touched the patient and he was survived. Upaldev and his family embraced Jainism. His subjects also followed the same. These new converted Jains, native of Osian were called Oswals.

The Agarwals believed to be the descendants of Agrasena of Agroha, a janapada that included the present Hissar District. Agarwals are vegetarians though the majority of Agarwals are non-Jains. Agarwals are mentioned in the Parsva-Puran of Sridhara (V.S. 1189) as a prosperous community of the Delhi and Haryaya region.¹⁶ H.B. Sharda also mentions that Agarwals are also said to be Kshatriya and are descendant from the sons of king Agrasena and are so called as they lived in Agroha a city founded by Agrasena.

The Jayaswals are also regarded as Kshatriyas of the Yadav clan. Early reference to whom occurs in the Dub-Kund inscription of V-1145.¹⁷

The Porwals were the pragwat Brahmans of Padmavati (Sirohi). The ruler Padamsen was persuaded by Jain Acharya swayam Prabha to give up the holding of "Yagna" where the lives of thousands of animals were saved. The ruler and 45000 of his Pragwat Brahmans embraced Jainism. These Pragwat were later called porwals.¹⁸ Padmavati was the capital of ancient pragwat.¹⁹ It also said that Porwals came from the 'Pur' (Mewar).²⁰

The people of Vaishya communities in ancient times were men of vigorous constitution of great courage and valour, clear and bright intelligence, of a daring nature, ready to face danger, cross seas, fight their way in distant and savage countries and obtain and secure from all part of the world, the things necessary for the welfare and advancement of humanity.²¹ Useful to man in peace and war, in health and sickness. The Vaishya community performed the function so vital to the life and growth of the Hindu, Nation.²² They were self-reliant resourceful and brace. They were the great administrators and held the highest offices in the state along with the Rajput's as Commanders, Ministers, Ambassadors and Governors. Even in medieval times.²³ From early time up to the advent of the British in India, they held high position in the financial administration of the country. All the strings of the commerce and trade in India, export and import, were in their hands in old days. They were to be found all over the world in Europe, Africa and All parts of Asia in China, Japan, the transgangetic, Peninsula, Arabia, Persia, Babylonia, Greece, Egypt and Rome.²⁴

India was once the seat of commerce.²⁵ Hindus in old days were "a commercial people."²⁶ Hindus navigated the ocean more than 2000 years before Christ, says Professor Max Duncker, Sir W. Jones, Elphinstone, Sewell and others. Indians went to Babylon with merchandise 3000 years, B.C. when Ur Bagas ruled there.²⁸

It was the commercial activities of the Vaishya that brought untold wealth to India, and made her for ages famous as the richest country in the world and the cynosure of all eyes.²⁹ The elder pliny complained that there was no year in which India did not drain the Roman Empire. He estimated the annual drainage of gold alone at Rs 40,00,000/- (Forty Lakhs).³⁰

Har Bilas Sardis mentioned that the trade with Egypt and Arabia was in the hands of the Vaishyas of India. he quoted Mr. Cloupet that "The commerce of Arabia Felix is entirely in the hands of the Baniyans of Gujarat who from father of son have established themselves in the country."³¹ Periplus (Greek Writer) says that the baunians of India established themselves at Socotra and the caps of Guardafui."³²

Prof. Heeren said that "It is as well known fact that the banians were in the habit of traversing the ocean and settling in foreign countries." The commercial Hindu made expeditions into the golden desert, Ideste;

Desert of Cobi in armed companies that the 'Thakhte Sulemani in Turkistan mentioned by Ptolemy and Ctesias was the starting point for these merchants, and that they went to Khotan and Askus and thence to Peking.³³

Thus the Indian Vaishya used constantly to go to Turkistan, China, Babylonia, Arabia, Egypt, Greece and Rome and remain out of India for years. They helped in making India not only great, richest and the most prosperous country in the world, but also the masters of the sea and the foremost maritime power in the ancient world.³⁴ The Vaishyas were not only the men of great enterprise and adventure and pioneers of commerce but were various statesmen and administrators also there are innumerable instances about the same few are being quoted here. The bravery of Lakshmi Chand and Bagh Chand sons of Karan Bacchawat Minister of the Maharaja of Bikaner in the times of Akbar is well known. When Maharaja Sur Singh by treachery surrounded their residence with an army of 4000 men, the two brothers after grinding to dust their valuable jewels, killed their woman folk and issued forth sword in hand and fell upon the Rajput's and after performing deeds of valour, went to heaven.³⁵

Sah Dayal Das, the minister of the great Maharana Raj Singh I of Mewar was a great general. In the war of Aurangzeb against Mewar (1679-1681 A.D.) when Mughal armies were called from Bengal, Deccan and Kabul and led against Mewar. His valorous Ministers and Generals whom the task of defending Mewar in the Southeast has been assigned, assumed the aggressive and performed deeds of valour, which shine in the pages of history.³⁶ Col. Tod says that Dayal Shah, the Civil Minister, a man of high courage and activity headed another flying column, which ravaged Malwa to the Nerbada and the Betwa, Sarangpur, Dewas Saronj, Mandhu, Ujjain and Chanderi were plundered and numerous garrison put to the sword; and to use the words of the Chronicle husbands abandoned their wives' and children and whatever could not be carried off was given to the flames for once they avenged themselves in imitation of the tyrant (Aurangzeb) even on the religion of their enemies; the Quajees were bound and shaved and the Qurans thrown into the wells. The Minister was unrelenting and made Malwa a desert and from the fruits of his incursions, repaired the resources of his master flushed with success he formed a junction with the heir of Mewar (Jai Singh) and gave battle of Prince Azim near Chittor and obtained a glorious victory, the Mughal Prince being defeated and pursued with great slaughters of Ranthambhore.³⁷

Ratan Chand Bhandari the naib of Maharaja Abhay Singh of Jodhpur

(1724-1750 A.D.) fought several battles against Marathas: Bhandari Bachhraj led the Marwar forces against Pilaji Geakwar during the same period; Mehta Sahib Chand, the commander of Jodhpur forces led his army against Ghanerao and conquered it in Maharaja Man Singh's time; Mehta Gyan Chand fought against and reduced to submission the Shekhawat Rajput who had plundered Didwana in 1804 A.D. Mehta Bahadur Mal led a punitive expedition against the mers of Merwara and Subjugated them. Singh Jaswant Raj Commander of Marwar army fought against Maharaja of Bikaner and conquered Phalodi, Nawal Mal Mahnot and Mehta and Mehta Suraj Mal invaded Sirohi and defeated Maharao Udaibhan and captured its capital, Ghansham Ji Sarda, the Kamdar of Alniavas at the time of Maharaja Takhat Singh led the Thakur's forces for twelve years and was several times wounded.³⁸

Singhi Brothers Indra Raj And Dhanraj of Jodhpur should also be appreciated. Inder Raj the Chief Minister was also the commander in Chief of the Marwar Army. He fought the battle for Marwar with diplomacy, courage and military skills, he defeated the designs against the country of the confederacy formed by Sindhia, Maharaja of Jaipur and the premier hobbler of Marwar Thakur Sawai Singh of Pokaran, Maharaja Man Singh, The King of Mewar eulogized his work in the couplet, (Jodhpur was surrounded innumerable army of the enemy came; the sky was tottering; thou Indra Raj supported it with thy powerful arms).

Indra Raj also led an army of 20,000 men against Bikaner during the campaign against Bikaner, the enemy defile the water of the wells in March by throwing bones and dead bodies of Cows in them. Indra Raj would take out the bones and dead bodies, throw in some Gangea swater in the wells would himself first drink the water and then made his army use it.

Dhanraj was Governor of Ajmer, when Sindhias famous general Deboigne attacked that city in 1790 A.D. Dhanraj defied Deboigne and declared that he would never give Ajmer alive. Deboigne could not get Taragarh of Ajmer and had to move on to Merta. Later when peace was concluded and Ajmer was ceded to Sindhia. Dhanraj true to his vow refused to hand over the fort and prepared to fight. His master the Maharaja of Jodhpur wrote a letter to him with his own hand asking him not to fight but to hand over the fort to Sindhia. Dhanraj not wishing to oppose his master and not willing to give up Ajmer alive took poison, declaring "over my dead body alone, could a Deccani enter Ajmer."³⁹

When Mughal emperor Muhammad Shah granted Mandal and Mandalgarh to Nawab Ranbaz Khan Mewati. He advanced to take possession at the head of the imperial army Maharaja Sangarm Singh (1710-1733 A.D.) ordered his Sardars to oppose it and prepared for fight. The Sardars of Shahpura, (K. Umed Singh) Badnor (Th. Jai Singh) Kanod (Maha Singh) came with their squads. The Rao of Begum sent his contingent under his Kamdar Kothari Bhim Singh. In the council of war, the Rajput Sardars seeing Bhim Singh smiled and Th. Ganga Das said, "Kothari Ji there is no occasion to weigh ata here." Bhim Singh who was a Vaishya retorted, " I will weigh ata with both hands tomorrow, then you will see." When to armies met at the bank of Khari River in the field. Kothari Bhim Singh with swords in both hands said the Rajput Sardars, "Come and see how I weigh ata." Saying this he spurred his horse and charged the imperial army with a vigour and dash that astonished the friend and foe alike. Rajput's feeling ashamed that the attack had been opened by a Vaishya became furious and attacked the enemy determined not to be outdone by any one. The 5000 archers of Ranbaz Khan had no time to take out their arrows. Hand to hand fight with sword daggers and lances took place. Ranbaz khan and his brother Nahar Khan were killed and Dindar Khan and his sons fled wounded to Ajmer. the mewatis and the Delhi army sustained a disastrous defeat.⁴⁰

The instances of Vaishya heroism prove that this community undoubtedly equally brilliant in military valour as they have contributed in the trade and commerce by their adventurous and entrepreneurship and made the country prosperous similarly vaishyas had adventurous and entrepreneurship and made the country prosperous similarly vaishyas had contributed too much towards the development of art and architecture which is considered as the cultural heritage of the country. They also helped the ruler and people of the country financially at the time of calamities and war. So the Vaishya heroism must be undertaken for further research.

References

1. Sharma Dr. Dashartha, Raj. Through the Ages, Vol-I quoted at P-437
2. I bid
3. Lakshamidhara; Kriyakalpataru, Garhasthyakanda P-258, Quoted by Dr. Dasharatha Sharma.
4. Sharma, Dr. Dashratha, Op. Cit P-438
5. I bid
6. Sarda, H.B.; Social Reform; Ajmer; 1935; P.P. 119

7. I bid.
8. Pangariya, B.L. & Pachariya. N.C.; Pol. Socio, Eco and Cul. Hist of Raj. 1993, Jaipur, P.P. 28
9. Op. Cit, H.B. Sarda, P.P. 119
10. I bid
11. I bid
12. I bid.
13. I bid - 8-27
14. This town was founded by Upaldeo, Grandson of Raja Bhimsen of Bhinmal.
15. Op. Cit. Pangariya and Pahariya, P-26
16. Op. Cit. Dr. Sharma, P-438
17. I bid
18. Op. Cit. Pangariya and Pahariya, P-26
19. Muni Gyan Sunder, Jain Jati Mahodaya I, P-29-37 Quoted by Pangariya and Pahariya, P-26
20. Op. Cit H.B. Sarda, P 119
21. Op. cit H.B. Sarda P-120
22. Op. Cit. H.B. Sarda P -120
23. Op. Cit. H.B. Sarda P -120
24. Op. Cit. H.B. Sarda P -121
25. Encyclopaedia Britannica Vo. OX, P-446
26. Heeren Prof. Historical Researches Vo. VI, P-266 Quoted by H.B. Sarda, Op Cit.
27. Elphinstone, History of India, P-166
28. Hilbert Lectures for 1887 A.D. Quoted by Sarda, Op Cit. P. 121
29. Op. Cit. Sarda P-121
30. Op. Cit. H.B. Sarda, P - 121
31. All gem; George Ephem for November 1810, P-235 Op cit. Sarda P-121
32. Sarda, H.B. Hindu Superiority P-374 (Third Edition) P-132
33. Heeran, Prof. Historical Research Vol. II
34. Op. Cit. Sarda, H.B. P. 122
35. Op, Cit. Sarda, H.B. P-125
36. I bid
37. I bid P-126
38. Op. cit. Sarda, H.B. P-126
40. I bid. P. 128

Bagar : An Enquiry into Making of a Region

Prateek

Bagar is a semi-arid area of the great Thar Desert in the North West India. The area encompasses some portion of the modern states of Rajasthan, Haryana and Punjab. It signifies a geographical area cum cultural zone; and the people and dialect of Bagar is known as Bagri. The boundaries of the region are not fixed and there is ample confusion regarding the exact expanse of Bagar. Unlike other regions that invoke their memory on nostalgic glorious history and culture whereas the region of Bagar is best remembered as a dreadful and doomed place. Most of the regional studies are conducted on fertile and well-watered areas that had remained strong political and cultural centres.¹ The term Bagar itself is loaded with negative connotations; the lexical meanings of Bagar being desert, desolated, unproductive, coarse, infertile, fearful etc.² This unique identity and its fuzzy character calls for study of a region like this which has remained neglected from the enquiry of scholars. This article is a humble attempt to establish Bagar as a separate region within Thar which stands unique and has the potential of contributing significantly to our understanding of regions in South Asia.

The earliest reference of Bagar is to be found in Taj-ulMaasir of Hasan Nizami. Qutub-ud din Aibek was fiercely pursuing the rebellious chieftain, Jatwan of Hansi, "The soldiers of Islam came up to the army of the Hind on the borders of Bagar..."³ In Jehangir's reign Chaplain Terry has called Bakar as the capital of Bikaner.⁴ Alexander Cunningham opined that in ancient times the place was called 'Bagar-desa' ruled by one Bagari Rao.⁵ The most substantial reference we get of Bagar in the mid seventeenth century book by JaanKavi called RupawaliAakhyan in which he says that the region to which he belongs is known as Bagar and the city is called Fatehpur.⁶ Poet Bhikhjan's couplet in book Naam-mala 1652 A.D. also provides us another important clue of Bagar.⁷ Jinvijay Muni while writing the foreword of KyamkhanRaso, has written that there are many references to Bagar in medieval Jain sources which can provide us vital information

on the region. We see the coming up of Bagar as a separate region in the seventeenth century as the earlier source Ain-i Akbari does not mention Bagar but denote Fatehpur- Jhunjhunu⁸ parganas only whereas books like Naam-mala and Rupawali Akhyan are clearly mentioning Bagar.

The region was well known to distant lands as far as Varanasi in the medieval period as Bagar gets a place in Kabir's poetry. Bagar is depicted here as a fearful place with its hostile environment and hot winds which could trouble people who dare to go there. Kabir warned people about Bagar in the following words:

बागड़ देस लूवन का घर है।
तहां जिनि जाइ दाज़न का डर है⁹

(Bagar is the abode of hot winds, there is a fear of get burnt there.)

Col. Tod mentions that Rao Bika took it from Bhattis.¹⁰ Another opinion says that Bagar gets its name after a type of grass abundantly grown in the region.¹¹ We get to see the references of Bagar whenever the celebrated folk deity Guga is remembered. He is reverentially called as Bagarwala by his believers and is believed to be the ruler of Bagardesa.¹²

Irfan Habib has shown the area adjacent to Siwani (in Bhiwani district of Haryana) as Bagar and desert. The area has no dastur circles signifying poor agricultural production.¹³ Ain-i Akbari also denotes that wells in Hisar are to be dug considerably deep to fetch water signifying the presence of desert.¹⁴ Taking cue from Irfan Habib's work and some colonial sources we can identify the region of Bagar. Bagar came under the subas of Ajmer and Dilli. Under suba Ajmer, sarkar Nagor, Fatehpur and Jhunjhunu¹⁵ were the main parganas whereas most of the Bagar was under suba Dilli, sarkar Hisar-i-Firuza. The parganas of Bagar region in sarkar Hisar-i-Firuza were Sirsa, Beniwal, Siwani, Puniya, Sheoran, Sidhmukh, Tosham, Bhiwani, Nohar, Bhatner, Hisar-i-Firuza and Fatehabad.¹⁶

It was a region that derives its identity overwhelmingly by its ecology and environment as the mention of word 'Bagar' a picture of barren, desolate, water scarcity, heat and sand dunes comes to the mind. The physical features of Bagar speak for itself as the travellers passing through the region suddenly see the change in geography. A.H.E Boileau, a civil servant of East India Company, while traversing the region, entered Nawalgarh

and observed that 'a change came o'er the spirit' of the land and tell us in most intelligible language, that we had exchanged the fertile valleys of tonrawutee, for the sandy thirsty soil of the Bagar which rejoices in desperately steep sand hills and unpleasantly deep wells...¹⁷ The life in Bagar revolves around the availability of water. The people do not prefer sedentary life, but wander in the region to find water and stay where they get water source. Agriculture is not a viable option as the vagaries of nature does not allow it, pushing people more towards pastoralism. The rainfall in a normal year averages around 9-12 inches. An English civil servant surveying in the vicinities of Sirsa has described how risky a business agriculture could be; "the tahsil (Suchan) depends entirely upon a rainfall which is so capricious that a village may suddenly find itself in the middle of a lake or go for years without enough crop to lay the dust all around it. The soil is so light that heavy rain will wash the seed away before it germinates, and if it escapes this, a dust storm may choke it."¹⁸

The peculiar ecology of Bagar was the determinant factor behind all the economic activities. The ever mobile pastoral communities formed a large part of population of Bagar and the state applied novel ways of levying tax on them. Given the difficulty in tracing the moving families, the state used to levy a tax called dhanbhachh (smoke tax) on the basis of number of kitchens maintained by the community¹⁹ wherever they catch hold of them. Another such tax was called jhumpi (hut), which was levied on temporary houses.²⁰

Ecology represented the spirit and character of the region so much so that even the official flag of Bikaner kingdom had khejri drawn on it. Bhoortis another vital thorny grass found abundantly in the region that got associated with the Bikaner royalty. The Bikaner king Ratan Singh is said to be called Bhoortiya Raja laughingly.²¹ Bhoort like khejri was very useful grass in the arid region as it was avidly eaten by cattle and even humans in times of distress. The bhoort seed flour was quite valuable and sold at 1.5 paisa per seer near Sambhar. These are some examples showing how far the ecology drove the lives of people of Bagar.

The epic of Guga confirms the fact that Chauhan Rajputs were reigning Bagar from Dadrewa in the eleventh century. After that Firuz Shah Tughlaq transformed this barren tract into a surplus producing land

by introducing canals. He had a predilection for this area as his mother hailed from an influential Bhati Rajput family of Abohar.²² So, we can see him as the predecessor of Maharaja Ganga Singh who brought much needed respite to the thirsty lands of Bagar in the form of Gang canal in colonial times. He established Hisar as the centre of the region in 1354 A.D. So, we see the rise of an urban town of Hisar-iFiruza in Bagar which stays as the centre of the region for the coming few centuries. Firuz Shah Tughlaq became the motivation behind converting Karamchand Chauhan into Kyamkhan. The Kyamkhanis became the lords of Bagar by founding the cities of Fatehpur and Jhunjhunu in 1450 A.D.²³ But, soon we see the coming up of the state of Bikaner in 1488 A.D. which comes in confrontation with the Kyamkhanis and annexed significant portion of land from them. So, we see that Bagar was not under one political administration. Firstly the core of it was ruled over by the Kyamkhanis and large part of it was under the state of Bikaner. The Mughals gave parts of Bagar to both Bikaner and Kyamkhanis as jagirdaris. Then we see Shekhawats replaced the Kyamkhanis eventually in eighteenth century and in nineteenth century The East India Company gained substantial portions of Bagar which earlier were under jagirdari of the Bikaner state. The Shekhawat identity superseded the Bagar identity successfully afterwards and we came to know the Kyamkhani parts of Bagar as Shekhawati. In modern India, it is now divided into Haryana, Rajasthan and Punjab. So, we have seen that Bagar had never been under one political dispensation and it lacked strong political centres unlike Jodhpur, Bikaner, Udaipur and Jaisalmer. It remained a frontier zone throughout the medieval period from both the sides of Delhi and Rajputana. Bagar was the buffer zone between Delhi and Rajputana and hence a frontier zone which played its significant role to maintain and supply the urban centres with essential commodities as argued by Jos Gommans.²⁴

Bagar was not an administrative unit, but ecological and cultural with hazy limits and boundaries which makes it difficult to delineate the region. So, we get varied accounts of Bagar, but interestingly these descriptions differ significantly. The maps shown in various books also are pretty misleading as there is no consensus over the location of Bagar. If one map show Bagar as a large area between Ajmer and Jodhpur then other map show it on Haryana-Rajasthan border. The encyclopaedia of

Haryana describes Bagar in the following words, "the western border of Haryana such as Bhiwani, Mahendragarh, Sirsa, Hisar etc. districts full of desert sand dunes are known as Bagar locally."²⁵ Another book suggest that the area around Narhad, Fatehpur and Jhunjhunu was known as Bagar.²⁶ Bagar is also described as a transitional zone which runs parallel to Aravallis from Gujrat in the south to the Punjab border in the north. It receives little higher rainfall than the true desert which lies to the west of Bagar.²⁷ It is also located as the north eastern part of the Bikaner state which is a vast sandy tract.²⁸

The region is not homogeneous, as shown in the settlement reports and most modern atlases,²⁹ it can be divided broadly into two sub- regions namely Rajasthan Bagar and Haryana Bagar which in turn can be further divided. The core of Haryana Bagar was BhiwaniBagar which can be further divided into Behal SiwaniBagar and AmrainBagar, similarly there is chakBagar in Fatehabad and Sirsa as well.³⁰

What makes the study of this region interesting is the fact that the notion of Bagar as a cultural zone became synonymous of an inferior culture, the term Bagri became a swear word, a sign of derogation. Colonial sources describe a typical Bagri as someone dark, short, inferior in physique, slow in intellect, coarse, spendthrift, unclean, poor etc. The Sikhs never married their daughters to Bagris but could accept a Bagri girl as bride. Another interesting aspect of the Bagar is its loose or fluid, shifting shape of a culture zone. This sense of inferiority has been attached to it up till the present day wherein the people refuse belongingness to or association with this culture. On being asked the people of this region insist that they are not Bagari and point further westward to their neighbouring areas as the real Bagar. We know the colonial prejudice against the unsettled, pastoral communities which painted the Bagris into bad light, but we get the negative depiction in other sources as well. For example, there are two folksongs in which girl is requesting her parents not to marry her in Bagar, as water is scarce and thorns are in plenty in Bagar.

बागड़ देस कुदेसड़ौ एमाय, ए मा कांटा तौ भरूंट घणा ।

जसं देसां बेटी ब्यावसी ए माय, ए मा पासी दुख तौ घणा । ।³¹

(Bagar is a bad country mother, the thorns are in plenty. If you marry me there, I will suffer a lot!)

*बागड़ियै मत दीज्यौ भोला बाबोजी, ए मा बागड़ियै को पाणी है दूर।*³²

(Do not marry me off in Bagar, o dear father! In Bagar the water is scarce!)

Mass migrations of Bagaris, took their customs and belief systems with them and influenced other cultures immensely, thus expanding the region into neighbouring areas. The poor material conditions of the region could not support the flourishing of a vibrant culture. The region hardly had any agricultural surplus which could support non agro-pastoral professionals. This is the main reason why no strong polity emerged based in Bagar except the Kyamkhanis. As the region was infertile and economically deficient, Kyamkhanis could establish themselves there without any serious threat from other political powers till the Shekhawats usurped them in eighteenth century.

Language is one of the primary determinant in the culture of a region. Bagari is a well-established language claimed as the dialect of both Haryanavi and Rajasthani. The Linguistic survey of India done by Grierson has a separate section on Bagari recognising its own identity,³³ whereas the well-known lexicographer of Rajasthan Sitaram Lalas has even drawn the area where Bagri is spoken given in the linguistic map of India provided in its first volume.³⁴ Bagari works as a mediator between Punjabi and Marwari on one side and Haryanavi (Bangaru) and Marwari on the other. The modern linguistic surveys estimate the population of Bagri speakers being five million.³⁵

One of the remarkable feature of the region was its famous cattle and dairy products. The quality of the dairy products was so high that even the ghee for royal kitchen of Akbar was supplied by this region.³⁶ The grass of the region was nutritious and healthy making the cattle breed superior in the sub-continent. The locals depended on the animal husbandry in the area of Hisar-iFiruza to a large extent. We get information that large kharaks (cattle rearing units) were found in villages in the region³⁷ which supplied the draught animals to the banjaras. The cattle was best suited for transport and load carrying as the cattle were well built and robust unlike the Nagori cattle which was used for ploughing fields. Thus, the locals were heavily involved in cattle rearing activities, a practice which is still going on in the modern times.

There are virtually no scholarly work done on the region of Bagar. Though there are many scholarly works recognising the diversity existing within the Thar Desert³⁸ but still no scholar has focussed on Bagar. There are bits and pieces of information which range from a couple of lines to a paragraph at most in the books. Most of the work have been done on agriculturally rich areas of Rajasthan and seldom one delves in low producing and poor resource areas. There are almost no secondary sources on the Bagar region. There are few good articles on Kyamkhanis³⁹ and the folk deity of Bagar, Gugapir. But apart from that there is no worthwhile work on the region. Colonial records such as the Sirsa settlement report 1879-83 and the, Hisar district gazetteer 1883-84 which acknowledge certain areas of the districts as Bagar and provide in some detail about the settlement patterns, agricultural production, flora and fauna etc. and other descriptions which are commonly noted in such documents. But apart from these no modern historian has taken this region as a topic for study. This calls for a comprehensive study of the region focussing on socio-cultural and economical aspects of Bagar region as a separate entity of enquiry.

As conclusion we can say that the region of Bagar has the potential of providing a new paradigm to the realm of regional studies in India as it holds a unique position politically, ecologically, culturally as well as economically. Politically it is a region with different centres which eventually got divided into three states in modern India. Economically, it is deprived area where pastoralism becomes more important than agriculture. The economic uncertainties forced the people to migrate out of Bagar and in the process propagated the culture of Bagar thus pushing the boundaries of Bagar further. The study of Bagar holds the key to understand the cultural interactions between sandy tracts of Bagar and greener areas of Haryana, an interaction between settled agriculturists and pastoralists. The BagariJats migrated in huge numbers in greener Haryana and brought with them the belief in the non-Brahmanical folk deities such as Guga and Jambhoji. It gives the opportunity of studying a region which is known for its hostile ecology. Unlike other regions it opens up the window to a region where people feel better to deny any allegiance to it owing to its inferior status. A comprehensive study is needed to explore all these aspects in detail which can do justice to the long forgotten and neglected region of Bagar.

References

1. the seventeenth century (New Delhi: Oxford University Press, 1991); Samira Sheikh, Forging a Region: Sultans, Traders, and Pilgrims in Gujarat 1200-1500 (New Delhi: Oxford University Press, 2010); Richard M. Eaton, The Rise of Islam and the Bengal Frontiers 1204-1760 (Berkeley and Los Angeles: California University Press, 1993); Cynthia Talbot, Precolonial India in Practice: Society, Region and Identity in Medieval Andhra (New Delhi: Oxford University Press, 2001); Karine Schomer, Deryck O. Lodryck ed., The Idea of Rajasthan: Explorations in Regional History (New Delhi: Manohar, 2001).
2. These meanings are noted from various dictionaries such as RajasthaniSabadKosh, ed. by Sitaram Lalas; Rajasthani Hindi ShabdKosh, Edited by BdriprasadSakaria and BhupatiramSakaria (Jaipur: PanchsheelPrakashan, 1982); Brihat Hindi Kosh, Edited by Kalika Prasad (Varanasi: Gyanmandal, 2007); The Panjabi Dictionary, Ed. by Maya Singh (New Delhi: Amar Prakashan, 1982); Haryanavi-Hindi Kosh, ed. Jainarayan Kaushik (Chandigarh: Haryana Sahitya Academy, 1985).
3. Tajud din Hasan Nizami, Taj ul Ma' Athir, trans. Bhagwat Swaroop (Delhi: Saud Ahmad Dehalvi, 1998), 100; Hasan Nizami. "Taj-ulMaasir" in Elliot and Dowson, History of India as Told by its Own Historians, vol.2 (Allahabad: Kitab Mahal, 1979), 218; Alexander Cunningham, Report of A Tour in the Punjab in 1878-79, (Varanasi: Indological Book House, 1970), 81; Dashrath Sharma, Rajasthan Through the Ages, vol.1(Bikaner: Rajasthan State Archives, 1966), 301; Major K.D. Erskine, Rajputana Gazetteers: The Western Rajputana States Residency and Bikaner Agency, vol. III A (Allahabad: The Pioneer Press, 1909),314.
4. Cunningham, Alexander, Report of A Tour in the Punjab in 1878-79, (Varanasi: Indological Book House, 1970), 81.
5. Ibid.
6. JaanKavi, Kyamkhan Rasa, Trans. Ratanlal Mishra, Eds. Dashrath Sharma, AgarchandNahta and BhanwarlalNahta. (Jodhpur: Rajasthan Oriental Research Institute, 1996), 7.
छम्बुद्वीप देश तहां बागर ए नगर फतेहपुर नगरां नागर।
आसिपासि तहां सोरठ मारू ए भाषा भल्लीभावसु विसारू।
7. Ibid., 10-11. बागर मधि गुन आगरो, सुबस फतेहपुर गांव। चक्रवर्ती चहुंवान निरप, राज करत तिहां ठांव।।
8. AbulFazlAllami, Ain-i Akbari, vol.2, trans. Col. H.S. Jarrett (Kolkata: The Asiatic Society, 2010), 280.
9. Lalas, Sitaram, RajasthaniSabad Kos, vol.4 (Jodhpur: Chopasani), 2979.
10. P.W. Powlett, "Gazetteer of Bikanir State." (Calcutta: Government Press, 1874), 2.
11. U.B. Mathur, Folkways in Rajasthan, (Jaipur: The Folklorists, 1986), 7.
12. William Crooke, An Introduction to the Popular Religion and Folklore of

- North India (Allahabad: Government Press, 1894), 133; Susan Wadley, Guga in South Asian Folklore: An Encyclopaedia eds. Margret A. Mills, Peter J. Claus et.al. (Routledge, 2003), 270.
13. Irfan Habib, *An Atlas of Mughal Empire*, (Delhi: OUP), 4A.
 14. Abul Fazl, *Ain*, 285.
 15. *Ibid.*, 280.
 16. *Ibid.*, 298-300.
 17. Boileau, A.H.E, *Personal Narrative of a Tour through Western States of Rajwara in 1835* (Calcutta: Baptist Mission Press, 1837), 7.
 18. Darling, Malcolm Lyall, *Wisdom and Waste in the Punjab Village* (London: Humphrey Milford, Oxford University Press, 1934), 135.
 19. Mayank Kumar, *Peasants, Pastoralists and Rulers: Aspects of ecology and polity in the Seventeenth and Eighteenth century Rajasthan*, NMML Occasional Paper (New Delhi: Nehru Memorial Museum and Library, 2013), 20.
 20. *Ibid*
 21. Boileau, *Personal Narrative*, 7-8.
 22. Prateek, *Unpublished Thesis, Socio-Cultural and Economic History of the Hisar Region during the Sultanate and Mughal Periods*, submitted to Department of History and Culture, Jamia Millia Islamia, 2015.
 23. Nupur Chaudhuri, "A Vanished Supremacy: The Qiyamkhanis of Fatehpur-Jhunjhunu" in *Popular Literature and Pre-Modern Societies in South Asia*, eds, Surinder Singh and Ishwar Dayal Gaur, Pearson Longman, 2011; Sunita Budhwar, "The Qayamkhani Shaikhzada Family of Fatehpur-Jhunjhunu" in *Proceedings of the Indian History Congress*, 39th session, Osmania University, 1978.
 24. Jos Gommans, *The Silent Frontiers of South Asia, C.A.D. 1100-1800* in *Journal of World History* vol.9, no.1 (Spring, 1988), 1-33.
 25. *Haryana Encyclopaedia* (New Delhi: Vani Prakashan, 2010), 33-34.
 26. Ratanlal Misra, *Shekhawati Kalitihās* (Jaipur: Manoj Printers, 1984), 32.
 27. Derryck O. Lodrick, "Rajasthan as a Region: Myth or Reality" in *The Idea of Rajasthan: Explorations in Regional Identity I*, ed. Karine Schomer, Joan L. Erdman et.al. vol.1 (Delhi: Manohar and American Institute of Indian Studies, 1994), 15.
 28. Major K.D. Erskine, *Rajputana Gazetteers: The Western Rajputana States Residency and Bikaner Agency*, vol. III A (Allahabad: The Pioneer Press, 1909), 309; Mayank Kumar, *Monsoon Ecologies: Irrigation, Agriculture, Settlement patterns in Rajasthan during the pre-colonial period* (Delhi: Manohar, 2013), 79.
 29. Ashok K. Dutt and M. Margaret Geib, *Atlas of South Asia* (London: Westview Press, 1987), 48; B.L.C. Johnson, *Geographical Dictionary of India* (New Delhi: Vision Books, 2001), 41.
 30. J. Wilson, "Final Report on the Settlement Report of the Sirsa District in the Punjab 1879-83," (Calcutta: Calcutta Central Press Co., 1884), 421.

31. Lalas, Sitaram, *Rajasthan Sabad Kos*, vol.4 (Jodhpur: Chopasani), 2979.
32. Ibid.
33. Grierson, G.A. *Linguistic Survey of India*, vol. 9 part 2 (Calcutta: Superintendent Government Printing India, 1908)147-163.
34. Lalas, Sitaram, *Rajasthan Sabad Kos*, vol.1.
35. Sunny, Yemuna, *Sprout: A Social Geography of Rajasthan* (Bhopal: Eklavya Publication, 2014), 119.
36. AbulFazlAllami, *Ain-i Akbari*, vol.1, trans. H.Blochmann, (Kolkata: The Asiatic Society, 2010), 60.
37. Shams SirajAfif, "Tarikh-iFirozShahi" in Natalie and MehrdadShokoohy, *Hisar-iFiruza: Early Sultanate and Mughal Architecture in the district of Hisar, India* (London: Monographs on Art and Archaeology, 1988), 7.
38. Joseph E. Schwartzberg, "Folk-Regions in Northwestern India" in *India: Culture, Society and Economy, Geographical Essays in honour of Prof. Ashok Mitra*, ed. A.B. Mukerji and Aijazuddin Ahmed (New Delhi: Inter-India Publications, 1985); *Idea of Rajasthan, The Idea of Rajasthan: Explorations in Regional Identity*, ed. Karine Schomer, Joan L. Erdman et.al. vol.1 (Delhi: Manohar and American Institute of Indian Studies, 1994)
39. Cynthia, Talbot "Becoming Turk the Rajput Way: Conversion and Identity in an Indian Warrior Narrative."; Ramya Sreenivasan, "Faith and Allegiance in Mughal India: Perspectives from Rajasthan," in Vasudha Dalmia and Munis D. Faruqi eds. *Religious Interactions in Mughal India*, Oxford University Press, 2014; Nupur Chaudhuri, "A Vanished Supremacy: The Qiyamkhanis of Fatehpur-Jhunjhunu" in *Popular Literature and Pre-Modern Societies in South Asia*, eds, Surinder Singh and Ishwar Dayal Gaur, Pearson Longman, 2011; Sunita Budhwar, "The Qayamkhani Shaikhada Family of Fatehpur-Jhunjhunu" in *Proceedings of the Indian History Congress, 39th session*, Osmania University, 1978.

Temples of Jaipur

Ritika Kumari Meena

Jaipur, the city of Sawai Jai Singh was founded by him on Pausha Badi 1, 1784 V.S.(29th November, A.D. 1727).¹ Jai Singh tried to make his new capital an important Hindu centre and to some extent he succeeded in his objective. Jaipur today perhaps has more temples than any other city in northern India, except Varanasi. But, if one takes a look from top of the Hawa Mahal and Isarlat, he found very few 18th -19th century temples inside of Jaipur's walled city bearing a shikhara. The most important of them is the Kalkiji² temple built in 1740.³ Two other temples of the Jaipur city in the walls itself, with dominant shikharas are Lakshmi Narayan temple and Ram-Sita temple, each of which is located on the main street which bisects the city from east to west.

These include Ram-Sita⁴ temple in Chand Pole Bazaar, which was built in 1840.⁵ The idol chamber faces eastwards, towards the palace and Galtaji, that is towards the Maharaja and their common ancestor Surya respectively. The temple in the eastern square is dedicated to Lord Vishnu as Lakshmi Narayan,⁶ the consort of the goddess of wealth. The idol chamber faces west, towards the palace and to Johari Bazaar, the market of the wealthy traders. This temple may be older; since it bears no date, it needs to be analysed in terms of its style.

Apart from these temples; surrounding hills of city also bear shikharas including the Ganesh-Garh temple with which the Govindadeva temple and city palace are aligned; this temple was most probably built at the time of Jai Singh.⁷ The Suraya temple⁸ constructed on a hill just on the eastern boundary of the city; it also bears a shikhara and it was constructed under the supervision of a Jain official Rao Kriparam.⁹ The stone paved path up the hills leading to the temple was constructed by two brothers Shyamlal and Sundarlal.¹⁰

Here, questions arise that what about the other temples of Jaipur, why don't they have shikharas traditionally associated with north Indian temples architecture? Like the Govindadeva temple, most subsequent Hindu

temples in Jaipur are flat-roofed. From their exterior they are not distinguishable from the surroundings houses and shops; but once inside their spacious open courtyards, they allow large numbers of devotees to have darshan when the idol is revealed. From where this architectural style came to Jaipur and how it was influenced with Mughal and other regional architectural features? How this architectural style of temples is termed as Haveli style and later on, it became the prominent art style of temples in Jaipur city itself and in state also.

The common explanation for these changes is that they were intended to hide from Muslim iconoclasts, but this argument is flawed, for Jaipur was a city built and ruled by Hindus. There must be other factors that brought about this change in the external appearance of temple architecture.

Here, in this context Catherine B. Asher¹¹ gives an explanation that the temples of Jaipur are actually the products of imperial patronage by Kachhwaha rulers, as well as on concurrent or near contemporary developments in Kachhwaha palace architecture.

Until the 16th century the Kachhwaha family remained minor player among India's Rajput provinces. Raja Man Singh the maintainer of Akbar's prestige, doubtless alluding in his part of his role in spreading imperial Mughal taste. He was also an extraordinarily productive patron of architecture, providing works spread across Akbar's domain, from the Punjab to Bengal.¹² His first major work was the Govindadeva temple in Vrindavana dated to Akbar's 34 regnal year, 1590.¹³

Man Singh's patronage of the Govindadeva temple is notable for several reasons. First and most obvious is the size of the temple, nearly 80 metres in length, by far the largest temple constructed in north India since the 12th century. Originally it was surmounted by a shikhara¹⁴ and the temple was specifically intended to enshrine a self-revealed idol of Krishna which was believed to have been buried for thousands of years. The idol was and now known as Govindadeva, now resides in a temple of same name in Jaipur. In Raja Man Singh temple, net squinches, domes, intersecting vaults and lengthy barrel vaults are used to create a sense of open space hitherto unprecedented in Akbar's architecture. In other words, the Govindadeva temple does not merely reflect Mughal tradition, but in many ways anticipates trends yet to develop in imperial Mughal architecture.

In this manner, Raja Man Singh can be said to be an innovator of Mughal taste, not simply an imitator.¹⁵

Here in the Govindadeva temple of Raja Man Singh, the ceiling is composed of a pyramidal vault, not unlike that of some Mughal buildings such as the so called Tansen's Baradari at Fatehpur-Sikri associated with imperial presence. These spacious porches are appropriate for the increasingly popular veneration of Krishna connected to the Bhakti movement. This type of large mandapa can also be seen at the Jagat Siromani¹⁶ temple of Amber built by Raja Man Singh.¹⁷ It was a contemporary architectural plan of spacious mandapa for temples devoted to the Lord Krishna. Vrindavana, traditionally associated with the childhood of Krishna and hence long as a pilgrimage site gained renewed importance in the 16th century under the influence of the newly founded Chaitanya¹⁸ sect, which advocated complete devotion to Krishna.

In 16th century, when bhakti movement was on its peak; large crowds of devotees would gather seven times a day to have the deity's darshan, that mandapa, to benefit from beholding its auspicious gaze. "Sri Govindadevadarshan" at Vrindavana is also mentioned by NarayanaBhatta in his work "Sri Vraja Bhaktivilasa" in V.S. 1609/ A.D. 1552.¹⁹

Another major factor of 17th century had helped in the development of Haveli plan temple, was Aurangzeb's iconoclasm and desecration of the temple. Akbar's great grandson Aurangzeb, who ruled since A.D.1658-1707 was personally orthodox and his reign began to reflect conservative characteristics. SaqiMustad Khan, a contemporary historian of Aurangzeb's reign, recorded that on 17 ZL-Qad A.H.1079 (8 April A. D. 1669) his majesty, "eager to establish Islam, issued orders to the governors of all the provinces to demolish the schools and temples of the infields [Hindus] and with the utmost urgency put down the teaching and the public practice of the religion of these misbelievers."²⁰

In consequence of this decree, the destruction of Hindu temples began and the Krishna temples of the Brij region were among the first targets. The priests had no alternative but to leave their respective temples in each case and save the deity. In that condition, the Kachhwaha also get feared for their Govindadeva temple located not on their ancestral lands, but on crown land and were especially concerned about the temple's idol

of Govindadeva. With their idol they escaped westward to seek shelter in their own territory. They began to move from one location to another over a period of almost fifty years. Finally in A.D. 1727,²¹ the idol of Govindadeva was installed in the Govinda Mahala at Jai Niwas garden, the future site of Jaipur, even before the city was founded.

Ram Nath²² as well as Catherine B. Asher²³ states that the transformation of idol from Vrindavana to Jaipur follows a development in the case of temples built for Govindadeva. Specific conditions from 16th to 18th centuries brought a new architectural style for temples, known as Haveli style temple. In this way the style of the Hindu temple architecture was a more practical than theoretical approach and it had been transformed from classical to popular.

After desecration of the temple in A.D. 1669, the idol of Govindadeva was moved from its second home to its third home at Radhakunda, in A.D. 1671 to its fourth home at Kaman, in A.D. 1675 to its fifth home at Govindagadha, in A.D. 1700 to its sixth home at Khama (Jamva-Ramgadha), in A.D. 1707 to its seventh home at Govindapura (Rupaheda), in A.D. 1713 to its eighth home at Kanaka Vrindavana (Amber-Jayapura) and finally to its ninth home at Surya Mahala (Jai Niwas garden, Jayapura).²⁴ The appearance of the various temples at which the Govindadeva idol resided, most of them resembling ordinary houses. Although there were no shikharas on the shrines or any of other temple features found in these new homes of Govindadeva, even they did not follow the prescriptions of the architectural texts; neither did the idol itself conform to the iconographic texts. This entirely different architecture combines the plans of a Haveli and a Kunja. Further, they converted into an open, airy and spacious religious complex of terraces, barahadaris and dalanas as well as contemporary architectural features of Mughals and Rajputas gradually kept added to them. In fact, from the exterior the Govindadeva temple closely resembles Shah Jahan's public audience halls in the Delhi, Agra and Lahore forts.²⁵ In both the Jaipur Govindadeva temple and the Mughal public audience hall there is a flat-roofed chamber with a pillared façade, behind which either the deity or the ruler is positioned for darshan. In the case of a ruler, Hindu or Muslim, the Jharokha must be approached for darshan; in the case of the divine, the Garbhagriha must be approached.

After the death of Aurangzeb in A.D. 1707, the Kachhwaha ruler Maharaja Sawai Jai Singh was planning to build a strong and prosperous state of their own; the new state needed a strong intellectual and religious foundation as well as popular support. He changed the complexion of Govindadeva's worship from common and public to state and royal, so probably because of it Govindadeva was placed at their state capital at Amber. The temple was situated on the higher slope of the Amber-Ghati (later it called Kanaka Virndavana or Govinda Ghati) at the northern edge of the ManaSagara area.

It was at about this same time that Sawai Jai Singh dedicated his state to Govindadeva and declared himself to be acting as the deity's diwan. This is attested by the inscription of his official seals, "Sawai Jai Singh has found shelter at the feet of Sri Govindadevaji", which his descendants have observed to this day.²⁶ Later on, when he founded his own new capital city, "Jaipur" Sri Govindadeva was brought to the Jai-Niwās garden, where the place was being built. In A.D. 1727, then, Govindadeva and Radha were installed in GovindaMahala and on this occasion a sakhiof Radha was installed with her. At this time a daily grant of Rs-1/ was made for bhoga and vastra.²⁷

Now, it is clear that the choice of this building type for both the temple and public audience hall is closely associated with Sawai Jai Singh's concept of regal authority as validated by the divine. Installing the idol of Govindadeva in a temple that evokes an imperial public audience hall was a conscious choice, for in this setting Govindadeva's dual role as ruler and god are understood. His descendants have also followed his Haveli style temple architecture to give a uniformity to the city of Sawai Jai Singh and this architectural style of Govindadeva temple is considered as a prominent architectural style of temples in Jaipur, bears no shikharas on their shrines or any other temple features of Hindu temples but having features, which are associated with the palace architecture of Mughals.

References

1. Bakhat Rama Saha, *Buddhi Vilasa*, (ed. Padamdhathak), Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur (Rajasthan), 1964, pp. 8-9.
2. Temple constructed by Jai Singh in Jaipur, among them is the temple of Kalki, situated in SirehDeori Bazaar opposite to the palace gate. Kalki is the tenth incarnation of Vishnu and yet to appear. Perhaps there is no

other temple of Kalki in India. It is generally believed that the temple was built by Jai Singh, in memory of his grandson Kalki Singh, son of Ishvari Singh. Kalki Singh died at a young age. There is nothing very remarkable about the temple itself but in the yard of this temple, there is a statute of horse which is about a meter high.

3. A.K. Roy, History of The Jaipur City, Manohar Publications, New Delhi, 1978, p.229.
4. It is a Rama-Sita temple situated in Chand Pole Bazaar, built by MajiSahibaShriDhirawatiji, wife of Maharaja Ram Singhji (1835-1880 A.D.).
5. A.K. Roy, History of The Jaipur City, Manohar Publications, New Delhi, 1978, p.232.
6. VibhutiSachdev and Giles Tillotson, Building Jaipur, Reaktion Books Ltd., London, UK, 2002, p.53.
7. Devasthan records, Register No.46, pp.204-245, Bikaner Archives.; A.K. Roy, History of The Jaipur City, Manohar Publications, New Delhi, 1978, p.22.
8. This temple of Surya was built mainly as a means of reviving the worship of one of the PauranikaPanchaDevtas. In earlier days, and until the integration of the state of Jaipur in Rajasthan in 1949, a procession used to be taken out in the city on Bhanu Saptami, the Saptami nearest to the vernal equinox (21st march) with the image of surya from this temple. The Maharaja himself used to join the procession.
9. RaoKriparam was the Jaipur envoy in the court of Delhi.
10. A.K. Roy, History of The Jaipur City, Manohar Publications, New Delhi, 1978, p.21.
11. Catherine B. Asher, "Amber and Jaipur: Temples in a changing state," in stones in the Sand: The Architecture of Rajasthan, ed. Giles Tillotson. Mumbai: Marg publications, 2001, p.71.
12. Catherine B. Asher, "The Architecture of Raja Man Singh: A Study of Sub-Imperial Patronage," in the powers of Art: patronage in Indian Culture, ed. Barbara Stoler Miller, New Delhi: Oxford University Press, 1992, p.183.
13. Ibid., p.184.
14. Catherine B. Asher, "Amber and Jaipur: Temples in a changing state," in stones in the Sand: The Architecture of Rajasthan, ed. Giles Tillotson. Mumbai: Marg publications, 2001, p.70.
15. Catherine B. Asher, "The Architecture of Raja Man Singh: A Study of Sub-Imperial Patronage," in the powers of Art: patronage in Indian Culture, ed. Barbara Stoler Miller, New Delhi: Oxford University Press, 1992, p.185.
16. This magnificent temple dedicated to Radha-Krishna was built by Rani Kankavati, the wife of Raja Man Sing-I in the memory of her son Jagat Singh. The construction of the temple was started in A.D. 1599 and completed in A.D. 1608.
17. Sayed Jamal Hasan, centrally protected monuments/sites of Jaipur, Archaeological survey of India, 2010, p. 10.

18. ChaitanyaMahaprabhu (1486-1533 A.D.) was a spiritual teacher, who founded GaudiyaVaishnavism. He is believed by his devotees to be Krishna himself who appeared in the form of his own devotee in order to teach the people of this world the process of Bhakti.
19. R. Nath, "Sri Govinda Deva's Itinerary from Vrindavan to Jayapura, C. 1534-1727", in *Govindadeva: A Dialogue in stone*, ed. Margaret Case, New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1996, p. 162.
20. Mahathir-i-Alamgiri of SaqiMustad Khan, translated by Sir JadunathSarkar, MotilalBanarasi das publications, New Delhi,1947, pp. 51-52.
21. R. Nath, "Sri Govinda Deva's Itinerary from Vrindavan to Jayapura, C. 1534-1727", in *Govindadeva: A Dialogue in stone*, ed. Margaret Case, New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1996, p. 180.
22. *Ibid.*, pp.161-183.
23. Catherine B. Asher, "Amber and Jaipur: Temples in a changing state," in *stones in the Sand: The Architecture of Rajasthan*, ed. Giles Tillotson. Mumbai: Marg publications, 2001, p.73.
24. R. Nath, *Ibid.* p.161.
25. Catherine B. Asher, "Amber and Jaipur..." p.75.
26. G. N. Bahura, *Literary History of the Rulers of Amber and Jaipur*, Maharaja Sawai Man Singh-II Museum, Jaipur, 1976, p.67.
27. Patta of Sawai Jai Singh dated V.S. 1784/A.D. 1727.

Cultural Diversity in the Karauli district of eastern Rajasthan

Dr. Pooran Lal Meena

Localiti : (Lat. 26⁰30' N; Long 77⁰2'E) Karauli State was founded by Maharaja Arjun Dev pal in 1346 AD, but now the Meena and Gurjar castes dominate Karauli.¹ One forth population of karauli directly, indirectly depends on the mining work. There are massive reserve of building, silica and Ghiya stone underneath of earth in the Karauli District of eastern Rajasthan. There are plenty of mines having stones used in the construction of buildings. There are a massive reserve of red-pink shades building stones in Sapotra, Masalpur, Madrayal and Hindaun subdivision of the Karauli. The stones is famed for being used in building construction since ancient times. These stones have been used in prominent historical buildings of the country that include Red Fort of Delhi, Jaipur Forts of Agra Fatehpur, Parliament of India and Akshardham Temple of Delhi.

Tarhati (Tamangarh fort) : Tarhati, better known in history as Tamangarh fort, is a small village in karauli district situated at 26⁰42' north latitude and 77⁰14' east longitude. It was a famous fort of northern India during the early mediaeval period. It was founded by Tamanpal, a Yadav ruler during the 11th century A.D. The place was also known as Tribhuvangiri and Islamabad.²

This Fort is Situated in Masalpur village which is 42 kilometers away from district headquarter Karauli. It has idols which are archaeologically matchless. According to prevailing believes in Samvat (Hindu Calender) 1244 Yadhuvanshi ruler Timanpal constructed this Fort.³ Few historians proclaim this fort to be more than 1000 years old, stone scriptures and ancient creations inside this fort narrates that it has been established by an artificer and art lover, which later gone into the ownership of ruler. On all four side of this fort there exists unique sample of 5 feet wide and 30 feet high battledore architecture. Market inside fort wall, flooring, garden, temples and remains of well are still available.⁴ It

seems that complete city is enclosed within fort. The entrance gate has statue of Lord Bharama and Lord Ganesha, but portraits of Ghost and Demon can be seen. The broken idol spread in various places of fort suggests that a huge market of idols existed here. It remained a famous seat of Jainism and a centre of the pashupati sect of the saivas in the 12th century. But it could not withstand Muslim invasions and plunder and was devastated. The Village which lies on the Karauli-Masalpur-Tatpur bus route, is approached by a tarred road. It is 13 km. (8miles) from Masalpur and 43km.from Karauli.It occupies an area of 1933 acres .The place is important for its old historic fort Tamangarh, which is at a distance of 12km. It stands on a hill at a height of 1399 feet above the sea level and has a difficult approach. The fort is now in ruins except for a solitary gate.⁵

Painting : Wall paintings in the Gopal lal palace ,karauli the ancient Kalyanpuri, is situated on the left bank of river Bhadravati.Karauli is said to have been founded in A.D. 1348 by Raja Arjun Dev of the Yadava dynaty. It was named so after the temple of Kalyanji. The Purani Rawal,being the earliest part in the north-west corner of the palace was built by Arjun Dev.⁶ Later rulers added few other structures but it was Maharaj Gopal Singhwho built in the eighteenth century Gopal Mandir Amkhas ,Tripolia gate and Nakkarkhana which are beautifully painted. The colours used in these mural paintings housed in these structures are blue, brown, yellow, purple, golden and white.⁷ The themes of the paintings comprise palace scenes, sports, hunting of lion, geometrical and floral designs. The religious scenes include figures of Ganesa, Siva-Parvati, Kela Devi, Narasimha, Badrinath, Hayagriva, Ganga and Yamuna, etc.

Kaila Devi Goddess temple is a fine example of medieval architecture. Lauhra, better known as Kaila Devi is a small village in the vicinity of Kalisil river and a dam of the same name in Karauli District situated at 26°20' north latitude and 76°52' east longitude.⁸ The village is known after Kaila,the tutelary deity of the ex-rulers of the erstwhile Karauli State. It is 26 km away by road from Karauli and is well connected with Gangapur city, Hindaun, Bharatpur and Mahwa by road. The nearest railway station is Hindaun from where buses ply regularly to Lauhra. A large fair is held here during the dark half of Chaitra (March-April) and lasts for a fortnight in which devotees of the deity come from far and wide. The

congregation during the fair exceeds a lakh and Puja is offered with coconuts, sweetmeats, clothes etc. The fair is also called Nritya Sangeetka Mela after the famous Languru Balvir (a folk song) and dance which is the centre of attraction. During the month of Ashwin, another fair known as Chaurasi Bhog ka Mela is held here. The main temple is of marble and houses an idol of Kaila (goddess Maha Lakshmi) and another of Chamunda Devi. Kaila is an eight armed deity and is shown seated on a lion and only her face is exposed to Darshan. Other subsidiary shrines are those of Jagdamba (mother Goddess) Ganesh Langura Balvir And Bahura Bhagat. On the 8th of Bhadrapad Shukla (bright half of the month) a cattle fair is also organized here. The affairs of the Kaila Devi temple are controlled by a Trust.⁹

Another attraction is the small temple dedicated to Bhairon, situated in the courtyard and facing the shrine of Kaila Devi is a temple of Hanuman locally called Languriya. Approximately 20,00,000 devotees mainly from Uttar Pradesh, Madhya Pradesh and Rajasthan states gathers during the fair in Hindu Chaitra month (March-April).

Shri Mahavirji :Shri Chandanpur Mahavirji is one of the miraculous pilgrimages of Jains. It is a Digamber Jain Pilgrim centre, 90 km. by rail from Sawai Madhopur on the Delhi-Bombay broad gauge route. It is situated at 26°19' north latitude and 76°23' east longitude and is about 18km. north of Hindaun city. It is a famous religious centre for Digamber Jains, not only in Rajasthan but throughout India. Its nearest railway station is Shri Mahavirji which is about eight km away from the main temple of Shri Mahavirji.¹⁰ The railway station of Shri Mahavirji temple is located in Chandangaon village of tehsil Hindaun. Because of the popularity of the temple, the place is now incidentally called Shrimahavirji. The Village occupies an area of 1023 acres. Drinking water is obtained either from wells or the water supply scheme run by the temple management. The village is electrified and there are both pucca and kutcha roads. It also runs an Ayurvedic Aushadhalaya and a reading room. There are seven Dharamshalas for visitors to stay in.¹¹ The main temple is inside an enclosure known as Katala. It is claimed that the main statue of Shri Mahavirji was unearthed a few hundred years back. As the legend goes, a cow returned home every day with its udder empty. The perplexed cowboy followed the cow and saw her voluntarily shedding its milk at a particular spot. Out

of curiosity he dug at the spot. Half way through, a call came from beneath, asking him to dig carefully. The idol is said to represent the 24th Jain (Digamber) Tirthankar, Shri Mahavirji. The Place in course of time developed into a noted Jain pilgrim centre of country-wide fame. Since then, Digamber Jain from far and wide come here to pay homage to Mahavirji.

The Temple of Shri Mahavirji combines in itself modern and ancient style of architecture. It is raised on a huge platform and is built mostly of white marble. However, the main Chattries visible from a distance, are built of red sandstone. The walls of the temple are illustrated with carvings of religious scenes. Just in front of the main temple is installed a statue of Jain Tirthankar. This tower is made of marbles. There is also erected a Chattri behind the Katala which has Charan (foot print) of Mahavir. Visitors pay special homage to this point, which is said to be the original site from where the idol of Mahavirji was unearthed. A big Fair is held at Shri Mahavirji from chaitra sudi 11 to Vaishakha Badi 2 (March-April) every year. This attracts a congregation of about a lakh of persons. People of nearby places specially Meenas and Gujars and others including Jains, attend the fair. According to tradition when the Meena community visits the temple, the Gujars stay away beyond the Gambhir river and vice versa. Meenas and Gujars worship Mahavir the Lord Creator. Because of the inter-mixing of Meenas, Gujars, Jains and others at the time of fair, a rare scene of caste harmony and equality is presented. The fair continues for five days and comes to an end with a colourful Rath Yatra. The river Gambhir flows near adjoining village of Naurangabad and on its other bank a big Jain Temple of Shantinath is under construction. This Jain temple is fast changing into a complex of religious shrines. Its attraction is huge statue of Shantinath (a Jain Tirthankar) which measures about 32 feet in height and has a majestic appearance. This complex of Jain temples and shrines is known as Shanti Veer Nagar. There are also some more Jain temples in village Naurangabad.

Karauli city temple: Madan Mohanji Temple is located at Karauli Fort in the city. This temple is dedicated to Madan Mohanji a deity of Lord Krishna and was constructed by Maharaja Gopal Singh. Pilgrims can see the 3 ft high statues of Lord Krishna and Goddess Radha, respectively, in the temple.¹² The common belief is that after conquering the battle of

Daultabad, maharaja Gopal Singh dreamt that Lord Krishna wanted him to enshrine his idol at a temple in Karauli by bringing it from Amer. The temple showcases the architecture of medieval age as is constructed using Karauli stone.

References

1. Abhinay Rathore, "History of Jadons", Rajput Provinces of India. P.78.
2. Savitri Gupta (ed.), Rajasthan District Gazetteers, Sawai Madhopur, Jaipur 1981. p.549-52
3. Gazetteer of The Karauli State, Captain P.V. Powlett 1874 Calcutta., p.67
4. Inventory of monuments and sites of national importance, Jaipur circle, Vol. II, part-1, p160
5. Imperial Gazetteer of India, Provincial series, Rajputana 1908.
6. Imperial Gazetteer, Rajputana, Eastern states 1906,
7. Ibid p. 161
8. Damodar Lal Garg, Karauli ka Itihas, Karauli 1984. p. 101
9. Rajasthan Gazetteer, part II, dated 10-3-1968.
10. Gazetteer of eastern Rajputana states, Bharatpur, Dholpur and Karauli, H.E. Drake Brockman, Ajmer.
11. Savitri Gupta (ed.), Rajasthan District Gazetteers, Sawai Madhopur, Jaipur 1981. p.549-51
12. Damodar Lal Garg, Karauli ka Itihas, Karauli 1984. p. 105

Partition Phase : History and Representation of Women by Contemporary Feminist Writers

Dr. Meghna Sharma

The partition of the India was not only historical event but it separated human emotions and values too. This partition became a one of the largest migrations in history. This partition was still alive in the mind of victims. The writers majorly showed mutilation of women. They also show woman struggle for sustain themselves in life. These works provide vast canvass to the creative genius to deal with the very complex theme of partition and this genre has attracted writers of all Indian languages. These novels, fictions, poems, shortstories, essays, documentaries etc. has drawn worldwide attention of writers and research scholars, critics, readers and serious student of Indian English fiction. Some female writers also write gynocentric point of view. These authors expose the trauma of partition and psyche of the victims.

Partition Phase : History and Literature Directly Concerned with the Trauma as Witnessed by Contemporary Womenfolk

Women being extremely vulnerable are easy targets of any form of oppression, humiliation, deprivation and discrimination. Partition literature explores the sexual trauma, sufferings and painful experiences of women during and after the Partition. This in many ways substantiates the fact that inequality of sexes is neither a biological fact nor a divine mandate but a cultural construct. Out of the major ones, three works of the male novelists namely; *The Train to Pakistan* by Khushwant Singh, *Tamas* by Bhisham Sahni and *Azadi* by Chaman Nahal will be compared with the works of three female novelists namely; *Earth 1947* by Bapsi Sidhwa, *What the Body Remembers* by Shuana Singh Baldwin and *Can You Hear the Night bird Call?* by Anita Rau Badami are significant to be mentioned.

In any upheaval when sectarian passions are aroused or violence reigns supreme whether it is caste or communal violence or inter-state wars, women often become the worst victims of rival groups.¹ In a situation of civil war, where nearly every man is a soldier fighting for his homeland

women come to be seen as a 'territory' to be occupied.² The increasing incidents of abductions and attacks on the women during the 1946-47, undoubtedly, reflected the attempts to expose the most protected aspects of 'other's' honour and self-identity. Like other gender aspects of the partition, the experience of women as both victims and survivors of violence is absent from standard historical accounts.³ Urvashi Butalia has rightly observed that historians have paid little attention to the experience of women during the partition.⁴

A resounding silence surrounds the question of women during and after the partition. It may seem a truism to say this, but it bears remembering that at least half of the millions who were dislocated, killed or uprooted were women. A substantial portion of the task of reconstruction and rebuilding fell on women.⁵ Recent feminist historiography emphasizes that "representative history can only be written if the experience and status of one half of the mankind is an integral part of the story".⁶

The orgies of violence, abduction and rape, the mutilation and disfigurement of living and dead, the forcible recovery of women all this ripped apart the very fabric of society.⁷

The story of the partition, the uprooting and dislocation of people was accompanied by the story of the rape, abduction and widowhood of thousands of women on both sides of newly formed borders. While men belonging to the other community were killed, women were not let off in a show of compassion; instead, they were abducted. Thus, only the form which the violence took differed.⁸

During the 1947 partition of India, an estimated 75,000 to 100,000 women were abducted by the members of other religious communities to be raped and murdered, sold into prostitution, or forced into marriage.⁹ Many a woman were abducted, they were mercilessly treated with inhuman activities i.e. either raped or forcibly married. Women were forced to accept new religion. If someone refused, she was either molested or treated badly on both the sides of the Radcliffe Line.¹⁰ Women were distributed in the same way that baskets of oranges or grapes are sold or gifted.¹¹

Some were sold in the market places for Rupees 10 or 20 a piece, others were sent as gifts to friends and acquaintances. Many of them suffered daily physical and sexual abuse at the hands of their abductors.¹² The traumatic violence meted out to numberless women at the time of

partition demolished all sense of self, existential or social, granted to them by established patriarchal system. If they did not die a physical death, they died a psychological death. Ritu Menon and Kamla Bhasin have rightly observed that material, symbolic and political significance of the abduction of women was not lost either on the women themselves and their families and their communities or leaders and governments. As a retaliatory measure, it was humiliation of the rival community through the appropriation of its women.¹³ As vessels of the honour of the whole community, the shame and horror fell on everybody associated with the girls: these were not individual tragedies.¹⁴

Leonard Mosley estimated that about 100,000 young girls were kidnapped by both sides, forcibly converted or sold on the auction blocks.¹⁵ According to another estimate around 75,000 women were abducted or raped on the both sides of the border.¹⁶ Zia-ul-Islam states that in Eastern Punjab nearly 55,000 Muslim women were abducted.¹⁷

Gopala Swami Ayyangar later called these 'rather wild figures'.¹⁸

The abduction, molestation and rape of women were weapons to humiliate the men as being unable to protect the community honour. The use of rape in military campaigns to demoralize the enemy is not a new feature.¹⁹ Given that violence towards women during the partition was an assault not only on her body, but on her family, her culture and her nation, a display of the wounded, an admission of violation, were tantamount to an admission of public defeat for the community whose women had been violated.²⁰

The murders, brutality, ill treatment of women and small children in evacuee trains had exceeded all bestialities created by the warped Nazi mind.²¹ These riots brought to the surface both at the level of action and imagination, certain primitive fantasies of bodily violence, prominent among these were those relating to sexual mutilation - the cutting of male genitals, and the sadistic fury directed against female breasts which were hit repeatedly by iron rods, stabbed with knives, lopped off by scythes and swords.²² The widespread collapse of law and order in 1947 was attended by a collapse of moral values, or perhaps in some cases an intensified expression of normal, immoral behaviour, so that large number of men lost their sense of humanity and deliberately trampled on the virtues of women whose only crime was that they belonged to a different religious community.²³ Thus, one of the signatures of the violence of 1947 was the

large scale abduction and rape of women.²⁴ Women's bodies were made the passive witnesses to the disorder of the partition. The bodies of women were the surfaces on which texts were to be written and read - icons of the new nations. But women converted this passivity into agency by using metaphors of pregnancy-hiding pain, giving it home just as a child is given a home in woman's body.²⁵

There were various methods of humiliation such as breasts and noses were cut off, their bodies branded or tattooed with signs and symbols of 'other religion', pregnant were forcibly aborted and often women were made to strip naked and paraded through the streets in towns and cities.²⁶

The Ajit in April 1947, in a printed pamphlet narrated the plight of women rather pathetically: "hundreds of women have been abducted, women jumped into the wells and sacrificed their lives to preserve their honour."²⁷

In response to this tumultuous period, a body of fictional exploration has arisen, attempting to define the inner turmoil and social complexes, plaguing the subcontinent.²⁸ The fictions were written as an urgent and immediate response to the trauma of violence and dislocation that attended the event. This testimonial literature of the partition resounds with the exigency of being summoned by the contemporaneity of its present context and attests to the impossibility to standing outside an all pervasive violence by bearing witness to the very contagion of such trauma.²⁹ Examining the partition from a literary perspective provides keener insight into the vacillating personal experiences and national histories.³⁰ For the historian and researcher who wishes to excavate the experiences of ordinary people, of women, children, the marginalized and poor, official documents and government records have little to offer.³¹ Creative writers reveal the other face of the freedom, the freedom drenched in blood and gore. They bring to light, in a way official chronicles do not, the woes of divided families, the trauma of raped and abducted women. Numerous texts, some having been analyzed with much scholarly rigour in recent years, retrieve from silence the many untold stories of women that have died unspoken on the lips of their hapless protagonists.³²

Women had memories of the events of 1947 that they were forced to suppress, stifle or store away but the literature can somehow liberate these stories from hiding. Given the overwhelming stigma still attached to

women who were perceived to have been sexually contaminated by men of 'other' community during the sectarian violence that accompanied the partition, it was unlikely that they would ever testify about their experience. In the face of this silence it may well be the task of literary historiography to unveil, uncover, liberate from silence and oblivion, these women's stories.³³

Bapsi Sidhwa has rightly observed that women were the 'living objects on whose soft bodies victors and losers alike vent their wrath and enact fantastic vendettas, and celebrate victories.'³⁴ The events of violence, brutal rape and abduction of women and painful inscriptions of nationalist slogans on the bodies of women made sudden appearances.³⁵ The ravaged bodies of the women became 'envelopes to carry the message of conquest from one group of men to another.'³⁶ Murders, looting, abductions and sexual assault appear to have been frighteningly common place occurrences as displaced individuals and communities responded with violence to the threat to their lives, security of their property and cultural continuity.³⁷ It was the time when 'communal passions swept the whole Punjab community clean of all decency, morality and sense of human values'.³⁸ For women, the trauma of rape, molestation and abduction was so grave, and made even worse in many cases because of the cultural taboos surrounding it.³⁹ Anthropologist Veena Das writes that woman's body became as a sign through which men communicated with each other and the political programme of creating two nations of India and Pakistan was inscribed upon the bodies of women.⁴⁰ When the question of ethnic or communal identity comes to the fore, women are often the first to be targeted: the regulation of their sexuality is critical to establish difference and claiming distinction. Then the question of where women belong, of whether they emerge as full-fledged citizens or remain 'wards of their immediate communities, is contingent upon how the politics of identity are played out, and how their resolution takes place between community and state.⁴¹

In the literary imagination in India, the violence of the partition was about inscribing desire on the bodies of women in a manner that we have not yet understood. In the mythic imagination of India, victory or defeat in war was ultimately inscribed on the bodies of women.⁴²

Literary narratives are read as important social documents that approximate the reality of their contemporary contexts. The prolific fiction

written as an immediate response to this founding trauma of sub-continental nationalism becomes an eloquent witness, and perhaps the only witness, to an unspeakable and inarticulatable history.⁴³ The partition fiction has been a far richer resource both because it provides popular and astringent commentary on the politics of the partition and because, here and there, we find women's voices, speaking for themselves.⁴⁴

In the absence of direct testimony, fictionalized and second hand accounts have attempted to capture the elusive experiences of women during this turbulent time.⁴⁵

To understand the process by which the proximity turns to communal hatred, violence and rape, to something so incomprehensible that it was only through literature, rather than history, that stories of partition could be recounted and the pain expressed.⁴⁶ The transaction between body and language lead to an articulation of whole world in which the strangeness of the world revealed by death, by its non-inhabitability can be transformed into a world in which one can dwell again, in full awareness of life that has to be lived in loss. Moreover, some realities need to be fictionalized before they can be apprehended.⁴⁷

The partition meant mass migrations but the women reacted from the depths of their being at the idea of leaving home. Many literary narratives bring out this anguish. The women, in the patriarchal system of India, were always confined to domesticity and it perhaps symbolized their world of living and the outer world was prohibited for them.⁴⁸ The question, do women have a country? Is often followed by are the full fledged citizens of their countries? Recent feminist research has demonstrated how 'citizen' and 'state subject' are gendered categories by examining how men and women are treated unequally by most states but especially post-colonial states - despite constitutional guarantees of equality, how follows a different trajectory from that of men.

Rape was the worst form of women sufferings during the partition. The increasing incidents of rape and molestation reflected the psyche to expose the most protected aspect of 'other' community's honour and self-respect. Rape was used to kill the 'other' morally.⁴⁹

Literary memory becomes almost a mandatory source for the subtle revelations of some deeply ingrained attitudes operating behind so much of the action during the days of partition. The communalism made visible the dark side by making the bodies of women the surfaces on which the

text of nation was written.⁵⁰ It is well known how control over women's sexuality perpetrates through male protection of the community's honour. But that protection was not there.

Thus, the conclusion derives that a careful scanning of the fictional narratives of the partition helps in the emotional and sensitive mapping of the inner terrain of female psyche. These narratives unfold the reality which lies otherwise under the cover of 'grand narratives'. Women being the representatives of their respective communities had to undergo inhuman treatment and literature and literature has tried to portray the injuries inflicted on the women during the partition. The literature deals with the silences and numerous kinds of psychological deaths of women during the mayhem of the partition. Thus it is compelling to examine the partition literature in order to rework the gender experience of the event and to make the inarticulatable pain accessible. Moreover, the partition fiction deals with the common gendered experiences, hopes and fears that transcended the communal divide. The partition fiction attempts to address the mental pain and their predicament. It uncovers the hitherto understood version of savagery of male power impinged on the women's body during the partition. In the silence surrounding the women experience, the literature speaks for their inarticulable pain and their demolished selfhood.

References

1. Narinder Iqbal Singh, *Communal Violence in the Punjab (1947)*, Unpublished Ph.D. Thesis, G.N.D. University, Amritsar, 2002, p. 211.
2. Andrew J. Major, "The Chief Sufferers: The Abduction of Women During the Partition of the Punjab", D.A. Low and H. Brasted (eds.), *Freedom, Trauma, Continuities: Northern India and Independence*, Sage, New Delhi, 1998, p. 59.
3. Ian Talbot, "Literature and Human Drama of the 1947 Partition", D.A. Low and Howard Brasted(eds.), *Freedom, Trauma, Continuities: Northern India and Independence*, p. 43.
4. Urvashi Butalia, "Voices of Women", *Indian Review of Books*, Vol. V, No. 11, 1996, pp. 4-5.
5. Urvashi Butalia, "Community, State and Gender: On Women's Agency During Partition," *Economic and Political Weekly*, Vol. 28, No. 17, 1993, p. Ws-13.
6. Ritu Menon and Kamla Bhasin, *Borders and Boundaries: Women in India's Partition*, Kali for Women, New Delhi, 1998, p. 10.
7. Sherina Joshi and Preeti Gupta Dewan, "Editorial", *Creative Forum: Journal of Literary and Critical Writings*, Vol. 18, No.1, 2005, p. 7.

8. D.A. Low, "Digging Deeper: Northern India in the 1940's", *South Asia*, Vol. 18, 1995, quoted in Gyanesh Kudaisya and Tai Yong Tan, *The Aftermath of Partition of South Asia*, Routledge, London, 2000, p. 22.
9. Bede Scott, "Partitioning Bodies: Literature, Abduction and the State", *Interventions*, Vol. 11, No. 1, 2009, p. 35.
10. Narinder Iqbal Singh, *Communal Violence on the Eve of the Partition of the Punjab (1947)*, Unpublished M.Phil. Dissertation, G.N.D. University, Amritsar, 1993, p. 105.
11. Ritu Menon and Kamla Bhasin, *Borders and Boundaries*, p. 76.
12. Bede Scott, "Partitioning Bodies: Literature, Abduction and the State", p. 36.
13. Ritu Menon and Kamla Bhasin, "Recovery, Rupture, Resistance: Indian State and Abduction of Women During Partition", *Economic and Political Weekly*, Vol. 28, No. 17, 1993, p.WS-3.
14. Yasmin Khan, *The Great Partition: The Making of India and Pakistan*, Penguin Viking, New Delhi, 2007, p. 134.
15. Leonard Mosley, *The Last Days of British Raj*, Jaico, Bombay, 1971, p.284.
16. Urvashi Butalia, *The Other Side of the Silence: The Voices for the Partition of India*, Viking, New Delhi, p. 132.
17. Narinder Iqbal Singh, *Communal Violence in the Punjab (1947)*, p.233.
18. *The Tribune*, December 10, 1949 quoted in Andrew J. Major, "The Chief Sufferers", p. 61.
19. Anders Bjorn Hansen, *Partition and Genocide: Manifestation of Violence in Punjab 1937-1947*, Indian Research Press, New Delhi, 2002, p. 160.
20. Deepika Bahri, "Telling Tales: Women and Trauma of Partition in Sidhwa's Cracking India", *Interventions*, Vol. 1, No. 2, 1999, p. 220.
21. Francis Tucker, *While Memory Serves*, Cassel, London, 1956, p. 480.
22. The mutilation of breast may be derived from the upsurge of a pervasive infantile fantasy - the fantasy of violent revenge on a bad, withholding breast, a part of the mother whose absence gives rise to feelings of disintegration and murderous rage: Sudhir Kakkur, *Colours of Violence*, Penguin, New Delhi, 1996, pp. 37-38.
23. Andrew J. Major, "The Chief Sufferers", p. 67.
24. Veena Das, "Language and Body: Transactions in Construction of Pain", *Daedalus*, Vol.125, No.1, 1996, p. 67.
25. *Ibid.*, pp. 84-85.
26. Urvashi Butalia, "Community State and Gender: On Women's Agency During the Partition", *Economic and Political Weekly*, Vol. XXVIII, No. 17, April 24, 1993, p. WS.15.
27. Narinder Iqbal Singh, *Communal Violence in the Punjab (1947)*, pp. 211-212.
28. Nadia Ahmad, "Cracking India: Culture and Religious Representation in

- Indo-Anglian Literature 1947 to Present", *Queen: A Journal of Rhetoric and Power*, Vol. 2. No.1 , p. 1.
29. Priya Kumar, "Testimonies of Loss and Memory: Partition and the Haunting of a Nation", *Interventions*, Vol. 1, No. 2, 1999, p.202.
 30. Nadia Ahmad, "Cracking India", p. 6.
 31. Urvashi Butalia, "The Problem", *Seminar*, Vol. 420, August 1994, p. 13.
 32. Mushirul Hasan, *Inventing Boundaries : Gender, Politics and Partition of India*, OUP, New Delhi, 2002, p. 17.
 33. Jill Didur, "Lifting the Veil: Reconsidering the Task of Literary Historiography", *Interventions*, Vol. 3, No. 3, 2001, p.447.
 34. Bapsi Sidhwa, "Defend Yourself Against Me", *Colours of New Day: Writing for South Asia*, Pantheon, New York, 1990 quoted in Deepika Bahri, "Telling Tales: Women and Trauma of Partition in Sidhwa's *Cracking India*", *Interventions*, Vol. 1, No.2, 1999, p. 218.
 35. Veena Das, "Language and Body: Transactions in the Construction of Pain", p. 68.
 36. Deepika Bahri, "Telling Tales: Women and Trauma of Partition in Sidhwa's *Cracking India*", p. 218.
 37. Jill Didur, *Unsettling Partition: Literature, Gender, Memory*, Pearson Longman, New Delhi, 2007, p. 51.
 38. Andrew J. Major, "The Chief Sufferers", p. 57.
 39. Yasmin Khan, *The Great Partition: The Making of India and Pakistan*, Penguin, New Delhi, 2007, p. 187.
 40. Gyanesh Kudaisya and Tai Yong Tan, *The Aftermath of the Partition in South Asia*, p. 22.
 41. Ritu Menon and Kamla Bhasin, "Belonging", Saurabh Dube (ed.), *Postcolonial Passages: Contemporary History Writing on India*, OUP, New Delhi, 2004, p.192.
 42. Arthur Kleinman et al, (eds.), *Social Suffering*, OUP, London, 1997, p. 82.
 43. Priya Kumar, "Testimonies of Loss and Memory: Partition and the Haunting of a Nation", p. 202.
 44. Ritu Menon and Kamla Bhasin, *Borders and Boundaries*, pp. 11-12.
 45. Deepika Bahri, "Telling Tales: Women and Trauma of Partition in Sidhwa's *Cracking India*", p. 218.
 46. Shelley Feldman, "Feminist Interruptions: The Silence of East Bengal in the Story of Partition", *Interventions*, Vol. 1, No. 2, 1999, p. 177.
 47. Veena Das, "Language and Body: Transactions in the Construction of Pain", pp. 68-69.
 48. Ritu Menon and Kamla Bhasin, "Belonging", pp. 190-191.
 49. Khushwant Singh, *Train to Pakistan*, pp. 202,203.
 50. Veena Das, "Language and Body: Transactions in the Construction of Pain", p. 75.

Violence against Women in India : Glimpses from Past

Kanika Panwar

Violence against women is perhaps the most shameful human rights violation, and it is perhaps the most pervasive. It knows no boundaries of geography, culture or wealth. As long as it continues, we cannot claim to be making real progress towards equality, development and peace.

Kofi Annan

Violence against half of humanity has always been issue of concerns for mankind. Even the study of one's own society requires tearing off the deceptive veil of obviousness. Behind the cloak of greatness of Indian culture and female worship in form of Goddess Durga, Lakshmi, Saraswati and many more are lying half living half dead forms of ordinary women battered and burnt. The facts of Indian society, such as Rape, Dowry harassment, Bride Burning, female foeticide and Infanticide which seem so obvious at present are actually culturally and historically determined. The conflicts which the modern Indian women is exposed to cannot be understood without peeping into the past.

In order to understand the violence and crimes against women in the present, it is imperative to understand the past. For this purpose the present paper has been divided into three very broad eras:

- Ancient Period (600 BC to 1200 AD)
- Medieval Period(1200 AD to 1761 AD)
- Pre Independence Period (1700 AD to 1761 AD)

Ancient Period

Throughout history "role, status and position of women has been far from static, ranging from what is thought to have been a position of considerable authority and freedom to the one of equal subservience"¹. India has an ancient history of more than 4000 years. The views on status of women are reflected in the Vedas, Upanishads, the Manudharma Sastra,

the Arthashastra of Kautilya, Purana and other writings of the Indian culture and civilization. It is believed that women enjoyed a very high and equal status in the early Vedic, Vedic or in ancient India.

There are contrasting views. Nevertheless, what is upheld by many thinkers is that women in those days did not suffer from much indignity and oppression. It is also stated that much before the commencement of the civilization, matriarchy was very much in vogue across many parts of India. During and before the time of the Rig-Veda, woman was a symbol of strength (Shakti) and generosity. She had a share in property as a daughter and the freedom to choose her husband. The bride used to be blessed to be the 'Empress to one's father-in-law and mother-in-law; to the sisters-in-law and brothers-in-law; speak to all in the family with power and authority, be kind to both the two feet and four feet animals'. Thus, the status of a wife was very high during the Rig Vedic times.²

The general position of women changed for worse in later part of vedic period i.e post vedic period. They lost the right to upnayana ceremony, and all the sacraments, excluding marriage, were performed without recitation of vedic mantras. Polygamy prevailed, in the post Vedic period. Woman started being discriminated on the ground of education and other rights. The 'Child Marriage', emphasis on physical chastity of woman and their unquestioned obedience to husband lead to progressive deterioration of their position. In the Smriti Sastras as well, as in Manu, it has been mentioned in strongest terms that woman should be honored. But then again Manu has given absolute rights to men to inflict corporeal punishment on her and discard her if she said anything disgraceful to him. Thus, a contradiction in the rules of treatment to woman was there. Manu's system continued for long after the Mauryan period in the Indian society. However, the upper class women enjoyed freedom and was respected in society. Besides these woman, a vast majority worked in the fields and homes. Their condition worsened in the 20th century.³

In later Vedic period, the position enjoyed by woman in the early Vedic society, was not retained. In Vedic society participation of wives was required in many rituals. Woman could select their husband in an assembly called 'swayamvar'. But in most cases the woman had to lead an unhappy married life. This was simply because their husbands were allowed to have more than one wives (polygamy) and this was especially quite

common among the upper classes of the ancient Indian society.

A widow was expected to burn herself on the funeral pyre of her husband. This would make her 'Sati'. Manu assigns to the Woman of Vedic age, a position of dependence, not of subordination.⁴ In India, the Laws of Manu, compiled around 200 CE declared that a Hindu widow was to remain sati, a Sanskrit word that was interpreted to mean chaste or pure, and was not to remarry, while a Hindu widower was permitted to marry again. Gradually, the word sati was used to designate the ritual of self-immolation or self-sacrifice by a Hindu widow on her husband's pyre. Through her self-sacrifice, a widow remained pure and demonstrated her everlasting devotion to her husband. Thus sati (a word that Europeans frequently transliterated as suttee) came to mean both the practice of self-immolation and the Hindu widow who died by this ritual.⁵

Stray references to sati occur in the Mahabharata also. Four wives of Vasudeva and five wives of Krishna committed sati, but Satyabhama, another wife of Krishna retired to the forest. Similarly, Madri, the second wife of Pandu, committed sati, but not Kunti. The custom of sati began to gain popularity among the ruling classes from around 400 A.D. and some smritikaras make mention of it, though they do not hold it as an ideal for the widow. Even then, it was not that widespread. Queen Prabhavati Gupta of the Vakataka dynasty did not commit sati, while Yasomati, mother of Harsha did. During the first half of the seventh century A.D. contemporary social thinkers and writers who abhorred the custom becomes evident from the following statement: "To die after one's beloved is most fruitless. It is a custom followed by the foolish. It is mistake committed under infatuation. It is a reckless course followed only on account of haste. It is a mistake of stupendous magnitude. But some thinkers like Angirasa, Harita extolled the custom of sati and it began to gain popularity in north India."⁶

During the epic period further changes were witnessed in the position of women. Continuance of the retrograde movement in the status of women was observed. The idea that knowledge and learning were not proper spheres for a woman was gaining ground. This was partly the cause and effect of lowering the marriagble age of girls, manu smiriti prescribes "A man, aged thirty years, shall marry a maiden of twelve who pleases him, or a man of twenty-four a girl eight years of age; if (the performance of) his duties would (otherwise) be impeded, (he must marry) sooner."⁷

The women did not have any right to property and streedhana was their only property. On the contrary wife was considered husband's property, as depicted in Mahabharata where Draupadi was staked by Yudhishtra in game of dice. The barbarous treatment that Lakshmana met out to Ravana's sister Surpanakha, on the slightest provocation is one of the many instances of atrocities and violence against women in ancient period. The fire ordeal of Sita points out to the growth of superstitious practices, with ominous consequences for future. The marriage of Draupadi points out to the practice of polyandry. The barbarous treatment meted out to Draupadi by dragging her with her hair in open assembly and forcibly taking her clothes off is an instance of sexual harassment in the ancient period.⁸

If the instance of adultery is suspected against a female following punishment was to be given to her "When a woman comes to a man's house and excites his concupiscence by touching him or the like acts, she shall be punished; half of her punishment shall be inflicted on the man. Her nose, lips and ears having been cut off, she shall be paraded in the streets and plunged into water; or shall be torn to pieces by dogs in a public place frequented by many persons."

If the adulterous act is performed after some seduction by the married woman, Brahaspati's sadism matches that of Manu.

The epic Ramayan contains the story of the hero Parasurama which tells how he beheaded his own mother Renuka who was aroused by seeing king Citrasena in water-sport and thus committed an offence of adultery against her husband Jamadagni who ordered her to be beheaded. On the other hand, the same epic also shows Shurpanakha, the sister of Ravana, trying to seduce Rama and Lakshmana, an act punished by mutilating her nose and ears, as Brahaspati would suggest.⁹

Medieval Period

The medieval period is considered to be a "Dark Age" for status of women in India. It is believed that the status of women was at its lowest during this period. Due to Muslim rule, the breakdown of social institutions, the upsetting of traditional political structures, the vast migration of people, the economic depression in the country and general depression of social life, especially among women was observed. With the advent of muslim

rule the customs such as purdah enveloped Indian women with all its force. Purdah system became so stringent that rigorous seclusion of females became almost a rule. The women of high castes never went out on the streets except in palanquins and litters. Evils such as polygamy, sati, child marriages, and ban on widow remarriage considerably lowered the status of women, increasing violence against women to a great extent.

Sulaiman an Arabian writer hold that the wives of kings sometimes burnt themselves on the funeral pyre of their husbands. It appeared that with the growth of polygamy as enjoyed by feudal chiefs and with the resultant disputes about their property, there was a tendency for the spread of the custom. During the sultanate period, IbnBattuth mention with horror, the scenes of a woman burning herself on the funeral pyre of her husband with great beatings of drums.¹⁰ The practice of sati was in full swing during the medieval times. The custom was found among the nobles castes of Rajas. A woman refusing to perform sati was considered to be less loyal to her late husband. AbulFazl had recorded numerous instances where the reluctant women were forced to perform sati due to the pressure from her relations or public.¹¹

Regarding the practice of purdah it was observed that The Arabs and Turks adopted this as a part of dress. They brought it to India with them, so it became widespread in northern India. The growth of pardah has been attributed to the fear of Hindu women being captured by the invaders. In an age of violence women were liable to be treated as a prize of war¹². "Hindus adopted pardah as a protective measure to save honour of their women folk and to maintain the purity of their social order."¹³ There was no Purdah amongst the women in ancient Northern India, but it slowly crept into the Hindu Society. The Purdah was introduced partly to shield them from the insults and humanities of the invaders and partly in imitation of the custom of alien conquerors.¹⁴

The practice of female infanticide was common among the upper class Bengalis and Rajputs, who considered female child to be an economic burden. As per Todd," Rajputs resorted to this practice due to the scarcity of suitable matches on the prohibition of inter-marriages between families of the same clan, as unworthy match lowers prestige of the bride's father."¹⁵ Further the Rajput's pride led their downfall which affected their social

setup as well because they thought it below their dignity to become the father-in-law of anyone else.¹⁶

The position of women was distinctly subordinate to the service of male and dependent upon him in every stage of life. In a word, her life was a state of perpetual hardship and the social laws and costumes stamped her with a sort of mental deficiency. They were supposed to have no personality of their own apart from their ties to their husbands. They could not find any other expression to their inborn talents or desirous to expect as house wives. In fact they were seen as more adjuncts to men.¹⁷

The girls who escaped the cruel custom of infanticide were married very young i.e., between the ages of five and ten years, having no opportunity for the improvement of their mental or physical self. It might be argued that since girls did not go to school and had no social life, they were married young. It also secured their purity. Marriages were arranged by parents. Early marriage was convenient because the younger a girl the easier her adjustment to the new environment¹⁸ Because of child marriage to much older men there was an increase in the number of widows. Both child marriage and the purdah custom led to low literacy rate among women. Their entry to social political and religious functions was prohibited. They were depressed to such an extent that they could not comprehend their own freedom and independent personality.

Pre Independence Period

Though the first cultural contact of Indian society with the western world began in 1498 when Vasco-De-Gama anchored his ships on the Indian shores, a more lasting impact came with the British rule particularly after 1820. The advent of British rule did not merely mean a new political rule, but it had deep rooted implication for Indian society and culture. The Britisher's sudden onset in India brought the people in touch with a whole new set of ideas and a completely fresh value system, the idea of high class women moving around not only with their faces uncovered but with those interior bosoms exposed was totally different nature to the people of the sub-continent. The fact that the rulers were totally differently made of them a thing apart and something with which the natives need not concern themselves, the strange ideas.¹⁹

In the Ancient and medieval period, the caste system became more

oppressive and its organisational structure had an upper hand in subjugating the individual to the community. So this political situation did not give any importance to social values, particularly justice based on equality and hence degraded the position of women in India. "Any theory of women's exploitation and violence in India should deal with the issue of caste."²⁰ With the advent of the British, the condition of Indian women, ". . . the country's largest group of backward citizens" witnessed some radical changes.²¹

During the early part of the British rule there was only one aim of east India Company i.e. to exploit India and to maximize their profits. To them the Indians who worshipped many Gods, offered sacrifices were irreligious. In order to reform them they had to be brought closer to the monotheistic belief system. Thus the evangelical missionary activity aimed at freeing "the Indian mind from the tyranny of evil superstition, a sort of Indian counterpart to the European reformation."²²

At the advent of British rule, the position of women in India was at its lowest ebb. According to the accounts of various travellers, sailors and soldiers, women were kept in seclusion. They had to stay at home, were dependent on male members, emotionally and economically and were exposed to great number of restrictions. They were open to all kinds of tortures such as female infanticide, neglect, child marriage, wife beating, restriction as a widow and sati etc. "They are born, grow up and die oblivious of their rights as human beings and as citizens."²³ Female literacy was considered a threat to Indian culture and civilization. Devadasi practice was also rampant.

"The enforced child-marriages, the exposure of the female children by throwing them at the junction of the Ganges and the sea, the violence used to make women the Sati ruled and thus end their miserable existence, the shameful treatment accorded to a widow, the famous kulinism which make marriage a profession rather than a sacrament made woman not only an object of pity but many a woman sighed in the secret recess of her heart and wished that she had never been born a woman in the unfortunate country."²⁴

In the pre independence period the violence against women was highly prevalent due to their low status in society. "Uneducated considered

on a level with the shudras, marriage before their characters fully developed, transferred from the loving and sympathetic atmosphere of parents house to the house of the parents-in-law where an atmosphere of awe prevailed, apprehensive of suppression frequently forced to drag on a miserable existence in an interminable widowhood, their character suffered from forced repression in some direction and unnatural stimulation in others. They had no status in society none in their own estimation."²⁵

In sum, it can be said that the Indian society was full of vices at the advent of British rule in India. The women were suffering from various atrocities like sati, polygamy, female infanticide, child marriage, no or low access to education, restriction on widow remarriage, decline of property rights etc. Some efforts were made by various social reformers like Ishwar Chandra Vidya Sagar, Raja Ram Mohan Roy, M G Ranade, Mahatma Phuley to ameliorate the condition of women in Indian society leading to some transition in their status.

The discussion on violence against women and the status of women from ancient time to pre independence makes it evident that the present situation of women is a result of women's age old low status and subjugation to society in general and man in particular. Indian society highly values its traditions that put immense credence on the chastity of a woman, early marriage and permanence of marital relationship. Widowhood, divorce or single status makes a woman vulnerable to men's advances. Marriage is almost inevitably accompanied by the abhorrent practice of dowry system in India. Adverse sex ratio is one of the reasons behind rise of sexual violence against women. This is also rooted in the customs of female infanticide, heavy dowry, and low status of females in the society. Constant demand for luxurious gifts creates harassment for the bride, and economic pressure for parents. To avoid such a pressure, parents (in some cases) feel it better to resort to either sex selective abortion or female infanticide.

Though everything is not so bleak and women have made their mark into hitherto unexplored horizons, but still there is more to achieve. The government has taken various steps to improve literacy, eradicate evil practices through various legislations but none of it can be successful, until the society joins hand in the efforts. Age old practices cannot be expected to vanish in a year or two; it needs concerted effort on the part of society to empower, enrich women and enlighten men to respect women.

Young kids both girls and boys must be socialized in gender neutral ways to respect and complement each other as a human being. The empowerment of women is of utmost importance for solving problems. Awareness must be created to change the narrow mindset of the society. Campaigns must be launched to acknowledge the role and contribution of women in the society. Education, employment and empowerment can also help to solve the problem of low status of women in the society. Mass-media campaigns should be promoted to foster spirit of humanity, brotherhood and equality among all. Only then violence against women which has almost become a part of brought up of girls and women will end. In the words of Swami Vivekanand "It is impossible to think about the welfare of the world unless the condition of women is improved. It is impossible for a bird to fly on with only one wing."

References

1. Majumdar, R C (1998) Ancient India, Motilal Banarasidas Publishers Pvt Ltd, Delhi
2. Women, society and gender in India historical, functional and futuristic perspectives, Cite at <http://www.devf.org>
3. Posted in Essays, Paragraphs and Articles by Karan Malhotra On August 21, 2014 cited at <http://www.importantindia.com/2954/status-of-woman-in-vedic-age>
4. <http://www.importantindia.com/2954/status-of-woman-in-vedic-age/> 2014 Posted in History of Ancient India by Bharat Mehta
5. Women in World History, posted at <http://chnm.gmu.edu/wwh/modules/lesson5/lesson5.php?s=0>
6. Nandal Vikas and Rajnish, Status of Women through Ages in India, International Research Journal of Social Sciences, ISSN 2319-3565 Vol. 3(1), 21-26, January (2014)
7. Sacred texts cited at <http://www.sacred-texts.com/hin/manu/manu09.html>
8. Panwar Kanika, 2011, Violence against Women, Ritu Publications, Jaipur.
9. Sinha Kanad, Be it Manu, be it Macaulay: Indian Law and the 'Problem' of the Female Body, Journal of Indian Law and Society, Vol 5
10. Chandra Satish, History of Medieval India, Orient Blackswan, New Delhi, 2007.
11. Ray Chaudary, S.C, Social Cultural and Economic History of India, Surjeet publications, New Delhi 2007.
12. Chandra Satish, History of Medieval India, Orient Blackswan, New Delhi, 2007
13. Majumdar, R C (1998) Ancient India, Motilal Banarasidas Publishers Pvt Ltd, Delhi

14. Monmohan Kaur, 1992, Women in India's Freedom Struggle, Sterling Publishers Private limited, New Delhi.
15. Bhat, Manzoor Ahmad, "Position of women in the Indian society", International Journal of Humanities, Social Sciences and Education, Volume 2, Issue 5, May 2015,
16. Ray Chaudary, S.C, Social Cultural and Economic History of India, Surjeet publications, New Delhi 2007
17. Chandra Bipan, History of Modern India, Orient Black Swan, New Delhi, 2009
18. Kaur Manmohan (1992) Women in India's Freedom Struggle, Sterling Publishers Private limited, New Delhi.
19. Brijbhushan Jamila, Muslim Women: In Purdah and Out of it, Vikas Publication House, New Delhi, 1980
20. Desrochers John, Wieleng Bastian et. al., Social Movement Towards a New Perspective (Bangalore: CSA, 1992)
21. Bumiller Elizabeth, May you be the Mother of Hundred Sons (New York: Fawlett, Columbine 1990)
22. Edwardes Michael, British India (1772 - 1947) (London: Sidwig & Jackson, 1976).
23. Desrochen John, Bastian Wielenga et. al., Social Movements Toward Perspective (Bangalore: CSA, 1992.
24. Shastri Shakuntala Rao, (1959) Woman in the Sacred Laws, Bombay Vidya Bhavan. Mumbai
25. Dube S.C., in Barbara ward (ed) Women in New Asia (The Hague, UNESCO, 1963).

Tribal Dances of Mewar

Dr. Sadhana Meghwal

Introduction

For India, dance is sublime. The great Sufi mystic poet Rumi says dancing is the "nearest way to God."¹ The earliest literature on the subject of Indian dance is Natyashastra by Bharata Muni

Dance is a coordinated movement of the whole body and mind. Abhinaya Darpana ² states that a dancer must sustain the song in the throat, depict meaning by hands, the mood (bhava) through eyes and keep time with feet.

Folk and Tribal dances of Rajasthan are very unique and have gained an added importance. Music and Dance are an Integral part of the Tribal Life. Tribals inhabiting South East Rajasthan i.e. MEWAR is more than 28% of the total population of the Tribals in Rajasthan. Bhils are the biggest Tribe in Rajasthan in which Banswarwa is the most important District where Bhils reside in large numbers. Gadhiya-Lohars mainly the Kathodi and Rebari are found in Mewar. The Garasiya tribals inhabit the territories of Kotara, Gogunda and Kherwada Tehsils of Udaipur district.

The Tribal and Folk Dances of Rajasthan State are very Unique and Popular not only in India but in Foreign countries also. They have also contributed to enhance the prestige and glory of the culture of the State.

Gair

Gair is considered a popular Rajasthani folk dance. This traditional folk dance was originally one of the many dance forms of the Bhil community of Rajasthan. This is one of the few performances where both men and women dance together. In a simpler version, this folk dance is performed as a series of half swirl. Some of its variations are the Dandi Gair found in the Marwar region and Geendad found in the Shekhawati region of Rajasthan.

In the tribal areas, the Gair dance is performed by men throughout the month of Phalgun of the Hindu calendar when Holi Festival is celebrated.

The drum keeps on beating by a few men and all the males, with sticks in their hands, dance in form of a circle or a group in accordance to the drum beats. This process goes on till midnight. Men disguised as females form a separate group and then mingle with the male group. Then they come forward and go backwards in a rhythmic motion. The culture of the Bhil Community is reflected in the Gair Dance.³ The Bhils perform this dance by carrying swords, arrows and sticks.

The popularity of the Gair dance has spread far and wide and now this typical dance is not limited to a few tribes namely Bhil, but it is also performed by people of other communities. These days Gair dances are performed by the farming communities also just after harvesting of their crops⁴

Even in the palaces of the Ranas of Mewar, Rulers of Banswara, Dungarpur, etc. the dancers of different castes used to perform Gair after two or three days of the festival of Holi⁵

Ghoomar

It was developed by the Bhil tribe and was then adopted by other Rajasthani communities. It is performed by women in swirling robes, and accompanied by men and women singing together. Mostly Goddess Saraswati is worshipped during this dance.⁶

This is a community dance where ladies dresses in colourful ghagras. The dancers move and circulate clockwise and anti-clockwise. The performers sometimes unite hands and sometimes clap their hands. On the beat of the songs, the performers move gracefully in synchronizing steps. As the tempo increases, the dancers swirl fleetly

When new bride enters the home of her husband, the ghoomar dance is performed as one of the ceremonies of the wedding. It is performed to welcome new bride into the home. Ghoomar is performed by women in groups and are accompanied by both male and female singers and an orchestra. The music also gives you a typical sense and flavor of the rajasthani culture. The dancers usually have their faces covered or half covered with the scarf or chunari.⁷

Valar

Valar is an important tribal dance of Southern Rajasthan. It is most popular in the Garasiya Tribal Community which inhabits the territories of

Gogunda, Kotada and Kherwara Tehsils of Udaipur district. It is a group dance performed by the tribals of Garasiya community.⁸

They have a folklore enriched with folk tales, proverbs, riddles and folk music. This Valar dance is a prototype of the Ghoomer dance. The dances of Garasiya tribals are generally accompanied by the beats of the mandal, chang and a variety of other musical instruments which provide a lively rhythm to their dance sequences.

Neja

It is another form of dance, common among the tribes of Southern Rajasthan. It is very interesting dance game and is generally performed on the third day of Holi Festival.⁹

A big wooden pillar is made to stand erect on the ground and a coconut is placed on it. Men try to lift this in vain, but cannot. Tribal women encircle this pillar and try to beat the tribal men with sticks or canes kore. The Bhils of Southern Rajasthan are very strong and sturdy and they try to take away that coconut tied on the pillar and while they do so, the Bhil women take the full advantage to beat tribesmen. This form of Dance is eagerly awaited by the Tribal women.

Gavari

The Bhils of Rajasthan have the same cultural traits as other tribals of India have but Gavari, the dance-drama of vigour and thrills, performed by them is unique and very popular. It is the only dance-drama in India, which is performed in the day time and has no commercial and profiteering motives. The ban on its performance at night is due to several rituals and ceremonies that the performers have to do in the night immediately after the performance in the day time is over.¹⁰

The village in which any of the girls belonging to the performers villagers is married, invariably becomes the venue of their performance. The play is initiated by beating of drums and fixture of the holy Trishool in a prominent place of the village.¹¹ During this period the performers have to observe strict celibacy and refrain from non-vegetarian diet, liquor and green vegetables. They pass vigilant nights in the village and sing devotional song in the worship; of their deity Bhairav.¹²

The origin of Gouri dance is linked with the story of Mohini and Bhasmasur. The Demon Bhasmasur was a great devotee of Shiva. He sat in

penance for an indefinite period and succeeded in getting a promise from the Lord for the award of the much coveted anklet. The anklet was known for its power of emitting tremendous fire, which he had to part with most reluctantly. This unusual event created confusion in the minds of Gods and was received with dismay and shock all over the universe. It caused havoc and destruction when the anklet started emitting fire when moved by Bhasmasur indiscriminately.

Lord Shiva and his wife Parvati too had to take shelter in a cave.¹³ When Lord Vishnu, the God of preservation, heard of this he came to rescue in the garb of Mohini, the heavenly apsara of enormous beauty. Bhasmasur got enchanted with the beauty of Mohini and started flirting with her. Mohini, by her magical powers, was successful in making Bhasmasur dance in such a way that the anklet was on his head for a while. This was the specific posture when the anklet emits fire on the holder of the anklet himself. Bhasmasur, thus, was enveloped in fire and was on the verge of death. Taking pity on the sad plight of the deity, Bhasmasur, Mohini offered to fulfill his last wish if any. At which Bhasmasur expressed his wish that his name may be immortalized by retaining his devilish face and imbibing some of Shiva's powers in him. His wish was ultimately fulfilled and from then the Gouri started functioning with Bhasmasur as its Chief deity and Bhils as its participants.

The Gavari dance-drama is performed to keep the memory of this devil deity alive. The Bhils are its chief performers. The Gavari commences with a group dance termed as Gammat.¹⁴ The Gavari has very few spoken words which is mostly based on gestures body movements and songs. The chief Bhopa, the producer and the controller of the drama also known as Kutakida, forms the main link between one episode and the other and interprets the drama in a vocabulary best known to the Gavari dancers themselves. Women characters are performed invariably by male members because of the vigour and strength that every character of Gavari is expected to possess.

The costumes are fantastic and the emotions produced by the artist are superb and perfect. The first episode is the fight between Kalka, the Goddess of destruction and Sankothri, the witch. The Sankothri makes all kinds of efforts to kill the Goddess but fails, because Budia with his two consorts Parvati and Mohini comes to their rescue and kill her.

The second episode is of Hatia Ambay goes into seventh Piyal (Hell) and brings the famous Badalya Heendwa which is an enormous banyan tree. Finally this tree was brought by Goddess and set up at a place called Unwa (a few kilometers from Haldighati) near a big rock which almost bears the colour black. It was then that stories of other local dieties were mingled in this main story of Badalya Heendwa.¹⁵

The third episode is about the Lakha Banjara. Two robbers trying to rob the treasures carried by Banjaras for their deity Lord Budia (Bhasmasur) and his two consorts. But they were ultimately killed. The Banjara episode is the most picturesque event of the whole drama.¹⁶

The fourth Episode is the Immersion ceremony , the auspicious final day of the Gavari season Goddess Gavrajya's entourage emerging from the temple and tribals express their Joy by dancing, shouting and brandishing their traditional Arms.

"The key to Gavari's sustained charm and allure is its amazing adaptability.....the manifold aspect of Gavari include philosophy, spirituality,religiosity,rituals,music ,dance and above allfolk literature. Such varied colours of community life are rarely found elsewhere....."

- Bhagwati lal Vyas (noted Mewari poetand writer)

Conclusion

India today is facing a great crisis of her identity. The younger generation as of old has no moorings in our traditions and is drifting headlong towards Westernization. India is bound to be, one of the great leaders of the world and this can be facilitated if we have cultural synthesis on the basis of creative spirituality. The cultural life of Mewar forms one of the most interesting studies. The tribal dance of Mewar occupied a permanent place among the various aspects of culture. Through this paper sincere efforts have been made but this attempt, I humbly agree, is just a drop in the ocean named culture. The yearly event of Shilpgram Mela in Udaipur is a manifestation of the artistic talents and skills along with its cultural aspects. Hopefully this mela will be upgraded into an International fair which will continue to attract the artists and craftsmen and the people of Mewar shall feel proud of the rich cultural heritage & they themselves shall preserve it.

"It shall be the duty of every citizen

Of India to value and preserve the rich
Heritage of our composite Culture"

- Constitution of India

References

1. Chopra P.N. and Prabha "Encyclopedia of Indian Culture" Reliance Publishing House, New Delhi, 2003, p. 82.
2. Ibid, P. 82
3. Sharma, Dr. G.N., "Rajasthan Ka Sanskritik Itihaas ", Rajasthan Hindi Granth Academy, Jaipur 2007. P.202.
4. Ibid, P. 203
5. Sharma, Dr. G.N. "Social Life in Medieval Rajasthan", Book Treasure, Jodhpur 2011, p. 140-41
6. Samar, Devilal, "Rajasthan ka Lok Sangeet', Bharatiya Lok-Kala Mandal Udaipur- 1957, p. 39
7. Samar, Devilal, "Rajasthani Lok Nradya", Bharatiya Lok-Kala Mandal Udaipur- 1957, p. 25.
8. Barhat, Narpat, Rajasthan Ka Sanskritik Gaurav, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2008, p.12
9. Natani, Praakash Narayan, "Apna Rajasthan", Pink City Publishers, Jaipur, 1985, p. 84
10. Samar, Devilal, "Rajasthani Lok Nradya", Bharatiya Lok-Kala Mandal Udaipur- 1957, p. 42-43
11. Chopra P.N. and Prabha, "Encyclopedia of Indian Culture" Reliance Publishing House, New Delhi, 2003, p. 131
12. Samar, Devilal, "Rajasthan ka Lok Sangeet', Bharatiya Lok-Kala Mandal Udaipur- 1957, p. 34-35
13. Beny, Roloff & Sylvia A. Matheson, "Rajasthan- Land of Kings," Frederick Muller Limited London, 1984 p 96
14. Chopra P.N. and Prabha, p. 132
15. Bhanawat, Dr. Mahendra, "Sanskriti Ke Ranag" Bhartiya Lok Kala Mandal, Udaipur, 1979 pg. 65
16. Chopra P.N. and Prabha, p. 132

Professor S.R. Goyal's Contribution to the History of Rajasthan

Professor Shankar Goyal

Career and Academic Achievements of Professor S.R. Goyal

Professor S.R. Goyal was born in 1932 at Hapur in U.P. as the son of Lala Lachhman Dasji, a grain merchant. Thus, he was a product of the Kuru land of the Mahabharata fame. He passed his High School examination with First Division, Intermediate from the local Sarasvati Intermediate College and earned his B.A. degree from the Allahabad University, topping in Philosophy for which he was awarded Manindra Nath Nandi Gold Medal. He obtained his Master's degree from the same university in 1955 with a First Class First in Ancient History. He became a Lecturer in the CMP College, a constituent college of the Allahabad University, in the same year (that is, in 1955) and joined the Department of Ancient History, Culture and Archaeology of the University of Gorakhpur in September 1958 where he earned his Ph.D. degree under the supervision of Professor V.S. Pathak in 1966. In October 1970, Professor Goyal became a Reader in the Department of History, Jodhpur University, Head of the Department there in 1982, and Professor in 1985. He remained the Professor-Head of the Department till his retirement in 1992. After retirement he settled in Jodhpur, the main city of Marudesa, which he regarded as his land of destiny.

Described as 'one of the five best recent historians of ancient India' by Professor David N. Lorenzen, the great Mexican Orientalist, Professor Goyal combined all the qualities associated with scientific scholarship.¹ He published about 50 voluminous works and over 175 research papers which cover so diverse fields as political history, religious history, social history, literature, biographies, numismatics and epigraphy. He was also deeply involved with the study of the history and culture of ancient Rajasthan and contributed immensely in this field. He was honoured with the General Presidentship of the Silver Jubilee Congress of the Epigraphical Society of India held at Udupi in April, 1999, and was elected the Honorary Fellow of the Society. In 2006, he became the General President of the 90th Annual Conference of the Numismatic Society

of India held at Santiniketan, West Bengal. He was also invited to be the General President of the 2006 Annual Conference of the Indian History and Culture Society held at Gwalior which he could not accept because of the clash of dates.

Professor Goyal was also honoured with several festschrifts, including *Reappraising Gupta History for S.R. Goyal* (1992), *S.R. Goyal : His Multidimensional Historiography* (1992), a four-volume festschrift in about two thousand pages entitled *Sriramabhinandanam : Reconstructing Indian History for S.R. Goyal* (2003), a two-volume festschrift *Investigating Indian Society* and *Indian Society : The Regional Contours* (2013), and more recently, *Early India : Historical Probing*s (2015), the last one was published in his honour on his 85th birthday just before his unfortunate demise on November 9, 2015.

Goyal's Approach to History

S.R. Goyal's approach to history, specially political history, has found reflection in his own works. Political history, in his opinion, should now be viewed as the study of political activity in the total situational context. Forces and factors which profoundly influence people in society and condition events deserve adequate attention, and 'why' and 'how' should be considered no less important than 'what' and 'when' in any serious and worthwhile recounting of the past. That is why he does not appreciate the approach of Dasharatha Sharma who, in his two highly esteemed monographs on the history of Rajasthan, viz., *Early Chauhan Dynasties* and *Rajasthan through the Ages*, treats political history as quite unrelated to the history of other aspects of life² and writes separate chapters on administration, religions, social conditions, etc. "In his works," Goyal observes, "One king after another occupies the stage, his story is narrated and then he departs." According to Goyal, who otherwise had deep respect for Dasharatha Sharma, "Sharmaji is one of the few scholars who could have written authoritatively on feudalism and its impact on political life, but surprisingly in both these works he touches this aspect of political history only marginally, without making it the central theme of the history of early medieval Rajasthan, as actually was the case." As a corrective to this persisting traditional approach, he suggests that now different aspects of history—political, social, economic, religious and cultural—should be studied as facets of an integrated reality and not in isolation from each other. The focus of study should shift from individuals to institutions, political

structures, power and environment, and developments in other branches of knowledge.³ Goyal was not against utilizing the models provided by the Marxists, and for that matter by anthropologists or sociologists. But he wanted to be certain that the model concerned is in consonance with the data provided by our sources.⁴

Goyal's Studies in the Sources of the History of Rajasthan

S. R. Goyal also emphasizes the need of greater specialized study of the sources and also on new techniques for their interpretation. With the help of examples from his own works and those of other historians, Goyal shows how, through proper handling, the extant sources can be made to yield more data and add new meaning to political history.⁵ It is true that the political history of Rajasthan was not a part of the main area of his interest, but it did attract his attention. He published many research papers on the ancient history of Rajasthan, translated and edited almost all the ancient and several early medieval inscriptions of Rajasthan, guided Doctoral dissertations on various aspects of the history of this region and wrote several forewords for books on the history and culture of Rajasthan, often giving new cogent suggestions.

In his three corpus-like Hindi volumes on ancient Indian inscriptions, published in 1982, 1984 and 1988 respectively, and widely admired in the scholarly world, Goyal edited almost all the important ancient inscriptions (upto 750 A.D.) found in Rajasthan or connected with the history of the Rajputs. They include the Bhabru edict of Asoka, the Badli fragmentary inscription, the Ghosundi (Hathibada) inscription of Sarvatata, the inscriptions of the Maukharis and others found from Barnala, Nandsa, Badva and Nagar (Bichpuriya), the Bijayagadh inscription of the Yaudheyas,⁶ and the inscriptions of the Guhilas found from Samoli, Udaipur, Kalyanpur, Dungarpur and Dhulev.⁷ He also included in his studies the inscriptions of the Aulikaras of the fifth-sixth centuries found from Mandasaur, Gangadhar (Jhalawar district of Rajasthan), and Risthal which throw direct or indirect light on the history of Rajasthan in the Gupta age.⁸ Most of these inscriptions have been edited, thoroughly studied, translated and commented upon by him. Apart from these, he published several research articles on some Rajput epigraphs of the early medieval period. For example, his two papers on the Sagartal inscription of Mihirabhoja have thrown welcome light on the chronology of the campaigns of Nagabhata II and some other allied problems.⁹

Goyal also studied the ancient Indian coins found in Rajasthan, rather

in depth. It is obvious from his *The Coinage of Ancient India* (Jodhpur, 1995) in which the coins of the Malavas, Yaudheyas, Sibis, Arjunayanas, Rajanyas and also Gupta coins found in this region including the Bayana hoard, etc., are all discussed in detail.

As regards literature, there are very few ancient works which are assignable to Rajasthan. However, Goyal wrote a lengthy foreword for *India as Known to Haribhadra Suri* written by R.S. Shukla in which he discussed the date of this Jaina *acharya* and related issues exhaustively. Among the medieval poets of Rajasthan he devoted his attention to Mirabai (*infra*).

Goyal on the Political History of Ancient Rajasthan

But the greatest contribution of S.R. Goyal has been to political history of ancient Rajasthan. The early historical period of Rajasthan ranging from 600 B.C. to 700 A.D. has been generally neglected by the historians of Rajasthan themselves. For example, in his *Rajasthan through the Ages*, Volume I, Dasharatha Sharma devotes only about twenty pages to these thirteen centuries. Goyal, however, gives much greater attention to this period. He does not believe in the argument that as the region now known as Rajasthan did not exist as a political unit in ancient period, its ancient political history cannot be studied. But a very few modern countries, what to talk of regions, existed as a separate political unit in the same sense in which they exist today, but their history is traced back to remote times. Why then the same cannot be done in the case of Rajasthan? Pakistan came into existence in 1947, and yet Mortimer Wheeler has written a monograph entitled *Five Thousand Years of Pakistan*.

S. R. Goyal produced a monumental work on the political history of ancient India comprising more than two thousand closely-printed pages, in three volumes, namely, *Magadha-Satavahana-Kushana Samrajyon ka Yuga* (The Age of the Magadha-Satavahana-Kushana Empires), *Gupta aur Vakataka Samrajyon ka Yuga* (The Age of the Gupta and Vakataka Empires) and *Maukhari-Pushyabhuti-Chalukya Yuga* (The Age of the Maukharis, the Pushyabhutis and the Chalukyas). Each of these volumes contains detailed chapters on the history of the region, now known as Rajasthan, which, if put together, would constitute a fairly substantial monograph on ancient political history of Rajasthan. He has also published about a dozen research articles on the history of Rajasthan in English. These writings of Goyal on Rajasthan contain numerous original suggestions which are gradually gaining wider

acceptance in the scholarly world.

Goyal's Contribution to the Study of Pre-Maurya and Maurya Periods of the History of Rajasthan

When the historical period dawned in India, the country was divided into numerous *janapadas*, big and small. Bigger *janapadas*, called *Mahajanapadas*, are said to have been sixteen in number. Of them, Goyal points out, only one belonged to Rajasthan named Matsya or Machchha, which roughly corresponded to the modern Jaipur division including the whole of Alwar as well as portion of Bharatpur. Some neighbouring *janapadas* might have included some portions of this state as well. At least they were intimately connected with the history of this region. Most important of such states were Surasena and Avanti belonging to the present Mathura and Ujjain regions respectively. The glimpses of the impact of imperialism of Avanti on this area are available from our literary sources.

In the *Mahabharata* the Matsya *janapada* is said to have been rich in the wealth of cows for which the Trigarttas and the Kurus led predatory raids against it. In the Pali literature the Matsyas are intimately associated with the Surasenas and the Kasis. But it seems that at that time they did not have much political importance surrounded as they were by the powerful kingdoms of Avanti, Surasena and Gandhara. According to a tradition, the king Pukkusati (Pushkarasarin) of Gandhara waged war on Pradyota of Avanti in which the latter was defeated. If there is any truth in this tradition, Goyal points out,¹⁰ it will have to be admitted that Pradyota, the ruler of Avanti, had already expanded his kingdom towards the north which included greater part of Rajasthan sometime before his war against Pukkusati. Evidently, therefore, one must presume that the powerful monarch of Avanti tried to satisfy his ambition at the expense of Matsya and other territories of Rajasthan.

It is not definitely known when the Matsya kingdom was finally absorbed in the Magadhan empire. However, none of the kingdoms that Mahapadma Nanda is supposed to have uprooted can definitely be located in Rajasthan though many of them such as Haihayas, Surasenas and Vitihotras were occupying areas adjacent to this region. But Goyal believes that the possibility that Rajasthan was also included in the vast Nanda empire cannot be ruled out.

However, Rajasthan was definitely included in the mighty Maurya empire. The positive evidence in this respect comes from the Calcutta-Bairat (Bhabru) stone slab inscription¹¹ and, Bairat minor rock inscription of Asoka.

Indirectly it is proved by the fact that the Magadhan empire expanded as far west as Surashtra as is indicated by the Sopara rock edict of Asoka and the Junagarh rock inscription of Rudradaman I dated Saka year 72 (150 A.D.). The Bhabru edict found in the Jaipur division refers to the jurisdiction of the Magadhan Buddhist Church in Rajasthan. Further, it refers to a number of Buddhist texts the study of which was enjoined by Asoka for the monks, the nuns as well as the laity. The reference to these sacred texts is significant, Goyal believes, not only from the point of view of the history of Buddhism and its literature but also from the point of view of the cultural history of Rajasthan for it proves that Rajasthan was greatly influenced by the missionary activities of Asoka as well as of the Buddhist *sangha*.

Goyal on Post-Maurya Pre-Gupta History of Rajasthan

S.R. Goyal wrote extensively on the post-Maurya history of Rajasthan involving the Malavas, the Maukharis of Rajasthan and the Later Guptas whose original home he locates in Rajasthan. In his paper 'The Malavas of Rajasthan in the Third-Fourth Century A.D.' (*Proceedings of the Rajasthan History Congress*, VI, Beawar Session, 1973, pp. 15-20) he shows how the Malavas, an ancient people of the Punjab, migrated to Rajasthan sometime in the Sunga age. There they settled in the Ajmer-Tonk-Mewar tract with Malavanagara (modern Nagar or Karkotanagara in the erstwhile Jaipur state) as their capital. In the second century of the Christian era they had to accept the overlordship of the Sakas of the house of Chashtana, but became independent in the beginning of the third century A.D. when the power of the Karddamakas began to decline. In his *Magadha-Satavahana-Kushana Samrajyon ka Yuga* Goyal gives a detailed account of the various stages of the Saka-Malava struggle. According to the Nandsa Yupa inscriptions dated 225 A.D., freedom and prosperity had returned by that year to the country of the Malavas as a result of the brilliant achievements of the Malava chief Nandi Soma who performed the *Ekashashthiratra* sacrifice probably to proclaim the independence of the Malava republic.¹²

It is generally assumed that from 226 A.D., the Malavas enjoyed independence till their subjugation by Samudragupta, but Goyal believes that in the third century A.D. the Malava state for sometime belonged to the sphere of Naga influence. He points out that the Bharasiva-Nagas of Padmavati were the eastern neighbours of Malavas and that the name Karkotanagara, often applied to the Malava capital, suggests that this city for sometime had become

intimately associated with the Karkotas or Nagas. Viewed against these facts, the Naga influence on some of the later Malava coins assumes significance.

However, Goyal concedes that the Naga domination over the Malavas, if a historical fact, must have been short-lived. Actually, it was the period when the Malavas were making their influence felt in the greater part of Rajasthan and even in the region south of it. It is indicated by the use of their era in the records of the third and fourth centuries found from Bijayagadh (in old Bharatpur state) in the north-eastern Rajasthan to Mandasor in the south. But the gradual expansion of the Malava tribe resulted in the disintegration of their republic and led to the emergence of several independent or semi-independent states ruled by the people of Malava stock. The first and the most important of such Malava states was the one which became independent under the leadership of Sri Soma or Nandi Soma in c. 225 A.D. Nandi Soma was born in the Malava *vamsa* and belonged to the clan of the Sogins. His family claimed to be as famous as the royal stock of the Ikshvakus (*Ikshvaku prathitarajarishi vamsa*). It ruled over parts of Udaipur region as the discovery of its inscriptions from Nandsa suggests.

According to Goyal, it is almost certain that the Maukharis known from the Badva inscriptions¹³ of 238 A.D. (Krita era 295) as well as the later Maukharis of Kanauj belonged to the Malava stock like the Sogins. According to the Haraha inscription of Isanavarman, the Maukharis were the descendants of the hundred sons whom the king Asvapati obtained through the grace of Vaivasvata while according to the *Mahabharata* the Madra king Asvapati obtained one hundred sons called the Malavas through his queen Malavi as a result of the boon or *varadana* granted by Yama (=Vaivasvata) to the king's daughter Savitri. Thus, the combined testimony of the *Mahabharata* and the Haraha inscription very strongly suggests that the Malavas and the Maukharis belonged to the same stock. The existence of a principality of the Maukharis in the Kota region and the use of the Krita-Malava era by them as early as the first half of the third century A.D. makes it almost quite certain that they were really an offshoot of the Malavas.

The problem of the relationship of the Malavas and Maukharis has been discussed in detail by S. R. Goyal in the *Proceedings of the Rajasthan History Congress*, V, Ajmer Session, 1972, pp. 16-21) where he concludes that both of them belonged to the stock of the Solar Kshatriyas. But in his *Maukhari-Pushyabhuti-Chalukya Yugina Abhilekha* he corrects himself by

pointing that the king Asvapati of the *Mahabharata akhyana*, who was the ancestor of the father of the hundred sons (from whom the Malavas and Maukharis both claimed descent), belonged to the Lunar stock of Kshatriyas, and hence the Malavas and Maukharis could have been no other than the Lunar Kshatriyas. It is of course true that in the Nandsa Yupa inscriptions of 225 A.D. the Malava chief has been described as *Ikshvaku-prathita-rajarithivamse Malava-vamse-prasutasya*, but it only means that this Malava family was as famous as that of the Ikshvakus; to take this expression to mean that it descended from the Ikshvakus would be unnatural. This is one of the major suggestions of Goyal and throws welcome light on the origin of the Malavas and Maukharis of Rajasthan.

The existence of a third branch of the Malava tribe, according to Goyal, is indicated by a dated stone pillar inscription found at Bijayagadh near Bayana which records the erection of a yupa or pillar on which the inscription is engraved by the king Vishnuvardhana on the completion of a Pundarika sacrifice. Its date, 428, may be referred to the Malava era, with the result of 371-72 A.D. Further, the names ending in *vardhana* (viz. Vishnuvardhana, the king of this epigraph and of Yasovardhana, his father), Goyal argues, were quite popular among the Malavas. Therefore, it may be presumed that the Varika family to which Vishnuvardhana belonged was an offshoot of the Malava stock, though, the evidence in favour of this hypothesis, he admits, is not yet conclusive.

The last and one of the most important families of the Malava stock, called the Aulikaras, migrated southward and settled down in Mandasor region of western Malwa, formerly a part of the kingdom of the Karddamaka Sakas. In the middle of the fourth century A.D., it accepted the overlordship of the Guptas but continued to use the era of its own tribe, viz., the Krita era. The king of this dynasty must have ruled over some parts of southern Rajasthan also.

According to Goyal, it is interesting to note that the Malavas were great champions of the Vedic *yajna* cult. According to the Nandsa Yupa inscription dated 226 A.D., Sri Soma, the Malava chief, performed *Ekashashthiratra* sacrifice. The Aulikara emperor Yasodharman-Vishnuvardhana, known from the Mandasor inscription of 532 A.D. was also a great champion of the cult of sacrifices. The same was the case with the Maukharis. From the Badva inscriptions we learn that each of the three sons of Bala performed a *Triratra*

sacrifice. The imperial Maukharis of Kanauj are also known to have been great patrons of the Vedic religion. And lastly, the very fact that rulers of all these Maukhari principalities, whether big or small, like the Malavas used the Krita-Malava era as early as the first half of the third century A.D. is not without significance. These common features may collectively be taken to show that the Maukharis and the Malavas belonged to the same stock.

Goyal's Studies in the History of Rajasthan of the Gupta and Pushyabhuti Period

S. R. Goyal has proposed substantial changes in the history of Rajasthan region of the Gupta and Pushyabhuti (Vardhana) period. In his Hindi works on the Gupta age he has studied thoroughly the tribes of Rajasthan which submitted to the Guptas and the policies which Samudragupta and his successor Chandragupta II adopted towards them. Incidentally, in one of his papers published in the *PRHC* (VI, Beawar Session, 1973, pp. 132-33) he has plausibly suggested that Dhruvadevi, the queen of Chandragupta II, belonged to Rajasthan and that she was probably the sister of Dhruvasvami mentioned in the Bhimchauri inscription of the Gupta period.

S.R. Goyal has also shown that in the Gupta and Pushyabhuti periods Malava *janapada* mentioned in the contemporary literature was situated in the Ajmer-Tonk-Mewar region of modern Rajasthan. Bana in the *Harshacharita* describes Madhavagupta (who is generally identified with the Later Gupta king of that name) as the son of a king of Malava (Malava *rajputra*). This solitary evidence from Bana's *Harshacharita* shows that Madhavagupta's father Mahasenagupta ruled over some region known as Malava. This Malava *janapada* of Mahasenagupta has been identified by some with eastern Malwa and by others with western Malwa. But S.R. Goyal¹⁴ shows his disagreement with this identification and says that there is no early authority to show that in the Gupta age also the name Malava denoted either eastern or western part of the region now known by the name Malwa. He himself believes that till the sixth century Malava denoted modern Ajmer, Tonk and Jaipur regions and that the original home of the 'Later Guptas' should be located in this part of Rajasthan. He argues that on the basis of Bana's evidence one can maintain that from the seventh century the use of the name Malwa for Avanti region had begun, but it was yet to become popular. The situation in the fifth and sixth centuries was quite different. The *Kamasutra*,¹⁵ which is usually assigned to the Gupta age, clearly differentiates between Avanti and Malava *janapadas*. In the *Bhagavata*

*Purana*¹⁶ the Malava country is associated with Arbuda or Abu and is distinguished from Avanti which is associated with Surashtra. Similarly, Varahamihira¹⁷ in his *Brhatsamhita* distinguishes between Malava and Avanti and places the former in the northern division. It means that in his own times Avanti was regarded as quite distinct from Malava country. As Varahamihira himself was an inhabitant of Avanti, his evidence cannot be brushed aside. In the sixth century, when Varahamihira is known to have flourished, western Malwa was not known as Malava-desa. And as eastern Malwa must have acquired this name even later than western Malwa, there remains no reason to suppose that in the sixth century a king of eastern Malwa could be known as Malava-*raja*. From all these facts Goyal concludes that the Malava *janapada* of the Gupta age, up to the age of Bana at least, should be located in Ajmer-Tonk-Jaipur area of Rajasthan and the original kingdom of the Later Guptas should be located in this part of Rajasthan. He believes that this is strongly corroborated by the contemporary political situation.

Goyal has tried to show that Jivitagupta of Rajasthan was a feudatory of Yasodharman-Vishnuvardhana and he participated in the expedition launched by his overlord against the enemies dwelling in the Himalayas and on the eastern seashore. Similar must have been the case of the Maukharis who are known to have defeated their enemies in the Himalayan region as well as in Bengal during the reign of Isvarvarman, a contemporary of Jivitagupta I and Yasodharman. He also surmises that either Yasodharman or one of his successors had to measure swords with the rising power of the Maukharis. Perhaps their conflict is recorded in the Jaunpur inscription. Kumaragupta, the son of Jivitagupta I, participated in this war on behalf of his Vardhana overlord and the battle between Isanavarman and Kumaragupta recorded in the Apsad inscription was a part of this conflict between the Maukharis of Kanauj and the Vardhanas of western Malwa. Lastly, he mentions that Mahasenagupta fought the battles in Kamarupa as a subordinate or an ally of Sasanka and not independently.

The location of the Malava *janapada* in Ajmer-Tonk area of Rajasthan suggests another interesting possibility—namely, that a Vakataka invasion took place in this region in the fifth century A.D. In this connection Goyal points out (*PRHC*, V, Ajmer Session, 1972, pp. 22-26) that in the Balaghat plates of Prithvishena II, the son of Narendrasena, it has been claimed that the command of his father were honoured by the rulers of Kosala, Mekala and Malava. It is generally believed that Malava of the Balaghat plates was identical with the

present western Malwa which was a feudatory state of the Guptas. But, Goyal argues, the Vakatakas were aware of this distinction between Malava *janapada* and Avanti because in his Ajanta record Harishena claims to have brought Avanti under the sphere of his influence. The combined testimony of the Balaghat plates of Prithvishena II and the Ajanta inscription of Harishena, two almost contemporary records, when juxtaposed with the literary evidence suggesting the location of the Malava *janapada* in Rajasthan very strongly suggests that the two Vakataka epigraphs refer to two different territories. Therefore, Goyal believes that in his Balaghat plates Prithvishena II refers to the authority of his father Narendrasena over Ajmer-Tonk-Mewar area, and not over Avanti or western Malwa. Geographically also this interpretation is quite logical. Even a cursory glance over the map of India shows that from Mekala and Uchchakalpa kingdoms one could directly proceed towards the Tonk-Mewar region of Rajasthan. During the troubled period of 454-55 A.D., when Skandagupta's hands were full with the Huna invasion, it must have been quite easy. And if the initiative for forging political friendship between the Vakatakas and the Malavas was taken by the Malava king, there was absolutely no hindrance in his way. Thus, concludes Goyal, Rajasthan must have witnessed a Vakataka invasion in the fifth century.

S.R. Goyal has argued that the Pushyabhuti emperor Harsha had varying degrees of hold over the various parts of Rajasthan (*PRHC*, XI, Jaipur Session, 1978, pp. 14-19). The strongest argument in favour of Harsha's authority over Rajasthan emerges from the testimony of Bana. From his *Harshacharita* we learn that Prabhakaravardhana, the father of Harsha, defeated not only the Hunas and Gandharas, but also the rulers of Sindh, Lata, Malava and Gurjara kingdoms. The location of these kingdoms *vis-à-vis* Thanesar is of great significance because no ruler of Thanesar (in modern Haryana) could become a source of danger to Sindh, western Malwa (or Malava *janapada* of Rajasthan) and southern Gujarat without obtaining reasonably firm hold over the greater part of Rajasthan.

That Harsha also carried his victorious arms to Sindh, Malava and Gujarat is proved by the combined testimony of the *Harshacharita* and contemporary epigraphs. As is well-known, in his *Harshacharita* Bana has described in detail how after the death of Prabhakaravardhana, the Malava king made common cause with the Gauda ruler and attacked Kanauj, but was himself defeated by Rajyavardhana. Bana also refers punningly to the appropriation of the *rajalakshmi* or the royal glory of the king of Sindh by

Harsha. As regards Gujarat, a Nausari copper plate grant of the Gurjaras of Lata tells us of “the illustrious Dadda, over whom, with the grace of a white cloud, there hung ceaselessly a canopy of glory, gained by protecting the lord of Valabhi, who had been overpowered by the great lord, the illustrious Harshadeva.”

The prevalence of the Harsha era in western Rajasthan gives additional weight to the theory of Harsha’s hold over this area. D.C. Sircar has prepared a list of sixteen inscriptions the date of which may be referred to the Harsha era¹⁸ (excluding the charters of Harsha himself). Of them as many as nine belong to Rajasthan. Five of these were discovered in Jaipur-Alwar-Bharatpur area which is quite close to Thanesar-Kanauj region and four were found in Mewar which was adjacent to Gujarat. In this list those belonging to Rajasthan happen to be the earliest and quite near to the age of Harsha himself.

Further, Goyal argues, almost simultaneous assumption of the imperial titles by the Maitraka and Maurya rulers, and the adoption of the Vikrama era by the Guhilas of Medapata shortly before the death of Harsha, indirectly suggest that all three of them had formerly been subject to his authority.

Goyal's Contribution to the Early Medieval History of Rajasthan

Goyal discusses the various aspects of the history of early medieval Rajasthan in Volume III of his political history of ancient India up to 750 A.D. at appropriate places. As the personality of what is now known as Rajasthan becomes somewhat clear only in the post-Gupta period, at least as the land of Rajputs, it is in the third volume entitled *Maukhari-Pushyabhuti-Chalukya Yuga* (Meerut, 1988) that separate chapters or sections have been written on the dynasties of Rajasthan. In one full chapter Goyal discusses the history of the Later Guptas (pp. 63-82), whose Malava *janapada*, as noted above, is located by him in Rajasthan. This has given a new orientation to the history of Rajasthan in the sixth century.

Goyal also discusses the history of the Pratiharas of Mandor (pp. 89-93, 394-96), Chapas of Bhillamala (pp. 93-95), Chahamanas of Sakambhari (p. 95), Guhilas of Kishkindha and Mewar (pp. 93-99, 390-93), Guhilas of Chatsu (p. 393) and the Mauryas of Mewar (pp. 393-94). He has thrown new light on Harsha’s relations with Rajasthan (pp. 217-21).

Following Dasharatha Sharma he has shown that the Pratiharas of Mandor were not related with the Gurjara-Pratiharas of Kanauj and Gurjaras of Lata. The Pratiharas of Mandor, according to him, were Brahmanas by

caste tracing their descent from Harichandra, a Brahmana (pp. 394-96). They nowhere call themselves Gurjaras and refer to Lakshmana merely to show that he had made the *pratihara* profession illustrious by doing the work of a *pratihara*, not because he was their ancestor. On the other hand, the Gurjara-Pratiharas of Kanauj claimed to be Kshatriyas of Solar origin and refer to Lakshmana as their ancestor. The Gurjaras of Lata were only Gurjaras; they do not call themselves Pratiharas anywhere. Rather, they call themselves descendants of a certain Maharaja Karna. Thus, the Pratiharas of Mandor, the Gurjara-Pratiharas of Kanauj and the Gurjaras of Lata were not related with each other. Like the Pratiharas of Mandor, the Guhilas and the Chahamanas also belonged to the Brahmana order. Goyal's treatment of the problem of the identification of Bappa Rawal is also highly interesting and original (pp. 390-92). All in all, Goyal's researches throw a considerable light on the origin of Rajput dynasties.

According to S. R. Goyal, many Rajput dynasties, such as, the Pratiharas of Mandor, the Chahamanas and Chalukyas of the Deccan and the Paramaras of Malwa were originally Brahmanas and became Kshatriyas by adopting the profession of warriors. Similarly, many Rajput dynasties originated from the tribes of the Rajasthan; e.g., the Johiya Rajputs originated from the Yaudheyas. But a few Rajput dynasties could actually have been connected with the old Vedic Kshatriya order. However, not in a single instance other scholars have been able to visualise a definite link between them and the Vedic Kshatriyas. According to Goyal, however, the case of the Maukharis (though not a Rajput dynasty in the strict sense of the term, but nevertheless a Kshatriya dynasty which flourished in the period when the 'Rajput' dynasties were gradually emerging as political powers) furnishes such an instance because now it can be maintained that a branch of the Madras of the Vedic period became famous as Malavas, and the latter, whose history may be traced from the fourth century B.C., i.e., right from the close of the Vedic period, became divided, probably during these migrations from the Punjab into Rajasthan or even earlier, into several branches, one of them being the Maukharis. It is also quite possible that the Maukharis coexisted with the Malavas even in the later Vedic period. Thus, it is now possible to connect the Maukharis of the Gupta and post-Gupta periods with the Vedic Kshatriyas with a fair degree of certainty. This conclusion of Goyal imparts additional interest to the study of the origin of the new ruling houses in the post-Gupta history. He also tries to correlate the discussion on the origin of Rajput dynasties with their subsequent history. So far scholars

usually discuss the problem of the social origin of a dynasty but do not integrate their conclusion with its subsequent history. Goyal emphasizes that an investigation of the social origin of a dynasty becomes meaningful only if it is shown that it had repercussions for their later history.

Some of the papers of S. R. Goyal also throw new light on political history of the early medieval Rajasthan. In one of his papers (*PRHC*, X, Udaipur Session, 1977, pp. 38 ff.) he has postulated the existence of Kamalayudha as a member of the Ayudha family of Kanauj. Kamalayudha has been mentioned as the one who gave Vakpati, the author of *Gaudavaho* much respect. He, therefore, could have been a member of the Ayudha family, the ruling house of Kanauj.

A more important paper of Goyal on the history of Rajasthan is 'The Riddle of Ama-Nagavaloka of the Jaina Tradition'. In this he has discussed various evidences on the historicity of king Ama-Nagavaloka described in the Jaina tradition (*PRHC*, IX, Kota Session, 1976, pp. 26-36). He has proved that the Jaina tradition has confused king Ama-Nagavaloka, the son of Yasovarman of Kanauj, with Nagabhata II alias Nagavaloka, the Pratihara monarch, who ruled over Kanauj some decades later. That is why some facts about Ama-Nagavaloka of the Jaina tradition are applicable to the son of Yasovarman while others obviously relate to Nagabhata II Pratihara.

Goyal also published two very significant papers on the Gwalior *prasasti* of Mihirabhoja dealing with the description of the conquests of Nagabhata II contained therein. In one of these papers (*PRHC*, VII, Pali Session, 1974, pp. 31-36) he shows that there is absolutely nothing in the Gwalior *prasasti* either to indicate that its author has described the achievements of Nagabhata II in chronological or geographical order or to suggest that the various powers enumerated in a verse were defeated by the Pratihara emperor at a particular time. He, therefore, suggests that the author of the record has grouped these powers in accordance with their relationship with Nagabhata and the manner in which they were treated by him. In the eighth verse he has enumerated those powers which succumbed to the splendour of Nagabhata's energy as moths do unto fire. In the ninth verse he has given an account of the defeat of Chakrayudha of Kanauj, an important event because it eventually led to the transfer of the Pratihara capital to that city. In the tenth is described Nagabhata's victory over the Pala emperor obviously because as a result of this achievement the former emerged as the greatest ruler of the country (literally 'like the rising

sun giving light to the three worlds'). And lastly, in the eleventh verse he has enumerated those regions which were incorporated in the Pratihara empire leading to their disappearance, at least for the time being, as separated independent kingdoms. This scheme at once reminds a student of ancient Indian history of a similar scheme found in the Prayaga *prasasti* of Samudragupta in which after describing the victory of the Gupta emperor over his greatest rivals, viz., the Nagas in a separate verse (7th) its author Harishena has categorized the various powers defeated by the Gupta emperor into four lists in accordance with the different types of policies adopted towards them.

In another paper (*PRHC*, VII, Pali Session, 1974, pp. 28-30) S.R. Goyal discusses the significance of the phrase *kaumara dhamani patangasamairapati* occurring in the verse 8 of the Gwalior *prasasti*. The verse claims that the kings of Andhra, Sindh, Vidarbha and Kalinga succumbed to the splendour of his (Nagabhata II's) energy as moths do unto fire (*kaumara dhamani patangasamairapati*). It is variously interpreted by scholars. Goyal gives an altogether new interpretation of the phrase. He suggests that what the author of the Gwalior record intended to convey by the phrase *kaumara dhamani patangasamairapati* was that the moth-like rulers of Sindh, Andhra, etc., perished in the fire that was the splendour of the energy of Nagabhata II when they rushed towards him, that is committed the folly of invading the Pratihara empire. He obviously did not mean that Nagabhata himself took the initiative by attacking these rulers.

Some Other Contributions of S.R. Goyal to the History of Rajasthan

S. R. Goyal seems to be interested in the cultural history of Rajasthan as well. For example, in his foreword written for *India as Known to Haribhadra Suri*,¹⁹ the Doctoral dissertation of R. S. Shukla, he discusses in detail the life and works of the great Jaina *acharya* Haribhadra who belonged to Rajasthan and whose works throw considerable light on the cultural life and state of Jainism in this region. He has also determined the date of the Jaina *acharya* placing him in between 725 and 825 A.D. In his foreword for the thesis on Mira, the great poetess of Rajasthan, written by Rama Bhargava, he shows remarkable originality in delineating the nature of Mira's *bhakti* and the sources which might have inspired her.²⁰ In another foreword written for the *British Policy towards the Princely States*²¹ he gives an overview of the attitude of the British Government towards the princely states and also of the rulers of the

princely states towards the British Government. It is a significant contribution of Goyal to the study of modern Rajasthan.²² In this he shows that the attitude of the Indian princes towards the British Government was but an aspect of the general attitude of the English educated class which had vested interest in the perpetuation of the British rule.

Estimate of S.R. Goyal's Rajasthan Studies

S. R. Goyal's contribution to the history of Rajasthan has been greatly admired by G. N. Sharma, one of the greatest modern historians of Rajasthan, in his article 'S. R. Goyal and Rajasthan Studies', published in *S. R. Goyal: His Multidimensional Historiography* (New Delhi, 1992).²³ According to him, "The great merit of the writings of Goyal on Rajasthan is that he has not followed blindly the theories of earlier scholars, howsoever eminent, and has tried to establish what the evidence at his disposal suggests." (p. 161). B. L. Sharma, in his article on Goyal's contribution to the study of Rajasthan history echoes the same sentiments and admires Goyal's dedication to truth, impartial analysis of facts and non-attachment with any school of thought.²⁴ Incidentally, one of the four-volume festschrifts for S. R. Goyal, which was published in 2003, was exclusively devoted to the history and culture of Rajasthan.²⁵ It is an additional proof of the recognition accorded to him as a historian of note who has made significant contribution to Rajasthan studies.

S. R. Goyal has indeed filled a great lacuna in Rajasthan studies. Before him no scholar of note worked so devotedly on the history of Rajasthan of the pre-Pratihara period. As noted above, even Dasharatha Sharma devoted only about twenty pages of the early historical period of this region while other historians concentrated their attention on the early medieval, medieval and modern Rajasthan. Goyal has, thus, filled a great *desideratum* by working on ancient history of Rajasthan.

References

1. Lallanji Gopal, in his introduction to S. R. Goyal's *A History of Indian Buddhism*, Meerut, 1987, p. xxv.
2. S. R. Goyal, in his key-paper, 'Need of a New Approach to the Writing of Political History of Ancient India', in *Political History in a Changing World*, eds. G.C. Pande, S.K. Gupta and Shankar Goyal, Jodhpur, 1992, p. 5.
3. For a new awareness in political history writing of ancient India, see my paper 'Political History: The Loss of Innocence', in G. C. Pande et al, *op.cit.*, pp. 290-99.
4. For a comprehensive exposition of the Marxist approach to ancient India, cf. my *Marxist Interpretation of Ancient Indian History*, Poona, 2000.

5. For a thorough analysis of Goyal's techniques, see my paper 'S.R. Goyal's Approach to History', in *S. R. Goyal : His Multidimensional Historiography*, eds. Jagannath Agrawal and Shankar Goyal, New Delhi, 1992, pp. 23-34; also see my *Ancient India : A Multidisciplinary Approach*, Jodhpur, 2006.
6. S. R. Goyal, *Prachina Bharatiya Abhilekha Samgraha*, Jaipur, 1982.
7. S. R. Goyal, *Maukhari-Pushyabhuti-Chalukya Yugina Abhilekha*, Meerut, 1988.
8. S. R. Goyal, *Guptakalina Abhilekha*, Meerut, 1984.
9. *PRHC*, VII, Pali Session, 1974, pp. 28-30 and 31-36.
10. S. R. Goyal, *Magadha-Satavahana-Kushana Samrajyon ka Yuga*, Meerut, 1988, pp. 99-100.
11. S. R. Goyal, *Prachina Bharatiya Abhilekha Samgraha*, p. 89; D.C. Shukla, *Early History of Rajasthan*, Delhi, 1978, p. 16.
12. *Ibid.*, pp. 275-80; also see, Meghna Goyal, 'The Malavas and their Coins', *JNSI*, LXXIV, i-ii, 2012, p. 58.
13. *Ibid.*, pp. 283-87.
14. *Bharati*, Professor R. B. Pandey Volume, pp. 20-28; *PRHC*, VIII, Ajmer Session, 1975, pp. 24-31.
15. *Kamasutra*, 2.5.22 and 24.
16. *Bhagavata Purana*, 12.1.38.
17. A. M. Shastri, *India as Seen in the Brhatsamhita of Varahamihira*, Delhi, 1967, pp. 70-88.
18. D. C. Sircar, *The Guhilas of Kishkindha*, Calcutta, 1956, p. 47. For a detailed study of Harsha's relations with Rajasthan, vide my *History and Historiography of the Age of Harsha*, Jodhpur, 1992, pp. 223 ff.; idem, *Harsha : A Multidisciplinary Political Study*, Jodhpur, 2006, Ch. 7.
19. Meerut, 1989, pp. ix-xiii.
20. In Rama Bhargava's *Bhakti Kavya ki Parampara men Mira*, Jodhpur, 1991, pp. viii-xv; also see, Yogeshwari Shastri, 'Eka Sahityakara ki Drshti men Goyalji', in *Rajasthan Bharati, Professor S.R. Goyal Abhinandana Grantha*, eds. Sobhag Mathur and Shankar Goyal, Jodhpur, 1995, pp. 39-45.
21. Ed. R. P. Vyas, Jodhpur, 1991, pp. x-xvi.
22. Sobhag Mathur, 'S.R. Goyal on Medieval and Modern Indian History', in Jagannath Agrawal and Shankar Goyal, pp. 213-14.
23. Eds. Jagannath Agrawal and Shankar Goyal, New Delhi, 1992.
24. B.L. Sharma, 'Professor S. R. Goyal ka Rajasthan ke Itihasa ke Adhyayana men Yogadana', in *Rajasthan Bharati*, pp. 29-37.
25. *Rajasthan : From Prehistory to the Independence Era*, ed. Shankar Goyal, Jaipur, 2003.

शैलचित्रों में प्रदर्शित ऐतिहासिक विकास के चिह्न : गरडदा शैलाश्रयों के विशेष संदर्भ में

वीरेन्द्र शर्मा

बूंदी जिला मुख्यालय से 35 किलोमीटर की दूरी पर दक्षिण दिशा में स्थित है, गरडदा नामक ग्राम । इस ग्राम के समीप नदी है जिसे छाजा, रेवा, फाटी सिला की नदी, मांगली नदी इत्यादी नामों से पहचानते हैं। इस नदी के दाहिने एवं बायें किनारों पर अनेक छज्जेदार सैकड़ों चट्टानें एवं शैलाश्रय हैं, जिनमें प्रागैतिहासिक काल के मानव ने लाल, गेरू, कत्थई, सफेद रंगों से चित्र बनाये हुये हैं। यह चित्र अलग-अलग काल के खंडों के हैं। गरडदा नामक रॉक पेन्टिंग साईट की खोज ओम प्रकाश शर्मा उर्फ 'कुक्की' द्वारा 12 जून, 1978 में की गई थी। भारतीय पुरातत्व मानकों के अनुसार देश में मिलने वाली रॉक पेन्टिंग्स दस हजार (10,000) वर्ष तक प्राचीन हैं। किन्तु गरडदा ग्राम की पहाड़ियां एवं नदी के किनारों के आस-पास प्रारम्भिक पाषाण युग अर्थात् अशूलियन पीरियड के प्रस्तर उपकरण भी मिले हैं जो आठ लाख (8,00,000) वर्ष से 1-50,000 वर्ष तक प्राचीन हैं। इन्हीं किनारों के पास में मिडिल पेल्यो लिथिक पीरियड के प्रस्तर उपकरण (औजार) भी मिले हैं, जो 1-50,000 वर्ष से 60,000 वर्ष तक प्राचीन हैं। इसी नदी के मध्य की पहाड़ी एवं आसपास के क्षेत्र में माइक्रो लिथिक अर्थात् उत्तर पाषाण कालीन लघु पाषाण उपकरण तैयार करने की 2-3 कार्यशालाएं भी मिली हैं। जहां प्रागैतिहासिक काल का मानव बाणाग्र-फलक इत्यादि का निर्माण, चर्ट-ऐगेट एवं चाल्सीडोनी नामक मजबूत-कठोर एवं चिकने पत्थरों से किया करता था, आज भी यहां हजारों की संख्या में ऐसे पत्थर बिखरे एवं दबे पड़े हैं।

गरडदा नामक ग्राम, विध्याचल पर्वत मालाओं एवं पठारों के मध्य स्थित है। गरडदा क्षेत्र की पहाड़ियों, पठारों में सैण्ड स्टोन नामक पत्थर की खदानें हैं। चम्बल नदी बूंदी कोटा जिलो की सीमा का बंटवारा करती है। चम्बल नदी का बायां किनारा शैलचित्रों की दृष्टि से पूरे भारत वर्ष में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विश्व की सबसे लम्बी शैलचित्र श्रृंखला भी इसी क्षेत्र में मिली है। यह शैलचित्र श्रृंखला रेवा अर्थात् डूंगरी नाला नदी में मिली है जो आगे चलकर मांगली नदी के नाम से जानी जाती है। यह नदी शैलचित्रों से भरी पड़ी है। यहां सिर्फ शैलचित्र ही नहीं हैं। इनके अतिरिक्त, आदिमानव (प्रागैतिहासिक) के सभी क्रियाकलापों के अवशेष चप्पे-2 में बिखरे पड़े दिखाई

देते हैं। गरडदा से लगभग 28 चित्रित शैलाश्रय प्राप्त हुए हैं जिनमें विविध पक्षों को प्रदर्शित किया गया है।

मांगली नदी के दाहिने किनारे पर स्थित शैलाश्रय 1 करीब 15 फीट ऊँचा 12 फीट चौड़ा 6-7 फीट गहरा शैलाश्रय है। जिसमें कतारबद्ध 13 हिरणो का झुंड, जंगली बकरी, शेर, बैल, गाय, इत्यादि के चित्र हैं, इनके अतिरिक्त कतारबद्ध 6-7 हिरणो का समूह, मानव कृतियां बहुत से अस्पष्ट चित्र भी बने हुए हैं। यह सभी चित्र लाल एवं गेरू रंग के हैं, जिनका आकार 2 इंच से लेकर 5-6 इंच तक का है। इस शैलाश्रय के सभी चित्र चाल्को लिथिक पीरियड के हैं।

शैलाश्रय न. 2 नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यहां नीचे की तरफ झुकी हुई विशाल चट्टान है। जिसके अन्दर की तरफ गेरू रंग के लगभग 2 दर्जन चित्र बने हुए हैं। जिनमें ऊट जैसे पशु पर मानव सवार है, ऐसे 3-4 चित्र हैं। इनके अतिरिक्त मानवाकृतियां, पक्षीनुमा चित्र, अलंकरण (डिजाईन) इत्यादि के बहुत से चित्र हैं, यहां चट्टान के नीचे पत्थर का एक चौकोर विशाल कुण्डा भी है जिसका प्रयोग प्रागैतिहासिक मानव, अनाज कूटने, पीसने एवं संग्रहण हेतु करता था।

शैलाश्रय न. 3 नदी के दाहिने किनारे पर है, जो दो मंजिली है। इस चट्टान का नीचे का हिस्सा चौकोर टाईप का है, ऊपरी हिस्सा तीन दिशाओं में बंटा हुआ है। इस शैलाश्रय की दीवार में लगभग 150 चित्र हैं। जिनमें दहाडता शेर, जंगली भैंसे का शिकार करता विशाल मानव का चित्र, भागते हिरणो के झुंड, नीलगायें, मानवाकृतियां, नृत्य करते पुरुष, नाना प्रकार के सरीसर्प, एक विशाल सरीसर्प जिसके दर्जनो पैर हैं। हरे रंग का तिकोना मानव का चित्र, बिच्छू, कछुआ इत्यादि के सुन्दर चित्र बने हुए हैं। इस शैलाश्रय के सभी चित्र लाल एवं गेरू रंग के हैं। इस शैलाश्रय में सिर्फ एक ही हरे रंग का चित्र है, जिसमें लम्बवत आकार के मानव को दर्शाया गया है।

शैलाश्रय 4 नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है एवं शैलाश्रय 3 का ही हिस्सा है, यह पश्चिम मुखा शैलाश्रय है। इस शैलाश्रय में सिर्फ एक ही चित्र है और चित्र भी ऐसा है जो पूरे भारत वर्ष की रॉक पेन्टिंग में दुर्लभ है। इस शैलाश्रय में पक्षी पर सवार मानव का चित्र है। शैलचित्र विशेषज्ञों के अनुसार यह बर्ड राइडर का चित्र है, जो देश की रॉक पेन्टिंग में पहली बार मिला है। किन्तु ओम प्रकाश कुक्की के अनुसार यह बर्ड राइडर नहीं बल्कि ड्रेगन का चित्र है। क्योंकि पक्षी के चार पैर नहीं होते, उनके दो ही पैर होते हैं। उसकी लम्बी पूंछ भी नहीं होती, और गर्दन भी इतनी अधिक बड़ी नहीं होती, यहां जिस पक्षी का लाल रंग का चित्र बना हुआ है, वह करीब 13-14 इंच का है, और 7-8 इंच ऊंचा है। इसमें एक विशाल पक्षी को दिखाया गया है। जिसके चार पैर एवं एक लम्बी पूंछ है, उसके पंख भी हैं, गर्दन बहुत लम्बी है। इस पक्षी के मुह में कुछ शिकार

जैसी वस्तु है अर्थात् वह कुछ मांस इत्यादि खा रहा है। एक विशाल मानव उसके पीछे खड़ा है, जिसके हाथ में षस्त्र जैसी वस्तु है। देखने में यह लगता है कि वह एक पक्षी पर बैठा है।

शैलाश्रय 6 मांगली नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। जिनमे प्राकृतिक रूप से छज्जे एवं गहराईयां बनी हुई है। इन्ही छज्जे एवं गहराईयों का प्रयोग प्रागैतिहासिक मानव ने प्रथम आवास हेतु उपरान्त शैलचित्र बनाने हेतु प्रयोग में लिया। शैलाश्रय 6 पश्चिम मुखा है। यहां जो गहराई लिये चट्टान, सरफेस की चट्टान के उपर गिरी पडी है। करीब 20-25 फीट लंबी है एवं अन्दर की तरफ 3-4 फीट गहरी है। गुफा के अन्दर गेरू रंग का एक मंदिर बना हुआ है, जिसमें दो गुम्बद दर्शाये गये हैं, गुम्बद के उपर झंडे भी दर्शाये गये है। इस शैलाश्रय में हाथ के पंजों के छापों के चित्र लघु आकार के जंगली जानवरों के मिनियेचर चित्र बने हुए हैं। इस शैलाश्रय के सभी चित्र चटख लाल रंग के है। कुछ चित्र गेरू रंग के भी है। इस शैलाश्रय में चालको लिथिक एवं हिस्टोरिक दोनों प्रकार के चित्र हैं।

शैलाश्रय 7 नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है, जो कि उत्तर मुखा है। छोटे से शैलाश्रय मे नील गायों के चित्र साथ ही जंगल भी दर्शाया गया है। यहां नील गायों को बड़े आकर का दिखाया गया है। जो कि गर्दन से पूंछ तक लम्बे आकार की है। इसके अतिरिक्त जिराफ जैसी आकृति के जानवर को भी चित्रित किया गया है। जिसकी गर्दन अत्यधिक लम्बी है। और पैर भी बहुत बड़े दिखाये गये हैं। यह यहां का अदभुत चित्र है। यहां के चित्र चालको लिथिक पीरियड के है।

शैलाश्रय 8 नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है, 7-8 फीट ऊंचे शैलाश्रय, जो कि पश्चिम मुखा है, में अत्यधिक कलात्मक चित्र है। इस शैलाश्रय में शाकाहारी जीव, संभवतः नीलगाय को जंगल में वृक्षों की पत्तियां चरते दिखाया गया है। नीलगाय का सुन्दर चित्रण किया गया है। उससे भी सुन्दर चित्रण जंगल का किया गया है। साथ ही फंदे का चित्र भी दर्शाया गया है। पत्तियां चरती नीलगाय साथ ही फंदा सभी चित्र बडी कुशलता से बनाये गये है, इस शैलाश्रय के 3-4 और भी चित्र है। सभी चित्र बहुत खूबसूरती से चित्रित किये गये हैं।

शैलाश्रय 9 नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है, और उत्तर मुखा है, यह विशालकाय शैलाश्रय है। जो संभवतया प्रागैतिहासिक काल के मानवों के मुखिया का शैलाश्रय रहा होगा। इस शैलाश्रय में सेकड़ों की संख्या में प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक चित्र है। यह शैलाश्रय शैलचित्रों से अटा पड़ा है। जिसमें नृत्य करते स्त्री-पुरुष, शेर, बैल, वन्यजीव, मानव कृतियां, मांडणे, ज्यामितिय डिजाईन, सर्प, ऊंट इत्यादि के सैकड़ों चित्र हैं। चित्र संख्या एक शैलाश्रय के उपरी भाग में ट्रेप (फंदे) नुमा एक

मेसोलिथिक चित्र है। जिसके पास वृषभ दिखाया गया है। जिसके बड़े आकार के सींग हैं। गरडदा के शैलचित्रों में पहली बार सफेद रंग से बना एक बैल का चित्र भी मिला है, जो बड़े आकार का है। इसके अतिरिक्त एक विशाल मानव का चित्र जिसने धोतीनुमा वस्त्र पहन रखे हैं एवं जिसके दोनो हाथ हवा में उठे हुये हैं, आगे ऊँट चल रहे हैं, का दृश्य बहुत सुन्दर है। जिसके अतिरिक्त लम्बवत आकार की मानवाकृतियां हाथ के पंजो के छापे, नृत्यरत स्त्री-पुरुष नाना प्रकार के मांडणे इत्यादि के चित्र इस शैलाश्रय में चित्रित किये गये हैं। बहुत से गेरू रंग के ऐतिहासिक चित्र भी इस शैलाश्रय में चित्रित किये गये हैं। इस शैलाश्रय में मेसोलिथिक, चाल्कोलिथिक एवं हिस्टोरिक तीनों काल खण्डों के चित्र यहां चित्रित किये गये हैं।

शैलाश्रय 11 नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। 15 फीट ऊँचा 15 फीट चौड़ा एवं 8 फीट अन्दर की तरफ गहरा है। इस शैलाश्रय में अत्यन्त लघु आकार के चित्र हैं। जो प्रथम दृष्टया दिखाई नहीं देते हैं। ध्यान से देखने पर ही दिखाई देते हैं। इन चित्रों में बन्दर, मोर, हिरण, बैल, फूल (पुष्प), वन्य जीव इत्यादि मुख्य हैं। यह चित्र मात्र एक इंच से 2-3 इंच तक हैं। इसके अतिरिक्त शैलाश्रय के कोने में कुछ बड़े आकार के वन्य जीवों के चित्र भी हैं। यह चित्र गेरू एवं लाल रंगों से निर्मित हैं। इस शैलाश्रय के चित्र चाल्कोलिथिक पीरियड के हैं। यह शैलाश्रय पश्चिम मुखा है।

शैलाश्रय 13 नदी के दाहिने की तरफ चट्टानों के मध्य एक विशालकाय शिलाखण्ड गिरा पड़ा है। जिसकी लम्बाई लगभग 25-30 फीट एवं ऊँचाई 15-20 फीट की है। इस विशालकाय शिलाखण्ड के नीचे की ओर गहराई है। इस गहराई में दर्जनों की संख्या में हिरण, बैल, मानवाकृतियां, जिराफ एवं वन्य जीवों के चित्र हैं। जो गेरू एवं लाल रंग से निर्मित हैं। इस शिलाखण्ड का बहुत बड़ा हिस्सा चित्रों से भरा पड़ा है। जिसमें कुछ अजीब दुर्लभ जीवों के चित्र भी हैं, जो दृष्टव्य नहीं होते हैं। इस शैलाश्रय के सभी चित्र मेसोलिथिक पीरियड के हैं। गरडदा के शैलचित्रों को देखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रागैतिहासिक मानव से लेकर सभ्य मानव के बीच की सभी संस्कृति क्रियाकलापों की कड़ियां यहां मौजूद हैं। गरडदा में मेसोलिथिक, चाल्कोलिथिक एवं सभी काल खण्डों के चित्र मौजूद हैं। गरडदा के शैलचित्रों में शैलाश्रय 13 का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें देश की सबसे प्राचीन शैल कला है।

शैलाश्रय 19 में नृत्य करती मानवाकृतियां शेर, बैल, वन्य जीव इत्यादि के लगभग दो दर्जन चित्र हैं, जो छोटे आकार के हैं। ये चित्र लाल गेरू रंग के हैं। यह चित्र चाल्कोलिथिक पीरियड के हैं। शैलाश्रय 20 पूर्व मुखा शैलाश्रय है जिसकी गोलाकार गहराई में चटख लाल रंग के चित्र बने हुए हैं। जिसमें चौकोर गोलकार ज्यामितिय डिजाईन के अत्यन्त सुंदर चित्र हैं। जिसमें रेखाओं का बहुत सुंदर उपयोग किया गया है। यह चित्र चाल्कोलिथिक एवं इतिहास कालीन पीरियड के मध्य के हैं।

शैलाश्रय 21 पूर्व मुखा विशाल शैलाश्रय है जिसमें चटख लाल रंग के बैल एवं वन्य जीवों के अत्यन्त मनमोहक चित्र है। इसमें बैलों के बड़े-बड़े आकार के सींग एवं गर्दन एवं गले के नीचे की ओर झूल गिरती दिखाई गई है, के बहुत सुन्दर चित्र है, बहुत से अधमिटे चित्र भी है। इस शैलाश्रय में बहुत से चित्र वर्षा, पानी, हवा एवं वृक्षों की कटाई के कारण खत्म हो गये हैं। किन्तु जो भी चित्र बचे हुए हैं, वह अदभुत हैं। इस शैलाश्रय में चटख लाल रंग का प्रयोग किया गया है। शैलाश्रय 22 में अन्दर की ओर ऊँचाई में 2 वृषभ के चित्र हैं। जिसके बड़े-बड़े सींग दर्शाये गये हैं, यह वर्षा के बड़े आकार का है एवं चटख कथई एवं काले मिक्स रंग से बनाये गये हैं। यह चित्र चाल्कोलिथिक पीरियड के हैं।

शैलाश्रय 23 पूर्वमुखा विशाल शैलाश्रय है। इस शैलाश्रय में 4-5 दर्जन चित्र हैं, जिसमें मानव द्वारा रस्से की सहायता से वन में वृषभ का शिकार करते हुए का दृश्य प्रमुख है। मानव ने रस्से के फंदे को वन वृषभ के सींगों में फंसा रखा है तथा वृषभ को धरती पर गिराने का प्रयास कर रहे हैं। इस चित्र में दो मानवाकृतियां दिखाई गई हैं। एक मानव का चित्र आऊट लाईन का है जिसमें बीच का हिस्सा खाली है, दूसरे मानव का चित्र रंग से भरा है। यहां एक ही जैसे दो चित्रों का अलग-अलग समय का होना दर्शाया गया है। ऐसे ही एक जैसे अलग-अलग समय के चित्र, बिजोलियां के समीप हाथीटोल की शैलकला में भी दर्शाये गये हैं। एक अन्य चित्र यहां एक गोलाकार अष्टखंडीय चक्र बना है जो कृषि युग के पहिये के आविष्कार का एक जीता जागता नमूना है। यह चित्र गेरू रंग से निर्मित है।

इस शैलाश्रय में दर्जनों की संख्या में चित्र बने हुए हैं। जिनमें बैल, वन्यजीव, चक्र, मानवाकृतियां इत्यादि के चित्र हैं। इनमें अधिकांश शैलचित्र चाल्कोलिथिक पीरियड के हैं। जो लाल गेरू कथई रंगों के हैं।

शैलाश्रय 26 के छज्जेदार दीवार में एक बहुत सुन्दर डिजाइन दार मांडणा है। जिसमें डबल कलर का प्रयोग किया गया है। चटख लाल रंग के चौकोर मांडणों में सफेद रंग का बराबर का प्रयोग किया गया है। जिसमें यह मांडणा कलात्मकता लिये बहुत सुन्दर दिखाई देता है। यह चित्र मेसोलिथिक पीरियड का चित्र है। इसी शैलाश्रय में कुछ वन्य जीवों के गेरू रंग के धुंधले चित्र भी हैं जो चाल्कोलिथिक पीरियड के हैं।

शैलाश्रय 27 नदी के नीचे एक भारी भरकम हिरण (बारहसिंगा) का सुन्दर चित्र है। जिसके सींग बहुत सुन्दर बनाये गये हैं। इस चित्र के अतिरिक्त 3-4 और भी चित्र हैं जो वर्षा, हवा, पानी से धूमिल हो गये हैं। यह चित्र लाल गेरू रंग के हैं। अतः चाल्कोलिथिक पीरियड के हैं।

शैलाश्रय 28 उत्तर मुखी है, इसमें नीलगाय एवं हिरणों के बहुत ही सुन्दर मेसोलिथिक, आऊट लाईन के चित्र हैं, जो गहरे लाल एवं कथई रंगों से निर्मित हैं। इस शैलाश्रय में दो नीलगायों के चित्र हैं। जिसमें अलंकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे हिरणों के झुंड भी हैं जो सिर्फ एक ही लकीर (लाइन) द्वारा बनाये गये हैं। नीलगायों के चित्र एवं हिरणों के चित्र अदभुत हैं, उल्लेखनीय है कि प्रागैतिहासिक शैल चित्रों में नीलगायों एवं हिरणों के बिना शैल कला अधूरी है। गरडदा के शैल चित्र नीलगायों-हिरणों से अटे पड़े हैं, गरडदा के शैल चित्र राज्य की शैल कला में अग्रणीय स्थान रखते हैं।

सन्दर्भ

1. गुप्त, जगदीश, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1967
2. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
3. वाकणकर, वी.एस., राजस्थान के शैलाश्रय, वाकणकर अभिनन्दन ग्रन्थ, भारतीय कला भवन, उज्जैन, 1985
4. गुप्ता, एस.पी., रूट्स अश्वफ इंडियन आर्ट, नई दिल्ली, 1980
5. मिश्रा, वी.एन., प्री हिस्टोरिक कल्चर सीक्वेंस ऑफ भीमबेटका, प्री हिस्टोरिक मैन एंड हिज आर्ट इन सेंट्रल इंडिया, पुणे, 1970
6. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1966

कानमेर पुरास्थल की मृद्भाण्ड परम्परा

डॉ. आसिफ हुसैन

मृद्भाण्डों की प्राचीनता

किसी भी पुरास्थल के उत्खनन में सबसे ज्यादा मात्रा में प्राप्त होने वाले पुरावशेषों में मृद्भाण्ड होते हैं (धावलिकर 1999: 120)। मृद्भाण्ड का उपयोग मानव के बर्बर जीवन से सभ्य जीवन में बदलाव को दर्शाता है। सामान्यतः माना जाता है कि मृद्भाण्डों का सर्वप्रथम निर्माण नवपाषाण काल में हुआ था, जब मानव ने स्थाई रूप से रहना एवं कृषि करना सीख लिया था। ये प्रमाण पश्चिमी एशिया से प्राप्त होते हैं। कार्बन-14 पद्धति के आधार पर मृद्भाण्डों का उद्भव 7000 ई. पू. माना जाता है, किंतु हाल ही में कुछ नये प्रमाण जापान से प्राप्त हुए हैं, जिसके अनुसार जोमोन संस्कृति के लोग लगभग दस हजार वर्ष पूर्व भी मृद्भाण्डों का निर्माण करते थे। भारतीय उपमहाद्वीप में मृद्भाण्डों के सबसे प्राचीनतम एवं स्पष्ट प्रमाण मेहरगढ़ से मिले हैं, जो क्वेटा के पास बोलन दर्रे के किनारे पर स्थित है। यहाँ के सबसे प्राचीन मृद्भाण्ड हाथ से बने हुए हैं। यद्यपि बाद में चाक पर निर्मित मृद्भाण्ड भी मिले हैं।

प्राचीन भारत के मृद्भाण्ड

भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीन काल से ही विभिन्न मृद्भाण्ड परम्परा देखने को मिलती है। इन मृद्भाण्डों का प्रचलन विभिन्न कालों में रहा है। विभिन्न समयानुसार प्रचलित मृद्भाण्ड परम्परा निम्न है:-

1. हड़प्पा कालीन मृद्भाण्ड (3500 ई. पू. से 1500 ई. पू.)
2. ताम्र पाषाण कालीन मृद्भाण्ड (3000 ई. पू. से 1500 ई. पू.)
3. Painted Grey Ware (PGW) (1100 B.C. to 600 B.C.)
4. Northern Black Polished Ware (NBPW) (600 B.C. to 200 B.C.)
5. Roman Pottery (Rouletted Ware, Arretine, Amphorae) (1st Cent. B.C. to 1st Cent. A.D.)
6. Chinese Pottery (Celadon)
7. Muslim Glazed Pottery.

कानमेर पुरास्थल

कानमेर नामक पुरास्थल 23° 23' N, 70° 52' E के बीच स्थित है। यह

राष्ट्रीय राजमार्ग 15 से एक कि. मी. दूर स्थित है। कानमेर हड़प्पा सभ्यता का पुरास्थल है। यह पुरास्थल गुजरात राज्य के कच्छ जिले की रापर तालुका में लघु रण के पास स्थित है। इस स्थल की खोज श्री आर. एस. बिष्ट ने 1980 के दशक में की थी (आईएआर 1985-86: 15-16)। इस पुरास्थल का मुख्य टीला आकार में छोटा (115x105 मी.) है। जमीन से इसकी ऊँचाई लगभग 8 मीटर है (खरकवाल आदि 2005: 35-43, 2007: 21-46)।

कानमेर स्थल का पुरातात्विक उत्खनन तीन संस्थानों- साहित्य संस्थान, ज.रा. ना. राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय उदयपुर, गुजरात राज्य पुरातत्त्व विभाग तथा रिसर्च इन्स्टिट्यूट फॉर ह्यूमेनिटी एण्ड नेचर- क्योतो, जापान के संयुक्त तत्वावधान में किया गया है। यह उत्खनन राजस्थान विद्यापीठ के डॉ. जीवन खरकवाल के निर्देशन में किया गया तथा इस परियोजना में गुजरात राज्य पुरातत्त्व विभाग के श्री यदुवीर सिंह रावत एवं रिसर्च इन्स्टिट्यूट फॉर ह्यूमेनिटी एण्ड नेचर-क्योतो, जापान के तोशिकी ओसादा भी समान रूप से सहयोगी हैं।

कानमेर पुरास्थल का 2005 से 2009 तक चार सत्रों का उत्खनन समाप्त हो चुका है। उत्खनन में पाँच सांस्कृतिक चरण (Culture Sequence) प्राप्त हुए हैं, ये ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः निम्न प्रकार से हैं:-

KMR V - मध्यकाल (Medieval)

KMR IV- ऐतिहासिक काल (Historic)

KMR III - उत्तर हड़प्पा काल (Late Harappan)

KMR II - विकसित हड़प्पा काल (Mature Harappan)

KMR I - प्रारंभिक हड़प्पा काल (Early Harappan)

उपर्युक्त विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्डों का प्रचलन मिलता है। इन चरणों से प्राप्त विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्ड निम्न हैं-

Harappan Ware

B-&-RW	Black & Red Ware
Buff	Buff Ware
BW	Burnished Ware
BWCrS	Buff Ware With Cream Slip
BWCS	Buff Ware With Chocolate Slip
BWRS	Buff Ware With Red Slip
GRSW	Gritty Red Slipped Ware

GRU	Gritty Red Ware Unslipped
RSW	Red Slipped Ware
RSWC	Red Slipped Ware Coarse
RvSW	Reserve Slipped Ware
RWBS	Red Ware With Buff Slip
RWC	Red Ware Coarse
RWCrS	Red Ware With Cream Slip
RWCS	Red Ware Chocolate Slip
RWO	Red Ware Ochrous
RWU	Red Ware Unslipped
WSW	White Shale Ware

Historic & Medieval Ware

GW hst	Grey Ware Historic
RSW hst	Red Slipped Ware Historical
RW hst	Red Ware Historical
Amphorae/	
Tarpedo	Roman Pottery (Amphorae)
RMT	Rang Mahal type
RPW	Red Polished Ware
GW med	Grey Ware Medieval
RW med	Red Ware Medieval
RSW med	Red Slipped Ware Medieval
GLZ med	Glazed Ware Medieval

मृद्भाण्ड निर्माण की तकनीक:

किसी भी मृद्भाण्ड को अपने वास्तविक रूप में आने से पहले उसे कई प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। जैसे मिट्टी को इकट्ठा करना एवं तैयार करना, चाक का उपयोग, डेबर से थापना, सरफेस ट्रीटमेंट और पकाना आदि।

प्रायः एक कुम्हार अच्छे किस्म के मृद्भाण्ड बनाने हेतु विविध प्रकार की मिट्टी को उपयोग में लाता है। आधुनिक कानमेर गाँव के पास स्थित गागोदर नामक गाँव के कुम्हार मटके के निर्माण में तीन स्थानों की अलग-अलग मिट्टी प्रयोग में लेते हैं।

अलग-अलग प्रकार की मिट्टी का उपयोग करने से मटके मजबूत एवं अधिक उपयोगी होते हैं।

(1) मिट्टी के स्रोत

आधुनिक कानमेर के पास स्थित पलासवा नामक गाँव के एक कुम्हार राम जी भाई प्रजापत के अनुसार “वे लोग वर्तमान में भी किसी भी मटके अथवा अन्य बर्तन के निर्माण में मुख्यतः तीन प्रकार की मिट्टी काम में लेते हैं- काली मिट्टी, पीली मिट्टी और सफेद मिट्टी (धौरी माटी)। उपर्युक्त सभी मिट्टियाँ अलग-अलग स्थानों से लाई जाती हैं। काली मिट्टी पलासवा में ही स्थित स्थानीय तालाब से लाई जाती है, जबकि पीली मिट्टी अमरापर से लाई जाती है और सफेद मिट्टी आडेसर से 33 कि. मी. दूर स्थित फतेहगढ़ से लाई जाती है। राम जी भाई के अनुसार यदि अच्छी किस्म का बर्तन तैयार करना है तो तीनों प्रकार की मिट्टी को बर्तन की गुणवत्ता के अनुसार मिलाया जाता है।” आधुनिक कानमेर गाँव में वर्तमान में कोई भी कुम्हार मिट्टी के बर्तन नहीं बनाता है, यद्यपि इस गाँव में कुम्हारों के परिवार रहते हैं। उनके पुरखे किसी समय राजस्थान में रह रहे थे तथा अब वे गुजरात आकर कानमेर में बस गए थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जब लोग वर्तमान में भी राजस्थान से आकर यहाँ बस रहे हैं तो संभव हो सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी लोग राजस्थान से जाकर गुजरात में बस रहे होंगे और संभवतः ऐसे ही लोगों के द्वारा ही राजस्थान की आहाड़ संस्कृति (बनास संस्कृति) का परिचय गुजरात की हड़प्पा संस्कृति अथवा तात्कालीन स्थानीय विशेषता युक्त संस्कृतियों से हुआ होगा।

(2) मिट्टी तैयार करना (Preparation of Clay)

मिट्टी को कौनसा बर्तन बनाया जा रहा है के अनुसार तैयार किया जाता है। राम जी भाई ने बताया कि काली मिट्टी एवं पीली मिट्टी को बारीक छान कर पानी से गलाया जाता है। इसे बर्तन के अनुसार गला कर रखा जाता है, 4-5 घंटे से लेकर 2-3 दिन तक। यह भी बताया कि यदि सही गूँथ कर एवं उपयुक्त पानी मिलाया जाए और इस पेस्ट को प्लास्टिक के तिरपाल में लपेट कर रखा जाए तो इसमें नमी पूरे एक साल तक विद्यमान रहती है। बर्तनों के लिए मिट्टी को तैयार करने का कार्य मुख्य रूप से महिलाएँ करती हैं। कभी-कभी मिट्टी के साथ गंधे की लीद को भी मिलाया जाता है।

(3) चाक का उपयोग

विभिन्न प्रकार की मिट्टी एवं पानी का सही मिश्रण होने के बाद उसे कुछ घंटों अथवा कुछ दिनों तक रखने के पश्चात् कुम्हार मिश्रण को और अच्छी तरह से गूँथता है तत्पश्चात् उस मिश्रण को, जो पेस्ट के रूप में होता है, को चाक पर मनचाहा बर्तन बनाने

हेतु प्रयोग में लेता है।

प्रायः जब मृद्भाण्डों का अध्ययन करते हैं तो मृद्भाण्ड मुख्यतः दो तरह के चाक पर बने होते हैं-

- (1) तेज गति के चाक (Fast Wheel) पर निर्मित मृद्भाण्ड एवं
- (2) धीमी गति के चाक (Slow Wheel) पर निर्मित मृद्भाण्ड

प्रायः कुम्हार कौनसी मिट्टी की एवं कौनसा मृद्भाण्ड बनाना है कि प्रकृति के अनुसार चाक का प्रयोग करता है। कई बार कुम्हार मृद्भाण्डों को हाथ से भी बनाता है, जिसमें चाक की आवश्यकता नहीं होती है। कभी-कभी किसी मृद्भाण्ड की तपु तो चाक पर बनाई जाती है तत्पश्चात् उसे छाँव में सुखाया जाता है और जब वह सूखने लगता है, तब कुम्हार अपनी थापी से पीट-पीट कर उसका तल (Base) तैयार करता है। हमने अपने सर्वे में गागोधर, पलासवा, सेलारी आदि गुजरात के गाँवों में पाया कि कुम्हार इसी तकनीक द्वारा मटकों का एवं 'तावड़ी' (तवा) का निर्माण कर रहे हैं। चाक पर जब मिट्टी को अपना मनचाहा स्वरूप दे दिया जाता है तब उसे धागे अथवा किसी अन्य उपकरण के द्वारा चाक से काट कर उतार लिया जाता है और उसे सूखने के लिए रख दिया जाता है।

(4) सरफेस ट्रीटमेंट

इसमें स्लिप करना, पॉलिश करना एवं पेंटिंग करना आदि मुख्य कार्य आते हैं। ये सभी प्रक्रियाएँ मृद्भाण्ड को पकाने से पूर्व की जाती हैं। सबसे अधिक मृद्भाण्डों पर लाल रंग की स्लिप की जाती है। सामान्यतः महिलाएँ इस कार्य को करती हैं।

उपर्युक्त कार्य के लिए विभिन्न रंग की मिट्टी को कलर के रूप में प्रयोग में लिया जाता है। इनमें गेरू, कथई कलर, खड़ी (White Lime) आदि प्राकृतिक कलर काम में लिए जाते हैं। वर्तमान गुजरात के गागोधर, पलासवा, सेलारी आदि जगह के कुम्हार इसी प्राकृतिक रंगों का प्रयोग करते हैं।

हड़प्पा कालीन मृद्भाण्डों पर विभिन्न प्रकार की पेंटिंग एवं स्लिप की जाती थी। उस समय मृद्भाण्ड कला अपने चरम पर थी। हड़प्पा कालीन मृद्भाण्डों पर निम्न प्रकार के अलंकरण मिलती हैं-

- (1) ज्यामितीय अलंकरण:- इसमें Circles, Loops, Square, Pentagon, Checker board, Criss-Cross, Link Design आदि आते हैं।
- (2) वानस्पतिक अलंकरण:- इसमें पैड़, पौधे, पत्तियाँ आदि आते हैं।
- (3) पशु-पक्षी अलंकरण:- इसमें बैल, हिरन, हाथी, गधा, बकरा-बकरी, मोर, बतख आदि आते हैं।

(4) अन्य अंलकरण:- इसमें विभिन्न डिजाइन एवं पद्धति के अलंकरण आते हैं।

कानमेर पुरास्थल से Chequer Board Pattern, Loop type, Fish Scale Pattern, Bead type Design, Peepal Leaf type, Fish Motifs, Sun Motif आदि मृद्भाण्डों पर मिलते हैं। ये चित्रण कानमेर में प्रारंभिक चरण से ही मिलने लगते हैं। किंतु इनमें समय-समय पर बदलाव होता रहा है।

संदर्भ ग्रंथ

1. Dales, G.F. and J.M. Kenoyer 1986. Excavation at Mohen Jodaro, Pakistan : The Pottery. Phila Delphia : University Museum.
2. Dhavlikar, M.K. 1999. Historical Archaeology of India. New Delhi: Books & Books.
3. IAR. Indian Archaeology - A Review. Annual Publication of the Archaeological Survey of India, New Delhi.
4. Kharakwal, J.S., Y.S. Rawat and Toshiki Osada 2005. Harappan Site in Kachchh and new opportunities of tourism, In Heritage tourism, Government of Gujarat. Pp. 35-43.
5. Kharakwal, J.S., Y.S. Rawat and Toshiki Osada 2007. Kanmer: A Harappan sites in Kachchh, Gujarat, India. In Occasional Paper 2. T. Osada eds. Kyoto: Research Institute for Humanity and Nature: 21-46.
6. Nigam, J.S. 1979. Harappan Pottery, In Indian Proto History (Eds.) D.P. Agrawal and D.K. Chakrabarti. Delhi: B.K. Publishing Corp. Pp. 135-161.
7. Rice, P. 1987. Pottery Analysis: A Source Book. Chicago and London : the University of Chicago Press.
8. Sonawane, V.H. and P. Ajitprasad. 1994. Harappan Culture and Gujarat. Man and Environment 19 (1-2): 129-39.
9. Saraswati, B. and N.K. Behura 1966. Pottery Techniques in Peasant India. Culcatta: Anthropological Survey of India.
10. Saraswati, B. 1978. Pottery making cultures and Indus Civilization. New Delhi: Abhinar Publications.
11. Wheeler R.E.M. 1960. The Indus Civilization. Cambridge University Press. Cambridge (Second edition).

राजस्थान के अभिलेखों में उद्योग एवं शिल्प

डॉ. नीतू कालरा

राजस्थान में प्राचीनकाल से लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषिकर्म ही था। कृषि द्वारा गेहूं, बाजारा, ज्वार, मोठ, मूंग, चना, तिल आदि का उत्पादन किया जाता था। अनेक स्थानों में वर्ष में दो फसलें भी होती थी। फलोदी से प्राप्त वि.सं. 1236 के एक अभिलेख में सियालु तथा उनालु नामक फसलों का उल्लेख मिलता है।¹

बीजापुर से प्राप्त राष्ट्रकूट शासक धवल के वि.सं. 1053 के अभिलेख में प्रत्येक अरघट्ट से एक आढक गेहूं तथा जौ और मूंग दाल इत्यादि के प्रत्येक द्रोण पर एक माणक कर लिये जाने का उल्लेख मिलता है।² अश्वराज के वि.सं. 1167 के सेवाड़ी अभिलेख में पद्रावा, भेद्रचां, छेछड़िया व भद्दड़ी ग्रामों में स्थित प्रत्येक रहट से एक हाटक जौ प्रदान किये जाने का उल्लेख मिलता है।³

केल्हणदेव के वि.सं. 1233 के लालराई से प्राप्त अभिलेख में श्री शांतिनाथ देव की यात्रा-उत्सव के लिये भदियाउव ग्राम के उरहरि रहट से एक हाटक जौ प्रदान करने के विवरण प्राप्त होते हैं।⁴ कपास के खेतों का वर्णन 'शृंगारमन्जरीकथा' में मिलता है,⁵ जिससे स्पष्ट होता है कि राजस्थान के कुछ भागों में कपास की खेती की जाती थी।

राजस्थान के उद्योगों में तेल, नमक, गुड़, शक्कर इत्यादि का उत्पादन भी किया जाता था। सांभर, डीडवाना और पचपद्रा की झीलों से भारी मात्रा में नमक उत्पादन होता था। वि.सं. 1030 की हर्षनाथ प्रशस्ति में नमक के प्रत्येक कूटक पर मन्दिर के निमित्त एक विंशोपक दिये जाने का उल्लेख मिलता है।⁶ अनेक अभिलेखों में 'घाणक' का उल्लेख भी मिलता है।⁷

रायपाल के वि.सं. 1189 के नाडलाई अभिलेख में दान विवरण में आदेश दिया गया है कि प्रति घाणक से दो पल्लिका तेल नाडलाई और बाहर से आये जैन सन्तों को प्रदान किया जाय।⁸ इसी स्थान से एक अन्य अभिलेख में रायपाल के एक राउत राजदेव द्वारा रथयात्रा उत्सव पर एक घाणक से दो पल्लिका तेल दिये जाने का आदेश मिलता है।⁹ शृंगारमन्जरीकथा में गन्ने के बड़े-बड़े खेतों का वर्णन मिलता है।¹⁰ राजस्थान के मालवा क्षेत्र की सीमा से लगे भाग में गन्ने का उत्पादन होता था। इससे शक्कर व गुड़ बनाये जाते थे। राजस्थान की प्राकृतिक सम्पदा और खानें अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रसिद्ध हैं। 'जावर' के निकट अरण्यगिरि में ताम्बे और जस्ते की खानें थी।¹¹

देश के विभिन्न क्षेत्रों से व्यापारी यहां आकर बसते थे, जिसका मुख्य कारण इस क्षेत्र की समृद्धि व खनन उद्योग की उन्नतिपूर्ण अवस्था थी। मेवाड़ माण्डलगढ़ क्षेत्र, जालौर और सोजत की खानों से जस्ता व ताम्बा निकाला जाता था।¹² वि.सं. 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख में ताम्बे के भार पर 10 पल राजकीय कर लिये जाने का उल्लेख मिलता है, जिससे तांबे के उत्पादन का ज्ञान होता है।¹³ धातुओं के अतिरिक्त संगमरमर का व्यावसायिक महत्व था। राजस्थान के मकराना क्षेत्र का संगमरमर सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध था। उस समय के भवनों में मकराना के संगमरमर, जैसलमेर के पत्थर और लाल पत्थर का अधिक प्रयोग किया गया है।¹⁴

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन¹⁵ अन्य प्रमुख उद्योग था। कुछ अभिलेखों में शासकों द्वारा चारागाह के लिये भूमिदान का उल्लेख मिलता है। परमारों की आबू शाखा के शासक धारावर्ष के वि.सं. 1237 के हाथल ताम्रपत्र में 'गोचर' का उल्लेख मिलता है, जो स्पष्टतः चारागाह का द्योतक है।¹⁶ पशुपालन से गांवों में दूध, घी, ऊन (जैसे-भेड़, बकरी और ऊंट के बाल) इत्यादि का उत्पादन किया जाता था। अभिलेखों में सूत व्यापार, बुनकरों और कपड़ा उद्योग का उल्लेख भी मिलता है।¹⁷

इस युग में स्वर्ण आभूषणों का व्यापक प्रचलन था। अतः इनका निर्माण प्रचुर मात्रा में होता था। इसके प्रमाण साहित्यिक उल्लेखों व मूर्ति निर्माण कला से प्राप्त होते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। स्वर्णकार अत्यन्त कुशल व दक्ष होते थे। कल्याणपुर से प्राप्त सातवीं शताब्दी के अभिलेख का उत्कीर्णकर्ता नागादित्य¹⁸ वि.सं. 840 के तासी से प्राप्त अभिलेख का उत्कीर्णक माहर,¹⁹ वि.सं. 918 के घटियाला अभिलेख²⁰ का उत्कीर्णक कृष्णेश्वर आदि स्वर्णकार थे। मण्डोर से प्राप्त 12वीं शताब्दी के एक अभिलेख में स्वर्णकार शब्द उत्कीर्णक प्रतीत होता है।²¹

लोहे की वस्तुएं बनाने वाले को लुहार कहा जाता था। लोहकर्मी अस्त्र-शस्त्र, कृषि सम्बन्धी उपकरण और भवन निर्माण के काम आने वाली वस्तुओं इत्यादि का निर्माण करते थे।²² मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करने वाले कुम्हार कहलाते थे। वि.सं. 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुम्हारों के व्यवसाय पर भी कर लगता था।²³ फूलों और मालाओं का व्यापार करने वाले मालियों का व्यवसाय समुन्नत स्थिति में था। सारणेश्वर प्रशस्ति में मंदिरों के निमित्त मालियों से प्रतिदिन एक माला लिये जाने का आदेश दिया गया है।²⁴

उपरोक्त सन्दर्भों व विवरण के आधार पर स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में राजस्थान में भी उद्योग व शिल्प की परम्परा विद्यमान थी। कृषि आधारित उद्योगों के साथ-साथ स्वतंत्र उद्योग व शिल्पों को भी शासकों के द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता रहा, परिणामस्वरूप शनैः-शनैः वंश परम्परा व काल क्रमानुसार उद्योगों व शिल्पों ने भी अपनी

विकसित अवस्था को प्राप्त करने का यथासंभव प्रयास किया, जिसका वर्णन तत्कालीन अभिलेखों से प्राप्त होता है।

सन्दर्भ

1. जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता-12, पृ. 93
2. एपिग्राफिया इण्डिका-11, पृ. 20
3. वही, पृ. 28
4. वही, पृ. 49
5. शृंगारमन्जरीकथा, पृ. 67-68
6. एपिग्राफिया इण्डिका-2, पृ. 121-122
7. बीजापुर अभिलेख, वि.सं. 1053, एपिग्राफिया इण्डिका-10, पृ. 20
8. एपिग्राफिया इण्डिका-11, पृ. 35
9. वही, पृ. 41
10. शृंगारमन्जरीकथा, पृ. 67-68
11. एपिग्राफिया इण्डिका-20, पृ. 97-99
12. ओझा, गौ.ही., जोधपुर राज्य का इतिहास-1, अजमेर, 1938, पृ. 8
13. एपिग्राफिया इण्डिका-10, पृ. 17-20
14. शर्मा, दशरथ, राजस्थान श्रू द एजेज, बीकानेर, पृ. 491
15. आहड़ के विष्णु मंदिर में कुछ फलक ऐसे हैं जिन पर गाय, भैंस इत्यादि पशुओं को उत्कीर्ण किया गया है।
16. इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई, वर्ष 1941, पृ. 193-194
17. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1975, पृ. 299
18. एपिग्राफिया इण्डिका-35, पृ. 58
19. उक्त-36, पृ. 49
20. उक्त-9, पृ. 280
21. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट 1909-10, पृ. 102
22. व्यास, डॉ. श्यामप्रसाद, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन (700 ई.-1200 ई.), राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर प्रथम संस्करण 1986, पृ. 151
23. एपिग्राफिया इण्डिका-10, पृ. 17-20
24. भावनगर इन्सक्रिप्शन्स-2, पृ. 67-68

नागदा के मन्दिर में दशावतार मूर्तियों का अंकन

डा. हैमेन्द्र चौधरी

भारतीय मूर्तिकला व स्थापत्य कला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। जो मानव सभ्यता के विकास क्रम से भी जुड़ा है। वस्तुतः भारतीय कला भारतीय धर्म एवं संस्कृति की मूर्त अभिव्यक्ति है, जहां व्यक्ति की सोच नहीं वरन भारतीय समाज का सामूहिक अनुभव एवं चिन्तन ही व्यक्त हुआ है। भारतीय कला में देवता और मनुष्य, पशु और वनस्पति जगत को एक विराट सन्दर्भ समष्टि के रूप में दर्शाया गया है। कला के विभिन्न माध्यमों में मूर्तिकला निःसन्देह सर्वाधिक शसक्त और बहुआयामी रहा है, जिसमें सदैव धर्म की प्रधानता रही है।

भारतीय मंदिर स्थापत्य का उद्भव गुप्तकाल से माना जाता है। तदन्तर विकास के अनुक्रम में कई परिवर्तन आये, इन्ही परिवर्तनों को, शिल्पकारों ने स्थापत्य के विविध अंगों पर तत्कालीन धर्म व संस्कृति को उकेरा है, जिन्हे एतिहासिक विवरणों के अभाव में तत्कालीन इतिहास का जीवन्त उदाहरण कहा जा सकता है। भारतीय स्थापत्य व शिल्प कला का प्रभाव राजस्थान व मेवाड़ संभाग पर भी पड़ा। मेवाड़ में भी आरम्भ से स्थापत्य व शिल्प कला परम्परा के उदाहरण संग्रहालयों व क्षेत्र में स्थित मंदिरों, महलों, स्मारकों की वास्तुकला के रूप में भी दिखाई देता है।

मेवाड़ की प्राचीन राजधानी 'नागदा' जिसे संस्कृत शिलालेखों में 'नागहद' तथा 'नागद्रह' लिखा है,¹ उदयपुर मुख्यालय से राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 8 पर उदयपुर से 18 कि.मी. दूर है। कैलाशपुरी से पश्चिम दिशा में नागदा में स्थित सहस्त्रबाहु देवालयों का वैभव कालीन स्थापत्य शिल्प कला के अवशेष मात्र है। विष्णु को समर्पित यह युग्म देवालय सहस्त्र बाहु (सास-बहू) मंदिर भारतीय स्थापत्य एवं शिल्पकला का बेजोड़ उदाहरण है। नागदा नगर गुहिल वंशीय शासकों से पूर्व अस्तित्व में था या गुहिल शासकों द्वारा इसकी स्थापना की गयी आदि पर विद्वानों में मतान्तर है। कुण्डा ग्राम से प्राप्त वि. सं. 718 (661 इस्वी) के लेख से ज्ञात होता है कि क्रिसन्यावल (कुण्डावन) पर गुहिल अपराजित ने आक्रमण कर वैरिसिंह को परास्त किया और नागदा (कुण्डा) पर अधिकार कर वैरिसिंह को सेनापति नियुक्त किया। डॉ. विष्णु माली के अनुसार अपराजित को नागदा का प्रथम गुहिल अधिपति कहना उचित होगा क्योंकि पुरातात्विक तथ्यों में यही नाम सर्वप्रथम उल्लेखित है।²

इस शिलालेख में यह भी ज्ञात होता है कि वैरिसिंह की पत्नी यशोमति 661 ई. (718 वि.सं.) ने यहां पर विष्णु मंदिर बनवाया था।³ बाप्पा ने सर्वप्रथम नागदा को अपना कार्यक्षेत्र व निवास स्थान के रूप में चुना, तब से नागदा मेवाड़ की राजधानी के रूप में स्थापित हुआ। बाप्पा के पश्चात् उनका पुत्र खुम्माण, खुम्माण का उत्तराधिकारी भूतभट्ट नागदा का शासक बना। भूतभट्ट के पुत्र अल्लट ने अपनी राजधानी नागदा से हटाकर आहाड़ बनायी। अल्लट के बाद नरवाहन के काल में कैलाशपुरी में लकुलिश का देवालय वि.सं. 1028 में निर्मित किया गया। वि.सं. 1173 (1126 ई.) में विजयसिंह ने नागदा को पुनः राजधानी बनाया। 1213 ई. से जैत्रसिंह के काल में इसने अपना राजनीतिक महत्व प्राप्त कर लिया। लगभग वि.सं. 1279 और 1286 (1222 ई. और 1229) में सुल्तान इल्तुतमिश ने नागदा पर आक्रमण कर नागदा को ध्वस्त कर दिया। इस समय मेवाड़ को अपार जन-धन की हानि हुई।⁴

नागदा के जिनालयों में 13-14वीं शदी के अभिलेखों एवं जिनालयों से ज्ञात होता है कि कुम्भा के काल में पुनः नागदा धार्मिक नगरी के रूप में विकसित होने लगी। नागदा के बाघेला तालाब के पश्चिम दिशा में पूर्वाभिमुख विष्णु को समर्पित सहस्रबाहु देवालय (सास बहु मंदिर) भारतीय स्थापत्य व शिल्प सौन्दर्य का अद्वितीय उदाहरण है।

सहस्रबाहु (सास बहु) मंदिर - उदयपुर नाथद्वारा मार्ग पर स्थित उत्तर में मेवाड़ की प्राचीन राजधानी नागदा के ध्वस्त अवशेष व मंदिर मुख्य मार्ग में ही दिखाई देते हैं। यह नगर 6-7 वीं सदी का एक समृद्ध नगर रहा होगा। बाघेला तालाब की पश्चिम दिशा में स्थित वैष्णव भावना को समर्पित बहुचर्चित पंचायतन मंदिर, जिसे सास बहु मंदिर के रूप में जाना जाता है, यह मंदिर मध्ययुगीन स्थापत्य शैली मूर्ति विज्ञान एवं कला के अद्वितीय उदाहरण है।

श्वेत पाषाण से निर्मित, सास-बहु मंदिर धरातल से 7 फीट उंची काठी (जगती) पर 50 % 100 फीट क्षेत्र में निर्मित है।⁵ मंदिर का प्रवेश मुख्य पूर्व दिशा में है। पूर्व दिशा में दो तीन भव्य तोरण द्वार काठी के तल के आधार से लेकर मंदिर की रथिका भाग की ऊंचाई तक निर्मित है। विष्णु को समर्पित इस मंदिर समुह के उत्तर दिशा में निर्मित देव भवन को बहु मंदिर एवं दक्षिण दिशा में निर्मित देवालय को सास मंदिर के नाम से अभिहित किया गया है। इसका निर्माण कब एवं किसके द्वारा किया गया। यह यथावधि अज्ञात है। देवालय के वास्तु एवं शिल्प कला के आधार पर इसका निर्माण 9वीं से 11वीं सदी के मध्य में होना चाहिए। कुछ विद्वानों ने इसका निर्माण काल यहां से प्राप्त अभिलेख संवत् 1083 के आधार पर 11वीं शताब्दी माना है।⁶ इस मंदिर की स्थापत्य की कुछ प्रमुख विशेषताएं हैं, जो इस मन्दिर को शिल्पकला की दृष्टि से राजस्थान में महत्वपूर्ण बनाती हैं।

सास मंदिर⁷ - सास मंदिर स्थापत्य एवं शिल्प कला का बेजोड़ उदाहरण है। यह बाह्य भाग से साधारण स्थापत्य के रूप में नजर आता है, परन्तु इसका आन्तरिक भाग शिल्पों से अंलकृत है। इसका तलछन्द विन्यास, प्रवेश चौकी, सभामण्डप और गर्भगृह में विभक्त हैं। सभा मण्डप में चार स्तम्भों पर हिन्दोलक तोरणद्वार है, यह शिल्प इस मंदिर को राजस्थान में महत्वपूर्ण बनाती है। प्रवेश मंडप का वेदिका भाग व राजसेन भाग पर उत्कीर्ण मूर्तियां तत्कालिन सामाजिक जीवन को जीवन्त के रूप में प्रदर्शित करती हैं। मन्दिर के बाहर चारों तरफ 10 अवतारों के मंदिर हैं, जिसमें नौ ध्वस्त हो चुके हैं, एक मंदिर पीछे की तरफ अवस्थित है। राजस्थान में विष्णु के दशावतार का यह मात्र एक मंदिर है। इन अवतारों से सम्बन्धित कथाएं एवं विशिष्टताएं निम्न हैं—

मत्स्यावतार - पिछले कल्प के अंत में ब्रह्माजी के सो जाने के कारण प्रलय हुआ, जिसके कारण तीनो लोक समुन्द्र में डुब गये, प्रलय काल के समय ब्रह्माजी को नींद आ रही थी और वे सोना चाहते थे, उसी समय वेद उनके मुंह से निकल पड़े और उन वेदों को हयग्रीव नामक राक्षक ने लिया। इन वेदों को हयग्रीव राक्षक से छुड़ाने के लिए विष्णु ने मत्स्यावतार का रूप धारण किया। सत्यव्रत नामक राजा एक दिन कृतमाला नदी में तर्पण कर रहे थे, उसी समय उनकी अंजली में छोटी सी मछली आ गयी। उसने अपनी रक्षा की पुकार की। उस मछली को राजा को कमण्डल में डालकर आश्रम में ले गया, कमण्डल में उसका आकार बढ़ता गया तो राजा ने मत्स्य को मटके में डाल दिया, धीरे-धीरे मटका भी छोटा पड़ गया, धीरे-धीरे उसका आकार बढ़ता रहा, अन्त में राजा ने उसे समुन्द्र में डाल दिया, राजा ईश्वर की लीला समझ गये, तब महामत्स्य ने सत्यव्रत को आने वाले प्रलय के विषय में जानकारी एवं रक्षा का उपाय बताकर अर्न्तध्यान हो गयी।⁸ जब प्रलय का समय आया तो पृथ्वी पानी में डुबने लगी, तब राजा ने भगवान को याद किया, तभी वहाँ एक बड़ी नाव आ गयी, राजा सभी जीवों, पौधों, अन्नादि के बीजों को लेकर सप्तऋषियों के साथ नाव में बैठ गये। तेज आँधी चली, जिसमें नौका डगमगाने लगी, सप्तऋषियों ने ईश्वर को रक्षा के लिए याद किया, उसी समय समुन्द्र में विशाल मत्स्य के रूप में विष्णु का अवतार हुआ और उस नौका को बचाया तथा हयग्रीव राक्षक जो ब्रह्मा से वेद चुराकर भाग रहा था, तब मत्स्यावतार ने उस राक्षक को मार पुनः ब्रह्मा को दे दिये।⁹

नागदा मंदिर से मत्स्यावतार की एक सुन्दर मूर्ति मिली है, जो वर्तमान में आहाड़ संग्रहालय में संग्रहित है, इस अंकन में मूर्ति के शीर्ष पर मत्स्य और विष्णु के चारों आयुधों, वरदाक्ष, गदा, चक्र, एवं शंख को दर्शाया है।¹⁰

कच्छपावतार - भगवत पुराण के अनुसार असुरों से परास्त कर दिये जाने से इन्द्र सभी देवताओं के साथ ब्रह्मा के साथ बैकुण्ठ धाम से श्रीविष्णु की स्तुति करने लगे।

विष्णु ने प्रकट होकर समुद्र में औषधियाँ डालकर मन्दराचल पर्वत की मथानी और वासुकी नाग की नेति बनाकर समुद्र मंथन की आज्ञा दी, जिससे देवता निकलने वाले अमृत से अमर एवं शोभायुक्त हो सकते हैं। समुन्द्र मंथन शुरू हुआ। मन्दराचल पर्वत इतना भारी था कि कोई उसका भार सहन नहीं कर सका और कोई आधार न होने के कारण समुन्द्र में थसने लगा। पर्वत को समुन्द्र में धसताहुआ देखकर सभी देव एवं असुर व्याकुल हो गये। विष्णु उसी क्षण एक अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छप का रूप धारण करके समुन्द्र के जल में प्रविष्ट हो गये और नीचे जाकर मन्दराचल को अपनी पीठ पर उठा लिया। तत्पश्चात् मंथन शुरू हुआ। मथते-मथते बहुत देर हो गयी। प्रयोजन जब सिद्ध नहीं हो रहा था तब विष्णु सहस्र बाहु होकर स्वयं ही मथना शुरू कर दिया। सर्वप्रथम विष निकला, जिसे शिव ने पिया और नील कण्ठ हो गये, तत्पश्चात् बहुत सी चीजे निकली, अन्त में अमृत निकला, इसके लिए देव-असुरों में द्वन्द्व शुरू हुआ, लेकिन विष्णु ने अपनी लीला से अमृत को देवताओं को पिला दिया।¹¹

कच्छपावतार की मूर्ति नागदा के पास सास-बहू मंदिर से मिली है, जो वर्तमान में आहाड़ संग्रहालय में संग्रहित है, इस मूर्ति के शीर्ष पर कच्छप का अंकन है, साथ ही विष्णु को चारों आयुध, वरदाक्ष, गदा, चक्र एवं शंख का भी सुन्दर अंकन है।¹² सास मंदिर के सभा मण्डप के वितान में एक समुन्द्र मंथन की अंकन की फलक है, जिसमें देव-असुर नाग के द्वारा मंथन कर रहे हैं।

वराह अवतार - जल के रसातल में डुबी हुयी पृथ्वी का पुनः उद्धार करने के लिए विष्णु वराह अवतार के रूप में अवतरित हुए। प्रलय के समय जल में डुबी हुयी पृथ्वी को निकालने की चिन्ता में लगे हुए ब्रह्माजी के नासा छिद्र से अंगुठे के बराबर एक शिशु निकल पड़ा, देखते ही देखते उस शिशु ने विशाल वराह का रूप धारण कर लिया और समुन्द्र में कुद गये। वराह रूप होने के कारण अपनी नाक से सूँघ-सूँघ कर तथा अपने पैने खुरों से जल को चीरते हुए अपार जल राशि के रसातल में धसी पृथ्वी को देखा और पृथ्वी को अपनी दाढ़ी पर उठाकर आने लगे, तभी हिरणायक्ष असुर को पता लगा तो वह पृथ्वी को छुड़ा लेने के लिए पिछा करने लगा। वराहअवतार ने शीघ्र उस पृथ्वी को व्यवहार योग्य स्थान पर रखकर असुर हिरणायक्ष का वध कर दिया।¹³

नागदा में वराह अवतार की प्रतिमाएँ मंदिर की वेदिका एवं स्तम्भ पर उत्कीर्ण की गयी है, वराह की स्वतंत्रत प्रतिमाओं को चतुर्भुजी बनाया गया है, जिन्हे आयुधों के साथ प्रदर्शित किया गया है। वराह की मूल रूप की प्रतिमा राजकीय पुरातत्व संग्रहालय, सीटी पैलेस में संग्रहित है। इस प्रतिमा में स्थानक वराह का अंकन है, इसके चारों पाँवों के खुर पर आयुधों का प्रतिकात्मक अंकन है, वराहमुख के नीचे स्थानक पृथ्वी को अभंगमुद्रा में दर्शाया गया है, तथा पृथ्वी की छोटी सी आकृति वराह के दाहिने गाल पर

उत्कीर्ण की गयी है।¹⁴

सास-बहु के दक्षिण वेदिका के राजसेन भाग और सभामण्डप के स्तम्भ पर आलिढ्य मुद्रा में नरवराह की स्वतंत्र मूर्तियाँ महत्वपूर्ण हैं, जिसका बायाँ एक हाथ कटि भाग तथा दूसरे बायें हाथ में गदा प्रदर्शित है, दायें एक हाथ की कोहनी पर पृथ्वी देवी विराजित है और दूसरे हाथ में शंख एवं चक्र प्रदर्शित है, बायाँ पैर शेष नाग के फण पर रखा हुआ है, नीचे प्रतिमाएँ अंजली मुद्रा में प्रदर्शित हैं।¹⁴

नरसिंहावतार - दशावतारों में चौथा अवतार नरसिंह को माना गया है। हिरण्याक्ष के वध से उसका भाई हिरण्यकश्यपु बहुत दुःखी हुआ, वह भगवान का विरोधी बन गया। उसके अत्याचार से त्रस्त उसका पुत्र प्रह्लाद भी था। प्रह्लाद विष्णु का भक्त था। इस कारण वह प्रह्लाद को तरह-तरह के कष्ट देता था। प्रह्लाद द्वारा असुर बालकों को उपदेश देने की बात सुनकर हिरण्याकश्यपु बहुत क्रोधित हुआ और प्रह्लाद ने ईश्वरी कृपा को सर्वोपरी बताया तो हिरण्याकश्यपु तलवार लेकर सिंहासन से कुद पड़ा और जोर से उसने खम्भे को एक घुसा मारा, उस समय उससे नृसिंह भगवान प्रकट हुए, इसका आधा शरीर सिंह का और आधा मनुष्य का रूप था और क्षण भर में नरसिंह ने हिरण्याकश्यपु को फाड़ दिया।¹⁵

इस तरह के अंकन सास मंदिर के कई स्थानों पर है। लघु आयताकार फलक में नरसिंह ने अपने बायें पाँव से हिरण्याकश्यपु को जकड़ रखा है, उसका दायाँ पाँव जमीन पर है, बायें हाथ से उसके बालों को मजबूती से पकड़ रखा है। हिरण्याकश्यपु के दायें हाथ में खड्ग है, जो अस्पष्ट है, नरसिंह के खुले केश कन्धों पर लहरा रहे हैं। पृष्ठ भाग में बायें ओर देवगण तथा दायीं तरफ असुर खड्ग लिये खड़े हैं। नीचे दो-दो पुरुषों व महिलाओं का अंकन है। महिलाओं के हाथों में पद्म तथा पुरुष अंजली मुद्रा में हैं।¹⁶ इसी तरह अन्य स्थानों पर नरसिंह से आदमकद हिरण्याकश्यपु, जिसके दायें हाथ में धुरी (कर्णिका) तथा दूसरा हाथ नरसिंह की गर्दन पर है। आलिढ्य मुद्रा में नरसिंह ने अपने नीचे के दोनों हाथों से हिरण्याकश्यपु के पाँव को व बायें हाथ से उसके बालों को जकड़ रखा है।¹⁷ सास मंदिर के सभामण्डप के स्तम्भ पर चतुर्भुज नरसिंह की प्रतिमा में भी हिरण्याकश्यपु को मारते हुए दर्शाया है, इसमें नरसिंह के जंघा भाग पर हिरण्याकश्यपु का मुख दक्षिण की ओर है तथा पाँव जमीन पर टिके हुए हैं। नीचे बायीं ओर सम्भवतः प्रह्लाद अंजली मुद्रा में बैठे हुए हैं।

वामनावतार - इन्द्र को जीतकर बलि ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया। इन्द्र अपनी माता अदिति की शरण में गया। अदिति ने तपस्या की, भगवान प्रकट हुए और पुत्र के रूप में जन्म लेकर इन्द्र को कल्याण का आशीर्वाद दिया। अदिति के गर्भ से विष्णु ने वामन के रूप में अवतार लिया। राजा बलि मृगकच्छप नामक स्थान पर

अश्वमेध यज्ञ कर रहा था। वामन वहा गये, राजा बलि ने उनका आदर सत्कार कर पूर्ण सम्मान दिया और दान के रूप में कुछ मांगने का अनुरोध किया। वामन ने तीन पग भूमि मांगी। शुक्राचार्य के निषेध करने पर भी बलि ने वामन की इच्छा पूरी की। वामन ने विराट रूप धारण कर दो डग से पृथ्वी तथा स्वर्ग को नाप लिया, तीसरे चरण में बलि ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसलिए भगवान का नाम 'त्रिविक्रम' पडा।¹⁸

सहस्रबाहु देवालय में यत्र तत्र इस रूप त्रिविक्रम भाव का सुन्दर अंकन किया गया है। इस शिल्प में भगवान विष्णु का दाहिना पाँव जमीन गढ़ा हुआ है एवं बायें पाँव से स्वर्ग को नापते हुए दर्शाया गया है। दायें हाथों में क्रमशः गदा व चक्र है, बायें हाथ में शंख प्रदर्शित है, बायें पाँव के अंगुठे के समीप ही वृताकार पृथ्वी का अंकन किया गया है। बायें पाँव के नीचे लंगोट धारी वामन अपने हाथ में छत्र धारण किये हुए है। कमर में मूँज की मेखला बंधी हुयी है। बालरूप (बटुक) वामन के सामने बलि के हाथ में जलपात्र लिए हुए व उसके पृष्ठ में ऋषि शुक्राचार्य का अंकन है।¹⁹

गजेन्द्र मोक्ष - क्षीरसागर में त्रिकुट नाम का एक सुन्दर पर्वत था। इस पर्वत पर घोर जंगल में बहुत सी हथिनियों के साथ एक गजेन्द्र निवास करता था। विचरण करते हुए उसे एक बार जोर से प्यास लगी, उसने जंगल में एक सरोवर में जाकर अपने परिवार के सहित प्यास बुझाई, इसी दौरान एक ग्राह में उसका पैर पकड लिया, दोनों के बीच अपनी द्वन्द शुरू हो गया, ये युद्ध एक हजार साल तक चला, अन्त में गजेन्द्र ने श्री हरि (विष्णु) को याद किया तो विष्णु ने प्रकट होकर गजेन्द्र को ग्राह से मोक्ष करवाया। ग्राह पूर्वजन्म में 'हुहु' का नाम का एक श्रेष्ठ गंधर्व था। देवल के शाप से उसे यह गति प्राप्त हुयी, वह इस जन्म में मुक्त हुआ तथा गजेन्द्र, पूर्वजन्म में द्रविड़ देश का पाण्डयवंशी इन्द्रधुम्न था, वह ईश्वर का श्रेष्ठ उपासक था। राजा इन्द्रधुम्न राजपाट छोडकर तपस्या व आराधना के लिए मलयपर्वत पर रहने लगा, तो ऋषि अगत्स्य राजा को प्रजापालन और राज्य धर्म त्याग, तपस्वियों की तरह उपासना करने पर क्रुद्ध हो गये और उन्होंने उसे हाथी की तरह जड़बुद्धि का श्राप दिया तो अगले जन्म में राजा को हाथी की योनी प्राप्त हुयी।²⁰

गजेन्द्र मोक्ष के कथानक की प्रतिमा को सास मंदिर के सभामण्डप के उतरी बाह्य प्रधान ताक पर उत्कीर्ण किया गया है। दूसरी प्रतिमा गर्भ गृह की उपशाखा पर उत्कीर्ण है तथा तीसरी प्रतिमा तोरणद्वार के पास पड़ी हुयी है। शिल्प सौन्दर्य की दृष्टि से विष्णु गरूडासीन है। इसकी सभी भुजायें खण्डित है। दायें हाथ में शंख प्रदर्शित है। अधःपर्यकासन मुद्रा में नारायण के दायें पाँव के समीप मुख फाड़ें गज को तथा बायें भाग में गजेन्द्र की लघु आकृति को दर्शाया गया है। मेंवाड़ में 'गजेन्द्र मोक्ष' अभिप्राय का सम्भवतः यह एक ही उदाहरण है।²¹

परशुरामावतार - पृथ्वी पर हैहयवंशीय क्षत्रिय राजा सहस्रबाहु अर्जुन का

अत्याचार बहुत बढ़ गया, उस समय ईश्वर ने परशुराम के रूप में जमदग्नि ऋषि की पत्नी रेणुका के गर्भ से अवतरित हुए। ससस्त्रबाहु अर्जुन को परशुराम ने मार डाला और उसके दस हजार लड़के डरकर भाग गये।²² इन लड़कों ने अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए परशुराम के पिता को मार दिया, जब यह परशुराम को पता चला तो उन्होंने क्षत्रियों का संहार कर डालने का निश्चय किया, इसलिए उन्होंने पिता के वध को निमित्त कर 21 बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन का दिया।²³ नागदा के सास-बहु मन्दिर को बाह्य ताक परशुराम का अंकन है। इनके चर्तुभुजी हाथों में वरदाक्ष, फरसा, धनुष व शंख लिये हुए बताया है, उर्ध्वपतल किये हुए यह प्रतिमा सुन्दर किरिटी युक्त, यगोपवीत मेंखला व हारसुत्र से अंकृत है, छाती पर श्रीवत्स द्रष्टव्य है। ध्यान मुद्रा में परशुराम का ऐसा अंकन अयन्त्र नहीं मिलता है।²⁴

रामावतार - विष्णु के सातवें अवतार के रूप में राम का उल्लेख मिलता है, श्रीहरि के जय विजय नामक दो द्वारपाल थे। वे सनकादि ब्रह्मर्षियों के शाप से घोर निशाचर कुल में पैदा हुए। उनके नाम रावण और कुम्भकरण थे। उनके अत्याचारों से पृथ्वी कांप उठी। इनका संहार करने के लिए अयोध्या के राजा दशरथ की रानी कौशल्या के गर्भ से विष्णु ने राम के रूप में अवतार लिया।²⁵ नागदा के सास मन्दिर के उतरी प्रधान ताक के उपरी भाग में दशरथी राम की स्वतंत्र प्रतिमा चर्तुभुजी बनायी गयी है, जिसके हाथों में क्रमशः वरदाक्ष, तीर, धनुष और शंख विमान हैं, छाती पर श्रीवत्स काचिन्ह उत्कीर्ण है।²⁶

बलराम - विष्णु पुराण के अनुसार कृष्ण और बलराम दोनों विष्णु के अंशावतार माने गये हैं। बलराम आदि शेष के अवतार माने गये हैं तथा कृषि से सम्बन्धित होने के कारण उनके हाथ में हल की प्रधानता है। नागदा के सास -बहु मन्दिर के गर्भगृह की प्रधानताको में हलधर बलराम की स्वतंत्र प्रतिमा जड़ी हुई है। जिसके हाथों में क्रमशः वरदाक्ष (पद्म), हल, मूसल व शंख हैं तथा बलराम भी किरिटी मुकुट, हारसुत्र, भुजबन्ध, यज्ञोपवीत से अंकृत है।²⁷

कृष्णावतार - विष्णु का कृष्णावतार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। कृष्ण विष्णु के अंशावतार थे। इस रूप को धारण कर इन्होंने सबसे अधिक पृथ्वी का भार हल्का किया। इनके सम्पूर्ण जीवन एवं अदभुत लीलाओं का वर्णन वैष्णव पुराणों में हुआ है। इन अवतारों में नागदा के सास-बहु मन्दिर में दो रूपों का महत्वपूर्ण अंकन उत्कीर्ण है।

(1) **कालियामर्दन रूप** - कालिया नाग का दमन करने के लिए कृष्ण यमुना में कूद कर उससे लड़ने लगे। उन्होंने नाग के थकित हो जाने पर बड़े-बड़े सिरों को दबाकर उन पर चढ़ गये। कृष्ण कूद-कूद कर उनके शतसिरों पर कला पूर्ण नृत्य करने लगे, जिस सिर को वह नहीं झुकाता, उसको वे पैरों से कुचल देते थे।²⁸

इस कथा की फलक सास मन्दिर में बड़े ही सुन्दर ढंग से उत्कीर्ण की गयी है। शिल्प के मध्य भाग में फन को फैलाये हुए नाग को कुण्डली बांध कर बैठा हुआ उकेरा गया है। नाग के फन के उपरी भाग पर चतुर्भुजी कृष्ण को त्रिभंगी नृत्य मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है।²⁹

(2) गोवर्धनधारी रूप - जब इन्द्र ने वर्षा करके सम्पूर्ण ब्रज को डुबो देने का विचार किया, उस समय कृष्ण अपनी योगमाया के आश्रय से गोवर्धन पर्वत को उखाड़ कर सात दिन तक अपनी अंगुली पर धारण किये रहे। सास मन्दिर प्रवेशिका के उतरी छबने पर गोवर्धनधारी कृष्ण का सुन्दर अंकन है अभागमुद्रा में श्रीकृष्ण ने अपने दांये हाथ से गोवर्धन पर्वत को धारण कर रखा है तथा बायां हाथ जंघा भाग पर स्थित है। गोवर्धन पर्वत के नीचे गायों के समूह का प्रतीकात्मक अंकन है।³⁰

ये दशावतार की कथाएँ ऋषि-मुनियों द्वारा प्रचलित पृथ्वी की उत्पत्ति एवं सृष्टि के निर्माण की कहानी बंया करती है। गुप्तकाल में जब मूर्तिकला का स्वरूप हमारे समाने आया तो शिल्पकारों ने इस ज्ञान को मूर्तियों के माध्यम से हमारे तक पहुंचाया। दशावतार मानव के क्रमिक विकास को बतलाता है, मत्स्यावतार मानव की प्रारम्भिक अवस्था को दर्शाता है, कूर्म और वराह अर्द्ध विकसित अवस्था का द्योतक है वही नृसिंह तथा वामन अवतार गुफाओं और जंगलों में रहने वाली जंगली असभ्य एवं अर्धसभ्य जातियों का प्रतीक है। राम तथा कृष्ण नगर में रहने वाली सभ्य एवं पूर्ण विकसित अवस्था को प्रकट करता है।

सन्दर्भ

1. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द (1996-98), उदयपुर राज्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, पृ. 34
2. माली, विष्णु (2011), नागदा का स्थापत्य एवं शिल्प वैभव, पृ. 4
3. जैन, के. सी. (1972), एन्सियट सीटीज् एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली, पृ. 2018
4. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द (2015), उदयपुर राज्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार, चतुर्थ संस्करण जोधपुर, पृ. 159
5. माली, विष्णु (2006), मंवाड़ की मूर्तिकला, शर्मा पब्लिकेशन हाउस, जयपुर, पृ. 35
- 6; शर्मा, गोपीनाथ (2011) राजस्थान के इतिहास के स्रोत, छठा संस्करण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 34
7. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
8. श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड), 1/8/24, गीताप्रेस गोरखपुर
9. दशावतार, गीताप्रेस गोरखपुर

10. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
11. श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड), 1/8/5-9, गीताप्रेस गोरखपुर
12. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
13. श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड), 1/3/13, गीताप्रेस गोरखपुर
14. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
15. श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड), 1/8/5-9, गीताप्रेस गोरखपुर
16. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान।
17. माली, विष्णु (2011), नागदा का स्थापत्य एवं शिल्प वैभव, पृ. 29
18. श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड), 1/8/18, गीताप्रेस गोरखपुर
19. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
20. श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड), 1/8/2-4, गीताप्रेस गोरखपुर
21. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
22. मिश्र, इन्दुमति (1972), प्रतिमा विज्ञान, प्रथम संस्करण, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पेज संख्या-211-212
- 23; दशावतार, गीताप्रेस गोरखपुर
24. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
25. दशावतार, गीताप्रेस गोरखपुर
26. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
27. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
28. मिश्र, इन्दुमति (1972), प्रतिमा विज्ञान, प्रथम संस्करण, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पेज संख्या-220
29. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान
30. विष्णु मन्दिर, नागदा, उदयपुर, राजस्थान

मेवाड़ का प्राचीन पाटन शहर - नान्देशमा

अजय मोची

पाटन शब्द संस्कृत के 'पत्तन' और प्राकृत भाषा के 'पट्टण' शब्द के अपभ्रंश से बना है जिसका अर्थ 'प्रधान नगर या शहर' के रूप में है। इस शब्द का लिंग नपुंसकलिंग है और व्युत्पन्न द्वारा पूर्व रूप से अलग रूप में परिवर्तन हुआ है।¹ पाटन शब्द के लिए कहीं-कहीं पट्टन, पट्टण, पटन आदि शब्द प्रयोग में लिए जाते हैं।²

इस प्रकार पाटन उस नगर या शहर को कहा जाता है जो राज्य के समस्त रूपों चाहे वह प्रशासनिक हो या राजनीतिक, आर्थिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या सांस्कृतिक सभी रूपों में 'प्रधान' और प्रमुख नगर की स्थिति रखता हो, वह 'पाटन' कहलाता है।

आधुनिक काल में पाटन नाम से सम्पूर्ण भारत में कई शहर विद्यमान हैं, जैसे पाटन शहर (उत्तरी गुजरात में) जो ऐतिहासिक काल में अनहिलवाड़ा-पाटन के नाम से प्रसिद्ध था।³ इसके अलावा राजस्थान में झालरापाटन और सीकर जिलों में पाटन नामक शहर वर्तमान में भी विद्यमान हैं। इस प्रकार पाटन शब्द वर्तमान के साथ-साथ अतीत में भी महत्वपूर्ण और प्रधान नगर को दर्शाता है जो राज्य के प्रमुख व्यापारिक व सामरिक केन्द्र थे। राजस्थान समेत सम्पूर्ण भारत में कई प्राचीन व ऐतिहासिक प्रधान नगरों का वर्णन मिलता है, जो वर्तमान में इतिहास के पन्नों पर खो गये हैं। इसी क्रम मेवाड़ के प्रमुख व ऐतिहासिक पाटन का वर्णन जो वर्तमान में उस जगह की प्राचीनता और वैभवता को प्रदर्शित करती है, और वह नगर है नान्देशमा।

नान्देशमा - नान्देशमा गाँव वर्तमान में गोगुन्दा तहसील में गोगुन्दा से उत्तर-पश्चिम दिशा में 22 कि.मी व उदयपुर से 57 किमी दूरी पर स्थित है। यह गाँव राष्ट्रीय राजमार्ग 27 पर जसवन्तगढ़ से उत्तर दिशा में 5 कि.मी दूर स्थित है। यह गाँव विश्व की प्राचीनतम पर्वतमाला अरावली में 583 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है।⁴ नान्देशमा प्राचीन समय से ही अपनी स्थिति और व्यापारिक केन्द्रता के लिए एक प्रमुख शहर (पाटन) की स्थिति को दर्शाता है जिसके पीछे कई कारण हैं जिसका वर्णन निम्न है-

(1) **क्षेत्रीय और सैन्य विशेषता**- कुम्भलगढ़ और उसके आस-पास का क्षेत्र अपनी विकटताओं, पहाड़ी दुर्गमता के साथ-साथ शत्रुओं के लिए भय वाला और मेवाड़ के राणाओं के लिए अभय रूप में स्थापित था। अरावली पर्वतमाला मेवाड़ की रक्षा के

लिए और मेवाड़ की सामरिक और व्यापारिक गतिविधियों के लिए उपयोगी रही है।⁵ गोगुन्दा से लेकर कुम्भलगढ़ तक का पहाड़ी क्षेत्र 'भोरट' के नाम से जाना जाता है।⁶ भोरट का क्षेत्र मेवाड़ में अरावली का सर्वाधिक ऊँचाई वाला क्षेत्र है। इसी भोरट क्षेत्र में नान्देशमा गाँव अवस्थित है जो मध्यकाल में एक प्रधान व प्रमुख केन्द्रीय नगर की स्थिति में था। नान्देशमा गाँव भोरट में गोगुन्दा और कुम्भलगढ़ के मध्य में कम ऊँचाई व दर्रे पर स्थित है और यह आस पास में पहाड़ियों से घिरा हुआ है, जिससे यह आसानी से दिखाई नहीं देता है और साथ-साथ यहाँ जल और खाद्यान्न की प्रचुर उपलब्धता भी है। जिससे यह एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में स्थापित होता है। इसके अतिरिक्त नान्देशमा से चारों दिशाओं में जाया जा सकता था और सैन्य संचालन और ब्राह्म्य आक्रमणों के समय आसानी से पलायन और पहाड़ों से आक्रमण भी किया जा सकता था, जो सुरक्षा हेतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण था।

(2) व्यापारिक मार्ग केन्द्रता- किसी भी राज्य की आर्थिक समृद्धि उस राज्य के स्थापित और स्थिर रहने के लिए आवश्यक होती है। मेवाड़ राज्य की आर्थिक समृद्धि ने गुहिलोत या सिसोदिया राजवंश को सबसे लम्बे समय तक एक क्षेत्र पर राज्य स्थापित रखने में सहायता की थी।⁷ नान्देशमा गाँव भी इन व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र स्थल और स्थलीय पत्तन के रूप में स्थापित था।

यह गाँव प्राचीन व्यापारिक मार्ग के मध्य में स्थित है। यह प्राचीन मार्ग दिल्ली से गुजरात जो खम्भात की खाड़ी से अहमदाबाद, ईडर, पानरवा, गोगुन्दा, नान्देशमा, हल्दीघाटी (खमनोर), कुम्भलगढ़, मोही, भीलवाड़ा, अजमेर से दिल्ली जाता था।⁸ इसके अतिरिक्त आस-पास के क्षेत्र में कम ऊँचाई पर होने और कुम्भलगढ़ और गोगुन्दा के मध्य में स्थित होने के कारण एक प्रमुख राजनैतिक और आर्थिक केन्द्र रहा था। यह चारों दिशाओं से जुड़ा हुआ है- यह उत्तर दिशा में कुम्भलगढ़, रणकपुर, पाली (मारवाड़) से जुड़ा हुआ, पश्चिम दिशा में यह सिरोही राज्य से जुड़ा हुआ है। इसके दक्षिण दिशा में मेवाड़ का दक्षिण भाग, भीलों का क्षेत्र और ईडर राज्य आता है। पूर्व दिशा में यह खमनोर, नाथद्वारा और राजसमंद से जुड़ा हुआ है।

कुम्भलगढ़ तक आने जाने में यह मार्ग सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सबसे छोटा मार्ग है। उदयपुर से गोगुन्दा, नान्देशमा, गुमान, बरवाड़ा, केलवाड़ा, कुम्भलगढ़ अतिशीघ्रता से पहुँचा जा सकता है। इस मार्ग से उदयपुर से कुम्भलगढ़ शीघ्रता से पहुँचा जा सकता है और प्राचीन काल में इसी मार्ग का अनुसरण कर समस्त व्यापारिक गतिविधियाँ होती रहती थी।

(3) धार्मिक कारण- पाटन या प्रधान स्थिति का सबसे महत्वपूर्ण कारक क्षेत्र का धार्मिक विकास होना है। जहाँ व्यापारिक व सामरिक सुरक्षा व सुविधाएँ अधिक

होगी वहाँ धार्मिक गतिविधियाँ की सर्वाधिक होगी। धार्मिक परिदृश्य की अधिकता उस क्षेत्र या नगर की प्रधानता को भी दर्शाता है। नान्देशमा में भी धार्मिक जीवन अपनी चरम अवस्था में देखने को मिलता है जिसमें कई महत्वपूर्ण मंदिर हैं जो निम्न हैं-

(1) **सूर्य मंदिर** - इस सूर्य मंदिर का निर्माण 12वीं शताब्दी में हुआ था। प्राचीनकाल में यह एक भव्य मंदिर था, लेकिन रखरखाव के अभाव में यह खंडित होता जा रहा है। मंदिर में एक लघु सभामण्डल है जो लगभग 10-12 फीट ऊँचा है। वर्तमान में गर्भगृह का शिखर और पीछे की दीवार खण्डित हो गई है, लेकिन गर्भगृह के भीतर स्थित सूर्य प्रतिमा सुरक्षित है। सूर्य प्रतिमा की ऊँचाई लगभग 4 फीट और चौड़ाई 2 फीट 6 इंच है।

यह मंदिर मेवाड़ महाराणा जैत्रसिंह के समय का माना जाता है। इस मंदिर में देवनागरी लिपि में 20 पंक्तियों में एक शिलालेख मिलता है, इस पर तिथि विक्रम संवत् 1279 (ई. 1222) अंकित है और साथ ही तत्कालिक मेवाड़ की गई महत्वपूर्ण जानकारी भी प्रदान करता है।⁹

(2) **चारभुजा जी मंदिर** - यह मंदिर सूर्य मंदिर के पास ही स्थित है। यह मंदिर नान्देशमा गाँव में बसे हुए पालीवाल ब्राह्मणों के लिए बहुत महत्वपूर्ण व पुराना मंदिर है। पालीवालों की बड़वा पोथी में इस मंदिर के जीर्णोद्धार का भी वर्णन भी मिलता है। यह मंदिर और अन्दर स्थित प्रतिमा अत्यधिक सुन्दर है। वर्तमान में मंदिर का जीर्णोद्धार नवीन रूप में हो गया है, लेकिन चारभुजा जी की प्रतिमा मध्यकालीन प्रतीत होती है जो स्थानीय काले ग्रेनाइट से बनी हुई है।

(3) **खीमज माता मंदिर** - खीमज माता का मंदिर नान्देशमा गाँव से थोड़ी दूर पूर्व दिशा में ऊँचाई पर स्थित है। यह मंदिर पालीवालों की कुल देवी के रूप में स्थापित है। खीमज माता का दूसरा नाम क्षेमकरी माता भी है। पालीवालों की ऐतिहासिक यात्रा में सौराष्ट्र-कच्छ से उनके विस्थापन के बाद वे उदयपुर-राजसमंद क्षेत्र में आये थे और स्थानीय जनश्रुति के अनुसार बप्पा रावल को राज्य दिलाने और विजयी बनाने में पालीवाल ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। क्षेमकरी माता का प्राचीन मंदिर वर्तमान पाटन शहर (गुजरात) में अभी भी विद्यमान है।¹⁰

(4) **नारायण देवरी मंदिर** - नारायण देवरी मंदिर गाँव से 1 किमी पहले ऊँचाई पर स्थित है। यह मंदिर शैव परम्परा का मंदिर है। जनश्रुति में इस मंदिर की स्थापना पांडवों के द्वारा स्थापित करना माना जाता है। लेकिन शिवलिंग को छोड़कर सारा मंदिर नवीन ही लगता है। यह मंदिर नान्देशमा गाँव से भी पहले का बसा हुआ था और जनश्रुति में कहा जाता है कि भू-गर्भिक उथल-पुथल में नान्देशमा गाँव जमीन के नीचे दब गया

लेकिन यह शिवलिंग आज भी स्थित है।¹¹ अभी भी प्राचीन गाँव के अवशेष मिलते रहते हैं।

(5) **महावीर स्वामी मंदिर** - यह मंदिर गाँव के मध्य में स्थित है। यह मंदिर वर्तमान में गाँव में स्थित जैन धर्मावलम्बियों द्वारा निर्माण कराया गया है। इस गाँव में जैन महाजनों का योगदान मध्यकाल से ही चला आ रहा है। मध्यकाल में व्यापार-वाणिज्य की सारी गतिविधियाँ वैश्य-महाजनों के हाथों में ही केन्द्रित थी। नान्देशमा गाँव जो उस समय व्यापारिक व प्रशासनिक गतिविधियों का केन्द्र था अतः महाजन और जैन धर्मावलम्बियों ने इस क्षेत्र में निवास शुरू कर दिया था। वर्तमान में भी यहाँ के जैन व्यापारियों को 'सेठ' नाम से बुलाया जाता है और कुछ तो उपनाम में भी 'सेठ' ही लगाते हैं।¹²

निष्कर्ष - इस प्रकार क्षेत्रीय विशेषता, सैन्य उपयोगिता, धार्मिक केन्द्रिता और भौगोलिक अवस्थिति ने इस क्षेत्र को एक प्रमुख और केन्द्रीय नगर की स्थिति में स्थापित कर दिया था, जो राज्य की समस्त गतिविधियाँ का केन्द्र बिन्दु रहा था।

प्राचीन मेवाड़ राज्य गोगुन्दा, नागदा, आहड़ कुम्भलगढ़ के क्षेत्रों तक ही फैला हुआ था और सारी गतिविधियाँ इन्हीं केन्द्रों में रहती थी। विशेषकर महाराणा कुम्भा के समय भी यह क्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा था। कुम्भा की कर्मस्थली कुम्भलगढ़ से चित्तौड़ और ईडर तक जाने के मार्ग के मध्य में यह गाँव आता है। यह गाँव भोरार और भोमट के मध्य आता है¹³ और गोगुन्दा जो कि छठीं शताब्दी ईस्वी से ही विद्यमान था,¹⁴ वह नान्देशमा से लेकर पदराड़ा, सायरा, पलासमा और कुम्भलगढ़ तक क्षेत्र को प्रमुख व्यापारिक, सामरिक व धार्मिक गतिविधियाँ प्रदान करता था।

संदर्भ

1. डॉ. नरेश कुमार, अपभ्रंश हिन्दी कोश, डी. के. प्रिंट वर्ल्ड प्रा. लि., नई दिल्ली, 1999, द्वितीय पृ. 472
2. सम्पादक बदरी प्रसाद साकरिया, राजस्थानी हिन्दी शब्द कोश, द्वितीय खण्ड, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1993, पृ. 712
3. उपरोक्त
4. गूगल मैप व्यू, नान्देशमा
5. टॉड कृत, राजस्थान, राजपूत कुलों का इतिहास, रघुबीरसिंह, मंगल प्रकाशन, जयपुर, भाग प्रथम, 1963, पृ. 23
6. A.N. Bhattacharya, Human Geography of Mewar, Himanshu Publication, Udaipur, 2000, P. 9-10.
7. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर भाग प्रथम, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृ. 83-84

8. Ram Vallabh Somani, History of Mewar, C.L. Ranka and Co., Kitab Mahal, Jaipur, 1976, P. 7
9. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्रोत पुरातत्व भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1993, पृ. 101
10. व्यक्तिगत साक्षात्कार, श्री देवकिशन जी पालीवाल, प्रधानाचार्य, रा.उ.मा.वि. विसमा, निवासी नान्देशमा, पालीवालों की पोथी भी इन्हीं के पास है। दिनांक 27 नवम्बर, 2016 समय 3.30 बजे दोपहर।
11. उपरोक्त
12. उपरोक्त
13. श्यामलदास कृत, वीर विनोद, प्राक्कथन, प्रो. थियोडोर रिकार्डी जूनियर, मोतीलाल बनारसीदास, राजयन्त्रालय, उदयपुर, पुर्नमुद्रण दिल्ली, 1986, पृ. 160
14. A Late Historical and Medieval Settlement at Gogunda By J.S. Kharakwal, Dev Kothari and K.P. Singh, शोध पत्रिका, अंक 65, 2015, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

पूर्व मध्यकालीन भाटी राजवंश तथा रावल जैसल द्वारा नई राजधानी जैसलमेर की संस्थापना - एक अध्ययन

डॉ. कनिका भनोत

राजस्थान के पश्चिमी भूभाग में माड़ धरा¹ में विकसित हुए जैसलमेर राज्य का मध्यकालीन भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ प्राप्त भूवैज्ञानिक साक्ष्य और फॉसिल्स आदि इस क्षेत्र का सम्बन्ध इओसिन युग से करते हैं और प्रमाणित करते हैं कि यह सम्पूर्ण प्रदेश कभी सागर के गर्भ में रहा था।² रामायण में इसी क्षेत्र को 'मरुकान्तार' कहा गया है।³ कालान्तर में हुए भौगोलिक परिवर्तनों से यह क्षेत्र मरुस्थल (रेगिस्तान) में परिवर्तित हो गया और थार-मरुस्थल में समाहित हो गया। तदनन्तर इस क्षेत्र में मानवीय सभ्यता पल्लवित हुई, जिसके पुरातात्विक अवशेष मिल चुके हैं।⁴ इस क्षेत्र में स्थापित जैसलमेर राज्य के संस्थापक भाटी राजवंश की उत्पत्ति पौराणिक साक्ष्यों के अनुसार यदु वंश से मानी जाती है। नैणसी ने हरिवंश पुराण पर आधारित एक वंशावली को आधार बना कर यह बताया है कि भाटी, श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की संतान थे जो मथुरा छूटने के बाद लक्खी जंगल में गुढ़ा बाँध कर रहे, जहाँ अब भटनेर है, जो पीछे से वहाँ आबाद हुआ और भाटियों के कारण उसका नाम भटनेर पड़ा।⁵ तदनन्तर, तुर्कों ने जोर पकड़ कर इनको पंजाब की तरफ हटा दिया। भाटी भटनेर से तनोट, तनोट से देरावर और देरावर से जैसलमेर आए जहाँ उन्होंने जैसलमेर राज्य बसाया।⁶ वैसे मथुरा से माड़ प्रदेश अर्थात् जैसलमेर पहुँचने तक की भाटियों की यात्रा में भाटियों की नौ राजधानियों के नामोल्लेख देखने को मिलते हैं जो क्रमशः मथुरा, काशी, प्रागवड़, गजनी, भटनेर, दिगम, दिरावल, लोद्रवा और जैसलमेर रहीं जिनमें से जैसलमेर अंतिम थी। इस पर एक दोहा भी प्रचलित है⁷, किन्तु यह समुचित शोध की अपेक्षा रखता है।

महारावल जैसल⁸ से पूर्ववर्ती पूर्व-मध्यकालीन भाटी राजवंश पर अपनी शोध दृष्टि केन्द्रित करने पर हमें समसामयिक एवं परवर्ती इतिहास स्रोतों में विजयराज⁹ के वंशज देवराज¹⁰ से लेकर महारावल भोजदेव¹¹ तक के छः भाटी शासकों के नामोल्लेख देखने को मिलते हैं।¹² ऐतिहासिक स्रोतों से प्राप्त तथ्यों एवं संदर्भों के आधार पर इनसे सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण बातें हमारी जानकारी में आती हैं जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ पर अपनी प्रासंगिकता रखता है।

(1) देवराज : इसे माड़धरा का प्रथम प्रतापी शासक कहा जा सकता है।

विविध इतिहास स्रोतों से इसका समय 850 से 900 ई.पूर्व के लगभग ठहरता है।¹³ अपने पिता राव विजयराज की वाराहों के द्वारा की गई हत्या के उपरान्त बिठोड़े (भटिण्डा) से पलायन उपरान्त देवराज एक संघर्ष के दौर से गुजरा। प्रारम्भ में यह पुरोहित देवायत और उनके पुत्र रत्नू की शरण में रहा।¹⁴ तदुपरांत वह अपने मामा जजा (झुझदे) के यहाँ चला गया, जहाँ वह दस वर्ष तक गुप्त रहा। इसी दौरान हुरड़ नामक कन्या से इसका विवाह हुआ और यह अपनी सास रवाय के पास रहने लगा जहाँ उसे वाराहों के धर्मगुरु योगी रतननाथ की एक ऐसी रस-कुंपिका मिली जिसकी एक बूँद के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाने का उल्लेख नैणसी ने अपनी ख्यात में किया है।¹⁵ ऐसा माना जाता है कि यह रस-कुंपिका उसके समृद्ध हो जाने का कारण बनी। तत्पश्चात् वह पुनः अपने मामा के पास चला गया और उसने उससे प्राप्त भूमि पर एक विशाल दुर्ग बनवाया और बावन बुजों वाले इस दुर्ग का नाम देरावर रखा।¹⁶ देरावर दुर्ग निर्माण के उपरान्त उसकी महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ने लगीं और पड़ोसी भूटों से संघर्ष का होना अवश्यम्भावी हो गया। केलकोट के स्वामी लाखा की सहायता से देवराज ने भूटों को परास्त किया और उनके दुर्ग जोधे (जांघ) पर अधिकार कर लिया व 'सिद्ध देवराज' कहलाने लगा तथा उसने 'महारावल' की उपाधि धारण की।¹⁷ तदुपरांत महारावल देवराज ने अपने पिता के घातक वाराहों से प्रतिशोध लेने के लिए वाराहों के राज्य बिठोड़े (भटिण्डा) पर आक्रमण किया तथा उन्हें बुरी तरह से काटा व अपमानित किया।¹⁸

अपने शरणदाता रहे पुरोहित देवायत की याद आने पर महारावल देवराज ने सोरठ में सिंह स्थली नामक जगह पर रह रहे उसके पुत्र रतन को बुलवाया और उसे सम्मानित किया। उसने रतन को अपना 'बारहठ' बनाया, सिर पर छत्र रखवाया तथा उसका विवाह देथा चारण की पुत्री से कर दिया। इसी रतन के वंशज भाटियों के रत्न चारण हैं।¹⁹ तत्पश्चात् देवराज ने पंवारों (परमारों) को परास्त कर माड़ प्रदेश के प्रमुख स्थान 'लोद्रवा' पर अधिकार कर लिया और उसे अपनी राजधानी बनाया।²⁰ तत्पश्चात् महारावल देवराज ने धार के पंवारों पर चढ़ाई कर दी जिस पर पंवारों ने देवराज को दण्ड अदा कर उससे संधि कर ली।²¹ उस समय मरू मण्डल में मण्डोर (माण्डव्यपुर) पर प्रतिहारों तथा जालौर पर सोनगरों का अधिकार था। देवराज ने इन्हें भी जीत लिया था। यद्यपि कालान्तर में अवसर पाकर जालौर पर सोनगरा चौहानों तथा मण्डोर पर प्रतिहारों ने पुनः अधिकार कर लिया।²² ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि अपनी वृद्धावस्था में देवराज शिकार खेलने के लिए निकला जहाँ अकस्मात् इसका मुकाबला चन्ना जाति के राजपूतों से हो गया और इस संघर्ष में देवराज अपने 140 साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हो गया।²³ इस प्रकार, माड़धरा में प्रवेश करने के उपरान्त इस राजवंश का प्रथम प्रतापी शासक तथा माड़धरा में भाटी सत्ता का वास्तविक संस्थापक महारावल देवराज ही था।

(2) **महारावल मंध** : महारावल देवराज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र मंध (मूंध) शासक बना। इसने अपने पिता के हत्यारों चन्ना बलौचों को परास्त कर 1800 शत्रुओं का संहार किया और अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लिया।²⁴ इसने सिंध के नाले पर एक दुर्ग का निर्माण कराया तथा उसका नाम 'मुंधकोट' रखा।²⁵

(3) **महारावल बाछू** : यह महारावल मंध का पुत्र था। इसने 'वाछूटी' नामक दुर्ग का निर्माण कराया, जिसके अवशेष शाहागढ़ के पश्चिम में चार कोस दूरी पर स्थित हैं।²⁶ इसने तथा इसके पुत्र दुसाज ने थट्टा के गाजीखान बलौच; बीकमपुर के जैतुंगों, खोखरों व जोहियों के विरुद्ध सफल अभियान किए।²⁷

(4) **महारावल दुसाज** : महारावल बाछू की मृत्यु के बाद उसका पुत्र दुसाज शासक बना। दुसाज के शासनकाल में सोढ़ावंशीय हम्मीर ने दुसाज की राज्य सीमा में लूटपाट मचानी शुरू कर दी, इस पर महारावल दुसाज ने इस पर चढ़ाई कर दी और गाँव खुहड़ी के निकट 700 सोढ़ाओं सहित हम्मीर को मौत के घाट उतार दिया।²⁸ इसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम जैसल था और कनिष्ठ पुत्र विजयराज था। जब दुसाज ने जैसल के ज्येष्ठ होने के बावजूद अपने कनिष्ठ पुत्र विजयराज से अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया, तो इससे ज्येष्ठ पुत्र जैसल नाराज हो गया और रूष्ट होकर गजनी के शाह अलाउद्दीन गौरी के भाई शहाबुद्दीन गौरी की सेवा में नगर थट्टा में रहने लगा।²⁹

(5) **महारावल विजयराज लांजा** : महारावल दुसाज की मृत्यु के पश्चात् उसके सामन्तों ने उसकी इच्छा के अनुसार उसके कनिष्ठ पुत्र विजयराज लांजा को गद्दी पर बैठा दिया। जैसलमेर क्षेत्र से विजयराज से सम्बन्धित तीन अभिलेख मिले हैं जो क्रमशः भट्टिक संवत् 541³⁰, 543³¹ तथा 552³² (अर्थात् ई.सन् 1165, 1167 तथा 1176) के हैं।³³ डॉ. दशरथ शर्मा ने इन्हें महारावल विजयराज लांजा से ही सम्बन्धित प्रमाणित किया।³⁴ उन्होंने इन शिलालेखों के आधार पर विजयराज लांजा का शासनकाल सन् 1165 ई. से 1176 ई. तक ठहराया है। विजयराज के उपलब्ध इन अभिलेखों से हमें जैसलमेर के भाटियों के इतिहास में हुई तिथि सम्बन्धी त्रुटि को संशोधित करने में भी मदद मिलती है। उल्लेखनीय है कि परम्परागत प्रलेखों के अनुसार जैसलमेर के दुर्ग की स्थापना वि.सं. 1212 (अर्थात् ई.सन् 1155) में हुई थी।³⁵ परम्परागत प्रलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि जैसलमेर दुर्ग का निर्माण महारावल जैसल ने कराया था, जो विजयराज लांजा के पुत्र भोजदेव के बाद शासक बना। विजयराज लांजा का शासनकाल (उसके काल के अंतिम प्राप्त अभिलेख के अनुसार) वि.सं. 1233 अर्थात् ई.सन् 1176 तक रहा। उसके उपरान्त जब भोजदेव शासक बना तो उसके काल में मुहम्मद गौरी के सहयोग से विजयराज लांजा के बड़े भाई जैसल ने भोज को मार कर लुद्रवा पर अधिकार कर लिया। मो. गौरी का प्रथम अभियान गुजरात के चालुक्यों के विरुद्ध सन् 1178 ई. (वि.

सं. 1235) में हुआ था। अतः भोज की मृत्यु तथा जैसल के राज्यारोहण की संगति इस तिथि से बैठ जाती है। अतः जैसलमेर के दुर्ग के निर्माण की तिथि वि.सं. 1212 के स्थान पर वि.सं. 1234 के बाद कभी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त 'खरतरगच्छ वृहदगुर्वावली' से ज्ञात होता है कि वि.सं. 1244 तक जैसलमेर अपने अस्तित्व में आ चुका था। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसलमेर दुर्ग का निर्माण वि.सं. 1235 तथा वि.सं. 1244 (ई. सन् 1178 और सन् 1187) के मध्य कभी हुआ।

(6) महारावल भोजदेव : विजयराज लांजा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र भोजदेव वि.सं. 1233 (ई.सन् 1176) में शासक बना। उसका ताऊ जैसल इस समय इस्लामिक शासक शहाबुद्दीन मो. गौरी का शरणागत था। गौरी ने अपनी धन-लोलुपता को शांत करने के लिए भारत पर आक्रमण की तैयारी कर गुजरात पर चढ़ाई की योजना बनाई। जैसल ने गौरी को सहयोग करना स्वीकार किया। बदले में गौरी ने भी जैसल को लुद्रवे का शासक बना देने का आश्वासन दिया। मो. गौरी ने गुजरात विजय के लिए कूच किया तो मार्ग में पड़ने वाले भोजदेव से यह अपेक्षा की कि वह उसके प्रयाण की सूचना गुजरात के सोलंकीयों (चालुक्यों) को नहीं दे। लेकिन भोज ने अपनी सेना लेकर गौरी की सेना को रोकने के लिए उसका मुकाबला किया और लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हो गया। तब रावल जैसल ने लोद्रवा का शासन सूत्र अपने हाथों में ले लिया और वह वहाँ का शासक बन गया।³⁶

भोजदेव की मृत्यु के बाद जैसल लोद्रवा का शासक बन गया। भोजदेव की कोई संतान नहीं होने के कारण जैसल को किसी विरोध का सामना भी नहीं करना पड़ा। अपनी व्यवहारकुशलता के कारण वह शीघ्र ही प्रायः समस्त भाटी सरदारों को अपने पक्ष में कर पाने में भी सफल रहा।³⁷ महारावल जैसल के शासनकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि जैसलमेर दुर्ग का निर्माण तथा जैसलमेर राज्य की संस्थापना है। इस समय तक भाटियों की राजधानी लुद्रवा थी। महारावल जैसल की दृष्टि में लुद्रवा, राज्य की राजधानी की दृष्टि से सर्वथा सुरक्षित व उपयुक्त स्थान नहीं था, अतः उसने एक सुदृढ़ दुर्ग व नई राजधानी के निर्माण के लिए उपयुक्त नये स्थान की खोज प्रारम्भ कर दी। इस सम्बन्ध में नैणसी ने अपनी ख्यात में विस्तृत ब्यौरा दिया है। वह लिखता है कि "जैसल के मन में विचार हुआ कि यह स्थान (लुद्रवा) चौड़े में है। मेरे सिर पर हजार दुश्मन, इसलिए किसी बांकी ठौर पर गढ़ बनाना चाहिए। वह गढ़ के लिए जगह देखता फिरता था। अंत में जैसलमेर के पश्चिम में सोहाण के पहाड़ में गढ़ बनवाने का निश्चय किया। ईसा (ईश्वर) नामक एक 140 वर्षीय वृद्ध ब्राह्मण के बेटे, रावल की चाकरी में थे।³⁸ गढ़ निर्माण के वास्ते गाड़े ब्राह्मण के घर के पास से निकलते थे। उनका हा-हू सुनकर ईसा ने अपने पुत्रों से पूछा कि यह हल्ला गुल्ला किसका होता है? उन्होंने उत्तर

दिया कि रावल जैसल लुद्रवे से अप्रसन्न होकर सोहण के पहाड़ पर गढ़ बनवाता है इसके दो बुर्ज बन चुके हैं। तब ईसा ने पुत्रों से कहा कि रावल को मेरे पास बुला लाओ। उन्होंने रावल को ईसा से रुबरु कराया तब ईसा ने कहा कि आप सोहण में गढ़ नहीं बनवाईये। मेरा नाम भी रखो तो गढ़ की ठाँड़ मैं बताऊंगा, मैंने प्राचीन बात सुनी है। रावल ने ईसा का कथन स्वीकारा तब उसने कहा कि मैंने ऐसा सुना है कि एक बार यहाँ श्रीकृष्ण किसी कार्यवश निकल आए, साथ में अर्जुन भी थे, भगवान ने अर्जुन से कहा कि 'इस स्थान पर पीछे हमारी राजधानी होगी' - जहाँ जैसलमेर का गढ़ है और उसमें जैसल नामक बड़ा कूप है - 'यहाँ तलसेजेवाला बड़ा जलाशय है।' ईसा बोला कि वहीं मेरी डोली (दान में दी गई भूमि) कपूरदेसर पाल के नीचे है, उस सर में अमुक स्थान पर एक लम्बी शिला है, आप वहाँ जाओ और उस शिला को उलट कर देखो, जो उसके पीछे लेख हो तो तदनुसार करना। वहाँ पर लंका के आकार का त्रिकोण गढ़ बनवाना, वह बड़ा बांका दुर्ग होगा और बहुत पीढ़ियों तक तुम्हारे अधिकार में रहेगा। जैसल वहाँ पहुँचा और उसने वह शिला उलट कर देखी तो उस पर यह दोहा लिखा था -

लुद्रवा हूँती ऊगमन, पंचो कोसे माम।

ऊपाड़ै ओ मंडज्यो, तिण रह अम्मर नाम।

कपूरदेसर की पाल पर एक रड़ी (ऊँची जगह) साधा। वहाँ रावल जैसल ने संवत् 1212 श्रावण वदि 12 आदित्यवार मूल नक्षत्र में ईसा के कहने पर जैसलमेर का बुनियाद का पत्थर रखा। थोड़ा सा कोट और पश्चिम की पोल तैयार हुई थी कि पाँच वर्ष पीछे रावल जैसल का देहान्त हो गया।³⁹ नैणसी द्वारा दी गई उक्त कथा की पुनरावृत्ति जैसलमेर की ख्यात⁴⁰ तथा तवारीख-जैसलमेर⁴¹ में भी हुई है। कुछ अंतर के साथ टॉड ने भी यह कथा दी है।⁴² इस कथा में अतिशयोक्ति या अतिरंजना हो सकती है परन्तु इसमें अंतर्निहित यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि ईसाल नामक ब्राह्मण ने गढ़ निर्माण के लिए उपयुक्त स्थान का सुझाव जैसल को दिया चूंकि इस गढ़ के पश्चिमी भाग को आज भी 'ईसाल' कहा जाता है।⁴³ जहाँ तक इस दुर्ग की स्थापना की तिथि का प्रश्न है, उस पर यहाँ प्राप्त तीन शिलालेखों के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष में पहले ही कहा जा चुका है कि, जैसलमेर दुर्ग के निर्माण का कार्य वि.सं. 1235 से 1244 अर्थात् ई.सन् 1178 से 1187 ई. के मध्य कभी हुआ था। महारावल जैसल ने चन्ना और बलौचों को परास्त किया।⁴⁴ ख्यात से पता चलता है कि उसके राज्य के विस्तार में जैसलमेर, देरावर, तनोट, बीकमपुर, रोहड़ी, भखर, छोटडु, फलौधी, खाबड़, मारोट, सातल, नोहर, चौहटण, पूंगल, बाहड़मेर, नाचणा तथा जूनागढ़ नामक दुर्ग सम्मिलित थे। महारावल जैसल ने अपने राज्य को 16 परगनों में विभक्त किया तथा इसका भाटी जैसलमेर राज्य देरावल से पूंगल (बीकानेर), चौहटण (बाड़मेर) तथा रोहड़ी शक्कर (सिन्ध) तक फैला हुआ था।

संदर्भ

1. 'माड़' शब्द का प्रयोग प्रतिहार शासक कक्कुक के घटियाला अभिलेख में 'त्रवणी' तथा 'वल्ल' के साथ हुआ है, जो कि इसके सीमावर्ती राज्य थे। द्रष्टव्य - डॉ. मांगीलाल मयंक, मारवाड़ के अभिलेख, पृ. 3
2. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर : जैसलमेर, पृ. 25
3. रामायण, युद्ध काण्ड, एकविंश सर्ग, श्लोकांक 31-35
4. द्रष्टव्य - इण्डियन आर्कियोलोजी, 1960-61, पृ. 31-32
5. नैणसी की ख्यात, पृ. 261-62, नागरी प्रचारणी संस्करण
6. डॉ. मांगीलाल मयंक, जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 15, 1984, जोधपुर
7. मथुरा काशी प्रागवाड़, गजनी अरु भटनेर।
दिगम दिरावल लोद्रवो, नम्मो जैसलमेर।।
8. भाटी राजवंश का सातवां शासक
9. विजयराज की हत्या बिठोड़े (भटिण्डा) के वाराहों ने की थी। इसे 'चूड़ाला' भी कहा गया है। द्रष्टव्य - नैणसी की ख्यात, उपर्युक्त, पृ. 36-37
10. महारावल की उपाधि धारण करने वाला प्रथम भाटी शासक।
11. नैणसी की ख्यात, उपर्युक्त, भाग-2, पृ. 277-78
12. क्रमशः देवराज, महारावल मंध, महारावल बाछू, महारावल दुसाज, महारावल विजयराज लांजा तथा महारावल भोजदेव।
13. नैणसी की ख्यात, उपर्युक्त, भाग-2, पृ. 273-74
14. वही, पृ. 264
15. वही, भाग-2, पृ. 264
16. वही, पृ. 266-67, 269
17. जैसलमेर ख्यात, पृ. 40
18. वही, पृ. 39; विठड़े को झाला वाराहां ने मारियो, बाप रो बैर लियो कतल किवी।
19. नैणसी की ख्यात, उपर्युक्त, भाग-2, पृ. 270
20. वही;
21. जैसलमेर ख्यात, पृ. 40
22. वही;
23. जैसलमेर ख्यात, पृ. 41
24. वही, पृ. 42
25. तवारीख जैसलमेर, पृ. 25
26. वही
27. वही, पृ. 491-92
28. तवारीख जैसलमेर, पृ. 27

29. वही
30. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग-1, उपर्युक्त, पृ. 286, पाद टिप्पणी संख्या-2
31. वही
32. वही
33. भट्टिक एवं ई. सन् में 624 वर्षों का अंतर है। अर्थात् भट्टिक संवत् में 624 जोड़ने पर ई.सन् आ जाता है।
34. दशरथ शर्मा : राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग-1, उपर्युक्त, पृ. 280-86
35. नैणसी की ख्यात, भाग-2, उपर्युक्त, पृ. 279;
36. मूता नैणसी की ख्यात, भाग-2, उपर्युक्त, पृ. 277-78
37. जैसलमेर ख्यात, पृ. 45 पर ऐतद्विषयक संकेत मिलता है (लुद्रवा का परगना का गाम 999 नव ने नानुणू, अमरखां ने रीझ मौज दीवी।)
38. तवारीख जैसलमेर, पृ. 39 के अनुसार 120 वर्ष
39. नैणसी की ख्यात, भाग-2, उपर्युक्त, पृ. 278-79
40. जैसलमेर ख्यात, पृ. 46-47
41. तवारीख जैसलमेर, पृ. 28-29
42. टॉड, एनल्स, भाग-2, पृ. 494-95
43. तवारीख जैसलमेर, पृ. 29
44. वही; जगदीश सिंह गहलोत, राजस्थान का इतिहास, भाग-1, पृ. 660

अलवर का कोहीनूर (बाला किला)

डॉ. अंशुल शर्मा

भारतीय कला एवं स्थापत्य में दुर्ग संरचना एक महत्वपूर्ण विधा है। सुरक्षा से सम्बद्ध होने के कारण दुर्गों का नागरिक सभ्यता के इतिहास में प्रारंभ से ही विशिष्ट योगदान रहा है। अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से दुर्गों के अस्तित्व का प्रमाण प्राचीनकाल से ही मिलने लगता है।¹ भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में दुर्ग के लिए अधिकांशतः 'पुर' शब्द का प्रयोग हुआ है।² रामायण के तृतीय सर्ग में दुर्ग का उल्लेख मिलता है।³ इस प्रकार भारत में दुर्गों के अस्तित्व के प्रमाण अति प्राचीनकाल से ही मिलने लगते हैं। दुर्ग, दुर्ग, किला, गढ़ कोट अथवा फोर्ट मूलतः राज्य शक्ति और सामरिक स्थापत्य के ही प्रतीक हैं।⁴

सभ्यता के विकास के साथ-साथ सुरक्षा की इस भावना ने गाँवों और नगरों के चारों ओर बनने वाली प्राचीन को जन्म दिया। प्राचीन नगरों के उत्खनन में इस प्रकार की प्राचीनों के अवशेष मिलते हैं। प्राचीन युद्ध परम्परा तथा यहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण राजस्थान में दुर्गों का महत्व रहा है।⁵ राजस्थान में प्राचीन के सबसे प्राचीन अवशेष कालीबंगा से प्राप्त हुए हैं।⁶ नगरों के अतिरिक्त प्राचीन काल में राज्यों में शक्ति का केन्द्र राजा होता था, जो राजधानी में निवास करता था। उसकी सुरक्षा के लिए पहाड़ियों पर या मैदानों में ऐसे दुर्ग बनाये जाते थे जो सुदृढ़ प्राचीन बुर्ज तथा खाइयों से घिरे होते थे। इनके अंदर राजप्रसाद तथा अन्य राजकीय भवनों के अतिरिक्त देवालय और साधारण जनता के लिए भी आवास बनाए जाते थे। जैसे-जैसे दुर्गों का महत्व बढ़ता गया उनके निर्माण में युद्ध विद्या और सैनिक संगठन का भी ध्यान रखा जाने लगा। उनके प्रवेश के लिए अनेक ऐसे द्वार बनाए गए कि शत्रु सीधे आक्रमण न कर पाए। स्वयं की सुरक्षा के लिए तथा लम्बे समय के घेरे के दिनों के लिए दुर्ग में सुरक्षित जल व्यवस्था और खाद्य सामग्री कासंचय आवश्यक होता था। जल के स्थायी स्रोत में वर्षा का जल कुण्डों और टांकों में एकत्र किया जाता था। संकट के समय दुर्ग से निकलने के लिए गुप्त द्वार की भी व्यवस्था आवश्यक मानी गई।

बाला किला अलवर शहर के मस्तक पर उसी प्रकार शोभायमान है, जिस प्रकार भारत के मानचित्र पर कश्मीर भारत के मुकुट की तरह स्थित है। आधुनिक युग में किलो का महत्व वो नहीं है जो कि उनके निर्माण काल में था। वर्तमान में ये प्राचीन किले न केवल पुरातत्व की बेजोड़ एवं अमूल्य धरोहर के बल्कि अतीत के गर्व एवं

गौरव के साक्षी भी है। राजस्थान में किले विशेष रूप से पाये जाते हैं और ये तमाम किले यहाँ के प्राचीन शासकों के वैभव और उस काल की बेजोड़ स्थापत्यकला के प्रतीक हैं। राजस्थान के सिंह द्वार अलवर नगर के मस्तक पर भी अलवर का प्राचीन किला (बाला-किला) स्थित है जो अपने कलेवर में करीब एक हजार वर्ष के रंगीन एवं संगीन इतिहास को समेटे हुए है। दिल्ली के नजदीक होने के कारण यह किला अपने सामरिक महत्व के लिए विख्यात रहा है। अलवर के इस कोहीनूर बाला किले के इतिहास की विवेचना से पूर्व इस किले के नामकरण पर विवेचन करना प्रासंगिक होगा।

बाला किले के नामकरण के बाबत कई जनश्रुतियाँ हैं। एक जनश्रुति के अनुसार इस किले पर किसी ने चढ़ाई नहीं की, इसलिए यह किला कुँवारा है क्योंकि उस काल में किलों पर चढ़ाई या तो राज्य विस्तार के प्रयोजन से या विवाह प्रयोजन से की जाती थी, लेकिन यह जनश्रुति ऐतिहासिक पटल पर खरी नहीं उतरती है, क्योंकि आमेर के कुशवाहा शासक अलुधराय के पुत्र सागर ने निकुम्भों ने, निकुम्भों से चौहानों से पुनः निकुम्भों ने, निकुम्भों से खानजादों ने खानजादों से मुगलों व पठानों ने मुगलों से जाटों ने तथा जाटों से राजपूतों (नरूकाओं) ने इस किले को क्रमशः अपने अधिकार में लिया था। दूसरी जनश्रुति के अनुसार पहाड़ के मस्तक पर यह किला अनाज की बाल (सिट्टे) की तरह स्थित है इसलिए इसको पहले बाल किला बाद में बाला किला नाम पड़ा। वस्तुतः यह किला वर्तमान में जिस स्वरूप में है वैसा प्रारम्भ में नहीं था। सर्वप्रथम अलुधराय ने एक छोटी से गढ़ी बनाई यानि बाल (छोटा किला)। ग्यारहवीं शताब्दी में यह किला बाल किला कहलाया और कालान्तर में विशेष रूप से अंग्रेजी काल में यह बाल से बाला किला कहलाने लगा होगा। इसकी नींव आमेर नरेश कांकिल के द्वितीय पुत्र अलुधरान ने सन् 1040 के आस-पास एक छोटी सी गढ़ी बाल द्दछोटान्त्र किले के रूप में डाली थी जिसके नीचे एक नगर बसा था जिसका नाम अलपुर था, सम्भवतः वर्तमान का रावणदेवरा वही स्थान हो।

‘अलुधराय के पुत्र सागर से इस किले का निकुम्भ क्षत्रियों ने छीन लिया था। ब्रिगस् फरिश्ता में अंकित है’ कि अजमेर के राज विशालदेव चौहान ने अलवर (मेवात) के निकुम्भों को अपने अधीन कर लिया और राजा महेश को अपना सामन्त नियुक्त किया लेकिन सन् 1205 में कुतुबुद्दी ऐबक ने चौहानों से यह क्षेत्र छीनकर पुनः निकुम्भों को दे दिया। निकुम्भ क्षत्रियों के स्मृति चिह्न दुर्ग में आज भी विद्यमान है। निकुम्भों की पूज्य देवी चतुर्भुज की आज भी किले के बाहरी भाग में स्थित है। निकुम्भ अपनी अराध्य देवी को प्रसन्न करने के लिए नर बली दिया करते थे।

एक बार एक डोमणी के पुत्र की बली की बारी आई तो उसने निकुम्भों से क्षुब्ध होकर खानजादे शासक अलावत खाँ से हिंसक निकुम्भों के विनाश की फरियाद की। निकुम्भ जिस समय मांस मदिरा सेवन में घुल्ल एवं मस्त थे उस समय पर डोमणी ने

अलावत खाँ को किले पर आक्रमण करने का संकेत किया, जिसके फलस्वरूप अलावल खाँ ने निकुम्भों पर अचानक हमला कर उनका संहार करके किले पर कब्जा कर लिया। कुछ विद्वानों का कहना है कि अलावल खाँ के नाम से ही इस नगर का अलवर पड़ा लेकिन यह सत्य इसलिए नहीं है कि अलावत खाँ की मृत्यु से करीब 331 वर्ष पूर्व भी अलवर नामक नगर विद्यमान था, जिसका तवारिख-फरिश्ते में वर्णन इस प्रकार है कि सन् 1251 में पृथ्वीराज के पुत्र गोला को हमराज राजपूत ने अलवर के जंगलों में भगाकर रणभम्बोर की ओर भगा दिया। इससे स्पष्ट है कि अलवर का नामकरण अलावल खाँ के नाम से करना भ्रामक होगा। इस किले के परकोटे का निर्माण कर अलावल खाँ ने इस किले को सुरक्षा की दृष्टि से मजबूत किया। अलावत खाँ के पश्चात् हसन खाँ ने इस किले का विस्तार एवं पूर्ण जीर्णोद्धार करवाया था।

हसनखाँ मेवाती खानवा के मैदान में बाबर के विरुद्ध मेवाड़ के महाराणा सांगा के साथ युद्ध में लड़ा था। हसन खाँ के पश्चात् इस किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। 30 अप्रैल 1527 से 8 दिन बाबर यहाँ रहा था। मेवात का खजाना बाबर ने हुमायूँ को यहीं पर सौंपा था। बाद में मेवात का परगना हुमायूँ के छोटे भाई हिन्दाल को दिया गया था। शेरशाह सूरी ने हिन्दाल को भगा दिया और किले पर अधिकार कर लिया। शेरशाह के पुत्र सलीमशाह सूरी ने अपने विश्वास पात्र सरकार खवास खाँ को यहाँ का सूबेदार बना दिया, जिसने इस किले में सलीम शाह सूरी के नाम से सलीम सागर बनवाया था। इसके बाद यह किला हाजी खाँ के पास रहा उसने स्वयं को एक बार मेवात का स्वतंत्र शासक भी घोषित कर दिया, लेकिन दिल्ली पर पुनः हुमायूँ का कब्जा होने पर हुमायूँ ने मेवात को अपने अधीन किया तथा हाजी खाँ अजमेर की ओर भाग गया। हुमायूँ ने तुर्कबेग को यहां का सूबेदार बनाया इसके बाद अकबर ने अपने बहनोई मिर्जा सफरुद्दीन को यह परगना दिया, लेकिन जहांगीर (सलीम) ने उसकी अराजकता को देखते हुए उससे यह परगना छीनकर नवाब मुबारिज खाँ को यहां का शासक बना दिया। कुछ विद्वान सलीम सागर को सलीम द्वारा बताते हैं, लेकिन यह इतिहास सम्मत नहीं है। हसन खाँ मेवाती के भतीजे की बड़ी लड़की से बहराम खाँ का निकाह (शादी) हुआ था। हसन खाँ मेवाती की छोटी भतीजी ही अब्दुल रहीम खानखाना की माँ थी, जो कालान्तर में रहीम जी के नाम से जाने गये।

इस किले को औरंगजेब ने अपने सिपहसालार आमेर नरेश मिर्जाराजा जयसिंह को दे दिया था।⁸ छत्रपति शिवाजी को मैत्री करने बहाने से बुलाकर औरंगजेब ने जब उन्हें कैद कर लिया था तो आमेर नरेश महाराजा जयसिंह को यह बुरा लगा। इस पर मिर्जाराजा जयसिंह ने शिवाजी को टोकरे में बैठाकर जेल से बाहर निकालने की योजना को अंजाम देने में पूर्ण सहयोग किया। औरंगजेब को जब इसका मालूम हुआ तो उसने नाराज होकर बाला किला मिर्जाराजा जयसिंह से पुनः वापिस ले लिया। मुगल सल्तनत

के क्षीण होने पर भरतपुर के शासक सूरजमल ने सन् 1761 में इस किले को अपने अधिकार में ले लिया तथा उसने अपने सैनिक इस किले में सैनात किए। डॉ. एस.एल. नागौरी ने अलवर राज्य के इतिहास में इसे 1756 में जवाहर सिंह के द्वारा अपने पिता सूरजमल के कहने पर आधिपत्य में लेना माना है। इस किले में स्थित सूरज कुण्ड को सूरजमल के द्वारा निर्मित होना कुछ विद्वानों द्वारा बताया जाता है, लेकिन इनका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मुगल सेनापति नजबखां की धाक और मराठों के प्रभाव के कारण भरतपुर राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी, इसके अतिरिक्त 1768 में मावंडा-मावड़ी (जयपुर और भरतपुर राज्य) के युद्ध में राव प्रतापसिंह मचाड़ी के जयपुर राज्य को सहायता करने के परिणाम स्वरूप भरतपुर के जवाहर सिंह को अपनी जान बचाकर युद्ध से भागना पड़ा था। डॉ. एस.एल. नागौरी ने मावड़ा-मावड़ी के युद्ध की तारीख 14 सितम्बर 1764 माना है। इस युद्ध के पश्चात् एक ओर तो माचाड़ी के राव प्रतापसिंह ने जयपुर राज्य में पुनः अपना वर्चस्व कायम कर लिया और दूसरी तरफ जवाहर सिंह बहुत ही हतोत्साहित हो गया। इस समय पर बाला किले में भरतपुर राज्य के सैनिक तैनात थे उनको गत काफी समय से वेतन नहीं मिलने के कारण वे क्षुब्ध थे। समय की नजाकत को देखते हुए राव प्रतापसिंह ने 25 नवम्बर 1775 को इस किले पर धावा बोल दिया।

भरतपुर के सैनिकों ने बाला किला राव प्रताप सिंह जी को बिना विरोध किये सुपुर्द कर दिया। तथा वे सैनिक फिर यही रहे, इस प्रकार ठीक 750 वर्ष बाद पुनः कछवाहों की पचरंग ध्वजा बाला किले पर लहराई।⁹ राव प्रतापसिंह जी के बाला किले पर अधिकार करने पर वे अलवर राज्य के स्वतंत्र शासक हो गये। उन्होंने अपने इष्टदेव (श्री सीताराम जी) का मंदिर बनवाया जो आज भी किले में विद्यमान है। बाला किला अपने समय के सुदृढ़ विशाल एवं अजेय दुर्गों (किलों) में एक है। यह समुद्रतल से 1960 फुट तथा समतल भूमि से 1000 फुट की ऊँचाई पर पहाड़ी के मस्तक पर शोभायमान है और ये यदियानी शिल्पकला से निर्मित है इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक दो मील और चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तीन मील, इस प्रकार इसकी कुल परिधी छः मील है। इसका विशाल परकोटा 18 फुट ऊँची दीवार बना हुआ है। परकोटे की दीवार पर 3359 कंगूरे में प्रत्येक कंगूरों में दो छिद्र हैं जिनके द्वारा एक बार में 6718 गोलियाँ एक साथ चलाई जा सकती हैं। परकोटे के भीतरतरफ सटी हुई सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। किले के अंदर 15 बड़ी तथा 52 छोटी बुर्जे हैं जो अलग-अलग समय में यहां के अलग-अलग शासकों द्वारा निर्मित हैं। इन बुर्जों में से एक बुर्ज बाबर के सामन्त बैन सुल्तान द्वारा बनाई गई है। जिसे काबुल बुर्ज कहते हैं। अलवर राज्य के संस्थापक राव प्रतापसिंह जी के उत्तराधिकारी और थाना के ठाकुर धीरसिंह जी के द्वितीय पुत्र महाराव बख्तावर सिंह जी ने करणीमाता के मंदिर के पास एक प्रतापसिंह की छतरी (स्मारक) बनायी है। इस किले के बाहर दूसरी बुर्ज हवा बगला बुर्ज है जो अलवर के चतुर्थ नरेश

महाराव श्योदान सिंह जी द्वारा वायु सेवन के लिए बनवाई गयी थी। तीसरी एक नौ गजा बुर्ज है उसको अलवर के पंचम शासक महाराजा मंगलसिंह जी ने बनवाया था। किले के निरीक्षण हेतु खुदाई के दौरान इस स्थान पर एक नौ गज का कंकाल मिला इस पर महाराजा ने खुदाई को भरवाकर इस बुर्ज का निर्माण करवाया, नौ गज के कंकाल के कारण ही इस बुर्ज का नाम नौ गजा पड़ा। दुर्ग में प्रवेश के लिए पाँच पोल है, पूर्व में सूरज पोल है। सूर्यमुखी होने के कारण इस पोल का नाम सुरजपोल है। कुछ विद्वान भरतपुर के जाट राजा सूरजमल के द्वारा इसे निर्मित बताते हैं। लेकिन इसकी बनावट से स्पष्ट है कि सूरजमल के काल के बहुत पहले की बनी हुई है। किले के पश्चात् में चांदपोल है, जो निकुम्भ क्षत्रीय राजा चांद द्वारा बनाई गई है। चांद के नाम पर ही इसका नाम चांदपोल पड़ा। कुछ विद्वान इसे चंद्र मुखी होने के कारण इसका नाम चांदपोल बताते हैं। यह पोल ही उस समय का मुख्य द्वार था। इसके नीचे एक पक्की सड़क थी जो प्राचीन नगर (रावण-पार्श्वनाथ) तक थी, इसी मार्ग द्वारा ही माचाड़ी के राव प्राचीन सिंह ने इस किले पर चढ़ाई की थी। वर्तमान में यह सड़क पूर्ण रूप से जीर्ण-क्षीण अवस्था में है। किले की जयपोल अलवर के छठे नरेश महाराजा सवाई जयसिंह जी द्वारा निर्मित सम्भव है। किले के नीचे का पूर्वी द्वार कृष्ण पोल है और कृष्ण कुण्ड के समीप होने के कारण प्रसिद्ध है। उत्तर की ओर अंधेरी दरवाजा है, जहाँ दो पहाड़ियाँ मिलती हैं और सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचने के कारण वहाँ अंधेरा रहता है इसी कारण इसे अंधेरी दरवाजा कहते हैं। वर्तमान में राज्य सरकार द्वारा जीर्णोद्धार का कार्य सराहनीय है। आज भी इस किले के पाषाणों में न जाने कितने युद्धों, कितने राजवंशों के उत्थान-पतन के वैभव की गाथाएं चिरनिद्रा में सोई हुई हैं।

संदर्भ

1. सिंह, अमर, प्राचीन भारतीय दुर्ग स्थापत्य, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ. 1
2. विश्वबन्धु (टीका), ऋग्वेद (प्रथम मण्डल), विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध, संस्थानम्, होशिआरपुरम्, 1964, पृ. 415
3. महर्षि वाल्मीकि प्रणीत, श्री महात्मीकीय रामायण (द्वितीय भाग), गीता प्रेस, गोरखपुर, 2004, पृ. 206
4. दुबे, दीनानाथ, भारत के दुर्ग, नई दिल्ली, 1999, पृ. 1
5. मनोहर, राघवेन्द्र सिंह, राजस्थान के दुर्ग, राजसान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. 7
6. कुमारगुप्त, राजस्थान के दुर्ग, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1986, पृ. 5
7. ब्रिग्स फरिश्ता से उद्धृत
8. अलवर राज्य के संस्थापक नरूका, पृथ्वीसिंह नरूका, पृ. 65
9. वही, पृ. 66

झालावाड़ रियासत में कुक्की के मकबरे की ऐतिहासिकता

डॉ. जाहिदा शबनम

झालावाड़ रियासत में अनेक कलावन्तों ने अपनी कला से रियासत का नाम हमेशा ऊँचा रखा यहाँ के शासकों ने भी उनकी कला के संरक्षण और संवर्धन में कोई कमी नहीं रखी। कला के ऐसे ही अनमोल रत्नों में से एक थी झालावाड़ की राजनर्तकी कुक्की बाई।¹

उसके अप्रतिम रूप सौंदर्य व अद्भुत नृत्यकला की चर्चा दूर-दूर तक की रियासतों में होती थी। कुक्की बाई ने ब्रिटिश वायसराय से लेकर मेवाड़ के महाराणाओं तक से अपनी कला के बल पर बहुत सम्मान प्राप्त किए तथा झालावाड़ की नृत्यकला को नई ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। कुक्की का जन्म उत्तरप्रदेश के बांदा शहर में हुआ था।² उसकी माँ उल्फतजहाँ भी अपने समय की प्रसिद्ध नृत्यांगना थी। कुक्की ने अपनी माँ से ही नृत्यकला सीखी थी। धीरे-धीरे वह एक अद्भुत नृत्यांगना बन गई। कुछ वर्षों के बाद उल्फतजहाँ ने बांदा छोड़ दिया तथा अपनी पुत्री कुक्की के साथ इन्दौर जाकर रहने लगी। झालावाड़ में इस समय राजाराणा पृथ्वीसिंह (1845-1875) का शासन था। एक बार किसी अवसर पर पृथ्वीसिंह का इन्दौर जाना हुआ तो वहाँ उन्होंने कुक्की का शानदार नृत्य देखा। हालांकि उस समय झालावाड़ में बहुत से उत्तम नर्तक व नर्तकियाँ पहले से मौजूद थे लेकिन कुक्की के नृत्य की चमक के सामने सब फीके पड़ गए।³ कुक्की को नर्तकों-नर्तकियों में सबसे अधिक 1800 रुपये प्रतिमाह वेतन मिलने लगा। एक बार उदयपुर के महाराणा शम्भुसिंह के निमन्त्रण पर पृथ्वीसिंह अपने साथ कुक्की को भी उदयपुर ले गए। वहाँ महाराणा शम्भुसिंह ने कुक्की के सामने कोई अनोखी नृत्य प्रस्तुति देने की पेशकश की। वहाँ के प्रांगण में एक हाथी खड़ा हुआ था। उस समय हाथियों को सजाने के लिए उनके दाँतों पर लकड़ी की चोकोर पट्टिकाएं लगाया करते थे। कुक्की ने उस हाथी के दाँत की पट्टिका पर चढ़कर नृत्य करना शुरू किया तो वहाँ महाराणा के साथ बैठे सभी प्रत्यक्षदर्शी यह देखकर दंग रह गए।

निस्संदेह यह एक अद्भुत प्रस्तुतिकरण था। महाराणा अपने स्थान से खड़े हुए और कुक्की के पास जाकर बोले “आज से मैं तुम्हे कुक्की नहीं ‘कुक्कीराजा’ कहकर पुकारूँगा।” एक बार ऐसी ही अनोखी प्रस्तुति से अभिभूत होकर ब्रिटिश वायसरॉय ने

कुक्की को पीतल व लकड़ी से निर्मित एक भव्य रथ तोहफे में दिया। कुक्की ने 65 वर्ष की उम्र तक अपने नृत्य कौशल से झालावाड़ का ही नहीं बल्कि दूर-दूर तक की रियासतों के राजा, महाराजा, नवाबों और ब्रिटिश अधिकारियों का मनोरंजन किया।⁴ आखिरकार राजराणा भवानीसिंह (1899-1929) के शासनकाल में कुक्की की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद राजराणा के आदेश पर उसकी कब्र पर शानदार मकबरे का निर्माण किया गया।⁵ इस मकबरे की स्थापत्य शैली को राजराणा ने उतना ही उत्कृष्ट रखने का प्रयास किया जितना उत्कृष्ट कुक्की का नृत्य हुआ करता था। मकबरे का स्थापत्य हाड़ा राजपूत स्थापत्य शैली व मालवा स्थापत्य शैली का समन्वयी रूप है।

सम्पूर्ण मकबरे में पत्थर में बेहद सुन्दर नक्काशी के कार्य द्वारा कंगूरों का निर्माण किया गया है। दीवारों पर रंगीन चमकदार आकृतियाँ देखने योग्य हैं।⁶ मध्य में चारों तरफ लाल पत्थरों में कलात्मक डिज़ाइन, बेलबूटों की सुन्दर नक्काशी करके दरवाजों की चौखटों व स्तम्भों को इस प्रकार सटीक कोण से सेट किया गया है कि प्रत्येक मेहराब में से आरपार तक की सभी कक्षों की मेहराबें एक सीध में नज़र आती हैं। मकबरे की लगभग सभी मेहराबों में उकेरी गई बेलबूटेदार नक्काशी हर देखने वाले को चकित कर देती है। दीवारों पर रंगीन चमकदार आकृतियाँ देखने योग्य हैं जिनका अलंकरण आज भी काफी हद तक अच्छी स्थिति में है।⁷ कुक्की का यह मकबरा मालवा व राजपूत स्थापत्य शैली के बेहद सुन्दर मिश्रण का नमूना है। हालांकि इस मकबरे में राजपूत स्थापत्य शैली के बहुत से तत्त्व सम्मिलित किए गए थे लेकिन फिर भी सम्पूर्ण मकबरे के निर्माण में मालवा की स्थापत्य शैली की प्रधानता साफ नज़र आती है।⁸

मकबरे की दीवारों पर चारों ओर लाल पत्थर का प्रयोग, कलात्मक डिज़ाइन व बेलबूटों की सुन्दर नक्काशी मालवा शैली की विशेषताएँ हैं।⁹ मालवा के भवनों की एक अनोखी विशेषता थी जो कहीं अन्यत्र नहीं मिलती, वह है फिरोज़ी रंग का शानदार प्रयोग। इस मकबरे की दीवार व दरवाजों की चौखटों पर भी फिरोज़ी रंग का खुलकर प्रयोग किया गया है। इस मकबरे का मूल गुम्बद उल्टी हुई नौका के आकार का (Boatkeel Dome) था जो अब लगभग पूर्णतः क्षतिग्रस्त हो चुका है। उल्टी हुई नौका के आकार के गुम्बदों का निर्माण भी विशुद्ध मालवा स्थापत्य शैली की विशेषताओं में से एक थी। इसके अतिरिक्त मकबरे के कलात्मक झरोखे व छज्जे भी मालवा शैली में बने हैं। हालांकि इस मकबरे का बाहरी रूप एवं रंगत वर्षों की लगातार अनदेखी के कारण अब बिगड़ने लगा है।

मकबरे का कलात्मक गुम्बद टूट कर नीचे गिर चुका है तथा धीरे-धीरे अन्य हिस्से भी क्षतिग्रस्त हो रहे हैं। इनके उचित संरक्षण एवं जीर्णोद्धार से इस मकबरे को झालावाड़ के महत्वपूर्ण पर्यटक स्थलों में जोड़ा जा सकता है।¹⁰

संदर्भ

1. जैन, एम. एस., राजस्थान थ्रू द एजेज, ए कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, वॉल्यूम III, राजस्थान स्टेट आर्काइव्ज, बीकानेर, 1997, पृ. 65
2. शर्मा, ललित, झालावाड़, इतिहास, संस्कृति और पर्यटन, मालवा लोक संस्कृति प्रतिष्ठान, उज्जैन, 2001, पृ. 4-29
3. बीच, माइलो सी., राजपूत आर्किटेक्चर, एरिअन कॉर्प, एस्कोना, 1904, इण्डियन रीप्रिण्ट, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1982, पृष्ठ सं. 118-137
4. शर्मा, ललित, पूर्वोक्त, 2001, पृ. 44-58
5. वही, पृ. 69-81
6. वही, पृ. 99-114
7. मुर्तजा, अहमद, आसारे मालवा, एम.ए.ए.पी.आर.आई. पब्लिकेशन डिविजन, टैंक, 1994, पृ. 105-108
8. जैन, एम. एस., पूर्वोक्त पृ. 107
9. बीच, माइलो सी., पूर्वोक्त, पृ. 148
10. वही, पृ. 152-154

मेवाड़ इतिहास की स्रोत-महत्वपूर्ण बहियां

प्रो. गिरीश नाथ माथुर

मेवाड़ हस्तलिखित अभिलेखों में बहियों का महत्वपूर्ण स्थान है। रियासत काल में बहियां विषयानुसार बनाई जाती रही। उदाहरणार्थ हकीकत बहियां, खरीता बहियां, पडाखा बहियां एवं पट्टा बहियां प्रमुख हैं। उपलब्ध बहियों के सम्पादन व प्रकाशन की महती आवश्यकता है। जो बहियां प्रकाशित हो गई हैं उनका विवेचन भी आवश्यक है जिससे इतिहास लेखन में उनका उपयोग हो सके।

महत्वपूर्ण बहियां - ऐतिहासिक महत्व

1. **महाराणा राजसिंह कालीन पट्टा बही (1656 ई.)** - मेवाड़ की जागीर व्यवस्था के अध्ययन के दृष्टिकोण से राजस्थान राज्य अभिलेखागार, (1652-1680 ईस्वी) के काल की पट्टा बही जिसके लिये 'ठाकरा रे रेख री बही' (1656 ई.) में की गई थी, परन्तु इसमें 1727 (1670 ई.) तक की घटनाओं का समावेश किया हुआ है इस बही में कुल 192 पृष्ठ हैं। बही के ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए डॉ. हुकम सिंह भाटी ने 1995 ई. में सम्पादित कर प्रकाशित करवा दी। बही के प्रारम्भिक 16 पृष्ठों में राज्य के पृथक पृथक बजट मदों पर होने वाले वार्षिक व्यय का विवरण टंका मुद्रा में अंकित है।

जैसे कोठार रो थुबो, कपड़ा रो थुवो एवं महीनदार रो थुवो। इसके बाद तत्कालीन जागीरदारों, अधिकारियों व पट्टायतों की विगत में जाति अनुसार प्रत्येक पट्टेदार के नाम के साथ पट्टे के गाँवों की सूची मय रेख के अंकित है।

बही से जानकारी मिलती है कि मेवाड़ प्रशासनिक दृष्टि से मुगल पद्धति की तरह परगनों में विभक्त था। बही में कतिपय प्रसंग तत्कालीन प्रशासनिक एवं आर्थिक प्रणाली में मुकाता (ठेका) प्रथा के उद्भव को स्पष्ट करते हैं। वित्तीय एवं राजस्व प्रशासन की जानकारी बही के प्रारम्भिक पृष्ठों में वर्णित बजट के पृथक पृथक मदों के आय-व्यय में वर्णित बजट के पृथक पृथक मदों के आय व्यय से मिलती है।

प्रथम भौगोलिक दृष्टिकोण से महाराणा राजसिंह के काल में मेवाड़ की सीमाएं नीमच, जावद एवं जीरण तक फैली हुई थी। इसके साथ ही मारवाड़ का गोड़वाड़ का परगना भी मेवाड़ में सम्मिलित था। द्वितीय उस समय जागीरदारों की श्रेणियां निर्धारित

नहीं हुई थी, जागीरें पैतृक भी नहीं थी। तृतीय जागीरदारों को जागीर के गाँव राज्य के पृथक पृथक सम्भागों में दिये हुए थे। चतुर्थ मेवाड़ के तत्कालीन समाज में व्यापक परम्परागत व्यवहारों की जानकारी देने के साथ ही बही जातीय संगठनों को समझने में भी सहायक है।

2. महाराणा राजसिंह कालीन परगना बही - महाराणा राजसिंह कालीन (प्रथम) की बही से हमें मेवाड़ के खालसा एवं सासण के गाँवों की उपज (पैदावार) की जानकारी मिलती है। बही में परगनों का विवरण भौगोलिक संरचनानुसार क्रम से दिया गया है। बही में खालसा गाँवों के अतिरिक्त परगने में आंवटित गरासिया (सासणिक) गाँवों की जानकारी भी मिलती है। गरासिया गाँव प्रदान करते समय उसका पट्टा ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। इसलिए ऐसे गाँवों को 'तांबापतर रा गाम' भी कहते थे। बही में एक ही नाम के दो गाँव होने पर उनकी पहचान हेतु बड़ा और लोहड़ा (छोटा) लिख कर स्पष्ट किया गया है। सम्पादित बही में पाठ को समझने के लिये तीन परिशिष्ट भी दिये गये हैं।

3. महाराणा अमर सिंह कालीन मेवाड़ ठाकरां री साख बही (वि.स. 1761) - बही में तत्कालीन जागीरदारों के नाम के साथ रेख, उपत, दाल, घुड़सवार, पैदल सैनिक एवं छांटूद आदि के आंकड़े दिये गये हैं। ये आंकड़े मेवाड़ की प्रशासनिक व्यवस्था व सैन्य प्रबन्ध को समझने व उसे लेखन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

4. मेवाड़ जागीरदारों के गांव पट्टों राह मरजाद री हकीकत बही - महाराणा भीम सिंह (1778-1828 ई.) कालीन इस बही में मेवाड़ महाराणाओं द्वारा जागीरदारों को प्रदान किये गये गांव पट्टों की प्रतिलिपियों के अलावा गांव के मिलने का समय, बधारा पट्टा, रखवाली और जागीरदारों के सम्मान स्वरूप बनाये गये कुरब कायदों का विवरण लिपिबद्ध है। बही में पट्टों की प्रतिलिपियों के अतिरिक्त ठिकानेदारों की और से दी गई सूचनाओं का विवरण भी दर्ज है।

5. हकीकत बहिड़ा महाराणा शम्भुसिंह भाग 1 - बही के सम्पादित ग्रंथ में मेवाड़ अनुसंधान केन्द्र में संग्रहीत बहियों में से महाराणा शम्भुसिंह (17 नवम्बर 1861 से 8 अक्टूबर 1874 ई.) कालीन हकीकत बहीड़ों का सारांश दिया गया है।

ग्रंथ से हमें महाराणा शम्भुसिंह की जीवनी महाराणा की पारिवारिक घटनाएँ एवं प्रवास (राज परिवार में होने वाले विवाह) जन्म, मृत्यु, दान दक्षिणा, मुकाम, टीला, पूजा पाठ, तुलादान, विदेशी मेहमान, अंग्रेज अधिकारी, उदयपुर में आने वाले विशिष्ट अतिथि, सरदार, उमराव, ठिकाना, ताल्लुक, तलवार बंदी, पदरावणी, शंभुरत्न पाठशाला आदि बिन्दुओं की प्रामाणिक जानकारी मिलती है।

6. **हकीकत बहिड़ा महाराणा शम्भुसिंह भाग 2** – इस भाग के ग्रंथ से हमे महाराणा शम्भु सिंह कालीन निर्माण व मनोरंजन, कलाकार, यातायात के साधन, मेहता मुसद्दी, कर्मचारीगण, उनके परिवार में शादी, मोरवाण, पदरावणी आदि व शासकीय विभागों, रानियों व राजपरिवार से सम्बन्धित, देशी राजा महाराजा एवं उनका परिवार, मठ, मंदिर, गुसाई, महंत, गद्दी बैठाना, अन्नकुट ताल्लुक, हवेलियों ताल्लुक विवरण (बागोर, करजाली, शिवरती, धनेरिया, नेतावल, पीलादर, मादड़ी), शिकार सम्बन्धि एवं तीज त्यौहार सवारी सम्बन्धि एवं अन्य उत्सवों आदि की ऐतिहासिक जानकारी मिलती है।

7. **हकीकत बहिड़ा महाराणा सज्जन सिंह (8 अक्टूबर 1874 – 24 दिसम्बर 1884 ई.)** – सम्पादित बहिड़ा ग्रंथ में महाराणा सज्जनसिंह कालीन कुल 11 हकीकत बहिड़ों का सारांश दिया गया है। बहिड़ों में वर्ष का प्रारंभ 'श्रावण कृष्ण एकम' से दिया गया है।

बही (ग्रंथ) से हमे महाराणा सज्जनसिंह कालीन राजपरिवार की घटनाओं यथा रानियां, कुंवर, कुंवरानिया, हवेलियों सम्बन्धित, बाहरी राज महाराजाओं सम्बन्धि, विशिष्ट अतिथि, विदेशी मेहमान, सरदार उमराव, ठिकाना ताल्लुक, तलवारबंदी, मोरवाण, विवाह, कमठाणा (निर्माण), मनोरंजन सम्बन्धी, राजमहल के कर्मचारियों सम्बन्धी एवं सवारिया, तीज त्यौहार, शिकार व अन्य महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती है।

8. **महाराणा फतहसिंह कालीन छः बहिड़े** – प्रो. जी.एन. शर्मा द्वारा महाराणा फतहसिंह (1884-1930 ई.) कालीन सम्पादित छः बहिड़े तत्कालीन राजनीति एवं प्रशासनिक जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है।

निजी संग्रहों, सरयूदेवी संग्रह (उदयपुर), पुरोहित देवनाथ संग्रह (उदयपुर), संस्थागत संग्रह यथा प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर में महत्वपूर्ण बहियों का संग्रह है। यदि उनका भी सम्पादन प्रकाशन होता है तो उनमें उल्लेखित तथ्यों को जोड़ कर इतिहास के पुर्नलेखन में शोधार्थियों को लाभ मिलेगा।

सन्दर्भ

1. भाटी, हुकम सिंह (सम्पादक), महाराणा राजसिंह पट्टा बही पट्टेदारों की विगत भाग 1 प्रथम संस्करण (1995 ई.) हिंमाशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर (राज.)
2. भाटी, हुकम सिंह (सम्पादक) य महाराणा राजसिंह परगना बही खाता भाग 2 (1995 ई.) हिंमाशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर, प्रथम संस्करण
3. भाटी, हुकम सिंह, महाराणा अमर सिंह कालीन मेवाड़ ठाकरां की साख बही प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर

4. भाटी, हुकम सिंह (सम्पादक), मेवाड़ जागीरदारां रे गांव-पट्टों राह मरजाद री हकीकत (महाराणा भीम सिंह कालीन) प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर
5. आउवा भूपेन्द्र सिंह (संकलन-सम्पादन), हकीकत बहिड़ा महाराणा शम्भुसिंह, भाग 1 (17 नवम्बर 1861 से 7 अक्टूबर 1874 ई.) प्रथम संस्करण 2015 ई. महाराणा मेवाड हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर
6. आउवा भूपेन्द्र सिंह (संकलन-सम्पादन), हकीकत बहिड़ा महाराणा शम्भुसिंह, भाग 2 प्रथम संस्करण 2015 ई. महाराणा मेवाड हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर
7. आउवा, भूपेन्द्र सिंह, हकीकत बहिड़ा महाराणा सज्जन सिंह (8 अक्टूबर, 1874 से 24 दिसम्बर 1884 ई.) महाराणा मेवाड हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर
8. शर्मा, (डॉ.) जी.एन., हकीकत बहिड़ा - 6 भाग (1997 ई.) महाराणा फतह सिंह (1884-1930 ई.)

मेवाड़ राज्य में पर्यावरणीय अध्ययन- ठिकाना-दस्तावेजों के आधार पर

डॉ. प्रियदर्शी ओझा

मेवाड़-राज्य के सामंतों, जागीरदारों एवं उनके पदाधिकारियों के वंशजों के पास उपलब्ध दस्तावेजों को हम ठिकाना-दस्तावेज कह सकते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में कानोड़ (सारंगदेवोत-शाखा का ठिकाना) एवं विजयपुर (शक्तावत शाखा का ठिकाना) ठिकानों के दस्तावेजों में उल्लेखित पर्यावरण का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। कानोड़ ठिकाना संग्रह के पांच परवाने,¹ दो रूक्के² एक पट्टा³ तथा विजयपुर ठिकाना संग्रह के एक परवाने⁴ के आधार पर मेवाड़ में पर्यावरण के प्रति शासक-सामंतों की क्या सोच व नीति रही, इसे समझा जा सकता है। शासक, सामंत एवं जनता के मध्य एक ऐसा संबंध एवं सहयोग था कि तब पर्यावरण एकाएक प्रदूषित नहीं हो पाया यदि थोड़ी भी शंका, आशंका होती तो महाराणा सामंतों के माध्यम से प्रजा तक अपना आदेश पहुँचाकर पर्यावरण को स्वस्थ बनाये रखने का प्रयास किया जाता था। इतना ही नहीं स्वयं महाराणा भी इसे गम्भीरता से लेता था।

गुरूवार 16 जनवरी 1668 ई. को महाराणा राजसिंह ने बाठरड़ा के रावत मानसिंह को जो उस समय लूणदा में था उसे लिखा कि तुम्हारा पत्र आया उससे ज्ञात हुआ कि उधर पानी की बहुत अधिक कमी हो गई है। अतः यह समस्या विचारणीय है।⁵ पानी की कमी होने पर उस समस्या को कैसे सुलझाया जाए इस पर महाराणा स्वयं एवं संबंधित सामंत विचार-विमर्श कर उसे दूर करने का प्रयास करते थे।

महाराणा अमरसिंह ने गुरूवार 5 अप्रैल, 1705 ई. बाठरड़ा-रावत महासिंह को एक परवाना भेजा इससे ज्ञात होता है कि मैं बाठरड़ा-ठिकाने के पट्टे के गांवों में किसी को भी शेर का शिकार मत खेलने देने का उल्लेख मिलता है।⁶ इससे वन में निवास करने वाले जंगली जानवरों की सुरक्षा का बोध होता है। तत्कालीन महाराणा वन-सम्पदा के महत्व को भली-भांति समझते थे। वृक्षों की सुरक्षा हेतु सामंतों एवं जागीरदारों को लिखित रूप में आवश्यक निर्देश दिये जाते थे जैसा कि बुधवार 7 फरवरी, 1711 ई. के परवाने में महाराणा संग्रामसिंह ने विजयपुर के कुशल सिंह को स्पष्ट निर्देश दिया कि खेरज परगने के मगरों (पहाड़ी क्षेत्रों) पर तथा अन्यत्र वृक्ष हैं उन्हें वैसे ही सुरक्षित रखें। उन्हें काटने मत देना।⁷ इससे ज्ञात होता है कि वनों की सुरक्षा का दायित्व भी जागीरदारों

को सौंपा गया था। इतना ही नहीं सामंतों एवं जागीरदारों को अपने ठिकाने व जागीर में बाड़ी व बगीचा विकसित करने के निर्देश भी दिये जाते थे। बगीचों के लिए उन्हें जमीन दी जाती थी। सामंत सरदार भी बाड़ी बगीचों में विभिन्न प्रकार के फल-फूलदार वृक्ष एवं पौध रोपण कराके उन्हें सुन्दर बनाते, साथ ही समय-समय पर सिंचाई की व्यवस्था हेतु कुण्ड व बावड़ियां भी बनाई जाती थी, जिससे बाग-बगीचों में वर्ष पर्यन्त हरियाली बनी रहती थी।

महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय ने कानोड़ के रावत सारंगदेवोत को बुधवार 11 अगस्त, 1731 ई. के परवाने में लिखा कि पूर्व में तुम्हें जो जगह बाड़ी के लिए दी थी उसके बदले में हरसदपुरा गांव में आठ बीघा जमीन बाड़ी के लिए दी जा रही है। अतः उसे विकसित करें।⁸ ऐसा प्रतीत होता है कि बगीची के लिए पूर्व में प्रदान की गई जमीन कम पड़ रही थी अतः हरसदपुरा गांव में अधिक जमीन देते हुए उस पर बाड़ी विकसित करने के निर्देश दिये। इस परवाने से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कानोड़ रावत ने पूर्व में जो जगह मिली उसे विकसित करने के बाद, उस जगह के बदले अन्यत्र हरसदपुरा में और अधिक जमीन बगीची के लिए दी गई। इससे महाराणा की हरा-भरा मेवाड़ नीति स्पष्ट झलकती है।

इसी प्रकार शुक्रवार 24 अप्रैल, 1778 ई. को चित्तौड़ से रावत भीमसिंह ने उदयपुर-शाह मौजीराम को लिखा कि रावत जगतसिंह की बगीची में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।⁹ महाराणा स्वरूपसिंह ने भी रावत अजीतसिंह को दूदपुरा में बाड़ी के लिए जमीन प्रदान की उसमें बाग लगवाने के निर्देश देते हुए यह कहा कि यदि तुम इसमें बाग विकसित करोगे तो तुम्हें इसके बदलें में और अधिक जमीन दी जावेगी।¹⁰ कानोड़ की पट्टा बही नं. 29 के पट्टे संख्या-53 से ज्ञात होता है कि कुराबड़ के बागवान बलदेव को कानोड़ ठिकाने के बाग को विकसित करने के लिये नियुक्त किया था। उसे इस कार्य के लिए 15 रुपये नकद वार्षिक वेतन तथा सियालू व उन्हालू दोनों ही फसलों पर 20-20 मण धान दिये जाने का उल्लेख करते हुए यह भी स्पष्ट किया कि जब तक बगीचे को आबाद करते रहोगे तब तक रोजगार के लिए दी जाने वाली राशि और धान में कोई कमी नहीं आवेगी।¹¹ स्पष्ट है कि बाग-बगीचों को फलने-फूलने एवं विकसित करने में स्वयं शासक एवं सामंत रूचि प्रदर्शित कर रहे थे जिससे उनके पर्यावरण प्रेमी सोच-विचार, चिन्ता एवं सुरक्षा की भावना प्रकट होती है।

महाराणा जवानसिंह ने कानोड़ के फौजदारों, कामदारों को बान्सी के पहाड़ी क्षेत्र के घने जंगल में से सागवान की लकड़ी भेजने के लिए रूक्का लिखा। साथ ही यह भी लिखा कि उधर गाड़िया नहीं मिलती है अतएव तुम्हारे पट्टे के हलकारों (संदेशवाहक, पत्रवाहक) के साथ गाड़ियों की व्यवस्था कर सागवान भिजवा दें।¹² इस रूक्के से यह

ज्ञात होता है कि मेवाड़ राज्य में बान्सी, धरियावद की ओर बीहड़ जंगल था। जहां सागवान बहुतायत के साथ होता था और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उस जंगल में जो सागवान के वृक्ष सूख गये हैं उसकी लकड़ी भिजवाने पर बल दिया गया था। हमारी यह परम्परा रही है कि नीतिगत रूप से हरा वृक्ष नहीं काटा जाता था जिसकी पालना स्वयं मेवाड़ का महाराणा कर रहा था। इसकी जानकारी हमें महाराणा जवानसिंह (बुधवार 22 फरवरी 1837 ई.) द्वारा मेहता शेरसिंह को लिखे परवाने से भी होती है जिसमें रावत अजीतसिंह के पड़ाव पर घास जलाऊ लकड़ी एवं मिट्टी के बर्तन आदि की आवश्यकता हो तो गाँवों से पहुँचाने का प्रबन्ध करें तथा घास के लिए तो बीड़ा और जंगल है ही।¹³ परवाने से पर्यावरण की सुरक्षा का स्पष्ट संकेत दृष्टिगत होता है कि घास के लिए बीड़ा व जंगल है और जलाऊ लकड़ी हेतु सूखी लकड़ियों का प्रबन्ध किया जावे। वनों में वृक्ष-घास आदि काटना पाप एवं राज्य के प्रति जुर्म माना जाता था। अतः वन नष्ट होने की तो तब कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार मेवाड़-ठिकाना दस्तावेजों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाय तो पर्यावरण से संबंधित हमें अनेक नीतिगत नूतन जानकारियां उपलब्ध होंगी, जिसकी पालना करना तत्कालीन मानव के लिए धर्म-सम्मत, कर्तव्य-सम्मत, राज्य की आज्ञा की परिपालना एवं परम्परागत शुद्धता को बनाये रखना था। इस दृष्टि से यदि इन दस्तावेजों के आधार पर पर्यावरण का क्या इतिहास था और क्या हो गया? तो अपने आप स्पष्ट हो जायेगा कि आज पर्यावरण पर केवल सैद्धांतिक बातें एवं क्रिया-कलाप को ही हम पर्यावरण सुरक्षा का साधन मान रहे हैं जो नितान्त भ्रम हैं। व्यावहारिकता के लिए हमें इतिहास का सहयोग लेना ही होगा। निश्चय ही पूर्व का लेखा-जोखा वर्तमान को आधार प्रदान कर भविष्य हेतु सुरक्षा प्रदान करेगा।

परिशिष्ट सं.-1

श्रीरामोजयति

श्री गणेश प्रसादातु

भाला

श्री एकलिंग प्रसादातु

सही

स्वस्ति श्री ऊदैपुर सुथाने महाराजाधिराज महाराणा श्री अमरसिंहजी आदेशातु रावत महासीघ कस्य सु प्रसाद लीष्यते यथा अठारा समाचार भला है आपणा समाचार कहावजो 1 अप्र थांरा पटा रा गांमा कणी हैं नाहर री सीकार षेलवा द्यो मती संवत् 1761 ब्रीषे वैसाष वदी 7 गुरे

परवाना - महाराणा अमरसिंह का रावत महासिंह को तुम अपने पट्टे के गाँवों में किसी को भी शेर (नाहर) की शिकार खेलने मत देना।

परिशिष्ट सं.-2

श्रीरामोजयति

श्री गणेश प्रसादातु भाले व अंकुश का निशान श्री एकलिंग प्रसादातु
सही

स्वस्ति श्री ऊदैपुर सुथाने महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंघजी आदेशातु
सिसोदया कुसलसीघ कस्य सु प्रसाद लिष्यते अठारा समाचार भला है आपणा समाचार
कहावजो ।

1 अप्र षेरच रा परगना रा मगरा सदा में दरषत है ज्यू राषजो काटवा दयो
मती । प्रवानगी वीहारीदास संवत 1767 वर्षे फागुण सुदी 1 बुधे ।

परवाना - महाराणा संग्रामसिंह का विजयपुर के कुशलसिंह को. महाराणा
संग्रामसिंह ने कुशलसिंह को यह निर्देश दिया है कि खेरज परगने के मगरों (पहाड़ों)
पर व अन्यत्र वृक्ष हैं उन्हें वैसे ही रखें । उन्हें काटने मत देना ।

परिशिष्ट सं.-3

श्रीरामोजयति

श्री गणेश प्रसादातु भाला श्री एकलिंग प्रसादातु
सही

स्वस्ति श्री ऊदैपुर सुथाने महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंघजी आदेशातु
रावत सारंगदेव कस्य सु प्रसाद लिष्यते यथा अठारा समाचार भला हे, आपणां समाचार
कहावजो । अप्र वाडी 2 दोय थाहरे पहेली थी तीर बदले गांम हरसदपुरा मांहे
धरती वीगा 8 आठ वषसाणी वाड़ी सारु मया हुड़ी हे प्रवानगी धायभाई राव नगराज
दवे पीथो संवत 1788 व्रषे भादवा वदी 5 बुदै

परवाना - उदयपुर से महाराणा संग्रामसिंह का रावत सारंगदेव को तुम्हारे पहले
बाड़ी थी उसके बदले में हरसदपुरा गाँव में आठ बीघा जमीन बाड़ी के लिए दी गई है ।

परिशिष्ट सं.-4

॥ श्रीरामजी

॥ श्री येकलिंगजी साबत ॥ श्रीनाथजी

॥ स्वस्ति श्री श्री हजुर रो हुकम कानोड़ रा फौजदारा कामदारा हे अप्रंच ॥
ऊठा सु वानसी रा मगरा म्हे थी साग रो कबाड़ो मगायो हे ने ऊठे गाडी नीमले सो था
रा पटा म्हे सु गाड्या हलकारा री लारे कराये दीजो संवत 1889 वर्षे जेठ सुद 2

रूक्का (हुक्म) - महाराणा जवानसिंह का कानोड़ के फौजदार कामदारों को
बानसी के पहाड़ों में से सागवान का सामान मंगाया है और उधर गाड़ी नहीं मिलती है,

इसलिए तुम्हारे पट्टे में से हलकारा के साथ गाड़ियों का इन्तज़ाम करादें।

परिशिष्ट सं.-5

॥ श्री येकलिंगजी

॥ श्री बाणनाथजी

॥ श्रीनाथजी

॥ स्वस्ति श्री रावत अजीतसीधजी हजुर माहरो जुहार मालम वहे 2 अप्रं आप रे आगे दुदपुरा म्हे वाड़ी 4।12 साडा च्यार वसवा दोये जीरी जमी अबार पाछी समाली जीमे वीगा 4।12 साडा च्यार वसवा दीयेइीज नीकली सो पाछी साबत कर देवाणी हे सो हासल भोग आप रे पुगा जायेगा अणी पर म्हे बाग हवालो करावागा तो ई साटे आपने ओर दीदी जायेगा संवत 1903 व्षे भादवा वीद।। रवे ऊ

खास रूक्का - महाराणा स्वरूपसिंह का रावत अजीतसिंह को। आपको दूदपुरा में वाड़ी दी गई उसे साबत कर पुनः दी गई है। इसका हांसल, भोग आपके पहुँचता रहेगा। यदि इसमें बाग और खेती करोगे तो इसके बदले में आपको जगह दी जावेगी।

सन्दर्भ

1. परवाना - प्रशासनिक कार्य के लिए राजा अपने सामंतों, जागीरदारों व अन्य अधिकारियों को पत्र भेजता था।
2. रूक्का - निजी पत्रों को रूक्का कहते हैं। इसमें घरेलू समाचारों के अलावा गुप्त मंत्रणा संबंधी बातें लिखी जाती थी। राज्य की ओर से दिये गये कई रूक्कों में महत्वपूर्ण निर्देश दिए जाते थे जिसे खास रूक्का कहते थे।
3. पट्टा - राज्य की ओर से जागीरदारों और अन्य पट्टाधारियों को गांव आवंटित किये जाते थे जिसका पूरा ब्यौरा पत्र में दिया जाता था।
4. डॉ. हुकमसिंह भाटी (सम्पादक) मेवाड़ के ऐतिहासिक पट्टे-परवाने ठिकाना विजयपुर संग्रह, पत्र संख्या 17 (उदयपुर 1993 ई.)
5. श्रीमती मांगबाई ओझा संग्रह कानोड़ में संग्रहित दस्तावेज, परिशिष्ट सं.1
6. वही परिशिष्ट संख्या-2
7. वही परिशिष्ट संख्या-3
8. वही परिशिष्ट संख्या-4
9. वही परिशिष्ट संख्या-5
10. वही परिशिष्ट संख्या-8
11. वही, पट्टा वही नं. 29, पट्टा नं. 53, परिशिष्ट संख्या-9
12. वही परिशिष्ट संख्या-6
13. वही परिशिष्ट संख्या-7

पट्टाधारी - व्यवस्था, स्वरूप एवं आधारभूत तथ्य (कानोड़ ठिकाना के संदर्भ में)

डॉ. जे. के. ओझा

मेवाड़ राज्य की शासन व्यवस्था मुख्यतः दो भागों में विभाजित थी- एक-खालसा एवं जागीर प्रशासन। राज्य का वह भाग जो सीधा महाराणा के अधीन होता था 'खालसा' कहलाता था। यहां के शासन प्रबंध सीधा महाराणा की देखरेख में होता था। जागीर-प्रशासन जागीरदारों के अधिकार के अंतर्गत आता था। मेवाड़-मुगल संधि (1615 ईस्वी) के बाद यहां की शासन व्यवस्था पर मुगल प्रभाव नजर आने लगा जो अंग्रेजों से संधि होने के बाद तक भी बना रहा था। अंग्रेजों ने भी यहां के आंतरिक प्रशासन में बड़े प्रभावी तरीके से हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया, जिससे जागीरी प्रशासन भी अछूता नहीं रहा।

जागीर का अर्थ

जागीर प्राप्तकर्ता को जागीरदार कहा जाता था। भारत में जागीर शब्द का प्रचलन 15वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ। वृहद फारसी शब्दकोश बहार-ए-आजम (जो 1739 चाइनीस में संपादित किया गया था) में जागीर शब्द यह व्याख्या दी गई है- "जागीर, जैगीर वह भू-क्षेत्र जो बादशाह मनसबदारों अथवा इस तरह के व्यक्तियों को प्रदान करता था, वह इस क्षेत्र के किसानों से महसूल (राजस्व) प्राप्त करते थे, जिसका भार कुछ भी हो।" मेवाड़ में प्रथम श्रेणी के सामंतों को वंशानुगत जागीर प्रदान की जाती थी। अतएव मुगलकालीन सामयिक शब्दावली में यह 'वतन-जागीर' के नाम से ही कही जा सकती है किंतु कानोड़-ठिकाना के दस्तावेजों में कहीं पर भी 'वतन जागीर' शब्द ना आकर 'जागीरदार' एवं 'जागीर' शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम श्रेणी के जागीरदार के (जिसे उमराव कहा जाता था) महाराणा द्वारा जागीर का पट्टा प्रदान किया जाता था। अतः हम उन्हें 'पट्टायत जागीरदार' भी कह सकते हैं।

मेवाड़ में मध्यकाल एवं उत्तरार्द्ध में प्रचलित पट्टा व्यवस्था अथवा पट्टादारी प्रणाली मध्यकाल में प्रचलित मुगलों की जागीर व्यवस्था (जागीरदारी-) प्रणाली के अनुरूप ही थी। पट्टा-प्राप्तकर्ता अपने क्षेत्र (जागीर) में राजस्व वसूल करने का (राज्य के आदेशों एवं शर्तों के अनुरूप) वैधानिक अधिकार रखता था। पट्टा एक प्रकार से

राजकीय सेवा के बदले में दिया गया वेतन ही होता था। पट्टे में पट्टेदार को राजस्व सेवा अथवा चाकरी³ का अनुबंध करना होता था। किसी निश्चित भू-क्षेत्र अथवा गांवों से प्राप्त होने वाला राजस्व का उल्लेख पट्टे में रेख⁴ के रूप में रहता था। चूंकि पट्टा वेतन (तलब) के एवज में दिया जाता था, अतः यह निर्धारित करना आवश्यक था कि राज्य प्रदत्त भू-क्षेत्र (जागीर) से होने वाली आय पट्टे में अनुमोदित रेख के बराबर हों। यह वांछित निर्धारण पट्टा तैयार करते समय (शासक व उसके अधिकारी) करते थे।

राज्य द्वारा प्रदत्त पट्टे पर सही, भाला⁵ एवं अंकुश⁶ का चिन्ह अंकित रहता था। 'सही' का पट्टे पर अंकन महाराणा अथवा शासक के हस्ताक्षर का लघु रूप होता था। 'सही' भाले एवं अंकुश के चिन्ह के पश्चात पट्टों में पट्टायत की खांप, पिता का नाम, पट्टायत के नाम का उल्लेख के साथ-साथ अधिकार, पद एवं प्रतिष्ठा का उल्लेख भी किया जाता था। इसके बाद आवंटित गांवों (जागीर) की विस्तृत जानकारी व उससे होने वाली अनुमानित आय (रेख) 'टका' में दर्ज रहती थी। अन्त में उन शर्तों का उल्लेख रहता था जिन पर पट्टायत को पट्टा (जागीर) आवंटित किया गया। प्रत्येक सामंत के पट्टे में सामंत को सैनिक या सैनिक किस प्रकार की सेवा देनी होगी लिखा होता था तथा पट्टे में प्राप्त जागीर में सिर्फ भू राजस्व अथवा राजस्व (भू-राजस्व के अतिरिक्त माल, डाण, बराड, खड़लाकड़, रखवाली व अन्य कर) वसूल करने का अधिकार होगा या नहीं अपनी जागीर क्षेत्र में वह 'सासण' दे सकेगा या नहीं उसे कितने घुड़सवार व पैदल सैनिकों से राज्य की सेवा करनी होगी आदि सुस्पष्ट कर दिया जाता था।

ठिकाना-प्रशासन के अंतर्गत ठिकाने का सामंत यहां पर कानोड़-रावत उपरोक्त तरीके से अपने ठिकाने में अधीनस्थ जागीरदारों एवं अन्यो को पट्टे आवंटित करता था। ठिकाना-प्रशासनिक व्यवस्था में 1-ठिकाने के गांव एवं 2- जागीरी-गांव होते थे। ठिकाने के गांवों का संबंध अप्रत्यक्ष रूप से ठिकानेदार से होता था, अतएव इन्हें 'खालसा' के गांव भी कहा जाता था। जागीरी गांवों का संबंध उसके अधीनस्थ जागीरदारों से होता था। ठिकानेदार अपने अपने ठिकाने के क्षेत्रों में महाराणा एवं राज्य द्वारा प्रेषित आदेशों व नियमों के आधार पर शासन चलाते थे। प्रत्येक ठिकानेदार के अधीन अनेक छोटे-छोटे जागीरदार होते थे। ये अपनी जागीर क्षेत्र में ठिकानेदार एवं ठिकाने द्वारा प्रेषित आदेशों व नियमों की पालना करते हुए शासन प्रबंध करते थे। ये जागीरदार अधिकांशतः ठिकानेदार के भाई-बंधु व सगोत्री रिश्तेदार होते थे और कुछ ऐसे थे जिनके पूर्वजों को उनके द्वारा दी गई सेवाओं के बदले गांव आदि जागीर में दिए गए थे। कानोड़-ठिकाना में अधीनस्थ जागीरों के पट्टे इस प्रकार थे-

1. भाई-बट जागीरदार
2. चाकरानी जागीर- नौकरी के बदले दी गई जागीर होती थी जैसे- कामदार,

प्रधान, पटेल, दसून्दी आदि को प्रदत्त जागीर- पट्टे।

3. माफी पट्टा की जागीर- ब्राह्मण, साधु, मंदिर के पुजारी को दी जाने वाली जमीन को कहते थे। इस क्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया गया था- (अ) सासनिक व (ब) डोली। माफी जमीन का उपभोक्ता ब्राह्मण “माफीदार” कहलाता था और इसे ‘सासनिक’ जागीर-भूमि भी कहते थे। साधुओं व मंदिर के पुजारियों को दी गई जमीन ‘डोली’ कहलाती थी।
4. कमीन-कारू-पट्टा- ‘कमीण’ (काम करने वाला) ‘कारू’ (कारीगर) को भी उनकी सेवा के बदले जमीन दी जाती थी जिससे वह अपना भरण पोषण कर सके जैसे-डोली, नाई, नगारची, चमार व गांव बलाई आदि को दी गई जमीन।

तत्कालीन पट्टादारी व्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ इस भांति हैं-

पट्टे के बदले में चाकरी (सेवा)

जैसा कि पूर्व में भी बताया गया है कि पट्टा सेवा के बदले में दिया जाता था। इसके अंतर्गत पट्टायत राज्य अथवा ठिकाने को सैनिक सहायता प्रदान करता था तथा पट्टे में निर्धारित अन्य चाकरी (सेवा) व राज्य ठिकाने में उपस्थिति देता था।

संयुक्त पट्टा

एक ही क्षेत्र का पट्टा दो या दो से अधिक पट्टेदारों के बीच संयुक्त रूप से भी प्रदान किया जाता था।

वधारा पट्टा

पट्टेदारों को दी गई जागीर में वृद्धि ‘वधारा पट्टा’ के रूप में प्रदान की जाती थी। प्रायः महाराणा अपने सामंतों से अथवा सामंत अपने जागीरदारों द्वारा की गई निष्ठापूर्वक सेवा से प्रसन्न होकर जागीर में अभिवृद्धि करता उसे ‘वधारा पट्टा’ कहा जाता था।

पट्टों का नवीनीकरण

प्रायः सामंत का देहांत हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी को अपने पट्टे का नवीनीकरण कराना पड़ता था। तब महाराणा केंद्र खालसा के रूप में कुछ धन वसूल करता था। इसी प्रकार से ठिकानेदार अपने जागीरदार की मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी जागीर के पट्टे का नवीनीकरण करता था। इससे उसे ‘नजराना’ के रूप में राशि उपलब्ध होती थी।

पट्टा आवंटन की ‘बंट’ व्यवस्था

मेवाड़ राज्य एवं ठिकानों में पट्टा आवंटन में बंट या बांटा (हिस्सा, भाग) व्यवस्था भी आंशिक रूप से प्रचलित थी। बंट अथवा बांटा-व्यवस्था में जागीर को

आधा या तीन चार भागों (हिस्सों) में बांट कर आवंटित किया जाता था।

नवीन क्षेत्र बसाने हेतु प्रदत्त पट्टे

नया खेड़ा (छोटा गांव) पाटी, भागल आदि बसाने के लिए उदार रूप से पट्टा प्रदान किया जाता था। खेड़ा अथवा गांव बसाने वाले को विशेष रियायत दी जाती थी ताकि वह उसे बसाने में पूरी रुचि ले।

पट्टों की जब्ती

पट्टा समाप्त करने अथवा जप्त करने का अधिकारी भी ठिकाने के सामान को होता था। प्रायः पट्टायत द्वारा ठिकाने के शासक सामंत के साथ किए गए अनुबंध की परिपालना न करने पर पट्टा समाप्त अथवा जप्त किया जा सकता था।

पट्टों के अन्य रूप

प्रस्तुत पट्टा-बही से हमें जन-सामान्य के रहने के मकान, बाड़ा, नोहरा, ओवरी, दुकान, पटशाला, चबूतरा, चबूतरी, कृषि भूमि (खेत) नौकरी, विभिन्न लागतो एवं करो की वसूली का पट्टा, धर्मार्थ प्रदान की गई सासनिक अथवा डोली की भूमि आदि विभिन्न प्रकार के प्रदत्त पट्टों की जानकारी मिलती है।

यों प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने की व्यवस्था ऊपर से नीचे की ओर थी जिसमें प्रदत्त पट्टों के अनुरूप ठिकानेदार केंद्र को एवं जागीरदार एवं जनसामान्य के लोग ठिकाना- प्रशासन को सहयोग करते थे।

संदर्भ

1. इरफान हबीब, दी अगरेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया, पृ. 257, जी.डी. शर्मा, मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, पृ. 131-132
2. पट्टा- एक प्रकार का राजकीय प्रपत्र या प्रलेख था, जिसमें मुख्य रूप से पट्टा प्राप्तकर्ता अथवा पट्टाधारी को दी गई भूमि का राजस्व तथा अन्य करों स्पष्टतः उसमें दर्शाए गए हो, की वसूली के अधिकार का उल्लेख होता था। पट्टे में उस भू-क्षेत्र की, जिसका कि पट्टेदार को राजस्व वसूली का अधिकार मिल रहा है, पर्याप्त जानकारी होती थी। साथ ही पट्टा प्राप्तकर्ता को प्राप्त अधिकार, विशेषाधिकार एवं राज्य के नियम एवं शर्तों का भी विस्तृत उल्लेख होता था जिसका पालन करना अथवा कराना पट्टा प्राप्तकर्ता का प्राथमिक कर्तव्य था।
3. पट्टेदार द्वारा राज्य अथवा ठिकाने, महाराणा अथवा सामंत के प्रति की जाने वाली सेवा से है।
4. यहां रेख का अर्थ अनुमानित राजस्व अथवा आय से है। सामंतों से राजकीय मांग का हिसाब रेख के आधार पर किया जाता था। वास्तव में रेख से तात्पर्य गांव

अथवा जागीर की अनुमानित वार्षिक आय से था। रेख का निर्धारण भूमि की किस्म के आधार पर होता था। पहाड़ी, ऊंची-नीची और कम उर्वरा शक्तिवाली कृषि भूमि (गांव या जागीर) की रेख उर्वरक व समतल क्षेत्र से कम होती थी। तत्कालीन मेवाड़ राज्य में रेख की ईकाई 'टका' थी। आधुनिक इतिहासकारों ने 'रेख' शब्द की व्याख्या अलग अलग ढंग से की है- डा. जी.एन. शर्मा रेख का अर्थ 'पेशकश' मानते हैं तो कुछ विद्वानों ने रेख का अर्थ राज्य की आय से लिया है अर्थात् रेख वह थी जो राज्य कोष में जाती थी।

5. महाराणा लाखा का ज्येष्ठ पुत्र चूण्डा ने अपने छोटे भाई मोकल के पक्ष में राज्याधिकार त्याग दिया। राजमाता ने चूंडा कि पितृ भक्ति से खुश होकर उसे शासन संबंधित समस्त अधिकार प्रदान किये तथा राजकीय सनद एवं पट्टों पर भाले का निशान चूंडा को लगाने की अनुमति दी गई तब से यह निरंतर लगता आ रहा है। दृष्टव्य वीर विनोद, भाग-1 पृ. 310
6. 'अंकुश' भाले के प्रारंभ के कुछ अंश को छोड़कर भाले की छड़ से सटाकर दाहिनी ओर झुकता हुआ बनाया जाता था। यह अधिकार शक्तावतों को महाराणा अमर सिंह ने प्रदान किया। ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, जिल्द 1, पृष्ठ 266
7. डॉ. जे.के. ओझा, दी अगरेरियन सिस्टम ऑफ दी जागीर एरियाज, अप्रकाशित प्रोजेक्ट

मध्यकालीन नागौर का स्थापत्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत - नागौर किला री विगत

प्रो. (डॉ.) सोहनकृष्ण पुरोहित

राजस्थान के मध्यकालीन दुर्गों में जोधपुर शहर के उत्तर-पूर्व में लगभग 82 मील की दूरी पर स्थित नागौर का किला (अहिच्छत्रपुर दुर्ग) केन्द्रीय स्थान पर स्थित होने के कारण निरन्तर आक्रमणों का शिकार होता रहा।¹ नागौर नगर सम्भवतः नागवंशियों ने बसाया था और यह नगर उनकी राजधानी रहा होगा।² नागौर दुर्ग पर चौलुक्यों, चौहानों, तुर्कों, मुगलों, भाटियों, और मेवाड़ के शासकों के आक्रमण हुए, लेकिन भूमि पर स्थित होने पर भी यहाँ के शासकों ने शत्रुओं का सदैव डटकर मुकाबला किया।³

नागौर दुर्ग का निर्माण चौहान सोमेश्वर के सामन्त कैमास ने वि.सं. 1211 में करवाया था। इस मत की पुष्टि मुंहता नैणसी की ख्यात से भी होती है।⁴ लेकिन तबकाले नासिरी में नागौर का दुर्ग बनवाने का श्रेय मोहम्मद बालीम को दिया गया है।⁵ इस प्रकार सम्भवतः नागौर के दुर्ग का निर्माण राजपूत काल के अन्तिम वर्षों में हुआ था। नागौर के दुर्ग में निर्माण कार्य करवाने का श्रेय राव अमरसिंह राठौड़ और महाराजा बखतसिंह (वि. सं. 1786-1808) को दिया जाता है।⁶

मध्यकालीन नागौर के दुर्ग एवं उसके परकोटे के स्थापत्य पर प्रकाश डालने वाला एक आठ पृष्ठीय ग्रन्थ महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ को 1904 वि.सं. में महाराजा तख्तसिंह के राज्यकाल में नूरबख्श नामक गजधर ने लिखवाया था। इस ग्रन्थ का नाम 'नागौर किला री विगत' है। इस ग्रन्थ को 1991 ई. में डॉ. डी.बी. क्षीरसागर ने सम्पादित और रामनिवास शर्मा ने (मारवाड़ी भाषा से हिन्दी भाषा में) अनुवादित करके जोधपुर से (महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश) प्रकाशित करवाया था। अब यह प्रकाशित ग्रन्थ लगभग अनुपलब्ध है।

“नागौर रा किला री विगत’ शीर्षक ग्रन्थ को लेखक नूरबख्श ने तीन भागों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं-

(अ) नागौर किले के अन्दर स्थित भवन, महल, मन्दिर, दरगाह और कार्यालय का विवरण

(ब) नागौर की शहरपनाह का विवरण

(स) नागौर के दरवाजों और उनकी बुर्जों का विवरण

(अ) नागौर दुर्ग का विवरण

गजधर नूरबख्श ने पहले सिरेपोल का वर्णन करके उसके सामने स्थित चाँदनी चौक (वर्तमान में गांधी चौक) का उल्लेख करने के पश्चात् सिरेपोल की ओर मुंह करके खड़े होने पर बायें हाथ को कचहरी और दाहिनी हाथ की तरफ टकसाल का उल्लेख किया है। टकसाल के पास उत्तराभिमुख त्रिपोलिया (अब मरम्मत के बाद उसका रूप बदल गया है) था। त्रिपोलिया के पास अन्न का कोठार और उसमें लगती हुई खीचियों की धर्मशाला थी। धर्मशाला वाले हिस्से के पास अभी भी एक पोल के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। चांदनी चौक पूर्व-पश्चिम में 64 गज चौड़ा और उत्तर-दक्षिण में 104 गज लम्बा भूखण्ड था। नूरबख्श ने सिरेपोल में प्रवेश करने के पश्चात् निम्न स्थानों का वर्णन किया है-

1. **नायकों की साल-** सिरेपोल के अन्दर प्रवेश करते ही दाहिनी तरफ पांच चश्मों की एक साल।
2. **खटाऊ सईद की दरगाह** - उपर्युक्त साल के अन्दर एक बन्द कोठरी में यह दरगाह है।
3. **पीर कवास की खां की दरगाह** - नायकों की साल को दाहिनी ओर रखते हुए सामने की ओर जाने पर यह द्विगेह वाली साल के पास स्थित है।
4. **बीचली पोल-** कवास खां की दरगाह के पास से किले के अन्दर वाला यह प्रथम प्रवेश द्वार है। इसे इमरती पोल या घड़ियाल खाने की पोल कहते हैं। पोल के पास बुर्ज के ऊपर एक चार खम्भों की छत्री है। इस पोल को इमरती पोल इसलिए कहा जाता था कि इसके पास सम्भवतः कोई जल सम्बन्धी स्रोत था।
5. **घड़ियालखाना-** बीचली पोल के ऊपर घड़ियालखाना था। इसलिए उसे घड़ियाल पोल कहा जाता है।
6. **नगारखाना-** बीचली पोल के अन्दर जाने पर बायें हाथ की तरफ सबसे ऊपर नगारखाना था। उसके ऊपर भी चार खम्भों की छत्री बनी हुई थी।
7. **नगारखाने की पोल-** बीचली पोल के अन्दर आने पर दायीं तरफ यह पोल है। इस पोल के आगे चलने पर दायीं ओर की सीढ़ियां नगारखाने की ओर जाती थी।
8. **ड्योढ़ी की पोल-** बही में इस पोल का उल्लेख नहीं है। नैणसी ने इसका उल्लेख किया है। नगारखाना की पोल में यह पोल दिखाई देती है।
9. **मेहताजी का डेरा, तबेला और कोठार-** नगारखाने की पोल से प्रवेश कर दाहिनी ओर से परिक्रमा करने पर तीसरी बुर्ज के नीचे कोठार, मेहताजी का डेरा और तबेले के जीर्ण-शीर्ण खण्डहर दृष्टिगोचर होते हैं।

10. **मोहकमसिंह का महल**- नगारखाने की पोल से दाहिनी ओर 8वीं बुर्ज पर एक महल के अवशेष दिखलाई देते हैं। यह मोहकमसिंह का महल था।
11. **बखतसिंह का महल**- मोहकमसिंह के महल से लगता हुआ बुर्ज संख्या 23 पर एक महल है। इसमें रावटीदार झरोखा है, इन दोनों महलों के पार्श्व में तबेला है।
12. **शिव बुर्ज**- बखतसिंह के महल से लगती हुई बुर्ज शिव बुर्ज है।
13. **तबेला और साल**- शिव बुर्ज के पार्श्व भाग में एक 13 चश्मों वाली साल और 24 चश्मों का तबेला है।
14. **चावण्ड बुर्ज**- पश्चिमाभिमुख बन्दपोल के पास चौरस बुर्ज पर चामुण्डा माता का मन्दिर है। इसलिए यह चावण्ड बुर्ज कहलाता है।
15. **गणेश और महादेव मन्दिर**- चावण्ड बुर्ज के निकट के बुर्ज पर ये मन्दिर स्थित है। इनके सामने हनुमानजी की छत्री है।
16. **भैरू बुर्ज**- बुर्ज सं. 12 पर श्री भैरूजी का मन्दिर है, इसलिए इसका नामकरण भैरव बुर्ज हुआ।
17. **बावड़ी**- बुर्ज सं. 9-10 के नीचे बावड़ी बनी हुई है।
18. **किलेदार का डेरा**- बावड़ी के पास बारादरी की ओर एक जीर्ण भवन के अवशेष दिखलाई देते हैं। यह किलेदार का निवास स्थान था और इसके सामने किलीखाना है।

‘नागौर किला री विगत’ से दुर्ग अन्य मुख्य स्थलों का विवरण मिलता है। लेखक ने दुर्ग के अलावा दुर्ग के परकोटे पर निर्मित बुर्जों के माप, उन पर बने हुए कंगूरों तथा रखी गई तोप का विवरण भी प्रस्तुत किया है, जैसे किलीखाना (शस्त्रगार) के पास एक बुर्ज जिसकी चौड़ाई 9 गज, निकास 9 गज तथा उस पर 19 कंगूरे हैं। इस पर सात अंगुल चौड़े मुंह वाली तीन गज लम्बी तोप रखी हैं। आगे 49 गज लम्बी सफील है जिस पर 36 कंगूरे हैं। सफील में एक बम्बा (पानी निकालने का रास्ता), जिसका निकास 7 गज का है।¹⁰

(ब) नागौर की शहरपनाह का विवरण

नूरबख्श ने अपने विवरण में नागौर की शहरपनाह तथा उसमें स्थित दरवाजों का उल्लेख माप सहित दिया है। वह लिखता है- 1 दरवाजो जोधपुरी ऊँचों डाला रा बीच ताई गज 6। (सवा छः) ने चवड़ो गज 3।।। (पोने चार) दुगै आसार गज 7।। (साढे सात) नै मांय दलीचीयां ऊपर फेर दलेलियां सरजन ने अगाड़ी मैह ऊपर साल छयोड़ी चसभा 3 री नै साल में बारी 1 म्हैराबदार नै साल रै दीनुं बाजु छतरी दोय हेटली तीबारी रा आसार ऊपर बुरजां 2।¹¹

भाषानुवाद- दरवाजा एक जोधपुर (जोधपुर की दिशा में) जिसकी ऊँचाई (ऊपरी सिरे के मध्य तक) सवा छः गज है तथा चौड़ाई पौने चार गज है। पोल में दो मेह (रहवास) हैं। इसका आसार (दीवार की चौड़ाई) साढ़े सात गज का है। पोल के भीतर ढाई-ढाई गज की तीन-तीन चश्मों की दो दलेचियों हैं। इन दलेचियों के ऊपर वैसी ही दलेचियां हैं। ऊपर आगे वाले भाग पर छाजेदार तीन चश्मों का बरामदा है। इस बरामदे में मेहराबदार एक खिड़की है। बरामदे के दोनों ओर छतरियां बनी हुई हैं। ये छतरियां नीचे वाली तिबारी (दलेची) के आसार के ऊपर बनी हुई हैं। इसके आजू-बाजू में दो बुरचे हैं।¹²

नूरबख्श के अनुसार नागौर की शहर पनाह में स्थित 6 दरवाजों के नाम हैं- जोधपुर दरवाजा, दिल्ली दरवाजा, मुल्तानी या नवा दीवाजा, माही दरवाजा, नखास दरवाजा और अजमेरी दरवाजा। इनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। शहरपनाह का विवरण देते हुए नूरबख्श ने नागौर के कुछ मौहल्ले के नाम गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं- जटिया कुम्हारों की बस्ती, बेराई दला, दड़ावाड़ी, काणिया कुआं, कुवा मैदान, मसील का कोठार, गुजरातियों की पोल, बाजरवाड़ा, तारकीएन की दरगाह, खतरीपुरा, लवारपुरा, काजियों की चौकी, हरसोलाव ठाकुर की हवेली और सोनणी ठाकुर की हवेली। नागौर किला री विगत में बखतसागर, समस, गिनाणी नामक तालाबों तथा चांद बुर्ज, माती बुर्ज और तारा बुर्ज के नाम भी मिलते हैं।¹³

(स) दुर्ग के परकोटे का विवरण

नूरबख्श ने नागौर के किले के परकोटे का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। इसमें विभिन्न बुर्जों और सफील कंगूरों का विवरण दिया गया है, उदाहरणार्थ-

(अ) 1 सिरेपोल सुं पसताँ बाजु जीवणी बारी सुं तो आगै मुंडी नै लगती बुरज चवड़ी गज 10 निकासु गज साढ़े तीन कांगरा 9

माप-1 सफील लांबी गज साढ़े बीस कांगरा 13।¹⁴

अनुवाद- मुख्य पोल में प्रवेश करते समय दायीं ओर खिड़की के आगे मंडी तथा मंडी से लगती हुई एक बुरज 10 गज चौड़ी और उसका निकास साढ़े तीन गज का है। उस पर 9 कंगूरे बने हैं। आगे सफील जिसकी लम्बाई साढ़े बीस गज व उस पर 13 कंगूरे हैं।¹⁵

(ब) अगली वाली बुर्ज का विवरण इस प्रकार है¹⁶-

1 बुरज 1 चौरस मांय छोटकणों चौड़ो गज 21 नीखासु गज 7 कांगरा 21

माप - एक सफील लाम्बी गज साढ़े बत्तीस कांगरा 22

अनुवाद- यह बुर्ज चौकोर है जिसके अन्दर 21 गज चौड़ा छिटकना (शौचालय) है। बुर्ज का निकास 7 गज और उस पर 21 कंगूरे हैं। आगे साढ़े बत्तीस गज लम्बी सफील जिस पर कंगूरे 22 हैं।¹⁷

“नागौर किला री विगत” में नूरबख्श द्वारा लिखा गया विवरण सूक्ष्म निरीक्षण के बाद तैयार किया गया है। डॉ. क्षीरसागर ने प्रस्तुत विगत पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है कि बुर्जों के ऊपर रखी गई तोपों की लम्बाई, गोलाई, तोपों के मुंह की चौड़ाई, बुर्जों की सीढ़ियों की संख्या, उनकी दिशा, कंगूरे कितने ठीक हालात हैं में है, कितने टूटे हुए हैं, बारियां खुली हैं, बन्द, कपाट है या नहीं, जैसे विषयों का विवरण देकर नूरबख्श ने नागौर नगर एवं दुर्ग को मानो जीवन्त रूप में प्रस्तुत कर दिया है।¹⁵

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आज नागौर का दुर्ग अपनी पूर्व स्थिति में नहीं है। उसके कई भवन खण्डहरों में बदल चुके हैं। यद्यपि जोधपुर के महाराजा ने नागौर दुर्ग में महलों की मरम्मत करवाकर उसे सुरक्षित कर दिया है।¹⁹ लेकिन उसे अपने पूर्व स्वरूप में लाना कठिन कार्य है। नूरबख्श का ग्रन्थ ‘नागौर किला री विगत’ मध्य कालीन नागौर नगर की बसावट, उसकी सुरक्षा व्यवस्था और शासकीय आवास का अध् ययन करने वाले विद्वानों हेतु एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में उपयोगी है। नागौर दुर्ग की जल व्यवस्था²⁰ एक निश्चित योजना को ध्यान में रखकर की गई थी, लेकिन नूरबख्श द्वारा उसका उल्लेख न करना आश्चर्य का विषय है। इसी प्रकार आलोच्य विगत-ग्रन्थ में अकबरी झरना जिसमें 17 फव्वारे हैं²¹ उसका तथा बखतसिंह के आब हवामहल²², महलों को ठण्डा रखने की व्यवस्था²³, हाड़ी रानी का महल²⁴, अमरसिंह महल और 99 खम्बों वाली बारादरी एवं अकबरी महल तथा अकबरी मस्जिद की तो चर्चा भी नहीं की है।²⁵ सम्भवतः नूरबख्श ने महलों के भवनों की अपेक्षा नागौर के दुर्ग एवं नगर की सुरक्षा व्यवस्था को ध्यान में रखकर अपना ग्रन्थ लिखा था। इसके बावजूद मध्यकालीन नागौर का अध्ययन करने हेतु नागौर किला री विगत शीर्षक ग्रन्थ का अपना विशेष महत्व है। प्रस्तुत शोध निबन्ध का उद्देश्य विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित करना मात्र है।

संदर्भ

1. गहलोत, जगदीशसिंह, मारवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 225, हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर 1991
2. ओझा, गौरी शंकर हीराचन्द्र, जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. 40, बाबू चांदमल चंडक के प्रबंध से, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, वि.सं. 1995
3. मिश्र, रतनलाल, राजस्थान के दुर्ग, पृ. 70-71, उदयपुर 198
4. क्षीरसागर डी.बी., नागौर किला री विगत (लेखक नूरबख्श), आमुख पृ. III,

- महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर 1991
5. मिश्र, पूर्वो., पृ. 68
 6. दुबे, दीनानाथ, भारत के दुर्ग, पृ. 81, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 1999
 7. क्षीरसागर पूर्वो. पृ. 23-32, 2-7
 8. वही, पृ. 1
 9. वही, पृ. IV-VI
 10. वही, पृ. 32
 11. वही, पृ. 10
 12. वही, पृ. 36
 13. क्षीरसागर, वही, पृ. VI
 14. वही, पृ. 7
 15. वही, पृ. 33
 16. वही, पृ. 7
 17. वही, पृ. 33
 18. वही, पृ. VII
 19. इस कार्य हेतु महाराजा गजसिंह को यूनेस्को हेरीटेज अवार्ड मिला है। द्र. मनचन्दा बिन्दु, पूर्वो. पृ. 83
 20. मनचन्दा, वही
 21. सिद्दीक मोहम्मद हलीम, मध्यकालीन नागौर का इतिहास, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, पृ. 368, 273
 22. सिद्दीकी, वही
 23. मनचन्दा, वही पृ. 83
 24. वही
 25. वही

बीकानेर राज्य के राजघराने में सती-प्रथा - एक अध्ययन

राम लाल परिहार

बीकानेर राजघराने में सती प्रथा का प्रथम उदाहरण राव बीका जी के काल का है। वि.सं. 1561 में स्वयं राव बीका जी की मृत्यु के पश्चात् उनके साथ उनकी रानियां सती हुई थीं।¹ बीका जी की टेकरी, लक्ष्मीनाथ जी मंदिर के पास शिलालेख के आधार पर कहा जा सकता है कि राव बीकाजी के साथ उनकी दो धर्म पत्नी तथा चार भोग्य पत्नियां सती हुईं।² बीकानेर राज्य के संस्थापक नरेश बीकाजी की मृत्यु के साथ, सती होने की परम्परा की शुरुआत बीकानेर राज्य के राजघराने में हुई।

तब से यह परम्परा सी बन गई। राजघराने के किसी कुमार या राजा का देहान्त होने पर उनकी धर्म पत्नियों, पातरों तथा भोग्य पत्नियों के सती होने के उल्लेख प्राप्त होते रहे हैं। इस प्रकार बीकानेर राजघराने में सती प्रथा का क्रम निरन्तर चलता रहा। वि.सं. 1598 फागुन शुक्ल पक्ष में जब तत्कालीन बीकानेर नरेश राव लूणकर्ण वर्मा का देहान्त हो गया था तो उनके साथ तीन रानियां सती हुई थीं।³ वि.सं. 1598 फागुन शुक्ल पक्ष में जब श्री लूणकर्ण के पुत्र जैतसिंह की मृत्यु हुई तब उनके साथ तीन धर्म पत्नियां तथा तीन भोग्य पत्नियां सती हुईं।⁴ इसी प्रकार वि.सं. 1630 माघ शुक्ल पक्ष को बीकानेर के महाराजा कल्याणमल का देहान्त होने पर उनके साथ निम्नांकित महारानियों के सती होने का उल्लेख मिलता है - (1) राणी श्री रत्ना जी (2) प्रेमा जी (3) ल्यांगा जी (4) हांसा जी (5) उलगण पहपु। इसके साथ ही 10 पातरों के सती होने का वर्णन भी प्राप्त होता है, जो इस प्रकार थीं - (1) जीरू (2) जमाला (3) बुधराई (4) कामसेजा (5) रंगराई (6) पदमावती (7) सुघडराई (8) मौणवती (9) रूप मंजरी (10) रंग माला।⁵

चार महारानियों को शिलालेख में हाथ जोड़े राजा के सामने खड़ा दिखाया गया है जबकि एक को नृत्य मुद्रा में जबकि दस पातरों को वाद्य यंत्र युक्त नृत्य-मुद्रा में दर्शाया गया है। 10 पातर और एक आलोगण जो सती हुई थीं वे राजा कल्याणमल की पत्नियां ही थीं लेकिन उनको रानियों का दर्जा प्राप्त नहीं था। यह स्मारक बीकानेर स्थित देवीकुण्ड सागर पर विद्यमान है जहाँ पर प्रतिवर्ष मेला लगता है तथा इसकी रोज पूजा की जाती है। जबकि पाउलेट ने 6 रानी व 10 पत्नियों के सती होने का वर्णन दिया गया है।⁶

उल्लेखनीय है कि राजाओं के साथ ही नहीं बल्कि कुंवरो के साथ भी सतियां

होती थीं। जब कुंवर भुपाल जो कि महाराजा रायसिंह के पुत्र थे का निधन वि.सं. 1634 फागुन सुदि अष्टमी शनिवार को हो गया था तब उनके साथ उनकी तीन पत्नियों के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनके नाम - (1) मनोरथे भटियाणी (2) मणिकदे कछवाही (3) महमादे कछवाही थे। कुंवरों के साथ प्रायः कर उनकी रानियां सती हो जाया करती थीं जबकि राजाओं के साथ उनकी रानियों के अलावा पातर, खवास और सहेलियां भी सती होती थीं।⁷

जब वि.सं. 1668 में महाराजा रायसिंह का देहान्त हुआ तो उनके साथ तीन रानियों तथा तीन पातरियों के सहगमन का उल्लेख प्राप्त होता है।⁸ तीन रानियों के नाम इस प्रकार थे - (1) तुंवर जी द्रोपदा (2) सोढ़ी भानुदेवी (3) भटियाणी अमोलकद। इसी प्रकार सती होने वाली तीन पातरियों के नाम यह थे - (1) रंगराय (2) नैणजीवा (3) कामरेखा। वि.सं. 1688 में महाराजा सूरसिंह का देहांत हो गया तो उनके साथ दो रानियां और दो पातरियां सती हुई थीं।⁹ रानियों के नाम निम्नांकित थे - (1) भटियाणी मनरंगदेजी (2) राणी रतनावती जी। इसी प्रकार पातरियों के नाम यह थे - (1) रंग रेखा (2) गुणकली।

बीकानेर राजघराने में केवल सगाई (सम्बन्ध) होते ही वर की मृत्यु हो जाने पर सती होने के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। बाईजी श्री विचित्र कुंवर की सगाई उदयपुर के महाराणा राजसिंह के पुत्र कुंवर सुरताण सिंह के साथ हुई थी।¹⁰ वि.सं. 1720 में सुरताणसिंह का निधन उदयपुर में हो गया। यह समाचार बीकानेर पहुँचने पर विचित्र कुंवर विवाह से पूर्व ही बीकानेर में सती हुई जो बीकानेर की राजकन्या थी।

रानियों के साथ सहेलियां, पातरियां और अन्य भोग्य पत्नियां भी सती होती थीं। कभी-कभी इनकी संख्या बहुत अधिक होती थी तथा इनकी भावना राजा के प्रति समर्पण की ही होती थी। जब राजा की मृत्यु हो जाती थी तो उनमें सती होने की होड़ हो जाती थी। इस संदर्भ में महाराजा कर्णसिंह का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। महाराजा कर्णसिंह की मृत्यु वि.सं. 1726 में होने के पश्चात् उनके साथ 19 सतियां होने का उल्लेख प्राप्त होता है।¹¹ जबकि वीर विनोद में 20 का वर्णन है।¹²

इसके बाद महाराज मोहनसिंह का स्वर्गवास वि.सं. 1728 को हुआ, जो कि अपने पिता के मरने के बाद मात्र 2 वर्ष बाद ही स्वर्गलोक सिधार गए। उनके साथ उनकी एक धर्म पत्नी तथा एक भोग पत्नी सती हुई थी।¹³ जबकि बीकानेर राज्य के इतिहास में इसका उल्लेख चैत्र सुदि 7 का है तथा एक पत्नी के सती होने का वर्णन है जबकि शिलालेख में दो सतियों का वर्णन है।¹⁴ यह भी उल्लेखनीय है कि महाराजा के साथ ही नहीं बल्कि राजकुमारों के साथ भी अनेक भोग पत्नियां व रानियां सती होती थीं। इस संदर्भ में वि.सं. 1741 चैत्र कृष्ण 3 का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं जब

केसरी सिंह की मृत्यु हो गयी थी तो उनके साथ दो धर्म पत्नियां तथा सात भोग पत्नियों के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁵

जब महाराजा अनूपसिंह जी का वि.सं. 1755 शुक्ल 9 में देहान्त हो गया था तो उनके साथ भी उनके रानियों और खवासनों के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है। इनके नाम निम्न प्रकार थे¹⁶ -

(अ) रानियां : (1) रतन कुंवर जी - जैसलमेरी (2) अतरंग दे जी तुंवर

(ब) खवास : (1) सुघड़राय (2) रंगराय (3) गुलाबराय

(स) पातरियां : (1) जैमाला (2) सरसकली (3) नारंगी (4) अनारकली

(द) सात सहेलियां (भोगपत्नी) : जैसलमेरी साहिबा की चार सहेलियां -

(1) रूपरेखा (2) गुणजोत (3) हररेखा (4) मोतीराय। तुंवर जी साहिबा की एक सहेली - (1) हरमाला। खंवासा री दो सहेलियां - (1) कमोदी

(2) डगली।

बीकानेर राज्य के महाराजा सुजान सिंहजी की मृत्यु वि.सं. 1792 पोष शुक्ला 13 मंगलवार यानि की 16 दिसम्बर, 1735 ई. को हो गयी थी। उनके साथ निम्न सतियां हुई¹⁷ -

रानियां : (1) सुरताण दे जी देरावरी, बडारण : (1) हर जोतराय, खवास : (1) केसर, पातरियां : (1) सुघड़राई (2) नैणसुराई (3) गुमानराई (4) रंगराई, भोग पत्नियां : (1) हंसती (2) राही (3) चैनसुख

बीकानेर राज्य में सबसे अधिक सतियां महाराजा जोरावरसिंह के साथ होने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाराजा जोरावरसिंह का देहान्त वि.सं. 1803 ज्येष्ठ शुक्ला 6, गुरुवार यानि की 15 मई, 1746 ई. को हुआ था। महाराजा जोरावरसिंह के साथ उनकी धर्म पत्नियां तथा अन्य पत्नियों के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है¹⁸ -

रानियां : (1) अखैकुंवर जी देरावरी (2) उमेद कुंवर जी तुंवर

खवास : (1) सदां जी

पातरियां : (1) गौरा (गंवरा) (2) सरूपा (3) गुलाबां (4) तनतरंग (5) रग निरत (रंग नृत) (6) फतू (7) वनां (8) सुखविलास (शुभविलास) (9) राजा (10) गुमानी (11) विजी (12) महताब

खालसा : (1) रामजोत (2) कपूर कली

बडारण : (1) गुणजोत

सहेलियां : (1) तुंवर जी री सहेली - राही

पातरियों की सहेली : (1) फतू (2) संकामी (सदामी)

पातरियां री रसोईदार : (1) ब्राह्मणी-राही

इस प्रकार कुल मिलाकर 22 सतियां महाराजा जोरावरसिंह के सतियां हुई¹⁹ जबकि वीर विनोद में 24 का वर्णन है।²⁰

यह उल्लेखनीय है कि सभी सतियां राजा के साथ नहीं थीं। यदि राजा की मृत्यु राज्य में होती थी तो यह सम्भव हो सकता था कि वे राजा के साथ सती हों लेकिन अगर राजा की मृत्यु राज्य के बाहर होती थी तो जो पातरियां राजा के साथ रहती थीं वे तो उनके साथ बाहर ही सती हो जाती थी जैसा कि महाराजा सुजानसिंह का देहान्त वि.सं. 1792 रामसिंहपुर में हुआ। इनके साथ पाँच पातर (खवास) सती हुई थीं। इसी प्रकार जब बीकानेर देहान्त की सूचना पहुँची तो पाँच रानियां उनकी पगड़ी के साथ सती हुईं।²¹ जब महाराजा जोरावर सिंह का देहान्त अनूपपुरा में हुआ था तो उनकी रानियां व पातरे सभी महाराजा की पगड़ी के साथ सती हुई थीं। यह उल्लेखनीय है कि राजा के साथ रानी ही सती नहीं होती थी बल्कि कई ऐसी सेविकाएं भी सती होती थीं जैसा कि महाराजा जोरावरसिंह की मृत्यु के बाद उनके साथ एक ब्राह्मणी जो कि पातरणियों की रसोईदार थी, सती हो गई।²²

यह उल्लेख करने योग्य है कि राजाओं के साथ कभी-कभी उनके नौकर भी 'सता' हो जाते थे। जैसा कि महाराजा जोरावरसिंह की मृत्यु के उपरांत उनके साथ कोई रानी तो सती नहीं हुई लेकिन उनके साथ उनका प्रिय सेवक संग्राम सिंह जिंदा जल गया था। इस प्रकार सेवक भी अपने मालिक से अति प्रेम होने के कारण उनके साथ जल जाते थे।²³

कालान्तर में बीकानेर राज्य में सती प्रथा का सिलसिला कम हो गया था, विशेषकर राजघराने में लेकिन आम लोगों में इसका प्रचलन बदस्तूर जारी था। लेकिन महाराजा जोरावरसिंह के बाद भी सती होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि.सं. 1805 फाल्गुन शुक्ला 13 शनिवार को बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह के पुत्र आनन्दसिंह के साथ उनकी तीन धर्मपत्नियों तथा उसकी एक भोग पत्नी के साथ बैकुण्ठ पद प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। आनन्द सिंह की मृत्यु के उपरांत उनके साथ सती होने वाली दो धर्म पत्नियां विजै कंवर व ब्रिज कंवर के नाम उल्लेखनीय हैं उनके साथ खवास प्राणराज भी सती हुई थी।²⁴ इसके बाद बीकानेर के अनेक राजाओं का देहान्त हुआ जैसे महाराजा गजसिंह वि.सं. 1844, महाराजा राजसिंह वि.सं. 1844, महाराजा भोपालसिंह वि.सं. 1834। अनेक राजा तथा राजकुंवरों का देहान्त भी हुआ लेकिन उनके साथ किसी

रानी तथा पातरियों के सती होने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।²⁵ लेकिन महाराजा राजसिंह के साथ उनके एक कृपा पात्र संग्राम सिंह के साथ जलने का उल्लेख प्राप्त होता है।²⁶

बीकानेर राज्य में इसके बाद भी सती प्रथा कम ही सही परन्तु राजघराने में विद्यमान थी क्योंकि वि.सं. 1882 में जब महाराजा सूरतसिंह के पुत्र मोतीसिंह का देहान्त हो गया तो उसके साथ उसकी पत्नी दीपकुंवर सती हो गयी थी।²⁷ बीकानेर के राजघराने में होने वाली आखरी सती मोतीसिंह की पत्नी थी। मोतीसिंह बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह के द्वितीय पुत्र थे जिनका विवाह उदयपुर राजघराने की कन्या दीपकुंवरी के साथ हुआ था। लेकिन जब मोतीसिंह का देहान्त वि.सं. 1882 कार्तिक कृष्ण 3-4 यानि की 30 अक्टूबर, 1825 ई. को बीकानेर में हो गया था तब उनके साथ उनकी पत्नी दीपकुंवर सती हो गई थी।²⁸

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में बीकानेर राजघराने में सती-प्रथा का प्रचलन काफी प्रभावी रूप में विद्यमान था। यह बात भी देखने में आती है कि कालांतर में बीकानेर राजघराने में इस प्रथा का प्रचलन नाम-मात्र का रह गया, जिसके लिए सामाजिक मूल्यों तथा सोच में आए परिवर्तन और जागृति को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

संदर्भ

1. डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-1, 1939 ई., पृ. 108-09
2. राव बीका स्मारक शिलालेख वि.सं. 1561 बीकोजी की टेकरी, बीकानेर
3. राव लूणकर्ण वर्मा स्मारक शिलालेख वि.सं. 1583, बीकोजी की टेकरी, बीकानेर
4. राव जैतसिंह स्मारक शिलालेख, वि.सं. 1598, बीकानेर
5. डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पूर्वोक्त, पृ. 108-09
6. दयालदास की ख्यात, भाग-2, सम्पादक डॉ. दशरथ शर्मा, 1948 ई., पृ. 6-7
7. राव लूणकर्ण वर्मा स्मारक शिलालेख, वि.सं. 1583, बीकोजी की टेकरी, बीकानेर
8. महाराजा रायसिंह स्मारक लेख वि.सं. 1668, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
9. महाराजा सूरसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1688;
10. सुरताण सिंह सिसोदिया स्मृति लेख, वि.सं. 1720
11. महाराजा कर्णसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1726, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
12. कवि राजा श्यामलदास, वीर विनोद, भाग-2, पृ. 498
13. मुंहणसिंह स्मारक लेख वि.सं. 1728, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
14. डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, 1940 ई., पृ. 280

15. केशरीसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1741, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
16. महाराजा अनूपसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1755, देवकुण्ड सागर, बीकानेर
17. महाराजा सुजानसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1792, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
18. कवि राजा श्यामलदास : वीर विनोद, भाग-2, पृ. 501
19. महाराजा जोरावरसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1803, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
20. कवि राजा श्यामलदास : वीर विनोद, भाग-2, पृ. 503
21. महाराजा सुजानसिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1792
22. कवि राजा श्यामलदास : वीर विनोद, भाग-2, पृ. 503
23. डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, 1940 ई., पृ. 364
24. आनन्द सिंह स्मारक लेख, देवीकुण्ड सागर, बीकानेर
25. महाराजा भोपाल सिंह स्मारक लेख, वि.सं. 1834
26. मुंशी सोहनलाल : तवारीख राजश्री बीकानेर, 1890 ई., पृ. 29
27. मोतीसिंह स्मारक लेख शिलालेख, वि.सं. 1882
28. मोतीसिंह स्मारक लेख शिलालेख, वि.सं. 1882, पंक्ति नं. 16-17

महाराजा विजयसिंह रे राज में जवाहरात री बही का विवरण (सन् 1752-1793)

प्रो. अल्पना दुभाषे एवं डॉ. अर्पणा शर्मा

मुगलों को मारवाड़ के महाराजा गजसिंह के नेतृत्व में लंबा संघर्ष करना पड़ा और यह संघर्ष सन् 1707 तक चलता रहा। औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मिलने पर महाराजा अजीतसिंह ने निम्न दोहा कहा था-

*आई खबर अचिंत री मिट गई तन री दाह।
कासिदों यूं भाखियो, मर गयौ औरंगशाह।।*

इस प्रकार मौका पाकर अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार जमा लिया। बहादुरशाह ने अन्ततः अजीतसिंह से मेल स्थापित कर लिया और उन्हें महाराजा की उपाधि और मनसब लौटा दिये।¹

अजीतसिंह ने अपने पिता जसवंतसिंह की स्मृति में कई कलात्मक स्मारक बनवाये। उनके ज्येष्ठ पुत्र अभयसिंह और परवर्ती शासक रामसिंह के समय में राज्य में गृह कलह प्रारम्भ हो गये। तत्पश्चात् 1751-52 राजा बख्तसिंह और विजयसिंह (1752-1793 ई.) गद्दी नशीन हुए। गुलाबराय नामक एक पासवान पर विशेष कृपा थी जिससे शासन कार्यों में उसका हस्तक्षेप बढ़ने लगा। अप्रत्यक्ष रूप से सारा राज्य शासन गुलाबराय के इशारों पर चल रहा था इसी कारण सरदार उससे नाराज हो गये और धोखे से सन् 1791 में उसका वध करवा दिया, जिसकी खबर महाराजा को काफी समय पश्चात् हुई।² महाराजा विजयसिंह ने लगभग 49 वर्षों तक राज्य किया किन्तु वे पूर्ण शांति से कभी राज्य न कर सके। इनके समय में बहुत से सुंदर स्थापत्य कला से भरपूर भवन भी बने।³

महाराजा विजयसिंह कालीन अत्यन्त महत्वपूर्ण जवाहरखाना बहियें एवं टकसाल की बहियां भी उपलब्ध हैं। इन बहियों में सोने के बर्तनों, सोने की कलाकारी से युक्त हथियारों एवं आभूषणों का विस्तृत विवरण मिलता है। वि.सं. 1827 की बही जो जवाहरखाना में सोना रूपा की रकमां री बही से संबंधित है, में प्याले, बाटकियें, कटोरदान, पानदान, चम्मच, रकेबी आदि सोने के बर्तनों का उल्लेख है। कुछ चुनिंदा बहियों का विस्तारपूर्वक वर्णन निम्नांकित है।

महाराजा विजयसिंह की बही में आभूषण बनवाने एवं खर्च हुए जवाहरात के साथ-साथ उनकी खरीद विवरण बही में दर्ज मिलता है-

बही में पन्नों की खरीदी के उदाहरण-

33 काती सुद 13 पना खरीद गाजी श्री नवनती प्रीया जी रे आब खोरा में बाटकी में जड़ावण सारू 20

मुलतानी गोडा दाल रा रती 11 ।।

%%%

2 मीगसर सुद 5 पना 2 खरीद सीरपेच में जड़ावण सारू

2 पनो 1 तोल रती । जड़ीया नानग रोकी 1 11-1

1 पनो 1 मुलातनी गोडादास रो रती 13 की 21 11 पत्र संख्या-323अ

बही में विभिन्न प्रकार के आभूषणों का तो उल्लेख है ही, साथ ही साथ उनके रूपों का भी उल्लेख हुआ जिनमें अलग-अलग ढंग से जवाहरात जड़े जाते थे। जैसे-

1 सिरपेच 1 हीरा रो सं. 1833 रा आसोद बद 8 माहेला कोठार में दाखल कीयो
%% सु सं. 1836 रा आसाढ सुद 13 माहेला कोठार सुं बारे लाया तीण में दल-

1 मघनायक ठेकड़ा में दल

1 मघनायक पनो चोखटो

12 डोट में हीरा 12

3 फंगर पूना री मीणी 3

16 घाट सादो

8 पाखती रा ठेकड़ा 8 में

1 ठेकड़ा में

1 मघनायक पनो चोखटो

--

8

1 ठेकड़ा 1 में दल सरेजन

--

9 घाट सादो

2 पना री मीणीया 2 %%%

पत्र संख्या 9अ

इसी तरह बही में सिरपेच का उदाहरण जिसमें अलग ढंग से जवाहरात जड़े जाने का उल्लेख है-

1 सिरपेच 1 पना से कीरणदार ठेकड़ा रो सं. 1834 रा असाढ सुद 10 दाखल कीयो %% तीण में दल-

1 मघनायक ठेकड़ा में दल
 1 मघनायक हीरों कटोरी में जड़ायो
 26 पाखती कीरणा पना री 14, 13

--

28 घाट मीनो लाल सब जड़ायो
 2 पाखती रा ठेकड़ा 2 पना री कीरणदार
 1 ठेकड़ो 1 अगाड़ी रो तीण मं दल
 1 मघनायक हीरो सीघोड़ा में दल
 21 कीरणा पना री
 2 पाना बीच नै पांनां री गोट में
 1 माणक गोट बड़ो
 3 माणक गोट में बड़ो
 3 माणक री डावा
 2 डांडी में
 1 गोट री डांडी में

--

3

4

--

28 घाट मीनो लाल सब जड़ायो पत्र संख्या 10अ
 बही में यत्र-तत्र पड़दायतों के आभूषणों में जवाहरात जड़ाने का भी उल्लेख है।
 गाजी जी के सेवा का पाटिया जवाहरात में नया जड़ा जाने का उल्लेख है-
 594 गाजी श्री नवनीत प्रीया जी री सेवा री गादी रो पाटीयो नवो जड़ायो तीण में
 %%% सुद 8

133 हीरा 157 पना

304 माणक

594

पत्र संख्या 200अ

ठाकुर जी सेवा के लिए एक हार में जवाहरात जड़े जाने का वर्णन बही में मिलता है-

1 काती बद 10 ठाकुर जी श्री नवनीत प्रीया जी री सेवा तालुके हार 1 हीरां रा
 ठेकड़ा 24 ईक नगा रो दुगदुगीयो नगी सुधा नवो जड़ायो तीण में दल हीरा

खरच

20 ठेकड़ा 20 चोरस तीणा में हीरा

4 सीघोड़ा गटा तीण में हीरा

4 दुगदुगी में

--

28

पत्र संख्या 201

हीरों के खरीदने के उदाहरण

हीरा बा. खरीद बीकानेर सुं % मंगाया मारफत %% बखतावरमल कनेहा %%

सवाईराम सुं आया

43 सावण सुद 15 आया

26 हीरा 26 तोल पकी रती 14 %% 7 घाट रती 1 रा दुग 13

17 हीरा 17 तोल रती 13 खीलवा 4 घाट प्रगरती 345=1 1 रा दुग 13

43 कीमत

पत्र संख्या 335अ

एक टीके की जड़ाई में खर्च हुए जवाहरात का उदाहरण है-

टीका जडाऊ 1831 में

वाकी संवत 1831 रा आसाढ सुद 15 %%%

1 टीको 1 सावण सुद 5 खरीद टीको मांग से जड़ीया आसु रो लाल रा बेटा रे
मारफत %%% गोरधनदास रो ने जड़ीया नानग 17 दल जड़ीया

5 हीरा

1 मघनायक

3 पाती में

1 नाका में

5

1 केरीयो 1 पनां रो

1 कबाण चो मांण कारी तलणा रो

8 तापा री नोका में केरीया माणक रा

--

17 गाजी जी नवनीत श्री माजी रे पधरायो पत्र संख्या 393अ

इस प्रकार इस बही में जवाहरात खर्च व उनकी खरीद का उल्लेख तो हुआ ही है
साथ में हीरे मोती और पन्नों को किस प्रकार आभूषणों में जड़े जाते थे इस विषय पर

विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

वि.सं. 1826-30 की बही 'ठाकुरजी (कृष्णजी) की सेवा में आभूषणों की बही भी अपना महत्वपूर्ण स्थानी रखती है। उक्त बही में श्री ठाकुर जी के विभिन्न प्रकार के आभूषणों का उल्लेख भी हुआ है जिनमें पन्ने के किरणदार मुकुट, किलंगीदार हीरे का मुकुट, हीरे पन्ने एवं माणक से जड़ित मुकुट, पन्नों की मीणों का मुकुट, छोटे पन्नों का मुकुट, हीरों से जड़ित दोहरी किरण का मुकुट, जालीदार सादा मुकुट इत्यादि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सन्दर्भ

1. इरविन विलियम, लेटर मुगल्स, भाग 1, पृ. 248
2. जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द 3, पृ. 102
3. नगर, महेन्द्रसिंह, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएं, प्रथम खंड, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर, अध्याय प्रथम, पृ. 30-31

गृजल साहित्य में पर्यावरण - एक समीक्षा

निर्मला दैव्या

पर्यावरण आधुनिक काल का प्रमुख ज्वलंत विषय है। प्राचीन काल से ही हमारे मनीषियों ने पर्यावरण की तरफ विशेष ध्यान दिया है। जिसमें जल स्रोत और बाग-बगीचे प्रमुख हैं। वैदिक काल से ही जल स्रोतों की जानकारी प्राप्त होती है वैदिक काल से ही लोग इसके प्रति सजग थे।

जल स्रोतों का वर्णन

वैदिक काल से ही सिंचाई व्यवस्था के प्रमाण मौजूद थे। ऋग्वेद में नदियों, झरनों के अतिरिक्त खुदी हुई जल प्रणाली (नहरों) की भी चर्चा की है। ऋग्वेद में जल को सामान्य रूप से सभी नदियों तथा कुछ विख्यात नदियों की ओर श्रद्धा के साथ संकेत किया गया है और उन्हें दैविक पूर्ण होने से पूजनीय माना गया है। ऋग्वेद के अनुसार आर्य संस्कृति का केन्द्र सप्तसिंधु अर्थात् आज का उत्तर पश्चिमी भारत एवं पंजाब था।

खारवेल राजा के हाथीगुफा अभिलेख से पता चलता है कि वह नहर जो नन्द राजाओं के 103वें वर्ष (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) में बनी थी। पांचवें वर्ष में विस्तारित हुई।¹ रुद्रदामन ने बिना कर, प्रणय एवं विष्ठा लगाये स्वयं अपने कोष से जूनागढ़ के पास सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार करवाया था।² इस सुदर्शन झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक के प्रान्तपतियों ने किया था और वह कालान्तर में बाढ़ के कारण टूट-फूट गई थी।

शुक्रनीतिसार के मत से जल की समुचित व्यवस्था करना राजा का परम कर्तव्य था, यथा-कूप, सीढ़ियों वाले जलाशय, तालाब, झीलें आदि खुदवाना। उसके कर्तव्यों एवं उनकी पूर्ति की ओर मेगस्थनीज की इण्डिका भी संकेत करती है। मेगस्थनीज³ का कहना है कि कुछ (राज्य कर्मचारी) लोग नदियों का निरीक्षण करते थे, भूमि की माप कराते थे, जैसा कि मिश्र (इजिप्ट) में होता था, कुछ लोग प्रमुख नहर से अन्य छोटी-छोटी नहरें निकलवा कर जल देने की व्यवस्था करते थे जिससे सबको यथोचित जल मिल जाय। दक्षिण भारत के शिलालेखों से पता चलता है कि पल्लव राजाओं एवं अन्य कुलों के राजाओं ने बहुत से तड़ाग खुदवाये जिन पर उनके अथवा स्थल विशेष व्यक्तियों के नाम लिखे हुए थे। इनमें से बहुत से तड़ाग आज भी विद्यमान हैं।⁴

प्राचीन काल से ही साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जल स्रोतों का वर्णन मिलता है इसी प्रकार ग़ज़ल भी काव्य की एक शाखा है। ग़ज़ल साहित्य एक नगरवर्णनात्मक काव्य विधा है इसमें किसी नगर विशेष का वर्णन मिलता है जिसमें वहां के किले, बाजार, शहर, बाग-बगीचे एवं नहरों, तालाबों आदि जल स्रोतों का वर्णन मिलता है। ये ग़ज़ल साहित्य अधिकांशतः जैन मुनियों द्वारा चातुर्मास के दौरान किए जाते थे। ग़ज़ल साहित्य में भी बहुत से जल स्रोतों यथा तालाब, कुएं, नहरों आदि का वर्णन मिलता है। इस शोध पत्र में ग़ज़ल साहित्य में वर्णित जल स्रोतों एवं बाग-बगीचों पर प्रकाश डाला जायेगा।

आगरा की ग़ज़ल जो कि श्री लक्ष्मीचन्द ने विक्रम संवत् 1780 में लिखी। इस ग़ज़ल में यमुना नदी का उल्लेख मिलता है।⁵ उदयपुर की ग़ज़ल कवि खेतल ने वि.सं. 1775 में लिखी। इस ग़ज़ल में उन्होंने पिछोला तालाब का उल्लेख किया है।⁶ गिरनार की ग़ज़ल कवि कल्याण द्वारा लिखी गई। इस ग़ज़ल में दामोदर कुंड का वर्णन किया गया है।⁷ कवि कहते हैं कि इस कुंड में स्नान करने से पाप नष्ट हो जाते हैं। दामोदर कुंड के अलावा मृगी कुंड⁸ एवं भैरव कुंड⁹ का वर्णन कवि ने किया है। कवि कल्याण के अनुसार भीमकुंड¹⁰ का जल निर्मल है एवं गजपत कुंड¹¹ में स्नान करते ही संसार के सारे दुखों का विनाश होता है। खपर कुंड¹² तथा पांडव कुंड¹³ का उल्लेख कवि ने अपनी ग़ज़ल में किया है। चित्तौड़ ग़ज़ल कवि खेतल द्वारा लिखी गई जो वि.सं. 1748 में लिखी गई। इस ग़ज़ल में कवि खेतल ने कूकड़ेश्वर कुंड,¹⁴ गोमुख कुंड,¹⁵ भीम का गोडाक कुंड¹⁶ के अलावा गंगा के समान पवित्र झरने¹⁷ का उल्लेख भी किया है। बंगाल की ग़ज़ल कवि निहाल ने लिखी। इस ग़ज़ल में उन्होंने गंगा नदी¹⁸ का उल्लेख किया एवं कहा कि इसके तट पर नहाने से पाप कट जाते हैं। कवि निहाल कहते हैं कि बंगाल के घर-घर में स्वच्छ जल से भरे हौज होते हैं।¹⁹ बीकानेर की ग़ज़ल श्री उदयचंदजी ने वि.सं. 1765 में लिखी। इस ग़ज़ल में सूरसागर तालाब,²⁰ गोगाजी,²¹ सवा लाखीक,²² घड़सीसर,²³ सौंसोलाव तालाब,²⁴ जसवन्तसर²⁵ एवं अनूप सागर,²⁶ सरूपदेसर,²⁷ आचार्या कूप,²⁸ नथूसर,²⁹ नामक कुओं का उल्लेख मिलता है। लाहौर की ग़ज़ल जटमल नाहर ने लिखी जिसमें उन्होंने रावी नदी का उल्लेख किया है।³⁰

बाग-बगीचों का वर्णन

ऋग्वेद में विशाल वन को देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण में कुरुक्षेत्र के सात वनों पुण्यप्रद एवं पापहारी कहा गया है-काम्यकवन, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन और पुण्यशीतवन।³¹ आगरा की ग़ज़ल में मोती बाग³² का वर्णन है। गिरनार ग़ज़ल में कवि ने कसमरतन बाग का वर्णन किया है। इसके अलावा अम्बा बाग³³ का भी उल्लेख किया है जिसमें मरूवे, मोगरे तथा चंपा के पौधों के

अलावा सारस, सूवटा आदि पक्षियों का भी वर्णन किया है।

चित्तौड़ ग़ज़ल में आये बाग वर्णन में केतकी, केवड़ा, करनाक, सीसम, शाल आदि वृक्षों का वर्णन मिलता है।³⁴ बंगाल देश की ग़ज़ल में कवि निहाल कहते हैं कि बंगाल के घर-घर में बाग एवं बाड़ी तथा स्वच्छ जल से भरे हौज होते हैं, यहां नवाजजी का बाग³⁵ है जो दर्शनीय है। लाहौर ग़ज़ल में जटमल नाहर ने एक बाग का उल्लेख किया है। इस बाग में केला, सेव, नींबू, जामुन, अमरूद, नारंगी, नाशपती, बिदाम, नीम, पलाश,³⁶ बेर, खजूर, अनार, पीपल, केवड़ा³⁷ के पेड़ों के अलावा मरूवा, चंपा की बेल, मोगरा तथा गुलाब के फूलों³⁸ का उल्लेख है।

सन्दर्भ

1. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 20, पृ. 71
2. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 8, पृ. 36
3. मेक रिंडस, एंशयेन्ट इण्डिया, पृ. 86
4. साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस, जिल्द 2, भाग 3, पृ. 351
5. किल्ला पास सुविलासिक, यमुना बहुत है खासीक।
मानु एह हीं दरियांक, उज्वल नर से भरीयाक।।
6. पीछे तालव पीछोलाक, करता लहिर किल्लोलाक।
मोहन मंदर वादर महिल, अंदर खूब उजल अहल।।
7. दिन दिन होत जै जैकार, गिरवर गजपत है गिरनार।
दामोदर कुंड है सुखदाय, करतां स्नान पातक जाय।।
- 8-9. मृगी कुंड है मलूक, भैरव कुंड नहीं कछु चूक।
तलेटा खूब तरवर लोक, वंदन चढत लाख लोक।।
- 10-11. ग्यांन के पाव है गंभीर, निरमल भीम कुंड है नीर।
गजपत कुंड करत स्नान, होवत सकल भव दुखहान।।
12. गाज खूब खपर कुंड, झरणा गहन तरवर झुंड।
गोतम गोरखूं खेपाय, तीजे टूंक है सुखदाय।।
13. नीचै विमल कमंडल नीर, पीता होत सुख सरिर।
विकसत कसमरतन है बाग, पांडव कुंड है अनुताग।।
14. भैरव झांय है भूषीक, लागत देखतां लूषीक।
कूकड़ेश्वर वडा है कुंड, पर्वत बीच में परचंड।।
15. क्या क्या खूब है कमठांण, थिर जहां सहसलिंग का थान।
धरमी राव कीरत घोळ, गोमुख कुंड है विचि गोळ।।
16. कुंड है भीम का गोडाक, निरमल नीर अति उंडाक।
महल अति मन मान्याक, रहते आप जहां रान्याक।।

17. चामुण्ड देहरा चंगाक, गहरी नीझरण गंगाक ।
आहड महल अति ऊंचाक, जाइ आस्मान स्यु पहुंचाक ।।
18. नवलख कामरू इक द्वार, दस्तक बिना नहिं पैसार ।
बाएं हाथ बहती गंग, दक्षण और परबत तंग ।।
19. चहल सेतूत की सोभा कि, देखै नैन भी लोभा कि ।
आछै भरै जल के हौज, छूटै समंद कैसी मोज ।।
20. बाहिर तलाव सूरसागर, उनका खूब है आगर ।
सिर पर धार कै गागर, भरीहै नीर जहां नागर ।।
21. छत्री खूब पाहचन्द्र सर, चिन्ता करत है चकचूर ।
भरिया तालाव गोगाजीक, झूले लोक हुई राजीक ।।
22. देवल दोय है फुन है पास, अस्य भगत कीन्हा रास ।
आगै तलाइ 'सवा लखीक', हिलमिल नीर भरि है सुखीक ।।
23. देखी नागणेची मात, उनका देहरा सुविख्यात ।
पासै तलाब 'घड़सीसर', भरीया जाण के सरवर ।।
- 24-25. जलभर कूप 'जसवंतसर', पांणी जात है सहुभर ।
सुन्दर तालाब सौंसोलाव, फुन है पास हरसोलाव ।।
26. वड वृक्ष सिघन उटछांह, बैठे लोक मिल उछाह ।
वही है अनोपसागर कूप, भरते वाहणे मन चूप ।।
27. बांटे सीरण्यां ताजीक, माने लोक हुई राजीक ।
सरूपदेसर कूप दीठाक, पांणी खूब है मीठाक ।।
28. राजत कूप राजावत, भरणै वीर तहां आयत ।
कीना आचार्या का कूप, देवल पास है असलूप ।।
29. देख्यां थांन धवलां पीर, उरूं जोइयो सहू फिर ।
देख्या कूप नथूसर, पणघट जात है सहु भर ।।
30. देख्या सहिर जब लाहोर, विसरे सहिर सगळे ओर ।
रावी नदी नीचै वहै, नावां खूब ढाली रहै ।।
31. शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ।
येषां नामानि पुण्यानि सर्वपापहराणि च ।।
काम्यकं च वनं पुण्यम् । (वामनपुराण 34/3-5)
32. मोती बाग में सुभठोज, सावन भादवो की भोज ।
अचानक बाग है ऐसीक, वरनन कीजिए ऐसीक ।।
33. उपत अजब अम्बा बाग, तरवर गिणत नावै ताग ।
कोयल अंबलै कोहकेकू, तीखे तान सुं टहुकेक ।।

- मरूवे मोगरे महकेक्, डोल डोल चंपौ गहकेक ।
 सारस सूवटा साहेवीर, इणका कहुं भाव.... ।।।
34. केतकी केवड़ा करनाक, वन में वास अर वरणांक ।
 सीसम साली सालर रूख, जिहा बहु भांति के है जौख ।।
35. श्री नवाबजी का बाग, जागा देखने के लाग ।
 क(फ?) रहावाद है आबाद, देखै होत दिल खुस्याल ।।
36. खांटी सेव नींबू तूत, अंबली जामूण अमरूत ।
 नारंगी नासपती खास, बहुत बिदाम नीम पलास ।।
37. बेर खजूर अजब अनार, फल है सपिता साहीकार ।
 पीपल केवड़ा वड़ एक, तरवर और तिहां अनेक ।।
38. है जहां जाई गुल फूल, लाल गुलाब बहुत सुरंग ।
 पिपल राई बेल चम्पेल, मरुआ मोगर गुल केल ।।

राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1600-1948 ई.)

विषयक अभिलेखागारीय मूल स्रोत-सामग्री एवं आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन - एक अध्ययन

प्रो. शिव कुमार भनोत

सामान्यतः 'प्रशासन' तथा 'प्रशासनिक व्यवस्था' जैसे शब्दों का आशय या अभिप्राय प्रशासन या प्रशासनिक व्यवस्था के कतिपय लोक मानस के मध्य चर्चित आयामों से ही लिया जाता है यथा-राजपद, केन्द्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय, वित्तीय (जिसमें आय, व्यय तथा वित्तीय प्रबन्ध, तीनों ही शामिल हैं), भू-राजस्व, सैन्य, न्याय-विधि प्रशासन इत्यादि। परन्तु जब हम प्रशासन के इन तथा इनसे इतर आयामों में गहराई से उतरते हैं और अपनी सूक्ष्म शोध दृष्टि को आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के क्रम में राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1600-1948 ई.) विषयक समुपलब्ध विपुल अभिलेखागारीय मूल स्रोत-सामग्री पर केन्द्रित करते हैं तो विशिष्ट अर्थों में एक-एक आयाम का फलक अति विशद, व्यापक एवं बहुआयामी होता चला जाता है और प्रशासन के एक-एक आयाम से जुड़े इतने अधिक पक्ष हमारे सामने मुखरित होकर सामने आते हुए दृष्टिगत होते हैं कि उन में से प्रत्येक पर शोध की नई सम्भावनाओं के मार्ग प्रशस्त होते दिखाई देने लगते हैं।

यदि हम शुरूआत 'राजपद' की बात से ही करें तो शोध की दृष्टि से कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। उसका स्वरूप पैतृक/आनुवांशिक/वंशानुगत था या किसी अन्य प्रकार का? शासक की स्थिति निरंकुश, स्वेच्छाचारी, सम्प्रभु, सर्वाधिकार सम्पन्न, दैवि अधिकारयुक्त थी या इतर? क्या वे राज्य को अपनी कुलदेवी (जैसे बीकानेर में करणी जी) तथा कुल देवता (जैसे बीकानेर में लक्ष्मीनारायण जी व मेवाड़ में एकलिंग जी) की कृपा का फल मानते थे और उनके प्रतिनिधि की हैसियत से या 'दीवान' के नाम से शासन करते थे और राजसनदी कागजातों में 'श्री जी दीवान वचनात' आदि शब्दों को लिखा जाना इस अनुभूति की स्वीकारोक्ति था? स्थानीय भूमियों की क्या स्थिति थी? उन्हें पदाक्रान्त कर राजपद की स्थापना की क्या प्रक्रिया रही? 'भाई बंट' यथा अपने कुलीय भाई-बांधवों की सेवाओं का सम्मान और शासन में उनकी भागीदारी तथा तत्सम्बन्धी विविध जटिलताएं, उनकी क्रियान्विति और उनसे 'राजपद' की गरिमा व स्वरूप पर पड़ने वाले प्रभाव एवं तत्सम्बन्धी प्रतिक्रियाएं क्या थीं? मुगल आधिपत्य और

तदनन्तर ब्रिटिश आधिपत्य स्वीकार कर लिए जाने के उपरान्त राजपद के स्वरूप में कैसे व क्या परिवर्तन आए ? मुगलों तथा तत्पश्चात् ब्रिटिशर्स से हुई राजस्थान के राजे रजवाड़ों की अधीनता संधियों ने यहाँ के नरेशों के राजपद के स्वरूप को कितना तथा किस रूप में प्रभावित किया ? राजपद से जुड़ी विविध उपाधियां, उपमाएं, खिताब व सम्मान जैसे राव, राजा, महाराजा, महाराणा, महारावल, राजराजेश्वर, महाराजधिराज तथा शाही फरमानों आदि में प्रयुक्त सम्बोधनों जैसे 'अमीरों के अमीर', 'साम्राज्य के आधार स्तम्भ', 'साम्राज्य के विश्वासपात्र', "समस्त शाही सम्मानों के योग्य" आदि-आदि का आशय तथा औचित्य क्या था तथा सम्बन्धित नरेश के राजपद की गरिमा एवं श्रीवृद्धि में इनका क्या योगदान था ? उत्तराधिकार एवं तत्सम्बन्धी समस्याएँ व जटिलताएं, वतन जागीर, सीमावर्ती जागीरें, साधारण जागीरें तथा उनसे जुड़ी विविध जटिलताएं व समस्याएँ, शासनाधिकार एवं क्षेत्राधिकार, शासक के सामान्य कार्य व शक्तियां, राजा के क्षेत्राधिकार में जनानी ड्यौढ़ी और युवराज का स्थान आदि ऐसे अनेकानेक विषय हैं जो 'राजपद' से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से अभिन्न रूप से जुड़े हैं और अपने आप में 17वीं से लेकर 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध कालीन राजस्थान के विशेष संदर्भ में आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की दृष्टि से शोध की व्यापक सम्भावनाएं संजोए हुए हैं।

प्रशासन तथा प्रशासनिक-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पक्ष सामन्त वर्ग तथा पट्टा प्रणाली आदि को ही लें तो सामन्त एवं उमराव वर्ग की संरचना, स्तरीकरण, पट्टों व पट्टायतों के प्रकार, पट्टे के गाँव और उनकी प्रशासनिक व्यवस्था आदि न जाने कितने पक्ष ऐसे हैं जिनमें अनंत शोध सम्भावनाएं अंतर्निहित हैं। केन्द्रीय प्रशासन पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करें तो मंत्री परिषद, मुत्सद्दी वर्ग, उनके क्षेत्राधिकार, कर्त्तव्य तथा दायित्व, प्रधान, दीवान, बख्शी, कोषतपति, शिकदार, वकील, पुरोहित आदि पद जो अपने आप में स्वतंत्र प्रशासनिक संस्थाएं थीं और मुत्सद्दी वर्ग जिसमें खुवास, ड्यौढ़ीदार, साहणी, फौजदार, मंडी रा हुवलदार, लेखणिया आदि अपने आप में प्रशासनिक व्यवस्था के छोटे-बड़े स्तम्भ थे, जिनसे सम्बन्धित विविध प्रकारिय शोध अपना एक स्वतंत्र महत्त्व प्रतिस्थापित करते हैं। स्थानीय प्रशासन, स्थूल दृष्टि से अवलोकन करने पर एक छोटा आयाम दिखाई देता है किन्तु जब हम इस पर अपनी शोध दृष्टि दौड़ाते हैं जो चीरा व्यवस्था, परगना, मण्डी, थाणा, हुवाला सौंपा प्रणाली, मुकाता प्रणाली, नगर प्रशासन, ग्राम प्रशासन, पंचायत व्यवस्था, गाँव, जाति तथा व्यावसायिक पंचायत तथा पंचायत-राज्य सम्बन्ध आदि अनेकानेक विषय उभर कर सामने आने लगते हैं जिनसे जुड़े न जाने कितने जाने-अनजाने विषय आज भी शोध की बाट जोह रहे हैं।

मात्र वित्तीय प्रशासन ही अपने आप में एक विशद् तथा बहुआयामी विषय है जिसे आय, व्यय तथा वित्तीय प्रबन्ध, तीन शीर्षकों में ही विभक्त कर देखने का प्रयास किए जाए तो आय के साधनों में हासल, भाछ, पेशकसी, जगात, नजराना, कसूर आदि

विविध कर तथा लागें और व्यय मद में राजलोक, पुनर्थ, कमठाणा, कारखाने लेखे, महीनदार, रोजिनदार पेटे खर्च आदि पक्ष तथा वित्तीय प्रबन्ध में कराधान एवं प्रबन्धन विषयक न जाने कितने पक्ष उपलब्ध अभिलेखागारीय स्रोत-सामग्री से अटे पड़े हैं और शोध जगत से समुचित शोध की अपेक्षा रखते हैं। भूराजस्व प्रशासन को ही लें तो भू वर्गीकरण, भूस्वत्व, ग्रामीण समाज, मुख्य फसलें, हासल निर्धारण पद्धतियां (पसाइती, मुकाती, बोलिया, हाली, कूता आदि), हासल उगाही व्यवस्था, हुवाला व्यवस्था, मुकाता व्यवस्था, अधिकारी वर्ग तथा भोगता आदि से जुड़े असंख्य विषय तथा प्रश्न अपने आप में शोध की अपार सम्भावनाएं संजोए हुए हैं।

जहाँ तक सैन्य-प्रशासन का सम्बन्ध है, इसकी संरचना, स्वरूप, संगठन, स्तरीकरण, पैदल, घुड़सवार, हस्ती, ऊँट एवं विविध सैन्य दस्ते, पदनाम, वेतन, प्रशासनिक ढांचा और तत्सम्बन्धी प्रबंधन आदि विषयों पर प्रकाश डालने वाली अभिलेखागारीय मूल स्रोत सामग्री की कोई कमी नहीं है, यदि कमी है तो उन पर शोधकार्य करने की। पुलिस तथा न्याय-विधि प्रशासन; अपराध एवं दण्ड से जुड़े आयामों और पक्षों की तो एक अनवरत शृंखला है, जिस पर प्रामाणिक शोध एवं अनुसंधान आज के इतिहास जगत की एक महती आवश्यकता है। यहाँ यह कहना रंचमात्र भी अतिशयोक्ति या अतिरंजना नहीं होगा कि 'प्रशासन' और 'प्रशासनिक व्यवस्था' शब्दों का फलक बहुत ही विशद, व्यापक, विहंगम और गहन है तथा इससे जुड़ा हर पक्ष व आयाम अपने आप में शोध की अपार सम्भावनाएं संजोए हुए हैं और राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास को एक नई दिशा दे पाने में पूर्णतया समर्थ है।

राजस्थान में 'प्रशासन' और यहाँ की 'प्रशासनिक व्यवस्था' विषयक अध्ययनों तथा तत्सम्बन्धी भावी शोध सम्भावनाओं तक पहुँचने के लिए हमें ऐतद्विषयक अध्ययनों की पृष्ठभूमि में भी जाना होगा और उसे आद्योपान्त खंगालना होगा। इस दृष्टि से विहंगावलोकन करने पर हमें मध्यकालीन भारत में प्रशासन से जुड़े विविध प्रारम्भिक शोध को उद्धृत करना होगा जिन्होंने इस प्रकार के अध्ययनों के लिए एक मार्ग प्रशस्तक प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया। इस शृंखला में सर जे.एन. सरकार (मुगल एडमिनिस्ट्रेशन), इब्ने हसन (दी सेंट्रल स्ट्रक्चर ऑफ दि मुगल एम्पायर), आर.पी.त्रिपाठी (सम आस्पैक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन), मोरलेण्ड (दि एग्जिस्टिंग सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया), आई.एच. कुरैशी (दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दिल्ली सल्तनत तथा दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल्स), डब्ल्यू. इरविन (मिलिट्री एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि मुगल्स) जैसे इतिहासकारों और उनकी कृतियों को उल्लिखित किया जा सकता है। इन कृतियों का प्रणयन करते समय फारसी स्रोतों तथा अभिलेखागारीय स्रोत-सामग्री का प्राथमिक स्रोतों तथा आधार सामग्री के रूप में खुल कर प्रयोग किया गया। परन्तु, शीघ्र ही मध्यकालीन भारतीय इतिहास के प्रशासन तथा प्रशासनिक इतिहास लेखन क्रम में ऐसे इतिहासकारों

की वे कृतियां मुखरित होकर सामने आई जिन्होंने फारसी इतिहास स्रोतों के साथ ही साथ राजस्थानी देशज स्रोतों/अभिलेखागारीय स्रोत सामग्री को भी न केवल अपनी मूल स्रोत सामग्री के रूप में खुल कर इस्तेमाल ही किया वरन् ऐतद्विषयक लेखन में उनकी उपादेयता और महत्ता को भलीभांति स्वीकारा और स्थापित भी किया। इतिहासकारों की इस शृंखला में प्रो. सतीश चन्द्र, प्रो. इरफान हबीब, प्रो. नूरुल हसन, प्रो. अतर अली तथा प्रो. नोमान अहमद सिद्दिकी आदि के नामों को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है।

तत्पश्चात् तो क्षेत्रीय इतिहास स्रोतों तथा अभिलेखागारीय राजस्थानी/ देशज पुरालेखीय स्रोतों को आधार बना कर प्रशासन तथा प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़े विविध आयामों पर शोध कार्यो तथा लेखन का एक अनवरत सिलसिला शुरू हो गया जिसमें राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था पर केन्द्रित अनेक शोध पूर्ण लेखन हमारे सामने आए। राजस्थान स्टेट आर्काईव्स की पहल पर राजस्थान थ्रू दि एजेज, वोल्यूम-1 में प्रो. दशरथ शर्मा ने तथा वोल्यूम-८ में प्रो. जी.एन.शर्मा ने तत्सम्बन्धी लेखन की जो आधारशिला रखी उसे वोल्यूम-८ में प्रो. एम.एम.जैन ने एक सशक्त मजबूती प्रदान की। प्रो. आर.पी. व्यास, प्रो. के.एस. गुप्ता, प्रो. वी.के. वशिष्ठ, प्रो. दिलबाग सिंह, प्रो. एस.पी. गुप्ता, प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा, प्रो. रविन्द्र कुमार, प्रो. पेमराम, प्रो. जी.डी. शर्मा, प्रो. बी.एल. भादाणी, डॉ. जी.सी.शर्मा, डॉ. गिरजाशंकर, प्रो. इनायत अली जैदी, प्रो. सुनीता जैदी, डॉ. शशि अरोड़ा, प्रो. बी.के.शर्मा, प्रो. बी.एल.गुप्ता, प्रो. शिव कुमार भनोत, प्रो. एस.पी. व्यास, प्रो. विनीता परिहार, प्रो. कांतिलाल आदि इतिहासकारों ने अपने शोधपूर्ण लेखन और अनुसंधान कर्म में इस अभिलेखागारीय स्रोत सामग्री के मूल स्रोतों का खुल कर प्रयोग किया और सर्वथा नूतन एवं मौलिक तथ्यों के प्रकाश में इतिहास सम्बन्धी तत्सम्बन्धी आयामों को विवेचित और विश्लेषित कर राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास को यथोचित समृद्धि प्रदान की तथा शोध के कतिपय नए आयाम प्रशस्त किए।

नई पीढ़ी के शोधार्थियों में स्व. डॉ. मंजु जैन, डॉ. चन्द्रशेखर, डॉ. महेन्द्र खड्गावत, डॉ. प्रताप सिंह पूनिया, डॉ. इति बहादुर, डॉ. प्रेरणा, डॉ. राजेन्द्र, डॉ. विकास नौटियाल जैसे अनेकानेक नामों को उद्धृत किया जा सकता है जिन्होंने राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास के प्रणयन में अभिलेखागारीय स्रोत सामग्री का मुक्तहस्त प्रयोग कर कतिपय नए मानक स्थापित किए तथा इस शोध यात्रा को गति तथा अनवरतता प्रदान की। इन स्रोतों तथा स्रोत-सामग्री के आधार पर राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास प्रणयन से प्रशासनिक इतिहास से जुड़े ऐसे ऐतिहासिक तथ्य उद्घाटित हुए और गुत्थियां सुलझती हुई दृष्टिगत हुई जिन्हें सुलझा पाने में समसामयिक फारसी या दरबारी इतिहास स्रोत सर्वथा असमर्थ रहे थे। इन देशज इतिहास स्रोतों के धरातल के यथार्थ और वास्तविकता से ओतप्रोत होने के कारण यह स्रोत प्रशासनिक इतिहास के रिक्त स्थानों को परिपूर्ण कर पाने

में तथा स्थापित मान्यताओं और विचारों को नए ढंग और परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित व विवेचित कर सर्वथा नूतन दृष्टिकोण और अवधारणा स्थापना में सक्षम व समर्थ सिद्ध हुए। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी यह स्रोत-सामग्री बड़ी ही उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुई तो शोध जगत का रुझान इनके प्रति निरन्तर बढ़ना प्रारम्भ हुआ और शनैः शनैः यह अवधारणा दृढ़ से दृढ़तर होती दृष्टिगत हुई कि इस अभिलेखागारीय स्रोत-सामग्री को उपयोग के बिना लिखा गया राजस्थान का प्रशासनिक इतिहास एकांगी, एकपक्षीय तथा अधूरा है।

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की दृष्टि से जहाँ तक राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संग्रहीत तथा संरक्षित सन् 1600 से 1948 ई. तक की राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था विषयक अध्ययनों तथा अनुसंधान के लिए उपयोगी अभिलेखागारीय स्रोत-सामग्री का प्रश्न है, इसका फलक भी बहुत व्यापक, विशद तथा बहुआयामी है। राजस्थान की 22 पूर्व रियासतों¹ से जुड़ी इस स्रोत-सामग्री में राजस्थान की समसामयिक प्रशासनिक व्यवस्था को उजागर करने वाली बेशकीमती तथ्यात्मक सामग्री का अकूत भण्डार समाहित है जिसके दोहन की दिशा में अभी रंच मात्र ही प्रयास सम्भव हो पाया है। उदाहरण हेतु कुछ चुनिंदा रियासतों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करें तो समसामयिक बीकानेर, मारवाड़, जयपुर, कोटा रिकॉर्ड्स पर नजर दौड़ाने की कोशिश मात्र से हमारी आंखें अचरज से खुली की खुली रह जाती हैं। बीकानेर रिकार्ड की चीरा बहियां; जगात बहियां; जमा खर्च की बहियां; धान के कोठार की बहियां; धुआं बहियां; लेखा बहियां; हासल बहियां; भोग बहियां; खालसा बहियां; विविध बहियां; विविध बस्ते; कागदों की बहियां; सावा बहियां; परवाना बहियां; मोहता रिकार्ड के दस्तावेज; भैया संग्रह के कागजात; जूडिशियल तथा रेवेन्यू रिकार्ड सम्बन्धी बस्ते; तहसीलवार बस्ते; निजामतवार बस्ते; दीवानी रिकार्ड; फौजदारी रिकार्ड² तथा सन् 1949 ई. तक का दरबार पीरियड का रिकार्ड जो पृथक्-पृथक् विभागवार व्यवस्थित रखा गया है जैसे कि, पॉलिटिकल; मिलिट्री आर्मी डिपार्टमेंट; होम; लीगल; फाइनेंस; हजूर; पब्लिक वर्क्स; रेवेन्यू; कौंसिल ऑफिस; प्राइम मिनिस्टर्स ऑफिस(लेजिस्लेटिव; राजा ऑफ साण्डवाज ऑफिस; फॉरेन एण्ड पोलिटिकल; आबू वकालत; रूरल कन्स्ट्रक्शन; कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज; कोलोनाईजेशन; मेडीकल; एज्यूकेशन; हैल्थ; चीफ एण्ड नोबल्स; कॉन्स्टीट्यूशन; स्टोर पर्चेज; चैम्बर ऑफ प्रिंसेज; जनरल ब्रांच; खरीता फाइल्स; वार ब्रांच आदि³ तथा विविध समयावधि की एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स इत्यादि वे चुनिंदा शीर्षक हैं, जिनमें से प्रत्येक शीर्षक के अंतर्गत सैंकड़ों की तादाद में बहियां/पत्रावलियां तथा दस्तावेज शामिल हैं।

इस दृष्टि से 'मारवाड़ रिकार्ड' का अवलोकन मात्र ही हमें अचम्भित कर देता है। हकीकत बहियां(खास रुक्का परवाना बहियां; ओहदा बहियां; फाइल्स जमा-खर्च;

हथ बहियां; पट्टा बहियां; सन् 1889 से 1949 ई. तक की एडमिनिस्ट्रेटिव फाइल्स; सन् 1928 से 1947 तक की एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स; महकमा खास से जुड़ी विविध विभागों की पत्रावलियां, जैसे-एकाउन्ट्स, एजेन्सी, एग्रीकल्चर, एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स एण्ड पिटीशन्स, आर्मी, बाउण्ड्री डिस्प्यूट्स, सेरीमोनियल्स, कमर्शियल एण्ड इण्डस्ट्रियल, सिविल साइड, डिफरेंट कमेटीज, क्रिमीनल ट्राइब्स, कस्टम्स एण्ड एक्साइज, एज्यूकेशन, फेयर्स, जागीरदार्स, जुडीशियल, मेडीकल, मर्चेन्ट्स एण्ड फारेस्ट्स, ओपियम, पीरियोडीकल्स, पोस्ट ऑफिस, पब्लिकेशन्स, पी.डब्ल्यू.डी., रेल्वेज, फेडरेशन, चीफ एक्जीक्यूटिव, चैम्बर ऑफ प्रिंसेज, रेवेन्यू मिनिस्टर्स ऑफिस, वार, मंदिरात इत्यादि शीर्षकों के अंतर्गत संयोजित अपरिमित रिकार्ड⁴ ऐसा है जिसे राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास के लेखन तथा पुनर्लेखन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों से परिपूर्ण खजाने के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

‘जयपुर रिकॉर्ड्स’ की विविध श्रृंखलाओं को यदि हम इस दृष्टि से स्पर्श मात्र ही करें तो हमारे आश्चर्य का कोई ठिकाना ही नहीं रह जाता है। अड़सठे; आम्बेर रिकॉर्ड्स; बारात बण्डल्स; छापाखाना; चिट्ठी करार; चेहरा बण्डल्स; दतर सनद नवीस; दतर खरीता एण्ड परवाना बण्डल्स; दस्तूर कौमवार बण्डल्स; दस्तूर अमल; जमा खर्च पोतेदार; जमाबंधी बण्डल्स; जमा खर्च तोपखाना; खतूत अहलकरान; खतूत महाराजान; किरकिरखाना; नकल परवाना बण्डल्स; सियाह हजूरी बण्डल्स; सियाह हकीकत बण्डल्स; सियाह दतर बख्शी; अखबारात दरबार पीरियड की सन् 1836 से 1949 तक की विविध विभागों से सम्बन्धित पत्रावलियों के बस्ते इत्यादि⁵ और उनमें समाहित राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास के विविध आयामों से जुड़ी तथ्यात्मक सूचनाएं व जानकारियां ऐतद्विषयक इतिहास लेखन की अति समृद्ध कच्ची सामग्री प्रमाणित हो सकती है, जिनमें न तो अतिशयोक्ति है और ही अतिरंजना।

इसी दृष्टि से यदि राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास विषयक यहाँ संग्रहीत एवं संरक्षित “कोटा रिकॉर्ड्स” पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करें तो दोआर्की रिकार्ड; तालिक रिकार्ड; तोजी तकसीम बण्डल्स; भण्डार नं. 1 से 9, 15, 21, 23 का रिकार्ड; भण्डार तालिका का(सन् 1829 से 1948 ई. तक की महकमा खास की विविध पत्रावलियां तथा विभिन्न सीगों की फाइल्स के रूप में⁶ हमें यहाँ बेशुमार अभिलेखागारीय स्रोत-सामग्री का जखीरा देखने को मिलता है, जिसके अधिकांश भाग को तो अभी तक शोध की दृष्टि से स्पर्श तक नहीं किया गया है।

निःसंदेह, इस अभिलेखागारीय स्रोत सामग्री में राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास से सम्बन्धित अति समृद्ध तथ्यात्मक जानकारियों एवं सूचनाओं का अति समृद्ध भण्डार समुपलब्ध है, जिनके उपयोग से राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास के लेखन तथा पुनर्लेखन की दिशा में मार्ग प्रशस्तक तथा मौलिक शोध कार्य किए जाने की अपार

सम्भावनाएं छिपी हुई हैं। परन्तु, हमें यह भी स्वीकार करने में रंच मात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए कि इस रिकार्ड की उपादेयता एवं महत्ता के समानान्तर ही इससे सम्बन्धित कतिपय सीमाएं व परिसीमाएं भी हैं जिन्हें किसी भी शोधार्थी को अनदेखा नहीं करना चाहिए। इस रिकार्ड में समाहित सूचनाओं एवं तथ्यों से बहुधा सरकारी पक्ष ही उभर कर सामने आता है। कतिपय अन्य पक्ष जो शोध करते समय इतर दृष्टि से समुचित विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं, उनके प्रति इस रिकार्ड में उपेक्षा का रुख अपनाया गया है और सम्भवतः इस तरह का रिकार्ड सृजित किए जाने के पीछे प्रशासन की ऐसी दृष्टि और जरूरत भी नहीं रही हो। जहाँ तक इस रिकार्ड की बहियात-शृंखलाओं का प्रश्न है, यहाँ यह बात बड़ी ही साफगोई से स्वीकार करनी होगी कि इन बहियात में से अधिसंख्य बहियां अधिकतर 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही शुरू होती है। इन बहियों तथा रिकार्ड में प्रयुक्त देशज भाषा, शब्दावली को पढ़ना व समझना भी कोई सहज कार्य नहीं है और शोधार्थी से समुचित परिश्रम, धैर्य एवं गाम्भीर्य की अपेक्षा रखता है। तथापि आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की दृष्टि से राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास से सम्बन्धित इस मूल अभिलेखागारीय स्रोत सामग्री का राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास के लेखन, पुनर्लेखन, पुनर्विवेचन तथा संशोधन, परिमार्जन की दृष्टि से एक असमानांतर और विशिष्ट महत्त्व है। आवश्यकता है तो इस बात की कि राजस्थान के प्रशासनिक इतिहास के विविध आयामों पर शोध करने वाले शोधार्थी तथा इतिहासकार इस बहुमूल्य स्रोत सामग्री का अपने अनुसंधान में भरपूर प्रयोग करें ताकि समसामयिक राजस्थान का सच्चा और प्रामाणिक प्रशासनिक इतिहास शोध जगत और सामान्य जनमानस के समक्ष आ सके जो कि आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन क्रम का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है।

संदर्भ

1. सन् 1949 तक राजस्थान को 'राजपूताना' नाम से जाना जाता था जिसमें ब्रिटिश शासित अजमेर-मेरवाड़ा के अतिरिक्त निम्नांकित 19 रियासतें तथा तीन बड़े ठिकाने थे - अलवर, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, जैसलमेर, कोटा, बूंदी, झालावाड़, सिरोही, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, डूंगरपुर, भरतपुर, धौलपुर, किशनगढ़, करौली, शाहपुरा, टोंक तथा प्रमुख ठिकाने - कुशलगढ़, लावा एवं नीमराना।
2. द्रष्टव्य : गाइड टू द रिकॉर्ड्स इन द राजस्थान स्टेट आर्काइव्स, पृ. 46-48, बीकानेर, 1991
3. वही, बीकानेर स्टेट रिकॉर्ड, पृ. 48-49
4. द्रष्टव्य - वही, जोधपुर स्टेट रिकॉर्ड, पृ. 86-89
5. वही, जयपुर स्टेट रिकॉर्ड, पृ. 64-71
6. वही, कोटा स्टेट रिकॉर्ड, पृ. 100-104

रियासतकालीन मारवाड़ के सांस्कृतिक इतिहास में बांकीदास री ख्यात-साहित्य का योगदान

डॉ. सुरेश कुमार

बांकीदास का जन्म चारण जाति की आसिया शाखा¹ में 1781 ई. में भाँडियावास गांव² में हुआ। इनके पिता का नाम फतेहसिंह आसिया था। भाँडियावास बांकीदास के वंशज माला आसिया को सिवाना के राठौड़ शासक देवीदास ने जागीर के रूप में दिया था। आसिया चारण सर्वप्रथम नाग-वंशी क्षत्रियों के पोलपात³ थे। पूर्वकाल में मारवाड़ पर नाग-वंशी क्षत्रियों का राज्य था। इसका प्रमाण नागाद्री पर्वत है।⁴ नाग-वंशियों के पश्चात मंडोवर पर पडिहारों (प्रतिहारों) ने अपना राज्य स्थापित किया। पडिहारों के प्राप्त शिलालेखों में वर्णित है कि पडिहारों के मूल पुरुषों में से रज्जिल ने मंडोवर को अपने बाहुबल से प्राप्त किया।⁵ पडिहारों ने भी अपने पोलपात आसिया चारणों को रखा। लेकिन ये लम्बे समय तक इनके पोलपात नहीं रह सके। इसकी पुष्टि एक प्राचीन दोहे से होती है।⁶ विक्रम संवत् 14 वीं शताब्दी में मारवाड़ के पश्चिमी प्रदेश में राठौड़ शक्ति का उदय हुआ। राठौड़ों ने आसिया चारणों को अपना पोलपात बनाया। जो कि लम्बे समय तक राठौड़ों के पोलपात बने रहे।⁷

बांकीदास ने बाल्यवस्था में अपने पिता के पास मरू भाषा (डिंगल) के गीत, कवित्र और दोहे आदि सीखकर अवतार चरित्र नाम ग्रन्थ पढ़ा था। अपने पिता से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर मारवाड़ में रायपुर ठाकुर राठौड़ अर्जुनसिंह जी उदावत के पास गये। ठाकुर साहब ने उनको अपना एक सेवक देकर उनको आगे जोधपुर पढ़ने के लिए भेज दिया। आयस जी⁸ देवनाथ जी जो कि महाराजा मानसिंह के गुरु थे उनके मुख से बांकीदास की प्रशंसा सुन मानसिंह उन्हें अपने दरबार में बुलाया बांकीदास की अद्भुत कवित्य शक्ति देखकर महाराजा मानसिंह अत्यधिक प्रभावित हुए अब बांकीदास मानसिंह के विशेष कृपापात्र बन गये। 1803 ई. में बांकीदास जी महाराज मानसिंह के सम्पर्क में आये।

बांकीदास डिंगल (मरूभाषा), ब्रजभाषा और संस्कृत भाषा के पूर्ण विद्वान थे। इतिहास के विषय में इनकी पूर्ण रूची थी।⁹ “बांकीदास री ख्यात” राजस्थानी गद्य में लिखी गई है। ख्यात में लगभग 2732 छोटी-बड़ी बातों का संग्रह है। बांकीदास ने इन बातों को क्रमबद्ध रूप से नहीं लिखा है। ख्यात की अधिकांश बातें राजपूतों के इतिहास से सम्बन्धित हैं। लेकिन इसका सांस्कृतिक इतिहास लेखन में महत्ती उपयोगिता है।

बांकीदास मारवाड़ जैसे बड़े राज्य के राज-कवि थे। इतिहास प्रेमी लोग उनके पास आते रहते थे। उनसे चर्चा के दौरान जो बातें कविराज को उपयोगी लगी, वे नोट कर ली गईं और वह एक संग्रह बन गया। यह संग्रह शोधकर्ताओं के लिए बड़ा उपयोगी है। यह तत्कालीन सांस्कृतिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।¹⁰ राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने ख्यात के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा कि “पुस्तक बड़े महत्व की है” ग्रन्थ क्या है इतिहास का खजाना है..... उसमें मुसलमानों एवं जैनों आदि के सम्बन्ध की भी बहुत सी बातें लिखी गई हैं।”¹¹ डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने ख्यात के सन्दर्भ में लिखा कि “लेखक का घटनाओं के समकालीन होने के कारण, इसकी बातों पर अधिक विश्वास किया जा सकता है।”¹²

ख्यात में वर्णित प्रमुख जातियों में ब्राह्मण, राजपूत, ओसवाल वैश्य है। जोगियों, बैरागियों आदि साधुओं का भी वर्णन है। सांस्कृतिक दृष्टि से इनमें यहां के लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, वस्त्र, आभूषण, खान पान, आचार-विचार, आदि की जानकारी प्राप्त होती है। रियासत कालीन राजपूताने में कन्या वध एक सामाजिक बुराई के रूप में पनप रही थी। सभी वर्गों में कन्या-वध का प्रचलन बढ़ गया था। बांकीदास री ख्यात में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला। बांकीदास ने बताया है कि बीकानेर में नरेश रत्नसिंह ने वि. सं. 1885 में गया में अपने सामन्तों की एक सभा का आयोजन किया। जिसमें नरेश रत्नसिंह ने अपने सभी सामन्तों को यह शपथ दिलाई कि वे अपनी कन्या-शिशुओं का वध नहीं करेंगे।¹³

रियासतकालीन में मनोरंजन के लिए राजा-महाराजाओं एवं सामन्तों द्वारा शिकार करने का प्रचलन था। इनके अपने शिकारगाह थे। बांकीदास ने अपने एक गीत के माध्यम द्वारा अकारण जीव हत्या की निन्दा करते हुए उसे एक सामाजिक बुराई के रूप में प्रकट किया है।¹⁴ बांकीदास की ख्यात में ब्राह्मण जाति का उल्लेख किया गया है। विद्वान ब्राह्मणों का राजा-महाराजा बहुत सम्मान करते थे। उन्हें राजदरबार में उचित स्थान मिलता था। रियासत कालीन मारवाड़ में ब्राह्मणों का मुख्य कार्य धार्मिक कथावाचन पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठान, टेवे, जन्मपत्री बनाना आदि था ब्राह्मण वर्ण में श्रीमाली, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, पालीवाल, पारीक व्यास पोखरणा आदि जातियों का उल्लेख किया गया है। अलग-अलग जातियों के कार्य धार्मिक रूप से अलग अलग थे। प्राणनाग नामक पारीक ब्राह्मणों द्वारा बीकानेर दरबार में कथावाचन का वर्णन बांकीदास री ख्यात में आता है-

“गंगाराम रो बेटो पारीक हरदेव ज्यारा वंश में प्राणनाथ बीकानेर दरबार में कथा करे हमै।”¹⁵

श्रीमाली ब्राह्मणों में प्रचलित एक वैवाहिक रिवाज का उल्लेख करते हुए

बांकीदास लिखता है कि- विवाह के प्रथम दिन दुल्हा व दुल्हन चार फेरे लेते हैं। दूसरे दिन दुल्हा व दुल्हन लड्डू के सात कव्वे एक-दूसरे को देते हैं फिर दुल्हा दुल्हन को अपने हाथों पर उठाकर चार फेरे लेता है तथा भारी मंत्रोचारणों के साथ विवाह सम्पन्न होता है। इस उल्लेख से श्रीमाली ब्राह्मणों में प्रचलित एक सांस्कृतिक विवाह-पद्धति का पता चलता है।¹⁶

बांकीदास री ख्यात में जैन धर्म जैन साधुओं तथा जैनों के अन्तर्गत ओसवाल समाज का विस्तारपूर्वक वर्णन दिया गया है। यह एक सम्पन्न वर्ग था, जिनका प्रमुख कार्य व्यापार था ख्यात में दो शाखाओं का वर्णन- (1) तपोगच्छ (2) खतरगच्छ का उल्लेख मिलता है। तपोगच्छ शाखा के लोग धनी तथा खतरगच्छ के लोग विद्वान होते थे। बांकीदास ने बीकानेर शहर में खतरगच्छ श्रावकों के 700 घरों का उल्लेख किया है।¹⁷ ख्यात के अध्ययन से स्पष्ट है कि तत्कालीन मारवाड़ रियासत में जैन धर्म का एक लोकप्रिय धर्म था। इसका प्रचार एवं प्रसार व्यापक था। ओसवाल वर्ग के धनी सम्पन्न लोग दान-पुण्य धार्मिक आयोजन, जैन मंदिरों के लिए गुप्तदान, सांस्कृतिक उत्सवों में धन का सहयोग करते थे। बांकीदास ने कुछ प्रमुख दानदाताओं का उल्लेख ख्यात में किया है इनमें सौम-सुराणा, रणधीर कोठारी-मेड़ता, जयमल मुहणोत, जालोर, आसकरण कोठारी-मेड़ता, भंशाली-जैसलमेर, करमचन्द-बीकानेर¹⁸ प्रमुख है।

रियासतकालीन में जैनों में दिक्षा एवं समाधि के माध्यम से मोक्ष का प्रावधान था। “ख्यात” में बताया गया है कि संतीदास सुराणा नामक ओसवाल वैश्य की पुत्री, जिसकी सगाई दूंगड परिवार में की गई थी, विवाह से पूर्व ही बीकानेर के मोरखाना में जमीन में प्रवेश कर गई, जहां एक बड़ा देवल बना हुआ है। जिसकी पूजा बांकीदास के समय तक सुराणा और दुगड दोनों करते थे।¹⁹

रियासतकाल में सभी धर्मों का सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। व्यक्ति स्वयं के धर्म के साथ-साथ दूसरे धर्मों को भी उचित सम्मान करता था। इसका प्रमाण बांकीदास की ख्यात में वर्णित एक जैन वणिक भडसाली द्वारा करणी माता के दर्शन करना है। हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य धर्म के लोग भी करणी माता में श्रद्धा रखते थे।²⁰ यह घटना रियासतकालीन मारवाड़ में धार्मिक सहिष्णुता का आभास करती है।

रियासतकालीन मारवाड़ के समाज में नाथपंथी साधुओं का काफी प्रभाव था। ये साधु जादू-टोने, भूत भगाने, विभिन्न बीमारियों को ठीक करने, लोगों की विभिन्न समस्याओं को सही करने का दावा करते थे। अतः बांकीदास की ख्यात में वर्णित बातों से पता चलता है कि रियासतकालीन मारवाड़ में अंधविश्वास को बोल-बाला था। बांकीदास की ख्यात के अनुसार नदीनाथ नामक योगी के 1.25 लाख शिष्य थे। आयस जी नामक जोगी ने वि.स. 1884 में 25 हाथियों का दान दिया। लोग घर में मांगलिक

कार्य करने से पूर्व इन साधु सन्यासियों एवं वैरागियों से आशीर्वाद लेते थे, उसके पश्चात ही मांगलिक कार्य सम्पन्न होता था। अतः रियासतकालीन सांस्कृतिक जीवन में इनका बड़ा महत्व माना जाता था।²¹

बांकीदास री ख्यात में इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों मुसलमानों के दैनिक व्यवहार के विषय में जैसे- रोजा रखना, कुरान पढ़ना, नमाज पढ़ना, खुदा को प्रतिदिन याद करना का वर्णन है।²² मुस्लिम सांस्कृतिक रिवाज वर्णन करते हुए बांकीदास ने लिखा कि मुस्लिम स्त्री विधवा होने के बाद चाहे तो चार महिने दस दिन बाद पुनः विवाह कर सकती है तथा यह भी लिखा है कि मुसलमानों में चित्र बनाना और मूर्ति पूजा करने की मनाही है।

बांकीदास री ख्यात में उस समय के प्रमुख मुस्लिम तीर्थों का वर्णन जैसे- मक्का, मदीना आदि का वर्णन किया है, मुसलमानों के दो प्रमुख वर्गों- शिया एवं सुन्नी के बारे में बताया है- बांकीदास ने गुजरात में रहने वाले सभी तुर्क बोहरों को शिया सम्प्रदाय का होना बतलाया है।

बांकीदास अपनी ख्यात में ऐसे राजपूतों का वर्णन मिलता है जो कि किसी कारणवश हिन्दू धर्म को त्यागकर मुस्लिम धर्म को ग्रहण कर लिया। अर्थात् मुसलमान राजपूतों का उल्लेख है। जैसे- परमार, परिहार, खींची, तुंवर, सोलंकी, जोइया, मोहिल, चुहुवाण इत्यादि राजपूत मुसलमानों में है। जिससे रियासतकालीन मारवाड़ में सांस्कृतिक समन्वय की झलक दिखती है।

‘बांकीदास री ख्यात’ रियासतकालीन राजपूताने के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में उपयोग में ली जा सकती है। इतिहासकारों ने सांस्कृतिक इतिहास से सम्बन्धित बातों का उपयोग इतिहास लेखन में इस ख्यात से नहीं के बराबर किया है। अतः शोधार्थियों, इतिहासकारों के लिए सांस्कृतिक दृष्टि से यह एक उपयोगी स्रोत के रूप में उपयोग में लिया जा सकता है तथा रियासत कालीन राजपूताने के सांस्कृतिक इतिहास को ओर अधिक समृद्ध एवं तथ्यपरक बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. चारणों में आसा नामक एक पुरुष के कारण उसके वंशज आसियां कहलाये।
2. मारवाड़ के मालाणी क्षेत्र के पचपदरा परगने में स्थित।
3. पोलपान- द्वार रक्षा का उत्तरदायी/द्वार पर अग्र पुजा के पात्र।
4. मारवाड़ की पुरातन राजधानी मंडोवर का पहाड़ नागाद्री नाम से, मंडोरे का तालाब नागादरी- इतिहास जहूर खां मेहर- नामों के इतिहास पर कार्य।
5. पड़हारों के शिलालेख संवत् 894 तथा 918 में।

6. “धूमकंवर नै मारियों, चौपड़ पासा चोळ।
उण दिन छूटी-आसियां, पडिहारों रो पोळ।।”
7. जसोल का इतिहास पृ. 1
8. कनफटे योगियों का, जो पूज्य होते हैं, आयसजी कहकर पुकारते हैं। (नाथ सम्प्रदाय)
9. बांकीदास-ग्रंथावली-सम्पूर्ण टीका, श्री शुभकरण देवल, पृ. 51, 52।
10. राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला कम के अन्तर्गत प्रकाशित-‘बांकीदास री ख्यात’।
11. बांकीदास ग्रन्थावली भाग 3 में उद्धृत पुरोहित हरिनारायण जी के नाम ओझा जी के पत्र का अंश।
12. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, ए बिवलियोग्राफी ऑफ मेडिवल राजस्थान, पृ. 80
13. वही
14. त्यागै दया सिंकार ते बडै, करडा पाप जिंका रै केड।
जोखो करै वेद रा जीवां, बाका जिंका कसाई वेड।।
15. बांकीदास री ख्यात, पृ. 178/2158
16. बांकीदास री ख्यात, पृ. 177/2148
श्रीमालियों रे च्यार फैरा वीद वीदणी साथ परणै जिण दिन फिरे दूजे दिन कसाररा लाडूरा कवा सात वीद वीदणीरा मुख में दिये, इता ही कवा वीदणी वीदरा मुख में देवे। वीदणीनू कलायां माथा लेने च्यार फिरे।”
17. वही, पृ. 173/2085
“बीकानेर में सात सौ घर खरतरगच्छरा स्त्रा वकारां है”
18. वही, पृ. 174/2095
19. वही, पृ. 175/2113-14
20. बांकीदास री ख्यात पृ. 175/2113-14
“गांव भूजासरारों वाणियों जात भंडसाली करणीरे दरसण आयो।”
21. वही, पृ.सं. 172/2073
22. वही, पृ.सं. 183/2232 से 36, मुसलमानो री बोता
“कुरान में कहे है रोजा राखें, नमाज पढे, नित खुदारौ जिंकर करै सौ खुदा कहे, म्हारौ बंदो।”

सांस्कृतिक विरासत : मालानी की लोक चित्रकला

डॉ. सन्तोष कुमार गढ़वीर

मालानी क्षेत्र की लोक चित्रकला की एक विशिष्ट एवं गौरवशाली परम्परा रही है। सदैव अकाल से त्रस्त इस धरा के निवासियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कलाओं का सृजन कर अपनी सृजनशीलता का परिचय दिया है। मालानी क्षेत्र की लोक चित्रकला को सुविधानुसार निम्नांकित भागों में विभाजित कर सकते हैं।

आंगन पर मांडणे -

मालानी क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा रही है कि आंगन धोने के बाद या लीपने के बाद उसे खाली नहीं रहने दिया जाता था तथा खाली आंगन को अपशकुन माना जाता था। इसीलिए आंगन में या तो मांडणा मांडा जाता था या फिर मूंग, चावल, गेहूं में से किसी एक को उस पर फैला दिया जाता था।¹ इसे शुभ माना जाता था। इन मांडणों में स्त्रियों के धार्मिक विचार एवं भावनाओं का भी सम्मिलन होता था। होली, दीवाली जैसे त्यौहारों से पूर्व ही घर की औरतें और लड़कियां अपने घर को मिट्टी से लीपना-पोतना शुरू कर देती थी तथा खड़िया मिट्टी से भीत (दीवार) पर, चबूतरों पर, धान की कोठी, चूल्हा-चक्की आदि पर अनेक आकार चित्रित करती थी। आंगन के मांडणों को हमेशा केन्द्र से शुरू करके बाहर की ओर बढ़ाया जाता है।² इनकी अपनी बंधी हुई इकाइयां हैं जिनके आधार पर उन्हें कम ज्यादा कर बनाया जाता है। इन्हे झंवर, वेल, भरत और फुलडी कहते हैं।³

विवाह तथा घर में किसी नवागन्तुक के आगमन पर पगलिये, बैलगाड़ी, रथ तथा अन्य सजावट वाले मांडणे बनाने की परम्परा थी।⁴ विशेष उत्सव एवं पर्व पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मांडणे बनाये जाते थे। जैसे श्रावण मास के त्यौहार पर पांच फूल, सात फूल, चौपड, फुल या फुलड़ी, मकर संक्रान्ति पर फीणियां, होली पर चंग, खांडा, ढोलकी, गणगौर पर गौर का बेसणा, गुणा, रक्षाबन्धन पर श्रवण का मांडणा, शीतला सप्तमी पर शीतला माता का मांडणा तथा नवरात्रि पर्व पर माता और पथवारी का मांडणा बनाया जाता था। पथवारी को पथ का रक्षक मानते थे।⁵ तीर्थ यात्रा पर जाते समय पथवारी की पूजा की जाती थी। इसमें 5 फुट लम्बे एवं 3 फुट चौड़े चौरों के चारों ओर चित्र बनाये जाते थे। इसमें एक ओर काला-गोरा, भैरूजी तथा दूसरी ओर कावडिया वीर एवं गंगाधर तथा घर के दोनों ओर दो आंखें इन्हें सजीवता प्रदान करती थी।⁶

घर में बच्चे का जन्म होने पर पगल्ये बनाये जाते थे। बाईस विवाह के अवसर पर पांच एवं सात की छवडी, सात का बाजोट, पन्द्रह की चौकी, उन्नीसों का ओटिया, बाईस का नारेल, दीया, आंबा, बड़, केला, नीम्बू एवं मिरची के मांडणे बनाये जाते थे।⁷ इसी प्रकार आराध्य देव के पदार्पण की अभिलाषा में उनके पद चिन्हों को प्रतीक के रूप में घर के आंगन व पूजा के स्थान पर चित्रित किया जाता था।

साथिये

स्वस्तिक को स्थानीय बोली में 'साथिया' कहते हैं।⁸ साथियों का चित्रण रेखाओं के मिलाने से होता था। इसमें केवल सफेद रंग का प्रयोग किया जाता था।⁹ आंगन को गोबर से लीपने के पश्चात् उसे गेरू रंग से लीपा जाता था। आंगन सूखने पर सफेद खडिया के घोल से उस पर साथिया बनाया जाता था।¹⁰ मालानी क्षेत्र में कहावत प्रचलित है कि- 'बेटा भले ही कुंआरा रह जाय, मगर आंगन कुंआरा नहीं रहना चाहिये।'

अर्थात् बिना साथिये का आंगन कुंआरा माना जाता है।¹¹ बालक, बालिका के जन्म के सातवें दिन सूर्य दर्शन के समय सूरजी का साथिया,¹² दीपावली के त्यौहार पर चार कोठों की बीजगी का साथिया, होली के अवसर पर चंग का साथिया बनाने का प्रचलन था।¹³

भीत पर मांडणे

भीत पर मांडणे बनाने का भी खास प्रचलन था। इसमें मांगलिक अवसरों पर हाथी, घोड़ा, ऊंट, शेर, चंवर धारिणी, पनिहारिन तथा घर के अन्दर गणेश, रिद्धि-सिद्धि, लक्ष्मी, स्वस्तिक, कलश, सुआ, मोरडी, सवेरा, चौपड, फूलपत्ती का चित्रांकन किया जाता था।¹⁴

वस्त्र पर मांडणे

वस्त्रों को आकर्षक एवं सुन्दर बनाने के लिये उन पर छापों द्वारा सुन्दर मांडणे छापे जाते थे। दामणी पर हंसों के जोड़े का मांडणा बनाया जाता था।¹⁵ कढाई में सामान्य रेशमी व कलाबूत और गोटे के मांडणे, तथा बंधेज, चूंदडी, खोमचा, लहरिया पर विभिन्न आकृतियों के मांडणे बनाये जाते थे।¹⁶ मालानी क्षेत्र में यह कार्य खत्री तथा रंगरेज जाति के लोग करते थे।¹⁷ यह उनका पैतृक धन्धा था। मालानी क्षेत्र से इन वस्तुओं का सिन्ध एवं गुजरात को निर्यात किया जाता था।

शरीर के अंगों पर चित्रित मांडणे

शरीर को सुन्दरतम बनाने के लिए उस पर मांडणों का प्रयोग किया जाता था। स्त्रियां अस्थायी मांडणों के रूप में गोरोचन, कुंकुम, चन्दन, कर्पूर से अपनी मुखाकृति को सुन्दर बनाती थीं¹⁸ तथा स्थायी सुन्दरता के लिए वे शरीर को गुदवाकर उस पर मांडणे

खुदवाती थी।¹⁹ यह अंग चित्रांकन की विशिष्ट कला है जिसमें कोयला तथा खेजड़ी के पत्तों के काले पाउडर में थोड़ा पानी मिलाकर उसका गाढा खोल तैयार किया जाता था।²⁰ पुरुषों में भी शरीर गुदवाने का अत्यधिक प्रचलन था। ये मांडणे एक तरह जहां रूप श्रृंगार के प्रतीक थे, वहीं, दूसरी ओर नारी की आभूषणों की अभीप्सा को भी शान्त करते थे। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर भिन्न-भिन्न गोदने गुदवाये जाते थे। जैसे ललाट पर चांद, तिलक व ओड, नेत्रों को खंजाकृत बनाने हेतु नीचे पलक के साथ साट्या गुदवाया जाता था।²¹ ग्रीवा का सौन्दर्य बढ़ाने हेतु कंठमाल, बाजू की शोभा बढ़ाने के लिए बाजूबन्द, ठोड़ी पर तीन बिन्दुओं का गोदना, नाक पर सात बिन्दुओं का गोदना, हथेली पर ओउम गुदवाया जाता था।²² इसी तरह धर्म सम्बन्धी गोदनों में मन्दिर, त्रिशूल, शिव, पार्वती, गणेश, कृष्ण, हनुमान, रामसापीर के पगल्या बनाये जाते थे।²³ इसके साथ साथ विभिन्न पशु-पक्षियों जैसे शेर, बैल, घोडा, मोर, तोता आदि की आकृतियां भी शरीर पर गोदी जाती थी। इस प्रकार विपन्न नारी कम खर्च में ही अपने सम्पूर्ण शरीर के अंगों को अलंकृत कर लेती थी।

मेहन्दी महावर

मेहन्दी या महावर रचाने के पीछे जहां एक ओर इसकी नारी सौन्दर्य में गिनती की जाती थी तो दूसरी तरफ यह मांगलिक एवं शुभता का प्रतीक भी माना जाता था। मेहन्दी के बिना नारी का सोलह श्रृंगार अधूरा माना जाता था। इसे सुहागिन स्त्रियां एवं कुमारियां ही लगाती थी। विवाह के अलावा विभिन्न पर्वों जैसे श्रावणी तीज, कजली तीज, दीवाली, होली, गणगौर आदि पर स्त्रियां मेहन्दी अवश्य लगाती थी। जमाई के 'बेउंदा' एवं 'तीज' के अवसर पर ससुराल जाने पर उसकी सालियां एवं सहलज द्वारा उसके हाथों एवं पैरों पर मेहन्दी लगाने की परम्परा थी।²⁴ हाथ पर मेहन्दी पर्वों के अनुसार लगाई जाती थी। जैसे गणगौर पर चूनड़ी, पेडा, गूंजा के मांडणे, तीज पर लहरिया एवं घेवर के मांडणे, दीपावली पर पान व गलीचों के माण्डने, होली पर चौपड के मांडणे बनाये जाते थे।²⁵ इसके अलावा स्त्रियां अपनी अभिरुचि के अनुसार फूल-पल्लियां, बेलबूटे आदि को अपने हाथों पर बनाती थी। यहां के लोकगीतों में मेहन्दी का खूब गुणगान किया जाता है।²⁶ मालानी क्षेत्र में 'सोजत' एवं 'मालवे' की मेहन्दी अत्यधिक लोकप्रिय रही है।²⁷

पाने

मालानी क्षेत्र का मानव साधारण आर्थिक स्थिति के कारण अपने घर में देवी-देवताओं की प्रतिमा को स्थापित करने में असमर्थ था। इसीलिए कागज पर देवी देवताओं की आकृति अंकित कर उसका पूजन किया जाता था जिसे 'पाना' कहते थे।²⁸ यहां पर गणेशजी, लक्ष्मी जी, रामदेव जी, गोगाजी, श्रवण कुमार जी, तेजाजी, राधा-

कृष्ण, शिव-पार्वती, सीता-राम के पाने अत्यधिक प्रचलित थे।²⁹ ये साधारण कागज पर काली कोटी रेखाओं में अंकित कर बनाये जाते थे।³⁰ विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर गणेश जी का पानी जिसमें पीली धोती पहने, मोटी तोंद वाले, भारी भरकम शरीर पर गुलाबी सूंड, चार हाथों में शंख, चक्र, लड्डू पकड़े हुए कमल पर विराजमान है। इनके साथ में उनका वाहन मूषक भी चित्रांकित होता था।³¹ दीवाली पर लक्ष्मीजी का पाना जिसमें उन्हें कमलासन पर विराजमान, क्षीरसागर से उभरते हुए दोनों ओर उसे हाथी नहलाते हुए, हाथ में धन तथा कमल धारण किये पारम्परिक रूप में बना होता था।³² जिसको दीपावली के पर्व पर पूजन के रूप में काम में लिया जाता था। घोड़े पर आरूढ रामदेवजी, पताका पकड़े हुए हनुमानजी तथा सिंहारूढ देवी दुर्गा, सांप के साथ घोड़े पर सवार तेजाजी, आसन पर विराजमान शिव-पार्वती तथा इन दोनों के इर्द-गिर्द गणेश व कार्तिकेय के पाने मेलों में बहुतायत से मिलते थे।³³ इन पानों में गुलाबी, लाल व काले रंग की भरमार होती थी।³⁴

थापा

हाथ की अंगुलियों के ठप्पे देकर दीवार पर जो चित्र बनाये जाते थे, इन्हें 'थापा' कहते थे।³⁵ मालानी क्षेत्र में थापों के साथ स्वस्तिक अंकित करने की भी प्रथा थी। ये थापे कुंकुम, मेहन्दी, हल्दी, सिन्दूर, गैरू, गोबर से बनाये जाते थे।³⁶ विविध व्रतोत्सवों पर महिलाएं दीवारों पर इनका अंकन कर तत्सम्बन्धी कथाएं कहकर अपना व्रत अनुष्ठान करती थीं।

वील कला

मालानी क्षेत्र के ग्रामीण परिवेश में कच्चे झौपड़ों एवं ओरों के भीतर दीवार के सहारे महलनुमा आकृतियां बनाई जाती थीं। इन्हें 'वील' कहते थे।³⁷ वील का निर्माण मिट्टी, गोबर, गूगल, गौंद व ऊंट की मँगनी के मिश्रण से किया जाता था।³⁸ जितने मंजिल की वील बनानी होती थी उसके हिसाब से दीवार पर निशान लगाकर उसके आकार के अनुसार पतली लकड़ियों से आर्च बनाया जाता था एवं धागों से लकड़ी को बांध दिया जाता था। इसके पश्चात् उस पर गीली मिट्टी का लेप कर उस पर कांच की टूटी चूड़ियां, चीनी मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े, शीशे के टुकड़े, लाल, पीला, हरा, आसमानी रंगों वाला माईका चिपका दिये जाते थे।³⁹ इस प्रकार एक मंजिला, दो मंजिला एवं तीन मंजिला वील बनायी जाती थी। मेघवाल जाति की महिलाएं इस कला में निपुण होती हैं।⁴⁰

मिट्टी के बर्तनों पर मांडण

मिट्टी की बनी धान की कोठी, ठावरो, घड़ों आदि पर भी मांडणों को आलेखित किया जाता था।⁴¹ पत्थर की चक्की पर भी मांडणों का चित्रांकन किया जाता था। इस क्षेत्र के मोयला कुम्हार इस कला के लिए विख्यात रहे हैं।⁴²

हीड

मिट्टी से बना हुआ पात्र जिसमें ग्रामीण अंचलों में दीवाली के दिन कच्चे तेल व रूई के बिनौले जलाकर अपने परिजनों के पास 'हीडों दीवाली तेल मेलों' कहते थे,⁴³ फिर इसमें उनके माता-पिता, मक्के की फूली भरकर उन्हें आशीर्वाद देते थे। इसे 'हीड' भरना कहते थे।⁴⁴

घोड़ा बावसी

मिट्टी के बने कलात्मक घोड़े जिनकी आदिवासी भीलों में बड़ी मान्यता होती थी⁴⁵ तथा वे मनौती पूरी होने पर इनका पूजन कर इन्हें इष्ट देवता को चढ़ाते थे।⁴⁶ ग्रामीण अंचलों में जब किसी बच्चे के बड़ी माता रोग हो जाता था तो उसके परिजन गोबर से बनी सात छोटे-छोटे बाटनुमा आकृतियां बनाकर उसकी पूजा करते थे।⁴⁷

भराडी

भीलों में पुत्री के विवाह पर घर की दीवार पर लोक देवी का चित्र बनाया जाता था, जिसे 'भराडी' कहते थे।⁴⁸

सांझी

आश्विन प्रतिपदा से लेकर अमावस्या तक पितृपक्ष के पूरे पन्द्रह दिनों तक कन्याएं विविध प्रकार की लोक रंजित सांझियां बनाती थीं।⁴⁹ सांझी के चित्रण में गोबर के अतिरिक्त मिट्टी, चूना, फूल्स, पीतरा, पन्नी, हल्दी, कुंकुम, मेहन्दी, मिर्च आदि का प्रयोग किया जाता था।⁵⁰

बींजणा कला

मालानी के आदिवासी मोर की पांखों से 'बींजणा' बनाते थे।⁵¹ जिसका उपयोग हवा फँकने के लिए किया जाता था। इसको गूथने में भी मांडणों की विभिन्न आकृतियां बनाई जाती थी। मालानी क्षेत्र में मून्ज नामक लम्बी एवं सख्त घास और कोडाल नामक पेड़ के रेशों से पतली मोटी रस्सियां बनाई जाती थी जिनसे खाट⁵² को बुना जाता था। ग्वारिया नामक जाति का यह वंशानुगत उद्योग था।⁵³

खाट को भी कलात्मकता के साथ बुना जाता था जिसे स्थानीय बोली में 'बेज' कहते थे।⁵⁴ ये विभिन्न प्रकार के होते थे, जिनमें लहरबेज, बावडी बेज, सांकल बेज, खीली बेज अधिक प्रचलन में थे।⁵⁵ इसके अलावा मनुष्य की आकृति, पशुओं की आकृति भी बनायी जाती थी।⁵⁶ भील एवं जोगी जाति के लोग रोहिड़े की तडियों से ओडा बनाते थे।⁵⁷ इसमें भी मांडणे का चित्रण किया जाता था। जिससे ओडे की सुन्दरता बढ़ जाती थी। इस प्रकार इस क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा एवं समृद्ध विरासत के रूप में लोक कला का महत्वपूर्ण स्थान है, जो कि यहां की अमूल्य थाती भी है।

सन्दर्भ

1. मरु मंजरी, राजकीय महाविद्यालय, बाड़मेर, 1987, पृ.15
2. दवे जयनारायण, राजस्थान की लोक चित्रकला, रणछोड़राय मन्दिर, लालसागर, जोधपुर, 2003, पृ. 28
3. वही, पृ. 28
4. राठौड़, विक्रमसिंह, मारवाड़ का सांस्कृतिक इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1996, अध्याय-चतुर्थ, पृ. 51
5. दवे जयनारायण, पूर्वोक्त, पृ. 29
6. मरु मंजरी, पूर्वोक्त, पृ. 38
7. दवे जयनारायण, पूर्वोक्त, पृ. 26
8. मरु मंजरी, पूर्वोक्त, पृ. 40
9. राठौड़ गोविन्दसिंह, मारवाड़ की सांस्कृतिक धरोहर, सुधन प्रकाशन, जोधपुर, 1999, पृ. 246
10. दवे जयनारायण, पूर्वोक्त, पृ. 42
11. वही, पृ. 43
12. राठौड़ गोविन्दसिंह, पूर्वोक्त, पृ. 247
13. दवे जयनारायण, पूर्वोक्त, पृ. 43
14. उरसाणी मोहम्मद इस्माईल, सैर रेगिस्तान, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, 1951, पृ. 152
15. वही, पृ. 153
16. जैन भुवनेश, रेगिस्तान का लोक विज्ञान, श्योर संस्थान, बाड़मेर, 2007, पृ. 54
17. स्मारिका, बाड़मेर महोत्सव, जिला प्रशासन, बाड़मेर, 1992, पृ. 15
18. सोलंकी तेजसिंह, उमरकोट जो इतिहास, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, 1934, पृ. 177
19. वही, पृ. 177
20. अब्दुल गनी, तारीख सिन्ध, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, 1936, पृ. 35
21. मोहता श्रीलाल, मरु संस्कृति कोष, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2005, पृ. 222
22. राठौड़ गोविन्दसिंह, पूर्वोक्त, पृ. 248
23. दवे जयनारायण, पूर्वोक्त, पृ. 44
24. मेरण मोहम्मद सिद्दीक, सिन्ध जो शाहनामो, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, 1962, पृ. 85
25. मरु मंजरी, पूर्वोक्त, पृ. 18
26. सडाणी रोजीराम गंगाराम, उमर मारुई, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद 1962, पृ. 42

27. स्वर्ण सुदर्शन, श्री ब्राह्मण स्वर्णकार धर्मसी प्रकाशन समिति, बाड़मेर, पृ. 25
28. स्मारिका, पूर्वोक्त, पृ.26
29. मरु मंजरी, पूर्वोक्त, पृ. 20
30. वही, पृ. 20
31. स्वर्ण सुदर्शन, पूर्वोक्त, पृ.30
32. वही, पृ. 30
33. वही, पृ. 31
34. मरु मंजरी, पूर्वोक्त, पृ. 22
35. उरसाणी मोहम्मद इस्माईल, पूर्वोक्त, पृ. 156
36. शम्स अल्लाखां, सिन्ध जी तवारीख, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, पृ. 188
37. शारदा खेतान, सुरीला रंगीला अपना बाडमेर, केशरिया धरा प्रकाशन, बाडमेर, 1999, पूर्वोक्त, पृ. 58
38. जैन भुवनेश, पृ. 71
39. राठौड़ विक्रमसिंह, पूर्वोक्त, अध्याय चतुर्थ, पृ. 54
40. जैन भुवनेश, पूर्वोक्त, पृ. 73
41. मेरण मोहम्मद सिद्धीक, सिन्ध जो शाहनामो, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, 1962, पृ. 185
42. शारदा खेतान, पूर्वोक्त, पृ.62
43. मेघाराम, थार के आदिवासियों का सामाजिक जीवन, स्वास्तिक प्रकाशन, बाड़मेर 2006, पृ.45
44. वही, पृ. 46
45. शारदा खेतान, पूर्वोक्त, पृ.63
46. मेघाराम, पूर्वोक्त, पृ.46
47. शारदा खेतान, पूर्वोक्त, पृ.87
48. स्मारिका, पूर्वोक्त, पृ.35
49. राठौड़, रायचन्द, रेगिस्तान जी तवारीख, अदबी बोर्ड, हैदराबाद, 1953, पृ.125
50. उरसाणी मोहम्मद इस्माईल, पूर्वोक्त, पृ. 170
51. शारदा खेतान, पूर्वोक्त, पृ. 61
52. पलंग के लिए प्रयुक्त स्थानीय बोली का शब्द।
53. उरसाणी मोहम्मद इस्माईल, पूर्वोक्त, पृ. 171
54. वही, पृ. 171
55. राठौड़ रायचन्द, पूर्वोक्त, पृ.180
56. स्मारिका, पूर्वोक्त, पृ. 8
57. राठौड़ गोविन्दसिंह, पूर्वोक्त, पृ. 263

मारवाड़ के वैष्णव मंदिरों का स्थापत्य एवं सांस्कृतिक अवदान (गंगश्यामजी, घनश्यामजी व कुंजबिहारी मंदिर के विशेष संदर्भ में)

डॉ. दिनेश राठी

भगवान विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव और परामात्मा के रूप में मानने वाले भक्त वैष्णव कहे गये तथा तत्संबंधी धर्म दर्शन और सिद्धांत वैष्णव धर्म के नाम से जाना जाता है।¹ पतंजलि व पाणिनि ने भी अपने ग्रंथों में इस धर्म की विस्तृत विवेचना की।² सम्पूर्ण भारत वर्ष में वैष्णव धर्म के व्यापक प्रचार प्रसार में संतों का अहम योगदान रहा। रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, ज्ञानदेव, नामदेव, रामानंद, चैतन्य महाप्रभु, संत रैदास, मीराबाई, रसखान, हितहरिवंश, तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, परमानंददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी चतुर्भुजदास (अष्ट छाप) आदि प्रमुख संत थे। वैष्णव धर्म के वर्तमान स्वरूप के निर्माण में इन सबका समग्र योगदान रहा है। 17वीं व 18वीं शती में मारवाड़ में निम्बार्क सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, निश्कलंक सम्प्रदाय इत्यादि अनेक सगुणवादी सम्प्रदायों का प्रभुत्व बढ़ा।³ परिणामस्वरूप मारवाड़ में वैष्णव भक्ति का व्यापक रूप में प्रचार हुआ। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप मारवाड़ के राजाओं और आमजन की भागीदारी से विभिन्न मंदिरों की स्थापना की गई। यह मंदिर जन आस्था के प्रतीक होने के साथ ही साथ मारवाड़ की स्थापत्य कला और सांस्कृतिक उत्सव के महत्वपूर्ण अवदान सिद्ध हुए। इन मंदिरों की सांस्कृतिक उत्सव परम्पराएँ आज भी अनवरत रूप से विद्यमान हैं। इन मंदिरों में उत्सवों के आयोजन का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। जन्माष्टमी, अन्नकूट, दीपावली, होली, राधाष्टमी, पाटोत्सव, डोल के उत्सव, बसंतपंचमी, फागोत्सव और नृसिंह अवतार जैसे उत्सवों की जो शुरुआत की गई थी, आज भी जन मानस में इन उत्सवों को लेकर विशेष आकर्षण है। उसी आस्था के साथ इन सांस्कृतिक मूल्यों व उत्सवों को आज भी इन मंदिरों में देखा जा सकता है। इन मंदिरों के विशाल शिखर एवं भव्य तोरण द्वार और इनमें आयोजित उत्सव अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक छटा का दर्शन करवाती हैं।

कुंज बिहारी मन्दिर

जोधपुर नगर के कटला बाजार में स्थित ठाकुरजी श्री कुंजबिहारीजी का भव्य कलात्मक एवं ऐतिहासिक मंदिर महाराजा विजयसिंह (1751-1791 ई.) की पासवान

(उप-पत्नी) गुलाबराय ने 1779 ई. में (फागण सुद 8, 1837) करवाया था। यह मन्दिर गुलाबराय के पुत्र शेरसिंह की स्मृति में बनवाया गया था।⁴

गुलाबराय वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थी। उसने अनेक मन्दिर बनवाये थे। इस मन्दिर का निर्माण गंगश्यामजी के मंदिर की अनुकृति कहा जा सकता है। मन्दिर का विशाल शिखर एवं भव्य तोरण द्वार स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। प्रवेश द्वार के बाईं ओर रामभक्त हनुमानजी की मूर्तियां हैं। मन्दिर में दो भव्य तोरणद्वार बने हैं। एक मन्दिर के मुख्य प्रवेश द्वार पर और दूसरा पातालेश्वर महादेव मन्दिर के सामने बना है। ये तोरण द्वार एक शिलालेख को तराशकर बनाये गये हैं। भीतर दिवारों में छोटे-छोटे आलों में महालक्ष्मी, गायत्री, गजानन, सरस्वती, संतोषी माता, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, निम्बाकाचार्य, वल्लभाचार्य, अजनेश्वर महाराज, रामानुजाचार्य तथा गुरू रामानन्द की मूर्ति स्थापित है। गर्भगृह के बाहर की दीवारों पर भव्य भित्ति चित्रांकन किया गया है। इसमें कृष्ण भगवान के चरित्र, दीवारों पर रामलीला और कृष्ण लीला में देवकी-वासुदेव के विवाह, आकाशवाणी से भयभीत कंस, कृष्ण और राधा की रामलीला, ध्रुव को दर्शन देकर अमृतपान कराना, मोहिनी रूप धरकर राक्षसों को सुरा और देवताओं को अमृत पान कराना, अर्जुन को गीता का उपदेश, कृष्ण दरबार, सुदामा का सत्कार, गुजरात का उद्धार आदि घटनाओं के सुन्दर चित्रांकनों से सज्जित किया गया है। मन्दिर का शिखर 45 फुट ऊँचा बना है। मन्दिर का निर्माण लाल पत्थर से तथा चूने का प्लास्टर किया हुआ है। 1976 में बिड़लाजी ने इसका जीर्णोद्धार करवाया था।

कुंज बिहारीजी का मन्दिर शहर के व्यस्ततम क्षेत्र में स्थित है। इस विशाल मन्दिर में प्रतिदिन छह बार आरती होती है। मंगला, श्रृंगार, राजभोग, उत्थापन, संध्या और सायं। प्रतिदिन श्रद्धालुओं की भीड़ रहती है परन्तु विशेष अवसरों पर यह बड़ी संख्या में भक्तजन दर्शन लाभ प्राप्त करते हैं।⁶

गंगश्यामजी का मन्दिर

गंगश्यामजी मन्दिर का निर्माण सर्वप्रथम राव गांगा (1515-1531 ई.) की रानी देवड़ीजी ने करवाया था। इस मूर्ति की पूजा रानी देवड़ीजी स्वयं करती थी, जब राम गांगाजी के साथ विवाह हुआ, तब यह मूर्ति राव गांगा ने सिरोही महाराव से मांग ली, साथ में सिरोही से पुजारी सेवग जीवराज भी आये। पहले यह मूर्ति किले में स्थापित की गई तत्पश्चात् जूनी धान मण्डी में भव्य मंदिर बनवाकर स्थापित की गई। राव गांगा ने यह मूर्ति स्थापित की इसलिये ये गंगश्यामजी कहलाए। मन्दिर में स्वर्ण कलश भी स्थापित करवाया गया। महेश्वरी गंगदास साह धनो गदाधर मोहनदास और राठी भागीरथ संवत् 1656 के माह सुद 5 को जोधपुर आये थे। महेश्वरी गंगदास गदाधर ने संवत् 1671 (1614 ई.) में इस मन्दिर की जीर्णोद्धार करवाया। नैणसी री विगत में यह भी

लिखा है कि मन्दिर को पूरा तोड़कर नवीन मन्दिर का निर्माण करवाया गया था। इसके निर्माण में गंगदास ने 18,000 रुपये और थणै पचाऊ ने 1,000 रुपये खर्च किये थे। जब जमरूद में महाराजा जसवंतसिंहजी प्रथम का स्वर्गवास हुआ, उस समय औरंगजेब ने मारवाड़ को खालसा घोषित कर दिया। उसके सैनिकों ने कई मन्दिर विध्वंस कर दिये। गंगश्यामजी के मन्दिर के सेवर्गों ने दूरदृष्टि रखते हुए गंगश्यामजी की मूर्ति को अपने वस्त्रों के भीतर छाती से चिपकाकर बचा लिया और तीन दिन व तीन रात अपने घरों से बाहर भी नहीं निकले। औरंगजेब के सैनिकों ने गंगश्यामजी का मन्दिर गिरा दिया। तीस वर्षों के लम्बे संघर्ष के बाद महाराजा अजीतसिंह जोधपुर के शासक बने तब उन्होंने पुनः इस मन्दिर का भव्य निर्माण करवाया। उन्होंने पांच मन्दिर बनवाये। बीच में गंगश्यामजी का और चारों तरफ चार मन्दिर और बनाये।⁷

महाराजा तख्तसिंहजी की ख्यात से पता चलता है कि उनके समय संवत् 1924 के फागण वद को व्यास चौथमल के मुमानीरामोत ने महाराजा का अर्ज किया कि ठाकुरजी श्री गंगश्यामजी धानमण्डी बिराजे उनके यहां घड़ियाल नहीं लगी है। महाराजा ने आदेश दिया की मन्दिर की पोल के ऊपर घड़ियालखाना बनाया जाए जिससे उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों को सुविधा हो। इसमें होने वाला खर्च मंदिर के पेटे दिया जाने लगा। ख्यात से यह भी ज्ञात होता है इससे ज्यादा फायदा रात के समय उस इलाके में जन्म ने वाले बच्चे के सही जन्म समय का पता चलता था।⁸ गंगश्यामजी के मंदिर में प्रातः 4 बजे रात्री 11 बजे तक श्रद्धालुओं का तांता लगा रहा है। यहां पर वैष्णव परम्परा के अनुसार दिन में छह बार आरती होती है मंगला, श्रृंगार, राजभोग उत्थापन, संध्या और सांय। निश्चित समय पर सम्पन्न की जाती है।⁹

घनश्यामजी का मन्दिर

यह मन्दिर जूनी धान मण्डी मे स्थित है। इसका निर्माण गंगश्यामजी के मन्दिर से पूर्व हुआ था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि राव गांगा ने गंगश्यामजी के मन्दिर की मूर्ति को पहले इसी मन्दिर मे रखावाया था। महाराजा अजीतसिंह के समय इस मन्दिर का पुनः निर्माण करवाया गया। मन्दिर में लगे शिलालेख में वि. 1718 की तिथि अंकित है। संभवतः महाराजा जसवंतसिंह (1638-1678 ई.) के शासन के दौरान कुछ निर्माण यहां करवाया गया होगा।¹⁰

स्थापत्य की दृष्टि से मन्दिर अन्य मन्दिरों से सुन्दर है तथा इसके विशाल शिखर का निर्माण घड़ाईदार लाल घाटू पत्थरों से किया गया है। इसके भीतरी भाग मे पत्थरों पर श्री कृष्ण की भव्य प्रतिमा तथा उनके चारों और गोपियां उकेरी गई है। गंगश्यामजी के मन्दिर के अनुसार ही यहां पर आरती होती है और शहर के भीड़-भाड़ वाले इलाके में होने के कारण यहां पर श्रद्धालुओं का आना जाना लगा रहता है। घनश्यामजी के मन्दिर

का जीर्णोद्धार महाराजा उम्मेदसिंहजी के समय श्री घनश्यामजी मन्दिर, जीर्णोद्धार कमेटी के द्वारा करवाया गया था। उस समय इस पर 30,000 हजार रुपये खर्च हुए। जीर्णोद्धार के साथ ब्रह्मा, ध्रुव और प्रह्लाद आदि की मूर्तियों की भी प्रतिष्ठा की गई थी। इस अवसर पर जेष्ठ मास में एक भव्य समारोह का आयोजन भी रखा गया था। इन मंदिरों की स्थापत्य शैली अपनी विशिष्टता लिए हुए है। इस प्रकार की विशिष्ट स्थापत्य शैली जनमानस को अनायास ही आकृष्ट कर लेती है। इ

संदर्भ

1. रामायण, बालकाण्ड, 15.15.16 एत स्मिन्नंतरे विश्णुरूपयातो महाद्युतिः।
षंखचक्रगवा पाणिः पीतवासः जगत्पतिः वैनतेयः समारूहा.....।
2. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ. 695
3. व्यास, एस.पी., प्रोसीडिंग्स ऑफ राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस XVIII पृ. 318
4. तंवर, महेन्द्र सिंह, जोधपुर शहर के ऐतिहासिक स्मारकों का दस्तावेजीकरण (रिपोर्ट) पृ. 228
5. लेखक के स्वयं के द्वारा निरीक्षण
6. उपरोक्त
7. तंवर, महेन्द्रसिंह, वही, पृ. 231
8. उपरोक्त
9. लेखक के स्वयं के द्वारा निरीक्षण
10. तंवर, महेन्द्रसिंह, वही, पृ. 232

सांस्कृतिक समरसता के पुरोधा लोकदेवता बाबा रामदेव

डॉ. भंवरसिंह भाटी

राजस्थान में इस्लाम के प्रवेश एवं तुर्क आक्रमणों से प्रदेश पर बाह्य प्रभाव तथा आभ्यन्तरिक दोषों (यथा रूढ़िवाद और बाह्यडम्बर) से उत्पन्न वातावरण में प्रायः प्रबुद्ध मनिषियों की चिन्तन-धारा मंदिरों और मूर्तियों की अपेक्षा चिन्तन-मनन एवं नाम स्मरण की दिशा की ओर प्रवाहित होने लगी थी।¹ ऐसी विषम परिस्थितियों में राजस्थान में बाबा रामदेव जी अद्वितीय व्यक्तित्व के रूप में जनता के समक्ष उभरे जिन्होंने न केवल तथाकथित निम्न जातियों को संरक्षण एवं स्नेह प्रदान किया। अपितु शारीरिक शक्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति, भक्ति, योग, एवं अलौकिक चमत्कारों से जन सामान्य की कष्ट-पीड़ा को दूर किया। जिससे बाबा रामदेव जी की कीर्ति केवल राजस्थान की सीमा तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गयी।

रामदेवजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पाबू हड़बू रामदे, मांगलिया मेहा।

पांचू पीर पधारजो, गोगाजी जेहा।।

उपर्युक्त दोहे में उल्लेखित राजस्थान के पांच पीरो में प्रमुख बाबा रामदेवजी का जन्म तंवर वंशीय अजमालजी एवं भाटी वंशीय मैणादे के यहां चैत्र शुक्ल पंचमी वि. सं. 1409 में हुआ था।² इनके जन्म स्थल के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ. मनोहर शर्मा, डॉ. सोनाराम विश्‍नोई, डॉ. एम. एल. गुप्‍ता उनका जन्म स्थान पोकरण (जैसलमेर) से 13 कि. मी. उत्तर-पश्चिम स्थित रूणेचा में होना मानते हैं।³ जबकि डॉ. भवानीसिंह पातावत, भूपतिराम बदरीप्रसादोत् के अनुसार एवं जनमानस में बाबा के प्रति व्याप्त आस्था एवं लोकविश्वास एवं प्राचीन अवशेषों, बुजुर्गों, पंडितों एवं बाबा के श्रद्धालुओं से की गई भेंट वार्ता आदि स्रोत्रों से ज्ञात हुआ है कि वर्तमान बाड़मेर जिले के उण्डू काश्मीर सरहद स्थित 'थाटी वाली खेजड़ी' स्थान पर रामदेवजी का अवतरण हुआ था।⁴ यह स्थान 'रामदेरिया' के नाम से जाना जाता है।

लोकमानस में रामदेवजी का जन्म भाद्रपद सुदी द्वितीया को 'बाबा री बीज' के रूप में मनाया जाता है।⁵ इन्होंने मात्र सात वर्ष की बाल्यावस्था में अपने पराक्रम से क्रूर

दानवप्रवृत्ति के भैरव नामक व्यक्ति का दमन करके उसके आंतक को समाप्त किया था तथा सातलमेर (पोकरण) को पुनः आबाद किया। इससे रामदेवजी की ख्याती चारों ओर फैल गई।⁶ वीरमदेवजी इनके बड़े भाई थे। लाछा व सुगणा दो चचेरी बहिने थी। रामदेवजी का विवाह उमरकोट में दलजी सोढ़ा की पुत्री नेतलदे के साथ हुआ था।⁷ इनके दो पुत्र हुए सादो एवं देवराज। रामदेवजी ने नाथ योगी गुरु बालकनाथजी से दीक्षा प्राप्त करके अछूतोद्धार, दरिद्र, निम्न एवं असहाय रोगी व अपंग वर्ग की सेवा का बीड़ा उठाया।⁸ तत्कालीन समाज में अछूत वर्ग की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उनके उत्थान एवं सम्मानजनक स्थिति में लाने हेतु रामदेवजी ने सर्वप्रथम एक मेघवाल कन्या 'डाली बाई'⁹ को सगी बहिन तुल्य मानकर भक्ति का उपदेश दिया। उन्होने सामाजिक परम्पराओं एवं रूढ़ियों को तोड़ा व छुआछूत को अस्वीकार किया। किन्ही कारणों से धर्मभ्रष्ट एवं समाज से बहिष्कृत असहाय वर्ग को सम्मानजनक स्थान दिलाने हेतु उन्होने सर्वप्रथम एक संत सम्प्रदाय की स्थापना की, जो 'कामड़ीया'¹⁰ पंथ के नाम से विख्यात हुआ।

बाबा रामदेवजी ने तत्कालीन संक्रमण युगीन मानव समाज के कल्याण हेतु शक्ति और भक्ति का प्रयोग किया था। उन्होंने वीरता एवं पराक्रमी कार्यों से अद्भूत चमत्कार भी दिखाये। आजीवन वैष्णव धर्म का पालन किया एवं अहिंसा का उपदेश ही नहीं दिया अपितु पूर्ण रूप से पालन करके दिखाया। इसलिए रामदेवजी का भाला 'निष्कलंक' माना जाता है। इन्होंने 1441 ई. में अपनी भतीजी को पोकरण दहेज में देकर नया गांव 'रामदेवरा' (रूणेचा) बसाया।¹¹ वहां ग्रामवासियों के लिये पानी की व्यवस्था हेतु एक भव्य बावड़ी एवं रामसरोवर तालाब का निर्माण करवाया था। इसमें उत्कीर्ण चार शिलालेखों¹² से ऐतिहासिक जानकारी मिलती है। वर्तमान में भी इसके जल को गंगाजल तुल्य पवित्र माना जाता है। इसके आचमन से असाध्य रोग ठीक हो जाते हैं।¹³ इनके लौकिक और अलौकिक कार्यों से प्रभावित होकर हजारों लोग इनके भक्त बन गये। भक्त इन्हे भगवान विष्णु का दसवां अवतार 'कल्कि' मानकर पुजा करने लगे। भाटी उगमसी, मेघवाल धारू, राठौड़ शासक मल्लिनाथ जी एवं उनकी पत्नि रूपादे, गुजरात के जैसल और उनकी पत्नि तोलादे, डालीबाई इनके परम भक्त एवं शिष्य बन गये। रामदेवजी के मौसरे भाई हड़बूजी सांखला ने भी रामदेवजी से ही प्रेरित होकर अस्त्र-शस्त्र का त्याग कर गुरु बालकनाथजी से दीक्षा प्राप्त की थी।¹⁴ तत्कालीन युग 'धर्म' प्रधान था। हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदाय धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होकर सैकड़ों वर्षों से युद्ध करते आ रहे थे, व्यर्थ ही जन-धन को नष्ट कर रहे थे। जातिय एवं धर्म के अहमं से ग्रस्त होकर निर्दोष लोगों की हत्याएं कर देते थे। लम्बे समय से चले आ रहे इस संघर्ष को समाप्त करने हेतु रामदेवजी ने मुस्लिम पांच पीरों को अपना चमत्कार दिखाकर अपना अनुयायी बना लिया। उन्होने रामदेवजी को 'पीरों का पीर' बताकर उन्हे सिद्ध पुरुष

घोषित किया। इससे वे मुस्लिम समुदाय के 'रामसा पीर' के रूप में आराध्य बन गये और उन्होंने सर्वप्रथम मध्ययुगीन प्रदेश में साम्प्रदायिक सद्भावना की स्थापना की।¹⁵

हिन्दुवै पीर म्हानै परचौ दियौ, दियौ कूंडी घटा दिया बाहीं।

*मानस रूपी भोजन कराया, अटल जोत देखी बाहीं।।*¹⁶

वे अपने गुरु में पूर्ण आस्था रखते थे। उन्होंने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने हेतु गुरु की महत्ता को बताया। साथ ही वे योग साधना में प्रवीण थे तथा महान् कवि भी थे। इनकी रचित 24 बाणियां प्रसिद्ध हैं।¹⁷ चित्तौड़ के महाराणा कुंभा पर गुजरात की तरफ से जब महमूद खिलजी का आक्रमण हुआ। इस युद्ध में रामदेवजी के भक्त सैनिकों ने कुंभा की ओर से पूर्ण समर्पण से युद्ध किया, परिणामस्वरूप कुंभा की जीत हुई थी।¹⁸ इस प्रसंग की स्मृति में महाराणा कुंभा ने 'निष्कलंक देव' मंदिर का निर्माण करवाया था। जिसमें नीले घोड़े पर सवार भालारोही रामदेवजी की मूर्ति स्थापित की गई। यह मंदिर चित्तौड़ में स्थित है। इससे बाबा रामदेवजी की ख्याति पूर्वी राजस्थान, मालवा, गुजरात में भी फैल गई और वे निष्कलंक देव के साथ-साथ 'पश्चिमाधिपति' 'पिछमाधिपति' 'पिछम धरा रा पातसाह' और 'पश्चिम धणी' के रूप में प्रसिद्ध हो गये।¹⁹

उन्होंने आजीवन लोक कल्याणकारी कार्य करते हुए शोक संतप्त जनसमुदाय को आध्यात्मिक उपदेश दिया तथा अपने अंतिम समय में देह त्याग से पूर्व पिता अजमालजी और माता मैणादे तथा भाई वीरमदेव एवं अपनी भाभी और पत्नि नेतलदे को ज्ञानोपदेश देते हुए उन्हे मोह-माया के दलदल से निकालने का प्रयत्न किया, किन्तु इतना सब कुछ करने पर भी उनका करुण-रूदन रुका नहीं। एकत्रित जन-समुदाय का रूदन कोलाहल और विलाप शांत नहीं हुआ तब रामदेवजी ने तुवंरो को यह वरदान दिया कि- आप लोग किसी के कहने पर अथवा मोह से वशीभूत होकर मेरी समाधि को खोदना मत, आपकी हर पीढी में मुझ जैसा पीर होता रहेगा। तुवंरो को यह वरदान देकर भाद्रपद सुदी एकादशी वि. सं.1442 को रामदेवरा स्थित रामसरोवर तालाब के किनारे रामदेवजी ने जीवित समाधि ले ली।²⁰

डॉ. मनोहर शर्मा के अनुसार, "जिसमें मानव मात्र चाहे वह राजा हो चाहे रंक, चाहे सवर्ण हो चाहे अछूत, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान के लिए यहां प्रवेश द्वार खुला था। परिणामस्वरूप बाबा रामदेवजी झोंपड़ी से लेकर राजमहलों तक सभी सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत हुए।"²¹ रामदेवजी एक ऐसे महापुरुष थे जो पश्चिमी भारत के मारवाड़ प्रदेश में जन्में उनमें एक वीर योद्धा, उत्कृष्ट योगी तथा भक्त-कवि के सर्वगुण थे। साथ ही क्रांतिकारी समाज सुधारक होने के कारण लोकदेवता और पूरे पश्चिमी भारत के जन-जन के श्रद्धा केन्द्र बन गये।²²

रामदेवरा मेला

रामदेवजी की समाधि स्थल पर विशाल मंदिर बना हुआ है। यह जैसलमेर जिले की पोकरण तहसील मुख्यालय से 13 कि.मी. पूर्व में स्थित ग्राम रामदेवरा में है। जहां भाद्रपद सुदी द्वितीया से एकादशी तक विशाल मेला लगता है। इस मेले की मुख्य विशेषता 'साम्प्रदायिक-सद्भावना' है।²³ रूपेचा (रामदेवरा) के अतिरिक्त रामदेवजी के प्रसिद्ध मंदिर अजमेर में बिराठियां और चित्तौड़गढ़ में 'सुरता खेड़ा' जोधपुर में मसूरिया एवं बाड़मेर में बिठुजा, रामदेरिया (काश्मीर), गुजरात में छोटा रामदेवरा²⁴ में हैं। सैकड़ों वर्षों के उपरांत महान् सिद्धपुरुष, देवपुरुष के प्रति सम्पूर्ण भारत के जनमानस में असीम आस्था एवं विश्वास आज भी कायम है। रामदेवरा में गुजरात से सर्वाधिक श्रद्धालु पदयात्री के रूप में पहुंचते हैं। सन् 2009 ई. में भाद्रपद मास में करीब 25 लाख से अधिक श्रद्धालुओं ने बाबा के दर्शन करके खुशहाली एवं वैभव की कामना की।²⁵

पीरों के पीर बाबा रामदेवजी के मेघवाल भक्तों को 'रिखिया' कहा जाता है।²⁶ रामदेवरा में इनके पुजारी तंत्र राजपूत हैं जो पीढी दर पीढी बाबा के वचनानुसार मंदिर के चढावे को ग्रहण करते हैं। अधिकांश तंत्रों की आजीविका का यह मंदिर स्रोत बन गया है। अकाल के समय ये लोग रामदेवजी का प्रतीक/वाहन कपड़े का घोड़ा लेकर दान एकत्र करने के लिए घुमते थे।²⁷ राजस्थान में प्रत्येक गांव शहर में बाबा के प्रतीक चिन्ह के रूप में खेजड़ी/बोरड़ी वृक्ष के नीचे खुले ताक में रामदेवजी के 'पगलीये'²⁸ देखने को मिलते हैं जिनकी पूजा की जाती है। शुक्ल पक्ष द्वितीया तथा एकादशी को भाद्रपद, माघ, आश्विन मास में बाबा रामदेवजी का प्रदेश के अधिकांश घरों तथा रामदेवजी के मंदिरों में 'जम्मा'²⁹ दिलाया जाता है। जिसमें भजन संगीत आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं खीर-लाफसी इत्यादि प्रसाद बांटा जाता है। लेकिन मांस-मदिरा का पूर्णतया निषेध होता है। जन्म के अवसर पर बालकेश बाबा को चढाने से बालक की अकाल मृत्यु एवं दुर्भाग्य से रक्षा होती है।³⁰ मनौती पूर्ण होने पर श्रद्धानुसार बाबा का जम्मा दिलवाकर प्रसाद बांटते हैं। रामदेवरा की पदयात्रा करके धोक भी लगाते हैं। रामदेवजी के मंदिर को 'देवरा' थान तथा उस पर लगी पंचरंगी/सफेद ध्वजा को 'नेजा' कहते हैं। राजस्थान एवं गुजरात में शायद ही ऐसा कोई स्थान होगा जहां के लोग बाबा रामदेवजी से अपरिचित हो। कुछ भक्त लोग बाबा का फूल गले में पहनते हैं।³¹

राजस्थान में सभी पुज्य पुरुषों में रामदेवजी की मान्यता लोकदेवताओं में सर्वाधिक रही है।³² ये जन-जन के आराध्यदेव हैं। भगवान श्री .ष्ण के अवतार बाबा रामदेवजी को सुख समृद्धि के प्रदाता एवं सांसारिक कष्टों के निवारक देवता माना जाता है।³³ बाबा के द्वार रामदेवरा में देशी पर्यटकों के साथ-साथ हजारों की संख्या में विदेशी

नागरिक, शासक वर्ग, राजदूत, उद्योगपति भी अपनी मनोकामना पूर्ति के उपलक्ष में श्रद्धा अर्पित करने हेतु पहुंचते हैं।³⁴

रामदेवजी के परचे (अलौकिक कार्य)

बाबा रामदेवजी अद्भूत व्यक्तित्व के धनी थे। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व अपने आप में अलौकिक एवं चमत्कृत था जिसका लोक साहित्य में विस्तृत उल्लेख मिलता है जिन्हे राजस्थानी में 'रामदेव जी के परचे' कहा जाता है यथा-

पिता अजमाल को द्वारिका में प्रदत्त वचन निभाना,³⁵ माता मैणादे का संशय निवारण,³⁶ दर्जी को चमत्कार दिखाना,³⁷ भैरव राक्षस का वध करना,³⁸ सारथीया खाती को पुनर्जीवित करना,³⁹ महाजन के डूबते जहाज को बचाना,⁴⁰ लखी बनजारा को चमत्कार दिखाना,⁴¹ पंच पीरों को परचा देना,⁴² पूंगलगढ़ के पड़िहारों का गर्व नाश करना,⁴³ नेतलदे की पंगुता दूर करना,⁴⁴ ससुराल वालों को चमत्कार दिखाना,⁴⁵ भानजे को पुनर्जीवित करना,⁴⁶ गाय के बछड़े को जीवित करना,⁴⁷ रानी नेतलदे का संशय दूर करना,⁴⁸ हड़बू सांखला को पर्चा देना इत्यादि।

आज विज्ञान के युग में भले ही रामदेवजी के अलौकिक कार्यों पर हमें विश्वास न हो या जिन्हें अन्धविश्वास कहे लेकिन तत्कालीन युग से आज तक उनकी शिक्षाएँ, उनका कृत्तित्व हमारे लिए ही नहीं भावी पीढ़ियों तक प्रेरणास्पद रहेगा। वही विविधताओं वाले भारत वर्ष में अमीर गरीब, ऊँच-नीच, जातिय वैमनस्य, साम्प्रदायिकता, धार्मिक भेदभाव के निदान में बाबा रामदेव जी के कृत्तित्व की युगों-युगों तक महत्ती भूमिका रहेगी। बाबा रामदेवजी के मंदिरों पर आयोजित होने वाले मेलों विशेषतः रामदेवरा मेला को साम्प्रदायिक सद्भावना का प्रतिक माना जाता है जिसमें हिन्दु-मुस्लिम समुदाय सहित सभी समुदायों के श्रद्धालु अपनी श्रद्धा अर्पित करने, मनोकामना पूर्ति के लिए पहुंचते हैं। चमत्कार को नमस्कार वाली कहावत यहां सिद्ध होती है प्रति वर्ष लाखों की तादाद में जन सामान्य से बुद्धिजीवी वर्ग तक के सभी लोग इसमें शामिल होते हैं। अतः वे सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक समन्वय और साम्प्रदायिक सद्भावना के पथ प्रेरक हैं।

संदर्भ

1. शुक्ल, दिनेश चन्द्र एवं सिंह, ओंकारनारायण, राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं संस्कृति, पृ. 48
2. मुंहता, नैणसी, मारवाड़ रा परगना री विगत भाग-2, पृ. 291
3. पूनमचंद, रामदेवजी का ब्यावला, पृ. 36
4. पातावत, भवानीसिंह, आस्था रौ उजास, पृ. 24
5. डाली बाई - रामदेवजी के तंदूरे पर भजन गाने वाली एक मेघवाल कन्या थी।

- जिसने रामदेवजी से एक दिन पहले रूणिचा में समाधि ली थी।
6. गहलोत, जगदीशसिंह, मारवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 127
 7. तंवरा री ख्यात, बस्ता नं. 101 ग्रं. 13, राज. अ. बीकानेर (जो.रे.)
 8. रामदेवरा की बावड़ी में स्थित शिलालेख श्री मूलचंद 'प्राणेश' (शोध सहायक), भारतीय विद्यामंदिर शोध-प्रतिष्ठान, बीकानेर के सौजन्य से साभार प्राप्त हुए हैं।
 9. विश्नोई, सोनाराम, बाबा रामदेवजी की प्रामाणिक जीवनी, पृ. 81
 10. पातावत, भवानीसिंह, पूर्वोक्त, पृ. 25
 11. विश्नोई, सोनाराम, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, पृ. 80
 12. सालवी, सुरेश, राजस्थानी लोक संस्कृति एवं लोक देवी-देवता, पृ. 174
 13. बारठ, नरपत, राजस्थान का सांस्कृतिक गौरव, पृ. 35
 14. टॉड, कर्नल जेम्स, एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राज. भाग-1, पृ. 104
 15. रामदेवजी रो सिलोको, अ. सं. ला. बीकानेर, ग्रं. 277(ख) परिशिष्ट भाग-ख, सं. 1
 16. विश्नोई, सोनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 93,94
 17. वरदा, वर्ष 14, अंक 2 अप्रैल-जून 1971- मनोहर शर्मा, पृ. 17
 18. पाथेय कण (पाक्षिक), वर्ष 21, अंक 15, 16 नवम्बर 2008
 19. 27 मार्च 2011 राष्ट्रीय संगोष्ठी (यूजीजी. द्वारा आयोजित) में शोधार्थी का पत्र वाचन, धार्मिक पर्यटन स्थल के रूप विकासोन्मुख रामदेवरा
 20. गुप्ता, मोहनलाल, राजस्थान ज्ञान कोश, पृ. 455
 21. अगस्त, सितम्बर 2009 में शोधार्थी द्वारा की गई पदयात्रा एवं प्रत्यक्ष अवलोकन।
 22. रामदेवजी रो छंद (ह.लि.) क्र. 3976, रा. शो. सं. चौपासनी
 23. पगलिया से तात्पर्य पदचिन्ह से है जो लकड़ी अथवा पत्थर के बने होते हैं।
 24. जम्मा स्थानीय भाषा का शब्द है। जम्मा से तात्पर्य एक सांस्कृतिक संध्या अर्थात् जागरण से है।
 25. गुप्ता, मोहनलाल, जोधपुर संभाग का सांस्कृति एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 168
 26. मरुभूमि के चार धर्मवीर जुंझार, पृ. 12
 27. शुक्ल, दिनेशचंद्र, सिंह, ओंकारनारायण, पूर्वोक्त, पृ. 48
 28. पातावत, भवानीसिंह, पूर्वोक्त, पृ. 23
 29. राष्ट्रीय संगोष्ठी में शोधार्थी का शोधपत्र वाचन 'धार्मिक पर्यटन स्थल के रूप में विकासोन्मुख रामदेवरा।'
 30. वैष्णव, भंवरलाल जी, श्री रामदेव जीवन लीला कथा, पृ. 10
 31. भाटी, हरजी, बांणी सं. 96
 32. विश्नोई, सोनाराम, बाबा रामदेवजी की प्रामाणिक जीवनी, पृ. 56
 33. पुष्पा, राजस्थान के लोक देवता एव लोक साहित्य, पृ. 128

34. महाराजा मानसिंह रचित बाणियां, बाणी सं. 95
35. भाटी, हरजी, बाणी सं. 32 (निजी संग्रह)
36. छंगाणी, शिवराज, लोकदेव रामसापीर, पृ. 48
37. भाटी, हरजी, बाणी सं. 81 (निजी संग्रह)
38. भाटी, पुष्पा, पूर्वोक्त, पृ. 130
39. भाटी, हरजी, रामदेवजी रौ ब्यावड़लौ, बाणी सं. 52
40. विश्नोई, सोनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 90
41. वैष्णव, भंवरलालजी : पूर्वोक्त, पृ. 37-38
42. विश्नोई, सोनाराम : बाबा रामदेव की प्रामाणिक जीवनी, पृ. 45
43. भाटी, हरजी : बाणी सं. 87
44. भाटी, हरजी : बाणी सं. 87
45. रामदेव के ज्येष्ठ पुत्र सादोजी थे। सादोजी के वंशजो ने सादा गांव बसाया एवं देवराव जी के वंशज रामदेवरा में ही रहते हैं।
46. वात रामदेव तंवर री- मनोहर शर्मा, शोध पत्रिका, वर्ष 28, अंक 3-4 पृ.-51 (ह. लि.) अ. सं.ला. बीकानेर
47. वैष्णव, भंवरलाल, पूर्वोक्त, पृ. 52, जोधपुर 1990
48. विश्नोई, सोनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 96

मारवाड़ के लोक देवता बाबा रामदेव का मेला

डॉ. संदीप प्रजापत

मारवाड़ में बाबा रामदेवजी का प्रसिद्ध मेला राजस्थान के प्रसिद्ध इष्ट एवं लोकदेवता (Folk Deity) रामदेवजी का है। मारवाड़ (जोधपुर) के पंच (पाँच) पीरों में इनका प्रमुख स्थान आता है। 'लोक' शब्द ग्राम्य-जीवन का द्योतक है, इसलिए रामदेवजी की मान्यता ग्रामीण जीवन और उसके परिप्रेक्ष्य में अधिक है। बाबे री बीज ढ्ढूजत्र भदवा महिने के शुक्ल पक्ष की द्वितीय को पड़ती है और यही तिथि बाबा रामदेवजी के अवतार की तिथि के रूप में लोक प्रचलित भी है। रामदेवजी भगवान् कृष्ण के अवतार है। डॉ. सोनाराम विश्‍नोई का कहना है कि¹ 'बाबे री बीज' लोक मान्यता व लोक प्रचार के कारण रामदेवजी के कथावाचक और गायक लोग रहे हैं। ऐतिहासिक और प्रमाणिक तथ्यों के प्रचार लोक-जीवन में बहुत कम होता है क्योंकि तर्क (Logic) और प्रमाण (Evidence) 'लोक मानस' के तत्व नहीं है। लोक मानस प्रीलोजीकल होता है, उसका आधार तर्क नहीं अपितु विश्‍वास होता है। लोक गीत एवं लोक कलाएं लोक-जीवन में किसी भी बात के प्रचार का सशक्त साधन हैं और लोक गायक इसके लोकप्रिय माध्यम हैं। इसी माध्यम से रामदेवजी की अवतरण तिथि के रूप में भदवा के शुक्ल पक्ष की द्वितीय 'बाबे री बीज' (दूज) के रूप में लोक मानस में प्रतिष्ठित है।

इस वर्ष (2016) रामदेवजी का यह 664वां अवतरण दिवस है। जोधपुर² के मसूरिया पहाड़ी पर स्थित बाबा रामदेवजी के गुरु बालीनाथजी की समाधि स्थल पर दर्शनार्थियों का सैलाब आ उमड़ा। सुबह पंचामृत अभिषेक के बाद मंदिर के पुजारी जी ने 108 ज्योत से श्रृंगार महाआरती के दौरान समूचा मंदिर परिसर बाबा रामदेवजी के जयकारों से गूंज उठा। मसूरिया बाबा मंदिर³ में सुबह 11:15 बजे ध्वजारोहण की रस्म के साथ मेला विधिवत प्रारंभ हुआ। जोधपुर व पोकरण से आए पंडितों ने मसूरिया में रामदेवजी के गुरु बालीनाथजी के मंदिर में मंत्रोच्चार के बीच 6 घंटों तक दुग्धाभिषेक किया। इस विशिष्ट दिन चंद्रदर्शन के साथ शुक्र का तारा नजर आया, जो खुशहाली का संकेत लेकर आया। प्रेम व भाईचारा बढ़ने के साथ धर्म की ओर भी लोगों का ध्यान ज्यादा जायेगा। चंद्रावती बीज पर बाबा के भक्तों ने मसूरिया मंदिर में दर्शन लाभ कर रूणीचा धाम के लिए प्रस्थान किया। जिसमें कई पैदल, साईकिल, बाइक व वाहनों पर

सवार श्रद्धालु रामदेवरा के लिए रवाना हुए। हाथ में रंग-बिरंगी पताकाएँ लिए जिसे नेजा⁴ कहते हैं।

रामसा पीर की दरकार करते भक्त अपनी मंजिल के लिए रवाना हुए। जोधपुर⁵ में स्थित कमला नेहरू महिला महाविद्यालय के पास स्थित राईका बाग में युगल जोड़ी श्री बाबा रामदेव मंदिर है जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रामदेवजी के साथ इनकी पत्नी नेतलदे की भी पूजा होती है। इनकी युगल प्रतिमा के साथ पीछे दो घोड़े भी विद्यमान हैं, जो पूरे राजस्थान का ऐसा एकमात्र मंदिर है।⁶ इस मंदिर में सैनाचार्य स्वामी अचलानंदजी गिरि महाराज के सानिध्य में दस दिवसीय धार्मिक अनुष्ठान प्रारंभ हुआ जिसमें बाबा रामदेवजी व रानी नेतलदे की प्रतिमा का पंचामृत से अभिषेक हुआ और तत्पश्चात् 108 दीपों से महाआरती हुई। सुबह 11:15 बजे वैदिक मंत्रोच्चार के साथ पूर्व महारानीजी मारवाड़ श्रीमती हेमलता राजे जी ने ध्वजारोहण किया। इस दौरान सत्संग, संतों के प्रवचन, फूलमंडली, महाप्रसादी व भजन संध्या सहित अनेक आयोजन हुए। बाबा रामदेवजी⁷ के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में मंदिरों में आयोजित बाबा के 'जुम्मे' (रात्रि जागरण) में देर तक भक्ति गीत गुंजते रहे। बाबा रामदेव समाज सेवा संस्थान, जोधपुर की ओर से रावण का चबूतरा मैदान पर आयोजित भक्ति संध्या में भजनों की प्रस्तुति दी गई। जो सम्भवतः देश की सबसे बड़ी भजन संध्या का आयोजन था। सूर्यनगरी की विभिन्न सामाजिक-धार्मिक एवं स्वयंसेवी संस्थाएँ जातरूओं (रामदेवजी के पैदल यात्री) की सेवा में जुटी रही। शहर के अनेक स्थानों जातरूओं के लिए निःशुल्क भोजन, प्रसादी, आवास व चिकित्सीय शिविर का आयोजन चलता रहा।

मारवाड़ में हर वर्ष होने वाले इस मेले का प्रतीक साम्प्रदायिक सद्भाव, एकता व भाईचारा है। लोकदेवता⁸ बाबा रामदेवजी की समाधि स्थल रामदेवरा (जिसे स्थानीय भाषा में रूणीचा भी कहते हैं) पर रामदेवजी के वंशज व पुजारियों ने अभिषेक, पूजा-अर्चना व मंगला आरती के पश्चात् 3:30 बजे मंदिर के मुख्य द्वार खोले। द्वार खुलते ही मंदिर के बाहर कतारों में खड़े हजारों श्रद्धालुओं ने 'जय बाबा री' व 'अजमल घर अवतार की जय' के जयघोष के साथ मंदिर में प्रवेश किया तथा शांतिपूर्ण दर्शन कर खुशहाली की कामना की। यहाँ भादवा मेले के शुभारंभ पर करीब 3 किलोमीटर लम्बी लाईनें लगी। इसके पूर्व अलसुबह 3 बजे बाबा रामदेवजी की समाधि पर मुख्य पुजारी तंवर समाज के कुलगुरु श्री कमलजी छंगाणी के सानिध्य में पंचामृत से अभिषेक किया। पूजा-अर्चना कर मखमली चादर शिखर पर ध्वजारोहण कर भादवा मेले की शुरुआत की गई। पश्चिमी राजस्थान⁹ के महाकुंभ माने जाने वाले इस रामदेवरा में आए भक्तों का मेजबान जोधपुर बना। रिकॉर्ड तोड़ भीड़ का कारण चंद्रावती संयोग भी रहा जो 100 वर्षों में 12 बार ही आता है और बाबा रामदेवजी का अवतरण बीज के इसी संयोग में हुआ था।

रामदेवजी का मेला हर वर्ष मसूरिया और रामदेवरा में भाद्र माह में लगता है जहाँ गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब आदि से अनेक भक्त इनके दर्शन हेतु आते हैं जिन्हें दोनों हिंदू-मुस्लिम समान रूप से मानते हैं और पूजते हैं बल्कि मुसलमान तो इन्हें 'रामसापीर' कह कर पुकारते हैं। मारवाड़ में एक प्रसिद्ध दोहा प्रचलित है-

पाबू, हड़बू, रामदे, माँगलिया, मेहा।
पाँचू पीर पधारजो, गोगादे जेहा।।

मसूरिया मेले का दृश्य

इनकी समाधि पर हिन्दू मखाणे और नारियल चढ़ाते हैं तो मुस्लिम माला चढ़ाकर अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं। जनश्रुति¹⁰ के अनुसार बाबा रामदेवजी को घोड़ों का बहुत शौक था। अतः जनता मन्दिर में कपड़े के घोड़े भी भेंट चढ़ाती है। इनके मन्दिर के पास ही एक कुण्ड बना है जहाँ यात्री नहाते हैं और उस पानी को गंगाजल की तरह पवित्र मानते हैं। यह आस्था है कि इसके ऊपर बनी खिड़की से कूदकर स्नान करने पर कोढ़ (कुष्ठ) रोग दूर हो जाता है और अन्धों को आँखें मिल जाती हैं। लोक आस्था और लोक विश्वास का यह अनूठा मेला अपने महत्व लिए हुए है।

रामदेवरा में स्थित बाबा रामदेवजी की समाधि

बाबा रामदेवजी का पुण्य समाधि दिवस¹¹ (13 सितम्बर 2016, सोमवार) को बाबा दशमी (दशम) के रूप में श्रद्धापूर्वक मनाया गया। मसूरिया स्थित रामदेवजी के गुरु बालीनाथ के समाधि मन्दिर परिसर पर सुबह 51 ज्योत से महाआरती के दौरान पूरा मन्दिर बाबा के जयकारों से गूँज उठा। दोपहर 12:30 बजे महारुद्रभिषेक के पश्चात् मन्दिर ट्रस्ट सभा की ओर से 501 किलो प्रसादी का वितरण हुआ और शाम को आरती के साथ ही मसूरिया मेले का समापन किया गया। राईका बाग स्थित युगल जोड़ी बाबा रामदेव मन्दिर पर भी पंचामृत अभिषेक किया गया। मन्दिर में चल रही अखण्ड खड़ी सप्राह की पूर्णाहुति हुई। बाबा की बीज से प्रारंभ हुए दस दिवसीय धार्मिक आयोजन सैनाचार्य अचलानंदगिरिजी महाराज के सानिध्य में हुआ। आधारशिला रामदेवजी के मन्दिर संचालन समिति की ओर से शाम को महाआरती के साथ 1,100 किलो चूरमा व बाटी का प्रसाद वितरित किया गया। चौपासनी हाऊसिंग बोर्ड¹² में स्थित बाबा रामदेवजी के मन्दिर में बाबा की दशम पर महाआरती के पश्चात् भजन व कीर्तन का आयोजन हुआ। इसी तरह घांचियों का बास, महामन्दिर की ओर से बाबा रामदेवजी की दशमी पर छप्पन भोग का आयोजन किया गया। इसी तरह शहर के अन्य मन्दिरों में भी विभिन्न तरह से बाबा की दशम को मनाया गया। यह लोक विश्वास है कि रामदेवजी निर्धनों को धन, निपुत्रों को पुत्र, अन्धों को आँखें, पंगु लोगों को पैर देते हैं तथा कुष्ठ आदि भयंकर रोगों का निवारण करते हैं।

संदर्भ

1. डॉ. सोनाराम विश्‍नोई, बाबा रामदेव, इतिहास एवं साहित्य, पृ. 28, तृतीय संशोद्धित संस्करण, 2016, जोधपुर
2. राजस्थान पत्रिका, जोधपुर संस्करण, पृ. 8, तिथि-4.9.2016
3. दैनिक भास्कर, जोधपुर संस्करण, पृ. 4, तिथि-4.9.2016
4. पिचरंग नेजा रामा पाल सखरी री।
देवल धाम नै धरम् धजा।। हरजी भाटी, बांणी सख्या -96
पिचरंग नेजा फरहरै जठै रमिया रामा पीर जी। बांणी संख्या-71
गैर चाकर पटी पावै, बंदीवान निकासा।
रंक रे सिर छतर धरियो, अणंद उचरंग ऐसा।। हरजी भाटी, बांणी संख्या-52
5. मेरी पुस्तक, जोधपुर इन माय विजन, पृ. 34, 2015,
6. दैनिक भास्कर, जोधपुर संस्करण, पृ. 4, तिथि-4.9.2016
7. राजस्थान पत्रिका, जोधपुर संस्करण, पृ. 8, तिथि-4.9.2016
8. वही, पृ. 22
9. दैनिक भास्कर, जोधपुर संस्करण, मुख्य पृष्ठ, तिथि-4.9.2016
10. डॉ. पुष्पा भाटी, राजस्थान के लोक देवता एवं लोक साहित्य, पृ. 131, 2006, बीकानेर
11. राजस्थान पत्रिका, जोधपुर संस्करण, पृ. 10, तिथि-13.09.2016
12. दैनिक भास्कर, जोधपुर संस्करण, पृ. 8, तिथि-13.9.2016

साम्प्रदायिक सद्भावना के प्रतीक लोक देवता बाबा रामदेव

डॉ. अशोक गाड़ी

राजस्थान की मरुभूमि हमेशा वीरता, शौर्यता, कला एव साहित्य की दृष्टि से समृद्ध रही है। इस पवित्र धरा पर समय-समय पर अनेक वीरों-वीरांगनाओं, संतो, महात्माओं एवं सत्पुरुषों ने जन्म लिया है। जिन्होंने अपने तपोबल, अलौकिक ज्ञान एवं चमत्कारिक कार्यों से जनकल्याण किया है।¹ मध्यकाल में अरब, तुर्क, ईरानी एव मुस्लिम शासकों द्वारा आक्रमण कर भारत में हिन्दुओं पर अत्याचार एव उनका धर्मान्तरण किया जा रहा था। समाज में इस प्रकार की विकट परिस्थितियों में बाबा रामदेव जी का अवतरण माड़धरा में हुआ, इन्होंने लोकजगत में व्याप्त अत्याचार का विरोध किया तथा कौमी एकता व अछूतोद्धार आंदोलन चलाकर साम्प्रदायिक सद्भाव की शिक्षा दी।²

बाबा रामदेव जी का संक्षिप्त जीवन परिचय-

लोककथाओं, लोकगीतों, भजन बाणियों में अजमाल जी के सन्तानहीन होने, पैदल चलकर 12 बार द्वारिकापुरी जाने, समुद्र में कूदने भगवान श्री कृष्ण के दर्शन और पुत्र रूप में आने का वचन देना इत्यादि विशद् घटनाओं का वर्णन मिलता है।³

पाण्डव अर्जुन की 71वीं पीढ़ी में बाबा रामदेव जी का जन्म हुआ। भक्त शिरोमणी रिणसी तुवंर (तोमर) के ज्येष्ठ पुत्र अजमाल जी द्वारिकाधीश भगवान श्री कृष्ण के प्रिय भक्त थे।⁴ बाबा रामदेव जी का जन्म तंवर वंशीय अजमाल जी एवं मैणादे के यहाँ चैत्र शुक्ला पंचमी विक्रम संवत् 1409 में बाड़मेर जिले के उण्डू कश्मीर में हुआ था। इस स्थल को वर्तमान में रामदेवरिया नाम से भी जाता है। लोकआस्था के अनुसार भगवान विष्णु ने अजमाल जी को भादवा सुदी बीज को उनके घर में अवतार लेने का वचन दिया था।⁵

*भादुड़ा री बीज रो जद चंदो करे प्रकाश,
रामदेव वण आवसुं राखीजे विश्वास।⁶*

रामदेवरा में प्रतिवर्ष भाद्रपद सुदी बीज को रामदेव जी के जन्मदिवस 'बाबा री दूज या बीज' के रूप में मनाया जाता है। इसी दिन से रामदेवरा (रूणेचा) में भादवा सुदी बीज से भादवा सुदी एकादशी तक विशाल मेला मंगल आरती के साथ आरंभ होता है।

सांप्रदायिक सद्भावना के प्रतीक इस मेले में राजस्थान से ही नहीं बल्कि गुजराज, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, मध्यप्रदेश एवं अन्य राज्यों से लाखों श्रद्धालु भक्त मन्त पूर्ण होने पर रूपेचा आकर मनौती मनाते है।⁷ इस मेले में हिन्दू वर्ग ही नहीं बल्कि मुस्लिम सम्प्रदाय के लोग भी बाबा रामदेव में आस्था रखकर उनको पीर बाबा के रूप में पूजते हैं।⁸ मारवाड़ के सभी बड़े ग्रामीण अंचलों में रामदेव जी के मंदिर बने हुए हैं जिन्हें देवरा कहा जाता है, इनमें इनके प्रतीक स्वरूप पगलियों की पूजा की जाती है तथा नेजा (ध्वजा) चढ़ायी जाती है।⁹ मेघवाल जाति की आस्था बाबा रामदेव जी की भक्ति में अटल रही, जिसके फलस्वरूप इन्हें आत्मबल प्राप्त हुआ।¹⁰

रूपीचा के मेले में पहुँचने से पहले श्रद्धालु लोग जोधपुर में रामदेव बाबा के गुरु के मसूरिया पहाड़िया स्थित मंदिर में भी दर्शन करना शुभ मानते हैं।¹¹ कई जातरू बाबा के जयकारों के साथ मस्त होकर भजन गाने लगते हैं-

*खम्मा-खम्मा घणी ओ अजमाल जी रा कँवरा
माता मैनादे रा लाल, रानी नेतल रा भरतार,
म्हारो हेलो सुणो जी रामापीर*¹²

रामदेव जी के मेले में कामड़ जाति की महिलाओं द्वारा तेरहताली नृत्य किया जाता है।¹³ मरुधरा में 15वीं शताब्दी के दौरान त्रस्त मानवता को उचित मार्ग दिखाने वाले हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक बाबा रामदेव जी को 'पीरों का पीर' पिछम धरा के बादशाह, लीले रा अवतार, धवली धजा रा धणी, पिछम रा पीर, अलख धणी, राम रूपीचे वालो एवं पीर पोकरण वालों इत्यादि विशेषणों से अलंकृत किया जाता है।¹⁴

बाबा रामदेव के बारे में अनेक लोक-श्रुतियां प्रसिद्ध हैं, जिनको लोक चमत्कार या परचा कहते हैं। उनके सभी चमत्कार (परचे) उनके आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता को बताते हैं कि वास्तव में वो महान एवं सिद्ध पुरुष थे।¹⁵

बाबा रामदेव जी का साहित्यिक योगदान-

मरुप्रदेश के लोककलाकारों ने अपने गीतों, लोककथाओं तथा भजनों के माध्यम से बाबा रामदेव जी की चमत्कारिक महिमा का चित्रण एवं गुणगान किया है। रामदेव जी ने अपने द्वारा स्वरचित 24 बाणियों द्वारा गुरु की महिमा, जीवन के आदर्शों, अध्यात्म का उपदेश तथा साधना का शिक्षण दिया है। इनकी प्रसिद्धि राजस्थान में ही नहीं बल्कि गुजरात, मध्यप्रदेश, हरियाणा, महाराष्ट्र एवं सिंध तक पहुँच चुकी है।¹⁶ बाबा स्वयं सिद्ध पुरुष थे, इस कारण उन्होंने स्वरचित बाणिया लिखी, उनकी लिखी गई गुरु प्रमाण नामक वाणी इस प्रकार है-

*गुरु प्रमाण, सुणलौ गुरु गम गयान निहारी,
गुरु किरपा गोविंद गत जाणौ, आवै भरोसौ भारी।।टेर।।*

*ग्यानी गुरु भव दुःख सगलीा मेटै, अग्यानी आप ऊझावै।
मंगतां आगै मंगता मांगै, भूल्या औरां नै भूलावै।।*¹⁷

गुरु की महिमा स्पष्ट करते हुए रामदेव जी कहते हैं कि लोगों! ज्ञान दृष्टि के लिए गुरु रहस्य का विचार सुनिये। गुरु के प्रति दृढ़ विष्वास अटूट आस्था धारण करके गुरु की कृपा प्राप्त करो, जिससे ईश्वर का स्वरूप पहचानों। ज्ञानी गुरु विश्व के समस्त दुःखों का नाश कर देता है, जबकि अज्ञानी गुरु माया जाल में उलझा देता है। अज्ञानी गुरु करने से शिष्य की स्थिति ठीक उसी प्रकार हो जाती है, जैसे एक भिक्षुक दूसरे भिक्षुक से याचना कर रहा हो, जो निरर्थक है। अज्ञानी गुरु स्वयं भ्रमित है, वह दूसरों को भी भ्रमित करता है।¹⁸

रामदेव जी के रात्रि जागरण (जम्मा) में मेघवाल जाति के रिखियों (भक्तों) द्वारा वर्तमान में भी तंदूरा (वीणा) द्वारा भजन एवं बाणियां गायी जाती हैं।¹⁹

रामदेव जी दलित उद्धारक के रूप में

बाबा रामदेव जी ने मध्यकालीन समाज में उस समय की अछूत एवं अपेक्षित मानी जाने वाली मेघवाल जाति जिनके छया से सवर्ण जाति भेदभाव करती थी, उन्हें मंदिर में प्रवेश देकर जन चेतना जागृत की एवं तत्कालीन समाज में व्याप्त भेदभाव, छुआछूत, जातिवाद जैसी बुराइयों को समाप्त कर भाईचारे एवं स्नेह की भावना का प्रचार प्रसार किया। लोक कथाओं के अनुसार बाबा रामदेव जी ने अपनी बहन डालीबाई के साथ समाज सेवा के लिए गांव-गांव जाकर अछूतोद्धार अभियान चलाया तथा मेघवाल जाति के घरों में जम्मा (जागरण) करके धार्मिक जागृति फैलायी।²⁰

समाधि लेने से पूर्व मेघवाल जाति हेतु समाज में परिवर्तन के लिए धार्मिक अनिवार्यता के रूप में दो वचन दिये, प्रथम मेरी समाधि में पैर रखने से पूर्व डाली बाई के मंदिर के दर्शन व परिक्रमा करने से मेरी पूजा पूर्ण होगी, दूसरा जम्मा जागरण में मेघवंशी सदस्य की प्रधानता अनिवार्य रूप से हो अन्यथा जागरण अपूर्ण माना जायेगा।²¹

मेघवंशियों को समाज में सवर्णों के बराबर स्थान दिलाने के लिए किये गये प्रयासों से अन्य उच्च वर्गों द्वारा उन्हें उपेक्षा मिली तथा कई बाधाएँ उत्पन्न हुईं फिर भी दलित वर्ग के लिए संघर्ष करते हुए उन्होंने कुँओं, तालाबों, बावड़ियों तथा पनघट से पानी भरने से होने वाली छुआछूत के लिए सघन अभियान चलाकर धार्मिक चेतना का संदेश दिया।²²

सम्प्रदायिक सद्भाव के प्रतीक

बाबा रामदेव जी ने सभी धर्मों के लोगो में एकता स्थापित करने का शुभ कार्य किया। इनके पूर्वजों की सात पीढ़ियां लगातार मुस्लिम आक्रांताओं एवं हिन्दूओं के बीच हुए युद्धों में मारी गईं, लेकिन बाबा रामदेव जी के अवतार के रूप में आने के साथ ही

युद्ध स्वतः समाप्त हो गये, लोगों में भाईचारा एवं कौमी एकता की भावना का विकास हुआ। वर्तमान में रामदेवरा (रूणेचा) में बाबा रामदेव की समाधि पर हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी एक साथ आस्था से नमन करते हैं।²³

निर्धनों के मसीहा के रूप में

रामदेवरा (रूणेचा) मेले में सबसे अधिक निर्धन लोग एवं आदिवासी लोग आते हैं जिसके पीछे बाबा रामदेव में इनकी अटूट आस्था एवं भक्ति भावना है।²⁴

समाधि लेने से पूर्व रामदेव जी ने समाधि में खड़े होकर सबको अपना अंतिम उपदेश देते हुए कहा कि मेरे समाधि स्थल पर शुक्ल पक्ष की दूज को पूजा-पाठ, भजन कीर्तन करके उत्सव रात्रि जागरण करना। प्रत्येक वर्ष मेरे जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में तथा अन्तर्ध्यान समाधि होने की स्मृति में विशाल मेला लगेगा। मेरी समाधि पूजन में किसी भी प्रकार की भ्रांति एवं भेदभाव मत रखना। मैं सदैव अपने भक्तों के साथ रहूंगा।²⁵

समाधि लेने के कुछ समय पश्चात् तुंवरो को भ्रम पड़ गया कि रामदेव जी समाधि से निकल तो नहीं गये हैं, उन्होंने समाधि स्थल को खोद डाला जिसमें रामदेव जी के शरीर के अवशेष मिले तथा एक वाणी बोली हे तुंवरो अब आपकी पीढ़ी में कोई सिद्ध पुरुष जन्म नहीं लेगा पर आपकी पूरी पीढ़िया मेरे यहां लगने वाले मेले से जीविकोपार्जन हमेशा करती रहेगी।²⁶

धार्मिक पर्यटन नगरी के रूप में रामदेवरा (रूणेचा)

पश्चिमी राजस्थान के जैसलमेर जिले के पोकरण उपखण्ड मुख्यालय से करीब 12 किमी. उत्तर की तरफ विख्यात रामदेवरा ग्राम स्थित है। इसका दूसरा नाम रूणेचा है। यहां साम्प्रदायिक एकता के प्रतीक मध्यकालीन लोक देवता बाबा रामदेव की समाधि पर मंदिर बना हुआ है। जहाँ करीब 630 वर्ष पूर्व भादवा सुदी एकादशी को बाबा रामदेव ने समाधि ली थी, समाधि स्थल पर बीकानेर के राजा गंगासिंह ने भव्य मंदिर का निर्माण करवाया, इस मंदिर का समय समय पर विस्तार होता रहा, वर्तमान में यहां विशाल मंदिर बना हुआ है।²⁷ रामदेवरा (रूणेचा) में धार्मिक आस्था स्वरूप कई ऐसे स्थल हैं, जिनका भ्रमण कर श्रद्धालु अपने को धन्य समझते हैं।²⁸

रामसरोवर आस्था का केन्द्र-रामदेवरा गांव में स्थित रामसरोवर तालाब जन आस्था का केन्द्र है, करीब 650 वर्ष प्राचीन इस तालाब का निर्माण बाबा रामदेव जी ने इस क्षेत्र में पानी की कमी को दूर करने के लिए बनाया था। ऐसी लोकमान्यता प्रचलित है कि रामदेवरा आने वाले श्रद्धालु जब तक इसमें डुबकी नहीं लगाते हैं तब तक उनकी यात्रा अधूरी मानी जाती है।

परचा बावड़ी का परचा- बाबा रामदेव जी के मंदिर परिसर के पास चमत्कारिक परचा बावड़ी का पानी चमत्कारिक माना जाता है। लोगों की आस्था है कि कुष्ठ रोग से

पीड़ित एवं किसी लाइलाज बीमारी में इसका पानी अमृत के समान है तथा इस पानी से बीमारी ठीक हो जाती है। ऐसी मान्यता है कि बाबा की आस्था से सब रोग दूर हो जाते हैं।²⁹ परचा बावड़ी में स्थित चार शिलालेख बावड़ी का निर्माता एवं जीर्णोद्धार संबंधी ऐतिहासिक जानकारी देते हैं।

रूपीचा कुँआ व पंच पीपली- वर्षों पूर्व पानी की कमी के चलते यहां पर हस्तनिर्मित रूपीचा कुँआ खुदवाया गया था, जो वर्तमान में अच्छी स्थिति में है। श्रद्धा व आस्था के चलते यहां लाखों श्रद्धालु आते हैं। रामदेवरा गांव से 10 किमी दूर एका गांव के पास पंचपीपली स्थान है। यहां मक्का से पांच पीर बाबा की परीक्षा लेने आये, पीरों को बाबा रामदेव जी ने चमत्कार दिखाया था तब पीरों ने उन्हें पीरों का पीर की उपाधि प्रदान की थी। इस के चलते इस स्थान का नाम पंचपीपली रखा गया। यहां पर तीन सूखे एवं दो हरे-भरे पीपल के वृक्ष हैं, इन्हें चमत्कार युक्त वृक्ष माना जाता है।

गुरु बालीनाथ का आश्रम- रामदेवरा आने वाले लाखों श्रद्धालुओं की लोकदेवता बाबा रामदेव के साथ उनके गुरु बालीनाथ महाराज के प्रति गहरी आस्था है। यहां स्थापित गुरु की प्रतिमा व भैरव राक्षस की मूर्ति तथा आश्रम के पास ही स्थित बावड़ी में रखी पत्थर से निर्मित बड़ी गेंद श्रद्धालुओं के लिए आकर्षण व आस्था का केन्द्र है।

डाली बाई का कंगन- बाबा रामदेव जी की समाधि के सामने उनकी परम भक्त डालीबाई की समाधि है, उसके पास चूड़ानुमा धर्म पाप द्वार है, श्रद्धालु इसमें निकलकर मोक्ष प्राप्ति की कामना करते हैं।³⁰

सारांशतः प्रतिवर्ष भाद्रपद एवं माघ महीने में रामदेवरा में देशी पर्यटकों एवं श्रद्धालुओं की संख्या लाखों में रहती है। बाबा रामदेव जी के उपासकों के रूप में निर्धन लोगो से लेकर राजा महाराजा तथा उद्योगपति तक आते हैं। लोगो द्वारा मनौती मांगने, मनौती पूर्ण होने के उपलक्ष्य में दर्शन कर खुशहाली एवं वैभव की कामना की जाती है।

सन्दर्भ

1. गुप्ता मोहनलाल, जोधपुर संभाग का जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर वर्ष 2005 पृ. 167
2. विश्‍नोई डॉ. सोनाराम, बाबा रामदेव, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर प्रथम संस्करण वर्ष 2001 पृ. 3
3. विश्‍नोई डॉ. सोनाराम, बाबा रामदेव जी की प्रामाणिक जीवनी राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर वर्ष 2005 पृ. 28, 34
4. विश्‍नोई डॉ. सोनाराम, बाबे री बांगली, आचार्य तुलसी राजस्थानी शोध संस्थान, बीकानेर वर्ष 2006 पृ. 16
5. स्वर्ण रज पत्रिका, जैसलमेर वर्ष 2007-08 पृ.स. 41

6. दैनिक तरूण, राजस्थान द्वारा प्रकाशित आलेख- रूणिचा रा श्याम 15 सितम्बर 2015
7. राठौड़ डॉ. विक्रम सिंह, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास राजस्थानी साहित्य संस्थान, जोधपुर प्रथम संस्करण वर्ष 2007 पृ.स. 5,
8. वही, पृ.स. 6
9. भाटी भंवर सिंह, धार्मिक पर्यटन स्थल के रूप में विकासोन्मुख रामदेवरा विषय पर पर्यटन दशा एवं दिशा संगोष्ठी में पत्र वाचन
10. राठौड़ डॉ. विक्रम सिंह, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास राजस्थानी साहित्य संस्थान जोधपुर प्रथम संस्करण वर्ष 2007 पृ. 6
11. राजस्थान पत्रिका जोधपुर, रामदेवरा मेला विशेषांक आलेख 13 सितम्बर 2015
12. जैसलमेर जुहारिये स्मारिका, स्वर्णगिरी प्रकाशन पटवा हवेली जैसलमेर वर्ष 2010 पृ. 130
13. शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर पृ. 78
14. राजस्थान रा चावा लोकतीर्थ, माणक पत्रिका, माणक प्रकाशन जोधपुर पृ. 12
15. शर्मा, नंद किशोर लोकतीर्थ, रामदेवरा सीमान्त प्रकाशन जैसलमेर पृ. 27
16. विश्णोई डॉ. सोनाराम, बाबा रामदेव, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर प्रथम संस्करण वर्ष 2011 पृ. 9
17. वही, 2006 पृ. 17
18. सक्सेना शालिनी, राजस्थान के लोकतीर्थ, श्याम प्रकाशन, जयपुर वर्ष 2003 पृ. 205
19. वही, पृ.206
20. मेघवाल दिग्दर्शिका 2001, स्वामी राम प्रकाशाचार्य का आलेख पृ. 123
21. वही, पृ. 124
22. वही, पृ. 124
23. विश्णोई डॉ. सोनाराम, बाबा रामदेव, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर वर्ष 2011 पृ. 8
24. डॉ. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में भक्ति आंदोलन अजमेर 1991 पृ. 249
25. तंवरों री ख्यात (ह.लि) अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर ग्रंथांक 13 , राज. राज्य अभिलेखागार, बीकानेर पृ. 8
26. वही पृ. 8
27. दैनिक तरूण राजस्थान, जोधपुर, रूणिचा रा श्याम आलेख पृ. 5
28. रामदेव बाबा के मेले में भ्रमण से प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभव एवं जानकारी
29. पातावत डॉ. भवानी सिंह, आस्था रो उजास, जोधपुर वर्ष 2004 पृ. 23
30. रामदेव जी बाबा मेले में भ्रमण से प्राप्त जानकारी

जोधपुर राज परिवार का उदयपुर गणगौर उत्सव में पधारने की विगत

डॉ. सुशीला शक्तावत

उदयपुर में गणगौर का त्यौहार बहुत हर्षोल्लास से मनाया जाता था। इस अवसर पर अन्य राज परिवार के सदस्य भी उदयपुर आते रहे थे। जोधपुर राज परिवार के सदस्यों का 24 मार्च 1946 से 8 अप्रैल तक मुकाम उदयपुर में रहा। इस अवधि की कुछ प्रमुख घटनाओं, समारोहों, शिष्टाचारों और परम्पराओं की झलक हमें महाराजा, मानसिंह पुस्तक प्रकाश में उपलब्ध हकीकत बही से प्राप्त होती है।

जोधपुर महाराजा उम्मेदसिंह जी, बड़े महाराज कुमार एवं महाराज कुमार हिम्मतसिंह जी व कुछ अन्य जागीरदार 30 मार्च को सुबह सात बजे मामूली रेल से जिसमें सेलून लगा था उदयपुर से जोधपुर पधार गये थे, ऐसा दस्तरी डिर्पाटमेन्ट की बही से पता चलता है। जोधपुर महारानी व अन्य सदस्य उदयपुर में ही दर्शनीय स्थलों के भ्रमण हेतु रह गये थे। 4 अप्रैल को पुनः जोधपुर महाराजा उम्मेदसिंह जी, महाराजा अजीतसिंह, साथ में 2 आदमी, कुचामण पटायत के साथ एक आदमी और झालामंड पटायत के साथ में एक आदमी, दिन में बारह बजे मामूली रेल में जिसमें सेलून लगा था, उसमें जोधपुर से उदयपुर आगमन हुआ।¹

गणगौर उत्सव का विशद विवरण मिलता है कि उदयपुर की महारानी जी महल से गाड़ी में बैठी उनके साथ घनेरिया के महाराज उदेसिंह जी पांडे लिछमी नारायण, मेहता पन्नालाल इत्यादि पोने छह बजे के करीब लक्ष्मी निवास पैलेस में जहां जोधपुर महारानी ठहरी हुई थी। युवरानी जी, बाईजी लाल, भाणेज बाईजीलाल उनसे ऊपर कमरे में जाकर मिली, फिर ये सब गाड़ी में बैठे इनके साथ अन्य सदस्य थे, जोधपुर के महाराज रतनसिंह जी के कुंवर लक्ष्मणसिंह जी, पाल पटायत बाबू बालूसिंह, नाजर बचनाराम, अरजनसिंह दस्तरी क्लर्क, रामलाल डयोड़ीदार डावड़िया इत्यादि भी बैठकर ये सब पहले महल में गये वहां परदे का प्रबंध हुआ वे अन्दर गणगौर माता जहां रखी गई थी वहां पर गये करीब पौन घण्टे यहां रूके। वहां से उपरोक्त सभी सदस्य बागोर की हवेली जो पीछोला घाट पर स्थित हैं, वहां पहुंचे जहां पर डेलाण में बैठने हेतु विछायत का प्रबन्ध किया गया था, मुडा करसीया रखी गई थी डेलाण में दरी भी बिछाई गई थी।²

श्री महाराज उम्मेदसिंह जी की सवारी साठे छह बजे डेरे से मोटर में बैठकर

उनके साथ महाराज अजीतसिंहजी, महाराज रतनसिंग जी, महाराज प्रेमसिंग जी कुचामण झालामण्ड सीदरड़ी रा जागीरदार, कुशलगढ़ राजा, ईडर महाराज लाल सिंह जी, डाक्टर विजेकिशन जी और उदयपुर के सरदार आनन्द भवन से स्वरूप सागर घाट पर पहुंचे वहां से नावों में बैठकर बागोर की हवेली पधारे, गणगौर घाट के तरफ उपरी छत पर दरी, मुड़ा कुरसीया बिछी हुई थी, वहां पहुंचने पर उदयपुर महाराज कुमार जो पहले यहां पहुंचे गये थे, उनसे मिलना हुआ वही सब कुरसीयो पर बैठ गये। अन्य लोग नीचे बैठे।³

संध्या सात बजे महाराणा भूपालसिंह जी हाथी के होदे पर सवार लवाजमा सहित पिछोला ऊपर गणगौर घाट पर पधारे, वहां हाथी से उतरक खासा (मर्दानी पालकी) में बिराजकर, छतरी के समीप पहुंचे, कुछ देर कुरसी में बिराजे। बाद में महाराणा की नाव में बिराजे, पीछे जोधपुर महाराजा भी पहुंचे वे दूसरी नाव में बैठे, पीछोला में कुछ देर ठण्डी हवा का आनन्द लिया, इसके पश्चात् गणगौर घाट पर पधारे, यहां नाच, गायन व घूमर तायफो द्वारा खेली गई। बाद में महाराणा भूपालसिंह जी व महाराणा उम्मेदसिंह जी नाव में बैठकर बंशी घाट पधारे। वहां उतरने के पश्चात् महाराणा महलों में और महाराजा जोधपुर लक्ष्मी पैलेस निवास पधारे। जोधपुर महारानी जी युवरानी बाईजीलाल, भाणेज बाईजीलाल व अन्य जनानी सवारिया बागोर री हवेली से पर्दे वाली मोटर में बैठकर महलों में पधारे। अंदाजन एक घण्टा रूकने के पश्चात् लक्ष्मी निवास पैलेस रात दस बजे पहुंचे। जोधपुर महारानी जी ने महल में गणगौर माताजी को 5 रु. भेंट चढ़ाई व 2 श्रीफल चढ़ाये। युवरानी जी जोधपुर ने भी 5 रु. भेंट के व 2 नग श्रीफल चढ़ाये।⁴

गणगौर माताजी की सवारी को लेकर महाराणा भूपालसिंह जी खासा में बैठकर महल के समीप पार्वती घाट में पहुंचे वहां गणगौर माता को विराजमान किया, बोलावणी तक अब माताजी का यही निवास होगा।⁵

महाराणा जी गणगौर माताजी की सवारी कराने के पश्चात् पुनः महल में पधारे थे। उस समय जोधपुर महारानी की तरफ से नछरावल हुई।⁵ महाराणा जी गणगौर माताजी की सवारी कराने के पश्चात् पुनः महल में पधारे थे। उस समय जोधपुर महारानी की तरफ से नछरावल हुई।⁶

202) श्री महाराणी सा

101) उदेपुर रा श्री महाराणाजी सा रे नछरावल

101) उदेपुर रा श्री महाराणीजी सा रे नो

202)

102) श्री युवरानी जी सा

51) श्री महाराणी जी सा रे

51) श्री महाराणी जी सा रे

102)

उदयपुर वालों की तरफ से भी नछरावल की गई-

101) उदेपुर रा श्री महाराणाजी सा श्री महाराणी जी सा रे

101) उदेपुर रा श्री महाराणाजी सा श्री महाराणी जी सा रे

101) युवराणी जी सा उदेपुर श्री महाराणीजी सा ने

5 अप्रैल को जैसलमेर के गांव के बारठ रतन कुंवर जो उदयपुर में रहता है ग्यारह बजे लक्ष्मीनिवास पैलेस में आया उस समय महाराजा उम्मेदसिंह उपर से नीचे हाल में पधारे तक उसने 2 रु. महाराजा को नजर किये व जोधपुर महारानी साहेबा को मायने मुजरा मालूम कराया व 2 रु नजर किया। जोधपुर महाराजा की तरफ से जसकरण को वापस 4 रु. व महारानी सा. की तरफ से 4 रु. कुल 8 रु. दिये गये।⁷

श्री जी साहब जोधपुर महाराजा की सवारी ग्यारह बजे ऊपच से नीचे आने के बाद आनन्द भवन की कोठी में पधारे वहां से आधे घण्टे बाद मोटर में बैठकर सहेलियों की बाड़ी में पधारे साथ में महाराजाधिराज सर श्री अजीतसिंह जी महाराजा श्री प्रेमसिंह जी कुशलगढ़ महाराज श्री लालसिंग जी, महाराज रतनसिंगजी के कुंवर लक्ष्मणसिंह जी, कुचामण, झालामण्ड पटायत सीदरड़ी जागीरदार, पानसर ठाकुर जोधो शैतानसिंह इत्यादि थे। भोजन वही पर किया। (तासलिया उठे हजि अरोगाई थी) रात्रि में एक बजे वापस अपने डेरे लक्ष्मी निवास पधारे।⁸

गणगौर का उत्सव यहां चैत्र सुदी तीज से बोलावणी तक होता है। उदयपुर नगर की गवरा गणगौर घाट पर हमेशा आती है और उदयपुर की महारानीजी भी नजारा देखने को पधारती थी। उदयपुर की महारानीजी साहबा साढ़े पांच बजे परदे वाली मोटर में धनेरिया महाराज करेड़ा के राजाजी, पांडे जक्ष्मीनारायण, मेहतो पन्नालाल और डावडिया इत्यादि के साथ लक्ष्मीनिवास पैलेस पधारे, वहां परदे में उतरकर ऊपर पधारे। उनके साथ थोड़ी देर में जोधपुर महारानी सा, युवरानी बाईसालाल गये दूसरा जनाना परदे वाली गाड़ी में बैठे साथ में जोधपुर के महाराज रतनसिंग, कंवर लक्ष्मण सिंग, पाल री पटायत, बाबू बालसिंग क्लर्क रामलाल डोडीदार इत्यादि भी बैठे, ये पहले महलों में पहुंचे आधा घंटा रूकने के बाद में सवारिया बागोर की हवेली पधारी वहां डेलाण में बैठने का प्रबन्ध हुआ कुछ लोग डागले पर बैठे।⁹

महाराजा उम्मेदसिंग जी की सवारी डेरे से निकली साथ में महाराज अजीतसिंग जी व अन्य जोधपुर के जागीरदार जो साथ में उदयपुर आये थे वे आनन्द भवन के समीप सरूप सागर के घाट तक पहुंची, वहां से वे नाव में विराजे, शाम होने वाली थी और महाराणा भूपालसिंह जगनिवास से बड़ी नाव में बैठकर साथ में अन्य सरदार व तायफों (नाचने वाली) भी थी। गणगौर घाट पधारे, वहां जोधपुर महाराजा नाव में बिराजे हुये थे, उनकी नाव भी श्री महाराणी के नाव के पास आ गई, फिर तायफों राणाजी के नाव से

उतरकर गणगौर घाट पर घूमर नृत्य करने लगी 20 मिनट बाद वापस वे तायफे राणाजी की नाव में बैठ गई, महाराणाजी की नाव बंशीघाट पहुंची, वहां से उतरकर महलों में पधारे, जोधपुर महाराजा नाव से आनन्द भवन के समीप स्वरूप सागर घाट पर नाव से गये फिर उतरकर मोटर में बैठकर अपने डेरे लक्ष्मी निवास पैलेस पधार गये।¹⁰

साथ ही जनानी सवारीया बागोर की हवेली से महलों में पधारी एक-दो घण्टे रूकने के बाद अपने डेरे लक्ष्मीनिवास पधार गयी। शहर की गंवरा भी गणगौर घाट आई थी बहुत से लोग शहर को देखने आये थे, आतिशबाजी छोड़ी गई।

6 अप्रैल को जोधपुर के बड़े महाराज कुमार हणुतसिंग जी महाराज कंवर हिम्मतसिंह साहब का पधारना रात के दस बजे उदयपुर में मामूली रेल में सलुन में बैठकर पधारे साथ में अन्य जागीरदार भी थे, उदयपुर वालों की तरफ से रेल्वे स्टेशन पर मोटर गाड़ी थी, उसमें बैठकर लक्ष्मीनिवास में पधारे। जोधपुर महाराजा इस समय आनन्द भवन में थे, उन्होंने हाल में उनके साथ बैठकर बातचीत की। यहां बारहठ नाथुदान ने 1 रु. श्री जोधपुर महाराजा को नजर किये वह आधा घण्टे तक विगत वार्ता, सुनाई। महाराजा ने इनको 500 रु. दिये। साढ़े ग्यारह बजे जोधपुर महाराजा व उनके पुत्र व अन्य ठिकानेदार सहेलियों की बाड़ी में एक बजे रा पाछ पधारिया।¹¹

जोधपुर महारानी की सवारी दिन में दो बजे के करीब लक्ष्मीनिवास पैलेस से परदे वाली गाड़ी में विराजे साथ में युवरानीजी, बाईजीलाल, भाणेज बाईजीलाल व जोधपुर महाराज रतनसिंह जी कंवर लक्ष्मणी सिंह जी, पालका पटायत दस्तरी क्लर्क रामलाल और नाजर डोडीदार, डावडिया भी साथ थी पहले महलों में पधारे, वहां से उदयपुर महारानी सा व अन्य जनाना व धनेरिया महाराज वसी ठाकुर पांडे लक्ष्मीनारायण मेता पन्नालाल इत्यादि बंशी घाट पहुंचकर नाव में बैठे, वहां से जगमन्दिर पधारे, यहां से कुछ वही से व कुछ दूर से नाव में बैठकर यहां पहुंचे। एक डेढ घण्टे रूककर मन्दिर के दर्शन किये, माली डाली लेकर आधा, उसको 5 रु. दिया। यहां से नाव में बैठकर वहां गये जहां गणगौर माताजी विराजे थे यहां आधा घण्टा रूके, शाम होने आई तब जोधपुर महाराणीजी व उदयपुर महारानीजी व अन्य जनाना सरदार व अन्य साथ में आये सवारियों सहित नाव में बैठकर बागोर की हवेली पधारे यहां इंतजाम थे, कुछ डेलाण में व कुछ डागले पर बैठे। बाद में महाराणा जी भूपाल सिंह जी की नाव गणगौर घाट पर आई, यहां ढबी घाट पर तायफो का 15-20 मिनट नाच गाना हुआ, फिर नाव रवाना होकर बंशीघाट पहुंची वहां से महाराणा जी महलों में पहुंचे। फिर दोनों महारानिया व अन्य जनानी सरदार व अन्य सवारिया मोटर में बैठकर महलों में पहुंची, उदयपुर की महारानी सा को महलों में पहुंचाकर तुरन्त ही सभी सवारियां रात्रि साढ़े आठ बजे लक्ष्मीनिवास पधार गयी।¹²

जोधपुर महाराजा के साथ महाराज कुंवर हिम्मतसिंह, महाराज अजीतसिंह जी व अन्य कुंवर व सरदार सात बजे के करीब स्वरूप घाट से नाव में बैठकर पहले बंशी घाट पधारे, यहां उदयपुर के महाराज कंवर का भी पधारना हुआ, वे दोनों महाराज कुमार आपस में गले मिले (बगलगीर) व उनके साथ नाव में बैठ गये, उसी समय उदयपुर महाराणा सा की नाव भी आई, वे सब गणगौर घाट पहुंचे, वहां से महाराणा सा पधारे गये, तब उदयपुर के महाराज कुंवर उनके साथ बंसी घाट उतरकर स्वरूप सागर घाट पर पधारे वहां से डेरे पधार गये।¹³

बेदला ठिकाने के ठिकानेदार मनोरसिंग की तरफ से बेदला में गोठ रखी गई थी। रात दस बजे सवारियां बेदले गईं, साथ में जोधपुर के बड़ा महाराज कंवर, महाराज कंवर श्री हिम्मतसिंगजी, तासलिया उठे अरोगाई ने महफिल हुई रात रा तीन बजे अन्दाजन पाछ पधारिया। बेदले के पटायत ने जोधपुर महाराजा को 5रु. मोहरा नजर की व नोकटो को 251 रु. दिये थे।¹⁴

जोधपुर महारानी जी साहब की सवारी दस बजे के बाद लक्ष्मीनिवास से जाण्टा की मोटर में बैठकर महलों में पधारी, उनके साथ महाराज रतनसिंह का कंवर लक्ष्मणसिंह पाल का पटायत नाजर डावडियो थी। महलों में एक घण्टे रूके। कमरे में उदयपुर महाराणा सा व महारानी सा आराम फरमा रहे थे। तब जोधपुर महारानी सा ने रस्म वश उनके कमरे में ताला लगा दिया। उनकी डावडिया साथ में थी उन्होंने गीत गाये, क्योंकि ताला नेग देने पर ही खोला जाता है।¹⁵

निछरावल जोधपुर महाराणी सा ने करी उन्होंने 101 रु. उदयपुर के महाराणा की , 101 रु. उदयपुर की महाराणी जी को नजर देने के बाद गीत गान के बाद

1000 रु. उदयपुर की जनाना सरदारों को गोठ के दिये

700 रु. डावडियों को गोठ के

100 रु. अचटोल बाई ने ईनायत

100 रु. ठाकुर साहुलसिंह जी के जनान ने

200 रु. ठाकुर साहुलसिंह रे टाबरा रा हाथा में

उदयपुर की महारानी सा सुबह सात बजे महलों से परदेवाली गाड़ी में बैठकर साथ में उदयपुर के सरदार भी थे। लक्ष्मी निवास पैलेस पधारे। उस समय कमरे में जोधपुर महाराजा व महारानी आराम फरमा रहे थे, तब उदयपुर की महाराणी सा ने कमरे में ताला लगा दिया और उनकी डावडियो ने गीत गाया। उदयपुर की महाराणी सा ने जोधपुर महाराजा पर 100 व महाराणी जी पर भी 100 की निछरावल की। इसके पश्चात् जोधपुर बाईजीलाल, बच्चे व अन्य महाजन रतनसिंह के कंवर लक्ष्मणसिंह, पाल का पटायत डावडिया, डोडीदार साथ में सज्जनगढ़ देखने पधारे। नौ बजे तक वापस आ गये, सबको लक्ष्मीनिवास में छोड़कर उदयपुर महारानी जी वापस पधार गये।¹⁶

उधर ईनाम ईकरान आपणे त्रफ सूं दीरीजयो

20) मेरीया जणीया 20 पाणी भरीयाये वो गीत गाया तिणाने

11) मेहला रा जमादार ने- पुरास चौकीदार वगैरे ने

श्री गणगौर माताजी की बोलावणी चेत सुदि 5 को हुई। उदयपुर महाराणा गणगौर की सवारी महलों से करते हैं तो श्री जी साहब को (जोधपुर महाराज) को भी साथ में सवारी करने को फरमाया तो जोधपुर महाराजा ने उसे मन्जूर कर लिया। महलों से हाथी के हौदों पर विराज कर पीछेला के तट पर पहुंचे, जनाना सवारिया देखने हेतु पधारी।

उदयपुर के महारानीसा दिन के साढ़े पांच बजे मोटर में बैठकर लक्ष्मीनिवास पधारी, साथ में डावडिया, उदयपुर के सरदार, घनेरिया महाराज, पांडे लक्ष्मीनारायण थे। पन्द्रह बीस मिनट के पश्चात् जोधपुर महारानीजी सा, युवरानी सा, बाईजीलाल, भाणेज बाईजीलाल, साथ में डावडिया व सरदार महाराजा रत्नसिंह के पुत्र लक्ष्मणसिंह, पाल रो पटायत, दस्तरी क्लर्क रामलाल व डोढीदार इत्यादि महलों में पधारे, वहां से आधे घंटे पश्चात् गणगौर घाट, जहां बागोर की हवेली है वहां पधार कर डेलाण में विराजे।¹⁷

जोधपुर महाराज उम्मेदसिंह जी की सवारी सुरण विलास महलों में पधारी, सो पोशाक इस प्रकार धारण कराई।

1 फेटो कुसुमत रो ऊपर सीरपेज

1 अचकन रेसमी सुपेद ने पायजातो

1 कमर बधाय- कमर बंध ने दुपरोजरी रो

1 मेडल सारा ही लगाया

झालामण का पटायत ने फेटे अचकन को कमर पर बांधकर साथ में मोटर में बैठे, छः बजे महल पहुंच गये वहां पर महाराणा भूपालसिंह जी ने सवारी हेतु पोशाख धारण कर खड़े थे, जब जोधपुर महाराजा मोटर से उतरकर नगीना बाड़ी के दरीखाने में पहुंचे, उदयपुर महाराणा को मालूम होते ही वे लिफ्ट से नीचे पधारे आपस में जुहार हुआ, महाराणा सा ने जोधपुर महाराजा को फूलों की माला पहनाई, जोधपुर महाराजा ने महाराणा सा को फूलों की माला पहनाई। फिर हाथी सजा धजा हाजिर था। नगीना बाड़ी के दरीखाने से हाथी के दाहिनी तरफ जोधपुर महाराजा व बांये तरफ महाराणा सा विराजे, चंवर डुलाने वाला भी बैठा जोधपुर महाराजा के साथ झालामण्ड का पटायत राणावत बीजसिंह, डुंगरसिंगोत और उदयपुर महाराणा के साथ केलवा रो पटायत दौलतसिंह बैठे।¹⁸

महाराणा अपने नौपती पर विराजमान सवारी का मुख्य केन्द्र बिन्दु होते थे, जिन्हें जनता सामीप्य से देखना चाहती थी। शाही पोशाक जिसमें जामा और डोडी, सिर पर

पगड़ी हीरे मोतियों के आभूषण, ललाट पर तिलक एवं मोती अक्षत, कमर बन्ध, ढाल, तलवार, पाव में मखमली मोजड़िया रहती थी। दोनों तरफ चंवर होते हुए, छज, दंहगीर, किरणिया, अडाणी दवा, पंजा, पान और मेघाडम्बर आदि लवाजमा चलते थे। इनके पीछे सांडनी सवार, रिसाले के घुड़सवार एवं सरदारों के सवार रहते थे। इनके पीछे के दोनों तरफ छड़ीदारों की बुलन्द आवाज और चारणों एवं ढोलियों द्वारा वीर रस के दोहे एवं कवित सवारी की शोभा बढ़ाते थे। सबसे पीछे नगारे का हाथी रहता इसके ऊपर दोनों और नगारे रहते जिन्हें नगारची बजाता रहता। नगारची के पीछे शहनाई बजाने वाले बैठते थे। बड़ी पोल से गणगौर घाट तक बल्लिया लगाकर सवारी का मार्ग अलग कर दिया जाता था, दोनों तरफ पहरा रहता था।¹⁹

लवाजमा पलटण बाजे डयोढ़ी के लोग चावक खवास पासवान इत्यादि उनके कायदे के अनुसार घोड़े पर आगे पीछे चढ़े। सवारी साढे छः बजे के बाद महलों से बाजार होती हुई गणगौर घाट पहुंचे। जोधपुर महाराजा तो हाथी से उतरकर वहां खड़ी नांव में खड़े हो गये साथ में उनके महाराज रतनसिंह, महाराज हणूतसिंह फेटा बांधकर अचकन पहनकर खाण्डा हाथ में लेकर बागोर की हवेली गणगौर घाट की छत पर तैयार खड़े थे क्योंकि उनको साथ में चलने का निर्देश था अतः वे नीचे उतरके उनके साथ हो गये। उदयपुर महाराणा भूपालसिंह की हाजरी में खासा (मर्दाना पालकी) थी वे उसमें बैठकर गणगौर घाट की छतरी है वहां पधारे और दूसरी पोखाण धारण कराई बाद में खासा में बैठ नाव में पधारे और छतरी बावड़िया के समीप खासा में उतरके छतरी में पधारे कुरसी पर दाये तरफ जोधपुर महाराजा व बांये उदयपुर महाराणा विराजे दायें तरफ महाराज रतनसिंह व महाराज हणूतसिंह बैठे व बांयी तरफ उदयपुर के बतीस उमराव बैठे- इसके पश्चात् नाव की सवारी पीछेला में कराई गई।

पीछेला झील की शोभा नाव की सवारी के दिन देखते ही बनती थी। इस सवारी के लिये दो विशालकाय नावे बनवायी गयी थी। जिन्हें आपस में जोड़ दिया जाता था। एक नाव में ऊंचा सिंहासन रहता था जहां महाराणा बैठते थे। इस पर चार खंभो वाली कलात्मक छतरी लगती थी। छतरी तथा सिंहासन को जरी, कमरबंध और जरदोजी के चमकीले वस्त्रों से सजाया जाता था। छतरी के चारों कोनों और गुम्बज पर मुकेश के तुरें और कलंगी लगे रहते थे। शेष नाव में गद्दों पर सफेद वस्त्र बिछाये जाते थे। जिन्हें नाव की सवारी का अधिकार मिला हुआ होता था, वे उमराव, सरदार एवं उच्च अधिकारी बैठ सकते थे, या खड़े रहते थे। इसमें नृत्य करने वाली नर्तकियों को भी स्थान दिया जाता था। दूसरी नाव में सत्रहवा उमराव प्रधान होता था, परन्तु उस पर छतरी नहीं होती थी। दोनों नावों में 125 व्यक्ति स्थान स्थान पाते थे। नाव की सवारी तीन दिन की होती थी, प्रत्येक दिन पोशाक एवं पगड़ी का रंग बदल जाता था। नावड़िये भी अपनी विशेष वेशभूषा में इस तेरते हुए मंच का संचालन करते थे। इसके पीछे एक छोटी नाव जो डूडा

कहलाती थी उसमें नगारची एवं शहनाई वादक बैठते थे। इसके पीछे उच्च अधिकारी, प्रतिष्ठित लोग बाहर के अतिथि अन्य नावों में बैठ जाते थे। पंक्तिवद नावों का यह दृश्य झील के जल में अत्यन्त मनोहारी होता था। यह सवारी नौका विहार करते हुए बड़ी पोल तक जाती एवं वहां से वापस उसी स्थान पर आ जाती थी।²⁰ बंशी घाट पधारे वहां पर महाराणा सा व जोधपुर महाराजा के साथ महाराज रतनसिंह व महाराज हणुतसिंह डेरे लक्ष्मी निवास पैलेस पधारे व उदयपुर महाराणा महलों में पधार गये।²¹

जब महाराणा की सवारी महलों से होती हुई बंशीघाट पर उतरी थी तब तोपों की सिलका 6-6 हुई थी। आतिशबाजी छोड़ी गई थी। जोधपुर महाराजा ने उदयपुर महाराणा सा जब हाथी पर सवार हुये तब निछरावल की थी।²² 101 रु. उदयपुर महाराणा सा व 101 रु. उदयपुर महाराणा सा पर निछरावल की। उदयपुर महाराणा सा ने जोधपुर महाराजा पर 101 रु. निछरावल कराई। श्री बड़ा महाराज कुंवर साहब व महाराज कुंवर हिम्मतसिंहजी महाराज अजीतसिंह जी व अन्य सरदार एक नाव में बैठे व दूसरी नाव में जोधपुर महाराजा व उदयपुर महाराजा बैठे। साथ में बैठ हवाखोरी कराई - फिर सवारी बंशी घाट होती हुई पुनः गन्तव्य पर पहुंचे।²³

जोधपुर महारानी सा उदयपुर महाराणा सा, युवरानी सा जोधपुर, बाईजीलाल भाणेज बाईजीलाल, बागोर की हवेली से नजारे देख रहे थे, बाद में परदे वाली मोटर में बैठकर सभी सवारियां पहले महलों में पहुंची। वहां थोड़ी देर रुककर पुनः परदे वाली गाड़ी में बैठकर शिव विलास पैलेस पधारे जहां उदयपुर युवरानी व महाराज कंवर विराज रहे थे। 45 मिनट यहां रुके। जोधपुर महारानी जी ने युवरानी जी को 7 मोहरे, 5 मोहरे भंवरजी के हाथ में, 5 मोहरे भंवरबाई बड़ा को व 5 मोहरे छोटे भंवर बाईजी को दिये। इसके पश्चात् रात सवा दस बजे डेरे लक्ष्मी निवास पैलेस पहुंच गये।²⁴

उदयपुर में जोधपुर व महारानी की तरफ से सरबकारा का दस्तूर किया गया था। 1500 रु. सरबकारा में दिये गये। 1000 महाराजा की तरफ से व 500 रु. महारानीसा की तरफ से दिये गये। उदयपुर महारानीसा के तरफ से भी भेंट दी गयी।

51) अम्बालाल जमादार ने (सीगरेट केस चांदी रो भी 1 मरदानी दोढी रा आदमीयां ने 100)

60) फरास बीजली वालां ने - हाथी नें

40) 20)

25) भोपणीयां ने बागवान नें

15) 10)

20) सेनेटरी वाला ने म्युनीसीपल कमेटीवाला नें

21) लखसमी निवास कोठी रा कामदरां ने

750) बसी रावजी ने श्री महाराणीजी सा- श्री युवराणी जी सा-

500)

250)

202) लखमसी निवास में- वो आनन्द भवन में आज रात रा खानगी री टेम...

.. हुई तरे तायफां ने गोला कराया दीराया

501) लखसमी निवास में

501) आनन्द भवन में

1202)

88) मोटर डीराईवराने

21) श्री जी साहबां रे मोटर डीराईवर नें

21) श्री महाराणी जी सा रे मोटर डीराईवर नें

21) श्री युवराणीजी सा रे

21) श्री महाराजकंवर साहबां रे

15) श्री बाईजीलाल रे न श्री भाणेजी बाईजीलाल रे

88)

पीरजेंट में दीराया- श्री जी साहब नें-

1 बाबुरामगोपाल-मीनेस्टर ईन वेटींग ने- सोनारो सीग्रेट केस ना। 1 ठाकुर सादुलसिंघ जी कन्टोलर ऑफ हाऊस होल्ड नें सोना रो सिग्रेट केस ना। 1

1 बसी ठाकर रावसाब दोलतसिंघ जी नें- चांदी रो सिग्रेट केस

1 बाबु रामगोपाल सुप्रन्द गेस्ट हाऊस ने चांदी रो सिग्रेट केस

1 डोडी जमादार अम्बालाल ने चांदी रो सीग्रेट केस

1 केप्टन मनमथसिंघजी पानसर ठाकर ने सोना री छड़ी ना। 1

इस प्रकार दस्तरी डिपार्टमेन्ट की हकीकत बही से उस समय के राजपरिवार के आत्मीय संबंधों, त्यौहारों को मनाने हेतु उत्साहपूर्वक भगीदारी निभाने की परम्परा, एक दूसरे से मर्यादा पूर्ण रहते हुए हंसी मजाक (ताले लगाने के संदर्भ में), यहां तक की रात्रि में 3 बजे में उदयपुर महारानी सा जोधपुर राजपरिवार में जनाना सदस्यों को छोड़ने रेल्वे स्टेशन पधारी, 15 दिनों की मेहमाननवाजी में प्रत्येक दिन उन्हें उदयपुर में भ्रमण हेतु विभिन्न स्थानों में ले जाने का, 14 शिकार आयोजनों का, नाच गाने का आयोजन पर प्रकाश पड़ता है। धार्मिक उत्सवों के रीति रिवाजों को जानने हेतु भी यह बड़ी उपयोगी है। गणगौर उत्सव की बड़े धूमधाम से मनाया जाता था। उसमें जोधपुर राजपरिवार के सदस्यों के द्वारा भी पूरे मनोयोग व सक्रियतापूर्वक इस आयोजन में अपनी भागीदारी दर्ज की।

संदर्भ

1. हकीकत बही रजिस्टर संख्या 68, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश में उपलब्ध, 1 मिति चेत सुद 3, गुर ता. 4 अप्रेल सन् 1946 रा सा 2002 रा मुकाम उदयपुर, पृ.सं. 319।
2. हकीकत बही रजिस्टर संख्या 68, पृ. सं. 320
3. वही, पृ.सं. 320
4. वही, पृ.सं. 320
5. महाराणा फतहसिंहजी के समय में महलों से गणगौर पार्वती विलास ले जायी जाती थी। सवारी यथावत गणगौर घाट जाती थी।
6. हकीकत बही रजिस्टर संख्या 68, पृ. सं. 321
7. वही, पृ. सं. 322
8. वही, पृ. सं. 322
9. वही, पृ. सं. 323
10. वही, पृ. सं. 323
11. वही, पृ. सं. 324
12. वही, पृ. सं. 324
13. वही, पृ. सं. 325
14. वही, पृ. सं. 326
15. पुराने रिवाज के अनुसार होली के पर्व पर आपसी हंसी मजाक करने के लिए जब पति पत्नी एक कमरे में सोये हो तो बाहर से ताला लगा दिया जाता है और सब महिलाएं मिलकर गाती है। ताला नेग, इत्काग देने पर ही खोला जाता है। यहां पर मेवाड़ के महाराणा एवं महारानीजी के कमरे का ताला जोधपुर महारानीजी ने लगाया था, उसका संदर्भ यहां आया है।
हकीकत बही रजिस्टर संख्या 68, पृ. सं. 327
16. हकीकत बही रजिस्टर संख्या 68, पृ. सं. 328
17. वही, पृ. सं. 329
18. वही, पृ. सं. 330
19. धर्मपाल शर्मा- मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा, प्रताप शोध प्रतिष्ठान 1999, पृ. 188।
20. हकीकत बही रजिस्टर संख्या 68, पृ. सं. 331
21. वही, पृ. सं. 332
22. वही, पृ. सं. 333
23. वही, पृ. सं. 334
24. वही, पृ. सं. 335

मध्यकालीन मेवाड़ में महिलाओं के कतिपय आभूषण

डॉ. ममता पूर्बिया

मेवाड़ की महिलाओं की प्रसाधन प्रियता प्राचीन काल से चली आ रही है। ऐसे कई आभूषण हैं जो यहाँ के जन-जीवन में प्रचलित हैं, जिनकी बनावट व सौन्दर्य अद्भूत है। साधारण स्तर की स्त्रियाँ काँसे, पीतल, ताँबा, कौड़ी, सीप अथवा मूँगे के गहनों से ही संतोष कर लेती थी। हाथी दाँत से बने गहनों का प्रयोग होता था।¹ पहली और दूसरी सदी की पकाई हुई मिट्टी से निर्मित मूर्तियों में आभूषणों के प्रकार देखने को मिलते हैं। उत्तर गुप्तकाल की विष्णु की प्रतिमा मकरकाठी धारण किए हुए हैं। यह एक प्रकार का हार है जिसमें मकराकृतियाँ एक-दूसरों की ओर उन्मुख हुई हैं। हार के मोतियों की माला इन्हीं मगरो के मुख से निकलती है।² इस प्रकार मेवाड़ में 9वीं सदी में नागदा जगत, आहाड़ व जगदीश मन्दिर में विष्णु व नारियों की कई शृंगार प्रदान मूर्तिया मिलती हैं। इन मन्दिरों में अनेक अपसराओं एवं नायिकाओं के मूर्ति फलक हैं, जो तत्कालीन समय के आभूषणों एवं सौन्दर्य प्रसाधन को दिग्दर्शित करते हैं।

10वीं सदी में मेवाड़ के एकलिंगजी मन्दिर के नाथ प्रशस्ति में भगवान शिव को अपनी प्रिया पार्वती के लिए शृंगार करते हुए बताया गया है। इसमें शिव पार्वती के प्रेम में लीन होकर ललाट पर अलिक रेखाएँ तिलक-बिंदी करते हैं, कपोल एवं कुच प्रदेश पर कस्तुरी आदि से पत्र भंग की रचनाएँ करते हैं। मुक्ता और मणियों की मालाएँ धारण करवाते हैं। इसी प्रकार नितंब प्रदेश पर मेखलाओं का संयोजन करते हैं।³ मध्यकालीन मेवाड़ में अलंकारों के विविध रूप विकसित हो गये थे। समकालीन साहित्य, मूर्ति और चित्रकला में स्त्रियों के आभूषणों का सुन्दर चित्रण हुआ है। नागदा, जगत, आहाड़, जगदीश मन्दिर, एकलिंग जी, देलवाड़ा, कुम्भलगढ़, चित्तौड़ आदि स्थानों की नारियों की मूर्तियों में कुण्डल हार, बाजूबंद, कंकण, नुपूर मुद्रिका के अनेक रूप तथा आकार निर्धारित हैं। इनका विश्लेषण करने पर एक-एक आभूषण की पच्चीसों डिजाइनें पाई गईं। आर्ष रामायण, सूरजप्रकाश, कल्पसूत्र आदि चित्रित ग्रंथों में भी इनके विविध रूपों का प्रतिपादन हुआ है।⁴ मध्यकालीन मेवाड़ में स्त्रियों द्वारा पहने जाने वाले आभूषणों के सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत है।

शीशफूल:- यह सुन्दर स्वर्णाभूषण सिर के पिछले भाग में बालों में पहना जाता था। इसमें बहुमूल्य जवाहरात जड़े होते थे। यह सिर फूल, सूरज आदि नामों से भी

सम्बोधित किया जाता था।⁵

टीका:- यह लगभग 2 इंच परिधि वाला आभूषण सोने के गोल पतरे का होता था। इसके उपर 'छिलाई' का सुन्दर कार्य किया होता था तथा मूल्यवान नगीने जड़े होते थे। यह गोल आभूषण एक स्वर्ण निर्मित चैन से जुड़ा होता था। यह चैन माँग के मध्य वालों में एक हुक द्वारा अटका दी जाती थी।

सिर-माँग:- मेवाड़ी स्त्रियाँ अपने बालों की पट्टी (माँग) में इसे पहना करती थी। यह चैननुमा हुआ करती थी और उसमें छोटे-बड़े कई बहुमूल्य नगीने जड़े होते थे। स्त्रियाँ अपनी माँग को बहुमूल्य मोतियों से भी सजाया करती थी।⁶

बोर:- यह सोने और चाँदी दोनों धातुओं में बनाया जाता था। इसके अग्र भाग में छोटे-छोटे दाने उभरे हुए होते थे तथा पृष्ठ भाग में एक हुक लगा होता था, जिसमें धागा बाँध कर स्त्रियाँ इसे अपने मस्तक पर गुंथा करती थी। इसकी आकृति 'बेर' के समान होने के कारण इसे 'बोर' और बोरला भी कहते थे। सोने का बोर उच्च वर्ग की स्त्रियों द्वारा पहना जाता था एवं ग्रामीण स्त्रियाँ चाँदी से बना बोर पहनती थी।

रखड़ी:- स्वर्ण आभूषण सुहाग का चिह्न समझा जाता था। गोलकार में बने इस आभूषण के अग्र भाग में सुन्दर जवाहरात जड़े होते थे तथा पृष्ठ भाग में एक हुक लगा होता था जिसमें धागा बाँधकर इसे ललाट पर स्थिर किया जाता था।

झेला:- सोने या चाँदी की दो तीन लड़ी सांकले जो दोनों ओर कनपटियों से होकर बालों में अटकाई जाती थी, 'झेला' कहलाती थी। इनका प्रयोग उच्च वर्ग व साधारण वर्ग की स्त्रियों में बहुत होता था।

बिंदी:- टीका, बोर, रखड़ी के अतिरिक्त महिलाएँ ललाट पर बिटूली भी लगाती थी।⁷ आभूषणों से हटकर ये प्रतीक हिन्दू स्त्रियों के लिए सुहाग का चिह्न माने जाते थे। इसका वैज्ञानिक तथ्य यह है कि इससे शरीर में ऊर्जा का संतुलन रहता है तथा फेफड़ों को शक्ति प्राप्त होती है।

कर्णफूल:- कान के निचले भाग में पहना जाने वाला यह आभूषण पुष्पाकार होने से कर्णफूल के नाम से पुकारा जाता था। इसके मध्यभाग में सुन्दर नगीना जड़ा होता था। इसके पृष्ठ भाग में एक कील होती थी, जो कान में बने छेद में दूसरी ओर तक चली जाती थी। यह कर्णफूल स्थानीय स्त्रियों का बड़ा प्रिय आभूषण था। यह चाँदी अथवा स्वर्ण का बनाया जाता था।⁸

ओगन्या:- कानों के ऊपरी छोर पर पान के पत्ते की आकृति के समान सोने व चाँदी के आभूषण को 'ओगन्या' कहा जाता था।

झूमका:- कान में पहने जाने वाले इस आभूषण का ऊपरी भाग कर्णफूल जैसा ही होता था। इसके नीचे की ओर सोने के गोल बुन्दे जुड़े होते थे। इसमें चैनों का प्रयोग

करके इसकी बनावट में कई परिवर्तन किये जाते थे। इन झुमकों में मूल्यवान जवाहरात जड़े होते थे।

नथः- सिलाई की छोटी सूई जैसे मोटे स्वर्णतार से बनी 'नथ' नाक में पहना जाने वाला एक प्रिय आभूषण था। इसकी परिधि 1 इंच से 2 इंच तक की होती थी। किंतु कहीं-कहीं इससे भी अधिक परिधि वाली नथ पहनी जाती थी। इसके मध्य एक स्वर्ण पत्र जड़ा होता था, जिसमें छोटे-छोटे सुन्दर नगीने जड़े होते थे। कभी-कभी नाक पर इसके भार को कम करने के लिए इसे कान के पीछे की ओर बालों के जुड़े से धागे अथवा चेन से बाँध दिया जाता था।⁹ नथ पहनने का वैज्ञानिक दृष्टि कोण यह है कि इससे पेट स्वस्थ रहता है।

लोंग (लवंग) :- नाक में पहना जाने वाला यह आभूषण लोंग सदृश होता था। इसके ऊपरी भाग में स्वर्ण की चार छोटी-छोटी 2 पत्तियां होती थी, जिनके मध्य एक लाल नंग होता था।

हार :- गले में विभिन्न प्रकार के हार पहने जाते थे। ये हार स्वर्ण पतरों में बनाये जाते थे, जिनमें बहुमूल्य जवाहरात जड़े होते थे। ये हार विभिन्न नामों से पुकारे जाते थे। उनमें चम्पाकली, कंठश्री, चन्द्रहार, उर्वसी आदि प्रमुख थे।¹⁰ इनको पहने के वैज्ञानिक लाभ यह है कि इससे दिमाग व सरवाइकल को आराम मिलता है।

मुक्तामाला:- बड़े घराने की स्त्रियाँ अधिकांशतः गले में मोतियों की माला पहना करती थी। यह शुद्ध बहुमूल्य मोतियों की बनाई जाती थी।¹¹ मोतियों की एक विशेष प्रकार की माला 'सुमर्णी' नाम से प्रसिद्ध थी। यह सुमर्णी स्वर्ण मोतियों की भी बनी होती थी।

हंसली:- ठोस स्वर्ण अथवा रजत निर्मित हंसली अधिकांश ग्रामीणों का मुख्य आभूषण रहा था। नगर अथवा कस्बों में बालकों को पहनाई जाती थी, जिसके पीछे यह उद्देश्य रहता था कि इसके पहनाने से बालकों की हंसली नामक हड्डी नहीं खिसकती। इसके मध्य भाग में 'छिलाई' का सुन्दर कार्य किया होता था।¹²

कंगन:- भारी स्वर्ण का बना यह आभूषण कलाई में पहना जाता था। यह रिंग की तरह गोलाकार होता था जिसके ऊपरी भाग में गोल-गोल दाने उभरे हुए होते थे। गरीब परिवार की स्त्रियाँ चाँदी के कंगन पहना करती थी।

चुड़ियाँ:- यह स्वर्ण अथवा रजत की बनी होती थी। यह वृत्ताकार आभूषण हाथों की कलाईयों में पहना जाता था। इसके ऊपरी भाग में छोटे-छोटे दाने उभरे हुए होते थे। यह ठोस तथा खोखली दोनों ही तरह की बनाई जाती थी। कलाई में चुड़ियों के साथ-साथ गजरा, नागरी तथा गोखरू आदि भी पहने जाते थे।¹³ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से

चुड़ियाँ व कंगन पहनने से दिल, सांस, गला, गर्दन, मस्तिष्क, प्रोस्टेट, यूटरस, कमर के निचले हिस्से का दर्द, ओवरी इत्यादि स्वस्थ रहते हैं।

मुद्रिका (मूँदड़ी):— ये अंगूठियाँ हाथों की उंगलियों में पहनी जाती थी। ये सोने अथवा चाँदी की बनाई जाती थी जिसमें सुन्दर नगीने जड़े जाते थे अथवा उनके ऊपर छिलाई काम होता था। ये अंगूठियाँ एक से अधिक उंगलियों में भी पहनी जाती थी। इनके कई नाम प्रचलित थे यथा मुद्रीय, मुद्रिका, अंगुठी। 'नवनंग' नामक विशिष्ट प्रकार की अंगुठी भी पहनी जाती थी। इसमें नवग्रह के नगीने जड़े होते थे। इसके पहिनने का यह उद्देश्य रहता था कि इससे ग्रहों का प्रभाव कम होगा।¹⁴ अन्य वैज्ञानिक कारणों का सम्बन्ध सीधे उद्देश्य से होता है, इसीलिए विवाह की अंगुठी को इसी अंगुली में पहनाया जाता है। अनामिका में अंगूठी पहनने से आँखे व चेहरा सुन्दर बनता है तथा तंत्रिका तंत्र को आराम मिलता है।

सोवनपान:— हथेली के ऊपरी भाग में पहना जाने वाला यह आभूषण पान अथवा पुष्पाकार होता था। अतः इसे सोवनपान या हथफूल के नाम से जाना जाता था। ये सोने अथवा चाँदी के बनाये जाते थे। स्वर्ण निर्मित आभूषण में सुन्दर जवाहरात भी जड़े होते थे।

बाजुबंध:— बाजुबंध महिलाओं द्वारा बाजू में पहना जाता था। दोनों तरफ से गोल नाके वाली सींको को एक-दूसरी के पास ग्रंथित करते बनाया जाता था जिसमें रेशमी रंग-बिरंगे फूंदे और हरी, लाल गुच्छों को पिरोकर लटकाये जाते थे।¹⁵

करधनी:— सोने के तारों का बना यह आभूषण कमर के इर्द-गिर्द पहना जाता था। इसमें सोने की छोटे-छोटे घुँघरियाँ लगी होती थी, जो स्त्रियों के चलते समय मधुर-मधुर आवाज़ किया करती थी। इसे मेखला, कटिमेखला, कन्दोरा आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता था।

सटका:— यह सोने व चाँदी के छल्लों से निर्मित आभूषण होता था। इसे लहँगे के 'नेफे' में अटकाकर लटकाया जाता था।

कड़ा व लंगर:— चाँदी के बने कड़े अधिकांश मेवाड़ की महिलाओं व द्वारा पैरों में पहना जाता था। ये कड़े ठोस अथवा खोखले होते थे। पाँव में पहनने के बाद इन्हें वापस खोलना आसान नहीं था। वजन में भी ये सामान्यतः 2 पाँड से कम के तो रहे होंगे। कड़ों के नीचे पहना जाने वाला आभूषण व 'लंगर' चाँदी के मोटे-मोटे तारों को मुड़ाकर बनाया जाता था। यह वजन में भारी हुआ करता था।¹⁶ इन कड़ों व लंगर का पैरों में वैज्ञानिक महत्व यह है कि इनसे पेट, कमर, पैर, पिण्डली, कूल्हें के दर्द से आराम मिलता है।

आँवला व नेवरा:- कड़े के साथ पहना जाने वाला यह आभूषण आँवला ठोस चाँदी का हुआ करता था। इसके बाहरी भाग में छिलाई का काम किया होता था। इसके अतिरिक्त कड़ों के साथ एक अन्य आभूषण 'नेवरा' भी पहना जाता था। यह भीतर से खोखला हुआ करता था तथा इसके बाहरी भाग पर छिलाई का काम किया जाता था।

झांझर तथा नुपूर:- पैरों में पहने जाने वाला यह आभूषण चाँदी के बनाये जाते थे। इनकी विशेषता घुँघरियों के कारण थी जो नारियों को चलने पर झुन-झुन करती थी।

अंगुठा (गोल्या) और बिछियाँ:- पैरों में अंगूठे के समान पहना जाने वाला आभूषण अँगुठा अथवा गोल्या कहलाता था। इसे छल्ला नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। अंगूठे तथा अंगुलियों की अंगुठियों से जुड़ी चैनों में घुघरियाँ लगाकर पहना जाने वाला आभूषण बिछियाँ कहलाता था।¹⁷ इनका वैज्ञानिक महत्व यह है कि इससे रीढ़ की हड्डी, पिण्डलियों के दर्द, जननांगों में दर्द, पेट दर्द, वक्ष व सिर दर्द में आराम मिलता है तथा इसके कारण नाभि भी नहीं टलती है।

मध्यकालीन मेवाड़ में महिलाओं द्वारा पहने जाने वाले आभूषणों की तो परम्परायें भी अनोखी थी। ये परम्परायें मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ सौन्दर्य की वृद्धि के लिए विकसित होती गईं। ये आभूषण सोने व चाँदी में बनते थे। मध्यकालीन मेवाड़ में धातुओं की खोज आरम्भ हो गई। महाराणा लाखा के काल में जावर में चाँदी की खाने मिली इससे तत्कालीन मेवाड़वासियों का लगाव चाँदी की तरफ होने लगा। चाँदी के नीत नए आभूषण बनने लगे। धातुओं के कारण समाज में लोगों का वर्गीकरण होने लगा। प्रायः उच्च वर्ग के लोग सोने का तथा निम्न वर्ग के लोग चाँदी का प्रयोग करने लगे। इससे वर्ग विशेषताएँ बढ़ती गईं। आभूषण को धारण करने से नारियों में नई आभा दिखती है। ये आभूषण सौन्दर्य को निखारने का कार्य भी करते हैं। हमारे वेदों व पुराणों में इसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। उनका मानना था कि सिर से पैर तक शरीर में प्राण शक्ति का आवरण रहता है जो पूरे शरीर में एक तंत्र का कार्य करता है। आज भी आभूषण हमारे जीवन का अभिन्न उपहार बने हुए हैं।

संदर्भ

1. Jain, P.C., 2015, Early Indian Art and Architectural, Page No. 20, Bharatiya Kala Prakashan, Delhi.
2. शर्मा, डॉ. गोपीनाथ, 2014, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 90, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (राज.)
3. 'जुगनू', डॉ. श्रीकृष्ण, 2013, राजस्थान के प्राचीन अभिलेख (मेवाड़ के विशेष संदर्भ में), पृ. 66, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर (राज.)
4. शर्मा, डॉ. गोपीनाथ, 2014, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 90, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (राज.)

5. पालीवाल, डॉ. देवीलाल, शोध पत्रिका, पृ.सं. 62, अंक-1, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर (राज.)
6. जनरल ऑफ इण्डिया आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री, भाग-12, पृ. 02
7. पालीवाल, डॉ. देवीलाल, शोध पत्रिका, पृ.सं. 63, अंक-1, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर (राज.)
8. जनरल ऑफ इण्डिया आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री, भाग 12, पृ. 31
9. पालीवाल, डॉ. देवीलाल, शोध पत्रिका, पृ.सं. 64, अंक-1, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर (राज.)
10. साहू, डॉ. किशोरी प्रसाद, 1981, मध्यकालीन उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन के कुछ पक्ष, पृ. 106, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना
11. ओझा, गौरीशंकर, 1996-97, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ.सं. 498, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर (राज.)
12. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग-2, पृ. 434, मोतीलाल बनारसीलाल, दिल्ली
13. चन्द्र सखी पद्मावली - दृष्टव्य(वरदा, वर्ष 12, अंक 1-2, पृ. 46
14. ओझा, गौरीशंकर, 1996-97, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 498, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर (राज.)
15. शर्मा, डॉ. गोपीनाथ, 2014, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 90, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (राज.)
16. साहू, डॉ. किशोरी प्रसाद, 1981, मध्यकालीन उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन के कुछ पक्ष, पृ. 106, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना
17. ओझा, गौरीशंकर, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 720, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर (राज.)

राजस्थान की संस्कृति में लोकदेवता की वर्तमान समय में प्रासंगिकता (पर्यावरण एवं समाज सुधार के रूप में)

डॉ. उषा पुरोहित

लोक देवताओं से तात्पर्य उन महापुरुषों से हैं जिन्होंने अपने अलौकिक चमत्कारों से लोक हितकारी कार्य किये। साहस, वीरता, निडरता, उदारता, त्याग, संयम आदि गुणों से विभूषित तथा आध्यात्मिक चमत्कारिक सिद्धियों से सम्पन्न इन महापुरुषों ने पर्यावरण सुरक्षा तथा समाज सुधार के लिए जनहित में सर्वस्व न्यौछावर कर अपने प्राणों का बलिदान कर दिया इसलिए ये जन-जन की आस्था के केन्द्र बन गये¹ और वर्तमान समय में भी इनके द्वारा किये गये इन जनहिताय कार्य के कारण ही प्रासंगिकता बनी हुई है तथा इनमें दैविक अंश की कल्पना कर लोक देवता के रूप में इन्हें पूजा गया है।

लोक प्रेरक पुरुषों में गोगाजी, पाबूजी, रामदेवजी, मल्लीनाथजी, तेजाजी, हड़बूजी आदि का प्रमुख स्थान है। उनके अलौकिक कार्यों में पर्यावरण सुरक्षा और समाज सुधार का जो संदेश परिलक्षित होता है वो वर्तमान समय में भी प्रासंगिक है जिनका क्रमशः उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है:-

1. गोगाजी- लोक देवताओं में गोगाजी का प्रथम स्थान है। गोगाजी 11वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में हुए।² गोगाजी का रसावली नामक रचना में ऐसा उल्लेख मिलता है कि गायों की रक्षार्थ गोगाजी ने बलिदान दिया था।³ प्रतिवर्ष भाद्रपद मास की कृष्ण पक्ष की नवमी को उनकी स्मृति में राजस्थान के गाँव-गाँव में त्यौहार मनाया जाता है, इसे 'गोगानवमी' कहा जाता है। यहां के समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा गोगाजी की अश्वारोही योद्धा के रूप में या केवल सर्प के रूप में पूजा की जाती है।⁴ हस्तलिखित ग्रन्थों में उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में सर्प से बताया गया है। गोगाजी का पाषाणोत्कीर्ण सर्प मूर्तियुक्त स्थल जोधपुर के गाँवों में खेजड़ी के वृक्ष के नीचे होता है। इस सम्बन्ध में यहाँ एक कहावत प्रसिद्ध है-

“गांव गांव खेजड़ी और गांव गांव गोगो।”⁵

गोगाजी के प्रमुख पूजा स्थल गोगामेडी तथा ददरेवा की मेडी है। गोगामेडी को तो तीर्थस्थल माना गया है। लोक देवता गोगाजी ने तत्कालीन समय में ही पर्यावरण रक्षार्थ 'खेजड़ी' को देवस्थान के रूप में मान्यता दिलवाई जिससे कोई उस वृक्ष पर कुल्हाड़ी से प्रहार न करे। इसी प्रकार किसान वर्षा शुरू होने पर जिस दिन हल चलाना प्रारम्भ करते हैं, उस दिन गोगाजी के नाम की राखी, जिसे गोगाराखड़ी कहते हैं, उसकी

नौ गांठे लगाकर हल व हाली के बांधी जाती है और 'हाली बादली गोगो रखवालो' के पद का उच्चारण बार बार किया जाता है। समाज हिन्दू और मुसलमानों में भी आपसी समन्वय स्थापित करने में गोगाजी का पूरा योगदान रहा है। समाज में हिन्दू व मुसलमान दोनों ही गोगा जी की पूजा करते हैं। हिन्दू इन्हें 'नागराज' का अवतार मानते हैं।

2. पाबूजी - लोकनायक पाबूजी का जन्म धांधल राठौड़ के यहां 1239 ई. में जोधपुर जिले की फलौदी तहसील के 'कोलू' ठिकाने में हुआ। बचपन से ही वे निडर, साहसी एवं वीर व शरणागत वत्सल थे। उस समय एक शक्तिशाली शासक के भय से जब भागते हुए 'थोरी जाति के सात भाईयों को किसी ने आश्रय नहीं दिया, तब राठौड़ पाबू ने इन्हें शरण दी और इनको अपने मित्र का दर्जा दिया। इसी प्रकार भील सरदार चांदा व डामा तो इनके परम मित्र एवं दायें-बायां हाथ थे। पाबूजी ने सामाजिक समानता को महत्व देते हुए ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया।⁶ पाबूजी वचन के पक्के भी थे। पाबू के द्वारा समाज सुधारक कार्य किये जाने से उनके बहनोई जायल खींची उनसे ईर्ष्या रखने लगे, इसीलिये जब उनका विवाह हुआ तब उन्होंने अपनी बहन को आमंत्रित किया किन्तु बहनोई को नहीं किया, इससे भी वह नाराज हो गया।

पाबूजी जब दूल्हा बने, तब देवल चारणी की 'केसर घोड़ी' पर सवार हुए और उसे वचन दिया कि संकट आने पर वे केसर घोड़ी पर बैठकर तुरन्त चले आएंगे। जब बारात अमरकोट सोढ़ा राणा के यहां पहुंची तब केसर घोड़ी ने अनेक करतब दिखाये तथा किले के कंगूरे पर टंगे तोरण को मरवाने में पाबूजी का सहयोग किया। ठाठ-बाट से पाबूजी व बारात का स्वागत किया। उधर अवसर देखकर जायल खींची देवल चारणी की गायों को ले भागा। तब पाबूजी चंवरी में से गठबन्धन छुड़ाकर उठ गये तीसरा फेरा भी पूरा नहीं हुआ और अर्द्धब्याहता को छोड़ गायों की रक्षार्थ चल पड़े। पाबूजी ने गायों को छोड़ा लिया किन्तु स्वयं वीर गति को प्राप्त हो गये तब उनकी अर्द्धब्याहता सोढ़ी उनके साथ सती हुई।⁷ इस प्रकार साहसी, पराक्रमी, पाबूजी ने सामाजिक समानता एवं गौरक्षण में अपने जीवन का बलिदान कर दिया। जन-जन ने इन्हें लोक देवता के रूप में पूजकर अपनी आस्था प्रकट की। पाबूजी के इस अद्भुत व वीरतापूर्वक कार्य का वर्णन अनेक ग्रन्थों दोहा, कवित पाबू धांधलोवरा, लघराज कृत पाबूजी के दोहे, पाबूजी रा छन्द, बारठ मायाराम रा कहया तथा मोडी आसिया कृत पाबू प्रकाश आदि में हुआ।⁸

इन्हें 'लक्ष्मण के अवतार' और 'ऊँटों के देवता' के रूप में पूजा जाता है। भोपों द्वारा आज भी 'पाबूजी की पड़' पढ़ी जाती है।⁹ फलोदी से 18 मील दक्षिण में स्थित 'कोलू' गांव में पाबूजी का मन्दिर बना हुआ है। कोलू के अलावा भी पश्चिमी राजस्थान के अनेक गांवों में पाबूजी के थान हैं, जहाँ पूजा-अर्चना होती रहती है।

3. रामदेव जी- लोक देवता रामदेवजी का भी समाज सुधारक व स्वस्थ समाज के निर्माता के रूप में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। लोक कथाओं के अनुसार इनके पिता

रूणेचा के तंवर-वंशीय ठाकरे अजमाल जी द्वारकाधीश से पुत्र प्राप्ति का वरदान लेकर पोकरण आये और यहाँ उनके पुत्र वीरमदे का जन्म हुआ और रामदेवजी का अवतार हुआ। इसी कारण इन दोनों को क्रमशः बलराम और कृष्ण का अवतार माना गया।¹⁰ दोनों भाईयों ने गुरु बालिनाथ से शिक्षाग्रहण की। रामदेवजी ने धर्म, दर्शन, इतिहास आदि विषयों के अध्ययन के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्र, योग-साधना आदि का ज्ञान भी प्राप्त किया।

समाज में व्याप्त छूआछूत तथा ऊँच-नीच को मिटाने के लिए उन्होंने समाज के अछूत समझे जाने वाले लोगों को मित्र बनाया। इनके मौसरे भाई हड़बूजी ने भी रामदेवजी के इस पुनीत कार्य में अपना सहयोग दिया। रामदेवजी ने स्पष्ट कहा-

“हरिजन म्हारे हार हियेर, मोत्यां मूंगा कहावे म्हारा लाल।”¹¹

इस प्रकार उन्होंने अछूतों को गले लगाकर उनमें आत्म विश्वास पैदा किया। रामदेवजी ने अछूत मेघवाल जाति की डालीबाई को अपनी धर्म-बहिन बनाया, जिसने बाद में रामदेवजी के साथ ही समाधि ले ली।

तत्कालीन मुस्लिम समाज में भी उन्हें ‘रामसा पीर’ कह कर सम्बोधित किया जाता और उसके प्रति श्रद्धा व आदर भाव रखकर पूजा जाता। पीर शब्द मुस्लिम परम्परा का है जिसका तात्पर्य सिद्ध महात्मा से है। इस प्रकार रामदेव जी को हिन्दू-मुस्लिम ‘एकता का प्रतीक’ भी माना जाता है।

रामदेवजी ने अपने जीवन-लक्ष्य को पूरा होते देख रूणीचा के रामसागर की पाल पर समाधि ले ली। उस समाधि स्थल पर एक भव्य मंदिर बनाया गया है। वहाँ प्रतिवर्ष आज भी भाद्रपद दूज से एकादशी में भारी मेला लगता है। जिसमें रामदेवजी के दर्शन करने के लिये लाखों श्रद्धालु यात्री जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, मेवाड़ के अलावा गुजराम, मालवा, सिन्ध, बम्बई आदि अन्य स्थानों से आते हैं। श्रद्धालु भक्ति भावना के साथ दूध, चूरमा, मिठाई, धूप, नारियल आदि बड़ी मात्रा में चढ़ाते हैं, साथ ही सफेद रंग की ध्वजा व कपड़े का बना हुआ घोड़ा भी लेकर आते हैं और पूजा-अर्चना कर बाबा रामदेवजी से मनोकामना पूर्ण करने की प्रार्थना करते हैं। जोधपुर नगर की मसूरिया नामक पहाड़ी पर रामदेवजी का एक भव्य मन्दिर बना हुआ है। यहाँ भाद्रपद द्वितीय को भव्य मेला भरता है। जोधपुर के लोगों में इनका काफी प्रभाव है, उनकी ऐसी धारणा है कि रामदेवजी सभी रोगों के निवारक है। वे पंगुओं के पांव देने वाले, अन्धों को आंखे देने वाले, निःसंतानों को संतान देने वाले माने गये।¹²

4. मल्लीनाथ जी- सिद्ध पुरुष के रूप में जोधपुर में मल्लीनाथ जी का विशेष स्थान है। मल्लीनाथजी मारवाड़ के रावल सलखाजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। पिता की मृत्यु के बाद मल्लीनाथजी महेवा में चाचा कान्हड़दे के पास जाकर शासन - प्रबन्ध का कार्य देखने लगे। कान्हड़दे की मृत्यु के बाद भाई त्रिभुवनसी को पदच्युत कर स्वयं स्वामी

बन गये और अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा बढ़ी।¹³ मल्लीनाथजी ने अपने पराक्रम से अपने भतीजे राव चूण्डा को मण्डोर व नागौर जीतने में सहायता प्रदान की। मल्लीनाथजी वीर योद्धा ही नहीं बल्कि एक सिद्ध पुरुष थे। आपकी रानी रूपादे ईश्वर भक्त महिला थी। इनके प्रेरणा से ही मल्लीनाथजी उगमजी भावी के शिष्य बन गए और उनसे योग-क्रिया की दीक्षा ली। वे निर्गुण-निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे।¹⁴ उनकी मान्यता थी कि ईश्वर के नाम स्मरण मात्र से ही सांसारिक दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। जोधपुर के पश्चिम में मालानी परगना इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लूणी नदी के तट पर बसे तिलवाड़ा नामक गाँव में इनका भव्य मंदिर है। यहाँ प्रतिवर्ष चैत्र कृष्ण एकादशी से चैत्र शुक्ल एकादशी तक भव्य मेला लगता है। इनके वंशज आज भी एक सन्त के रूप में इनकी पूजा करते हैं।

5. तेजाजी- लोक देवता तेजाजी नागौर परगने के खड़नाल गाँव के रहने वाले थे। इनका विवाह पनेर नामक गाँव में रायमलजी जाणी की पुत्री पेमल से बचपन में ही हुआ था। जब ये बड़े हुए तब अपनी पत्नी को पहली बार (मुकलावा) लेने गए तब इन्हें ज्ञात हुआ कि मेर जाति के लोग लाछा गूजरी की गायों को ले गये तो तेजाजी ने उसकी मदद के लिए मेरो का पीछा कर उनसे संघर्ष किया तथा गायों को छोड़ा। इस संघर्ष में तेजाजी बुरी तरह घायल हुए तथा सर्पदंश के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए।¹⁵ इनकी पत्नी पेमल इनके पीछे सती हुई।

तेजाजी द्वारा किए गए इस शौर्य पूर्ण कार्य, त्याग, वचन-पालन व गौरक्षा ने उन्हें लोक देवता बना दिया। राजस्थान के प्रत्येक गाँव में तेजाजी के देवरे बने हुए हैं। जोधपुर के जाटों में तेजाजी की अधिक मान्यता है। जाट इन्हें अपना आराध्य देव मानते हैं। भादवा सुद दशमी को तेजाजी की पूजा करते हैं। इस दिन बहुत से लोग तेजाजी का ब्यावला बचावते हैं तो कुछ लोग इनकी कथा का वाचन करवाते हैं।

6. हड़बूजी- लोक देवताओं में हड़बूजी का भी जोधपुर में विशेष स्थान है। ये भूंडेल (नागौर) के महेराज सांखला के पुत्र थे। ये जोधपुर नगर के संस्थापक राव जोधा के समकालीन थे। जब मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया था, तब राव जोधा पुनः जोधपुर प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था, उस समय हड़बूजी ने जोधा की सहायता की थी, उन्हें सफल होने का आशीर्वाद तथा भेंट स्वरूप एक कटार दी थी, जिसकी सहायता से जोधा ने पुनः मण्डोर विजय प्राप्त की। तब जोधा ने हड़बूजी को 'बेंगटी' गाँव भेंट में दिया।¹⁶ पिता की मृत्यु के बाद हड़बूजी जोधपुर के फलौदी के निकट 'हरभमजाल' में रहने लगे। यहाँ हड़बूजी का रामदेवजी से मिलना हुआ। रामदेवजी की प्रेरणा से ही इन्होंने अस्त्र-शस्त्र का त्याग किया और गुरु बालिनाथ जी के शिष्य बन गये। हड़बूजी एक सफल योद्धा तथा योगी दोनों ही थे। इन्हें बड़ा शकुनी, वचनसिद्ध, चमत्कारी, पुरुष माना जाता है।¹⁷

बाबा रामदेवजी के ये मौसरे भाई और बालसखा थे। समाज सुधार कार्यो में बाबा रामदेव को हड़बूजी ने आजीवन सहयोग दिया। पाँचों पीरों में हड़बूजी का भी नाम आता है, स्वयं बाबा रामदेवजी ने इनको अपना प्रतिरूप बताया है-

“हड़बू सांखला हरदम हाजिर, गाँव बेंगटी माही,
दूजी देह म्हारी ही जाणों, हॉं मोसी जाया भाई।”

संदर्भ

1. डॉ. नन्दलाल कल्ला, हिन्दी का प्रादेशिक लोक साहित्य शास्त्र, प्रकाशक, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर पृ. 156
2. डॉ. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 32
3. कवि मेह-गोगाजी का रसावला (ह. लि. ग्र.) क्रमांक, 23451, (रा. प्रा. वि., जोधपुर)
4. राजस्थान भारती अंक 3-4, पृ. 27-32, गोगापेड़ी, (हस्तलिखित) क्रमांक 12242 राजस्थान शोध संस्थान, चौपासनी।
5. सूर्यमल्ल मिश्रण, वंश भास्कर, पृ. 35
6. डॉ. नन्दलाल कल्ला, हिन्दी का प्रादेशिक लोक साहित्य शास्त्र, प्रकाशक, राजस्थान ग्रन्थागार, जोधपुर पृ. 157
7. मुहणोत नैणसी री ख्यात, 2. पृ. 175
8. मोडनी आसिया, पाबू प्रकाश (महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर)
9. पं. श्रीलाल मिश्र, पाबूजी के पावड़े में राजस्थानी जीवन, मरूभारती, वर्ष 6 अंक 1, पृ. 45
10. रामदेव जी रो छन्द (ह.ग्रं.) क्रमांक 15672, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी।
11. डॉ. नन्दलाल कल्ला, हिन्दी का प्रादेशिक लोक साहित्य शास्त्र, प्रकाशक, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर पृ. 158
12. वही, क्रमांक 3476
13. मल्लीनाथ रावल री निवासाणी (ह.ग्रं.), क्रमांक 40672, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
14. डॉ. दिनेश चन्द्र शुक्ल, भक्ति परम्परा तथा संस्कृति, पृ. 47।
15. डॉ. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 38, पाठ टिप्पणी-1
16. नैणसी री ख्यात, 1, पृ. 1, 243
17. डॉ. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 60 पाठ टिप्पणी, 2 “हरभूजी पीर छै”, बड़ी कमाई रो धणी छै। यासूं कोई बात छानी नीं छै। यानूँ अगम-पिछम री खबर पड़े छै।” मारवाड़ री ख्यात, (ह.ग्रं.) अ.स.ला. बीकानेर

अंटाला की विजय : सम्मान की प्रतिस्पर्धा

कुसुम राठौड़ एवं डॉ. वी. के त्रिवेदी

मेवाड़ के महाराणा लक्षसिंह (ये लाखा के नाम से भी प्रसिद्ध है।) जब वृद्धावस्था को पहुंच चुके थे तब उनके दरबार में मारवाड के राव चूंडा की पुत्री व राव रणमल की बहन हंसाबाई के विवाह का प्रस्ताव नारियल रूप में दरबार में पहुंचा। (राजस्थान में विवाह प्रस्ताव नाई, चारण, भाटों के साथ नारियल रूप में भी भेजे जाते हैं और प्रायः वे स्वीकार ही किए जाते हैं।) हालांकि यह प्रस्ताव महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र व मेवाड़ के भावी उत्तराधिकारी चूंडा के लिए आया था जो उस वक्त दरबार में मौजूद नहीं था। उस वक्त महाराणा ने हास्य में यह कह दिया कि “ऐसी वस्तुएं मेरे लिए कोई नहीं भेजता।”¹ यह बात चूंडा तक पहुंच गई और चूंडा ने विवाह से इंकार कर दिया। चूंकि आए हुए प्रस्ताव को वापिस खाली हाथ भेजने की परम्परा नहीं थी, इसलिए महाराणा को स्वयं उक्त विवाह हेतु प्रस्तुत होना पड़ा, किन्तु इस विवाह प्रस्ताव हेतु अब मारवाड वालों की विशेष शर्त थी कि इस विवाह से जो पुत्र उत्पन्न होगा वो ही मेवाड का उत्तराधिकारी होगा। यदि चूंडा यह शपथ ले तो ही विवाह होगा। तब चूंडा ने यह प्रतिज्ञा ली कि यदि इस विवाह से राणाजी के पुत्र होगा तब वो ही मालिक समझा जाएगा।² तदन्तर हंसाबाई का विवाह महाराणा से कर दिया गया इस विवाह के 13 महीने बाद मोकल पैदा हुआ जो अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठा। सूर्यवंशी राजपूतों में यह दूसरा अवसर था, जब युवराज ने पिता की भक्ति के कारण पिता के आदेश से राज्य छोड़ दिया। पहली बार दशरथ के पुत्र रामचंद्र ने ऐसा किया था और दूसरी बार उसी कुल में चूंडा ने किया।³

जब महाराणा का देहांत हुआ तब रणमल की बहन व मोकल की माता हंसाबाई सती होने के लिए तत्पर हुईं और उन्होंने चूंडा से पूछा कि मोकल को वो कौन सा परगना निर्वाह हेतु देगा तब चूंडा ने जवाब दिया कि “हे माता! आपका पुत्र तो मेवाड का स्वामी है और मैं उसका नौकर हूँ, आपको सती नहीं होना चाहिए आप तो बाईजी राज बनकर रहे।”⁴ चूंडा के बहुत समझाने पर महारानी राठौड़ ने सती होने का विचार त्याग दिया और चूंडा के इस राज्य त्याग की प्रशंसा की और कहा कि “जैसा कर्तव्य पिता के भक्त व सच्चे राजपूतों का होता है, वैसा ही तुमने निभाया।”⁵ तथा यह कानून भी बनाया गया कि अधीनस्थों को दिए जाने वाले सभी पट्टों पर राणा के साथ चूंडा का हस्ताक्षर और सील भी अंकित किया जाए। पट्टों में बाद में भी राणा की सील के पहले सलूम्बर के प्रमुख

के भाले का चिन्ह अंकित रहता था।⁶

चूडा के इसी त्याग की वजह से बाद में उसके वंशजों, जो चूडावत (चूडावत से अभिप्राय चूडा के पुत्र, वंशज, राजपूताने में प्रायः पुत्र या वंशज के लिए पिता के नाम के अंत में वह जोड़ा जाता है, जैसे 'शक्तावत' अर्थात् 'शक्ता के पुत्र) कहलाए, को मेवाड की सेना में हरावल (सेना का अग्र भाग) में रहने का अधिकार दिया गया, जो प्रत्येक युद्ध में मेवाड की सेना का नेतृत्व करती थी। चूडावतों का ठिकाना सलूमबर में रहा। यह प्रथम श्रेणी का ठिकाना था, जिसके ठिकानेदारों को रावल की पदवी प्राप्त थी।⁷ मेवाड के राणाओं को राजतिलक करने का अधिकार भी चूडावतों को ही प्राप्त था, सलूमबर के रावल को राज्य में प्रधान का पद भी वंशानुगत रूप से प्राप्त था जिसको भांजगढ (भांजगढ-प्रधान सलाहकार) कहते थे।⁸ इसी प्रकार जब महाराणा उदयसिंह की मृत्यु हुई तब उनके द्वारा नामित जगमाल के स्थान पर सलूमबर के चूडावत की वजह से ही प्रताप महाराणा बन पाए थे।⁹

हल्दीघाटी युद्ध के बाद जब महाराणा प्रताप सुरक्षित स्थान की तरफ जा रहे थे, तब शक्तिसिंह, जो उस वक्त शाही फौज के साथ उपस्थित थे, वे भी महाराणा की मदद हेतु उनके पीछे चले तथा महाराणा का पीछा कर रहे शाही सेना के घुड़सवारों को उन्होंने मार गिराया। उस वक्त तक महाराणा प्रताप का घोड़ा भी घायल हो चुका था तब शक्तिसिंह ने उन्हें अपना घोड़ा नजर किया और इस प्रकार सुरक्षित निकल सके। इसी शक्तिसिंह के वंशजों को बाद में भींडर का ठिकाना मिला। ये भी मेवाड का प्रथम श्रेणी का ठिकाना था।

अब बात शक्तावतों व चूडावतों की वीरता, साहस व अद्भुत त्याग की। यह समय महाराणा अमरसिंह के काल का था। मेवाड के अधिकांश स्थानों पर अब भी मुगल सेना अपना अधिकार जमाए हुए बैठी हुई थी। मुगल बादशाह अब भी मेवाड को अपने अधीन करने हेतु प्रयत्नशील थे। वे किसी भी कीमत पर मेवाड के महाराणा को झुकाकर उन्हें मुगल सत्ता के अधीन लाना चाह रहे थे। मेवाड में चूडावत व शक्तावत दो शाखाओं के राजपूत समान स्तर के वीर व पराक्रमी थे। इनके पूर्वजों द्वारा किए गए कार्यों की वजह से इन्हें दरबार में गौरवपूर्ण स्थान भी प्राप्त थे, किन्तु मेवाड की सेना में हरावल में रहने का अधिकार चूडावतों को ही प्राप्त था और इसे वे अपना गौरव मानते थे। इसी प्रकार शक्तावतों को चंदावल (चंदावल-सेना का अंतिम भाग) में रहने का अधिकार प्राप्त था। इसी बात पर चूडावत शक्तावतों को हर बात में ताना दिया करते थे। अब शक्तावत भी अपने लिए हरावल में रहने का अधिकार मांगने लगे। इस प्रकार शक्तावत-चूडावतों की यह अद्भुत प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हो गई। इस प्रतिस्पर्धा को देखकर महाराणा भी धर्म संकट में पड़ गए कि आखिर किसको हरावल में रहने का अधिकार

दिया जाए। चूंकि उस वक्त तक भी मेवाड के कई किलों पर (ऊंटाला के किले सहित) मुगल सेना का अधिकार था सो उन्होंने निश्चित किया कि शक्तावतों और चूंडावतों दोनों की सैनिक टुकड़ियां अलग-अलग दिशा से ऊंटाला के किले पर आक्रमण करेगी और जिस दल का वीर सबसे पहले दुर्ग में प्रवेश करेगा उसी को मेवाड की सेना में हरावल में रहने का अधिकार दिया जाएगा।¹¹ इस प्रकार दोनों दलों को अपनी श्रेष्ठता साबित करने हेतु ऊंटाला (वर्तमान में यह उदयपुर जिले में वल्लभनगर नाम से तहसील मुख्यालय है। इसका पूर्व नाम ऊंटाला था। सरदार वल्लभभाई पटेल के यहां आगमन के पश्चात इसका नाम बदलकर उनके नाम पर वल्लभनगर कर दिया गया।) के किले को जीतकर उसमें सबसे पहले पहल प्रवेश भी करना था।

महाराणा प्रताप के स्वर्गवास के बाद भी अकबर निरन्तर मेवाड को प्राप्त करने की कोशिश करता रहा इसलिए उसने अपने राज्य के 45 वें वर्ष अर्थात् वि. सं. 1657 (ई. सं. 1600) में अपने बड़े शहजादे सलीम को कई सरदारों व बड़ी सेना के साथ महाराणा अमर सिंह पर आक्रमण हेतु भेजा। सलीम ने मेवाड़ में प्रवेश कर मांडल, मोही, मदरिया, कोसीथल, बागौर, ऊंटाला आदि पर कब्जा कर मुगल थाने बिठा दिये। ऊंटाला के किले पर उसने फतेहपुर के नवाब समस खां कायमखानी को किलेदार के रूप में नियुक्त किया था।¹²

अपनी श्रेष्ठता साबित करने हेतु दोनों ही दलों के वीरों ने निश्चित दिन किले पर हमला बोल दिया। शक्तावत किले का मार्ग जानते थे अतः शीघ्र ही उसके सम्मुख पहुंच गए और उसके अभेद्य द्वार को तोड़ने का प्रयास करने लगे। बल्लू (शक्ति सिंह का तीसरा पुत्र) शक्तावत दरवाजे की तरफ गया। दूसरी तरफ चूंडावत भी किले के पास पहुंचे और वे दुर्ग की दीवार की तरफ से अंदर जाने का प्रयास करने लगे। रावत जैतसिंह कृष्णावत दीवार की तरफ गया।

शक्तावतों ने किले का द्वार जो कि बहुत मजबूत था, को हाथी की टक्कर से तोड़ने का निश्चय किया। बल्लू शक्तावत ने अपने हाथी के महावत से कहा कि 'हाथी को हूल कर दरवाजे के किवाड़ तुड़वा' किन्तु हाथीवान ने कहा कि हाथी मुकना (बिना दांत का हाथी (बाहरी दांत नहीं) है और किवाड़ों में भाले लगे हैं इसलिए टक्कर नहीं मार रहा। ऐसी परिस्थिति बनते देख रावत बल्लू स्वयं किवाड़ के भालों के सामने खड़ा हो गया, ताकि हाथी दरवाजे के शलों (शूलों) को देखकर डरे नहीं और आसानी से टक्कर मारकर दरवाजे को गिरा दे। बल्लू को इस अनोखे बलिदान हेतु तत्पर देख एक पल के लिए तो महावत भी डर गया तब उसने किवाड़ के भालों पर खड़े होकर हाथीवान को आदेश दिया कि "मेरे बदन पर हाथी हूल दे नहीं तो मैं तुझको मार डालूंगा।" उसके आदेश की पालना करते हुए महावत ने हाथी को आगे बढ़ाया और

हाथी से द्वार पर जोरदार टक्कर मारी।¹³

इसी टक्कर से द्वार पर लगे तीक्ष्ण शले (शूलें) वीर बल्लू शक्तावत के सीने में धंस गए, किन्तु साथ ही हाथी की जोरदार टक्कर से किले का द्वार भी टूट गया। इस प्रकार बल्लू ने शक्तावतों की आन की खातिर अनोखा बलिदान देकर अपनी कीर्ति प्रसिद्ध करवाई।

दूसरी तरफ चूंडावतों के सरदार जैतसिंह चूंडावत ने जब यह देखा कि शक्तावत किले का द्वार तोड़ अंदर जाने का प्रयास कर रहे हैं, तो वह दीवार से सीढ़ी लगा भीतर जाने का प्रयास करने लगा, किन्तु किले वाले की तरफ से वार में उसे गोली लगी और वह सीढ़ी से नीचे गिरने लगा तो उसने अपने साथियों से कहा कि “मेरा सिर काटकर किले में फेंक दो”¹⁴ उसके साथी भी ऐसा करने में सहम गए तो समय बीतता देख उसने स्वयं अपने हाथों से सिर काटकर किले की दीवार के अंदर फेंक दिया।

इस प्रकार जब दरवाजे को तोड़ने के बाद शक्तावतों ने दुर्ग में प्रवेश किया तो उन्होंने देखा कि पहले से ही चूंडावत सरदार का कटा मस्तक दुर्ग के अंदर मौजूद था। किला फतह हो चुका था। शाही सेवक, कर्मचारी, सैनिक अधिकांश मारे गए और बहुत से पकड़ लिए गए। किलेदार कायमखानी भी मारा गया। महाराणा ने शक्तावतों-चूंडावतों की तारीफे कर उनकी इज्जते बढ़ाई, किन्तु जैतसिंह चूंडावत के बलिदान ने चूंडावतों के हरावल में रहने का अधिकार बचाए रखा। इस युद्ध में शक्ता के सत्रह पुत्रों में से पांच बाला, अचलीस, जोधा, डिल्ला और चतुरभान सम्मानित पद को प्राप्त करने की स्पर्धा में मृत्यु को प्राप्त हुए।¹⁵ दूसरी तरफ चूंडावतों में जैतसिंह, गोपालदास, तेजसिंह ऊंटाला के युद्ध में काम आए।¹⁶

हालांकि इस युद्ध के बाद भी चूंडावतों का सेना में हरावल में रहने का अधिकार कायम रहा, किन्तु शक्तावतों की वीरता भी कम करके देखी नहीं जा सकती। ऊंटाला में शक्तावत-चूंडावत राजपूतों की यह प्रतिस्पर्धा आश्चर्यजनक थी, जहां अपने वंशों के सम्मान की खातिर दोनों पक्षों के वीर आत्म बलिदान हेतु तत्पर हुए। इनके इस अनोखे बलिदान की स्मृति स्वरूप वल्लभनगर में एक छतरी स्मारक रूप में बनी हुई है, जिसे चूंडावत-शक्तावतों की छतरी कहा जाता है।

सन्दर्भ

1. टॉड, कर्नल जेम्स, राजस्थान का पुरातत्व एवं इतिहास, अनुवाद डॉ. ध्रुव भट्टाचार्य (2015), राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 290
2. रेऊ, पं. विश्वेश्वरनाथ, मारवाड का इतिहास, तृतीय संस्करण (2009) महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर (भाग-1), पृ. 80

3. कविराज श्यामलदास दधवाड़िया, वीर विनोद, प्रथम खण्ड सं. डॉ. रघुवीर सिंह इत्यादि (1986) मयंक प्रकाशन, जयपुर, पृ. 267
4. उपरोक्त, पृ. 267
5. उपरोक्त, पृ. 267
6. टॉड, पृ. 291
7. गुप्ता, मोहनलाल, उदयपुर संभाग का जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पंचम् संस्करण (2011), राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 105
8. कौशिक, नीलम, राजस्थान के चूडांवतों का इतिहास, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, पृ. 5
9. मुहणोत नैणसी री ख्यात, सं. पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, द्वितीय संस्करण (2010), भाग 1, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 85
10. वीर विनोद, पृ. 405
11. टॉड, पृ. 376
12. ओझा, पं. गौरीशंकर हीराचन्द : उदयपुर राज्य का इतिहास, चतुर्थ संस्करण (2015), भाग प्रथम राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 411
13. उपरोक्त, पृ. 412
14. वीर विनोद, पृ. 438
15. टॉड, पृ. 376
16. सलूमबर की तवारीख, पृ. 09

धाट (उमरकोट) की भाषा:- ढाटकी (थरी) बोली

डॉ. पंकज चांडक

मारवाड़ और सिन्ध प्रदेश के मध्य स्थित रेगिस्तानी भू-भाग धाट कहलाता है। भारत विभाजन के दरम्यान इस क्षेत्र का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा वर्तमान पाकिस्तान में और शेष 30 प्रतिशत भाग हिन्दुस्तान में आ गया। पूर्व-पश्चिम में उमरकोट (अमरकोट) से लेकर चौहटन की पहाड़ियों तक और उत्तर-दक्षिण में जैसलमेर के सता सुन्दरा गांव से लेकर बाड़मेर जिले के सेडवा कस्बे तक और पाकिस्तान में सभी डेहरा तक का क्षेत्र 'धाट' कहलाता है। धाट प्रदेश के पश्चिमी में सिन्धी, पूर्व में मारवाड़ी, दक्षिण में पारकरी, गुजराती एवं उत्तर में पंजाबी, रणडाली बोली का क्षेत्र आता है। ढाट क्षेत्र की आमजन की बोली ढाटकी (ढाटी) है जिसमें सिन्धी, उर्दू, फारसी, प्राकृत, पंजाबी व गुजराती शब्दों का मिश्रण मिलता है।

Encyclopedia Britannica Vol XVI, Page 781:-

"DHATKI, a dilect of Rajasthan is spoken in South-Eastern Tharparkar District"

George Gearson ने अपनी पुस्तक Linguistic Survey of India में ढाटकी बोली के बारे में लिखा है कि थरपार कर व जैसलमेर की ढाटकी बोली अधिकांशतः मारवाड़ी है जिसमें थोड़ा अंश सिंधी व गुजराती भाषा का मिश्रण हुआ है। इसी प्रकार श्री भेरूमल महेरचंद आडवाणी ने अपनी किताब में लिखा है कि सिंधी, राजस्थानी व गुजराती के मिलाप से एक बिल्कुल ही नयी भाषा का जन्म हुआ जो 'ढाटकी' नाम से धाट प्रदेश में बोली जाती है। इस बोली में प्रवाह तो मारवाड़ी की तरह लेकिन शब्द अधिकांशतः सिन्धी व गुजराती से लिए गये।

Technical Detail of "DHATKI"

Census of India-1911, Vol 7, Bombay Presidency Page 168: Distribution of Total population By language

Family	:	India-European
Sub Family	:	Aryan
Branch	:	Indian
Sub-Branch	:	Sanskritic

Group : North Western
Language or Dialect : Thareli (Thari/Dhatki)

Total population in Tharaparkar District:- 3,95,235

Population Spacing Thari/Dhatki = 1,16, 664

(Male= 64,794, Female=51,870)

Total 1,16,664 i.e. about 30% of District.

ढाटकी बोली पर प्रभाव

1. थरी/ढाटकी बोली मूलतः मारवाड़ी बोली का अपभ्रंश रूप है जिसे लडपालण के दिनों में व स्थानांतरण के दौरान मारवाड़ी जातियां अपने साथ लाईं।
2. चारों तरफों के प्रदेश की प्रादेशिक भाषाओं का भी इस पर प्रभाव पड़ा।
3. जब-जब शालाओं में शिक्षण की भाषा बदलती गई वैसे ढाटकी बोली पर प्रभाव पड़ा शुरूआत में फारसी, गुजराती, उर्दू अब सिंधी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।
4. ब्रिटिश प्रभाव के कारण नौकरी पेशा लोगों के कारण शहर विस्तार के कारण भाषा पर विशेष प्रभाव पड़ा।

शरीर के अंग		माह	
ढाटी	हिन्दी	ढाटी	हिन्दी
दांत	दांत	चेतर	चैत्र
नाक	नाक	वेसाख	वैशाख
आंख	आंख	जेठ	ज्येष्ठ
कान	कान	असाड़	आषाढ़
जिभ	जीभ (जीवा)	सिरायण	श्रावण
टांग	टांग	भदरो	भाद्रपद
गोडो	घुटना	असू	अश्विन
गिरिया	टखना	कति	कार्तिक
गल्ल	गाल	नासारी	मार्गशीर्ष
चप	होंठ	पोह	पौष
फुरने	नथुना	माहा	माघ
नस	गर्दन	फगण	फाल्गुन
ऋतु		माप-तौल	
ढाटी	हिन्दी	ढाटी	हिन्दी
सियालो	शीत	अध किल्ली	½ Kg

उन्लो	ग्रीष्म	अध मण	बीस किलो
वरसाळो	वर्षा	मण	चालीस किलो
		सवा मण	पचास किलो
		कुण्टल	क्विंटल

फल

ढाटी	हिन्दी
अम्ब	आम
दाख	द्राक्ष
गिदरा	खरबूज
कांणीग	तरबूज
दाड़म	अनार

मसाला

ढाटी	हिन्दी
लूण	नमक
हळद	हल्दी
धाणा	धनया
यूम	लहसुन
राये	राई

ढाटकी बोली के कुछ शब्द**अंक**

ढाटी	हिन्दी
हेक	एक
बे	दो
टन	तीन
चार	चार
पंच	पांच
छि	छः
सत	सात
अठ	आठ
नव	नौ
डस	दस
इग्यारे	ग्यारह
बाहरे	बारह

सब्जियाँ

ढाटी	हिन्दी
चिमटा	टमाटर
रूंधबिया	प्याज
तिंडसी	टिण्डा
मरीको	चन्दलियो
फुदंनो	पोदीना

पेड़

ढाटी	हिन्दी
बण	कैर
अक	आक
नीम्ब	नीम
बबलियो	बबूल
बोरडी	बैर

पशु पक्षियों के नाम

ढाटी	हिन्दी
लाकड़ी	लोमड़ी
टिलोड़ी	गिलहरी
रीढ़	भेड़
छाली	बकरी
गा	गाय
उठ	ऊँट
मींस	भैंस
धुध	उल्लू
स्याल	सियार
शिशियो	खरगोश
चिडकी	चिड़िया
पारेबा	स्कूटर

तेरेह	तेरह	सूंटिया	तोता
चौउडै	चौदह	हाडो	कौआ
पनदरे	पन्द्रह	गिरन	गिद्ध
सोले	सोलह	सांअली	चील
सतरे	सत्रह	उन्दरा	चूहा
अठारे	अठारह	काकीन्डा	गिरगिट
उगणीस	उन्नीस	डेडरियो	मेंढक
वीस	बीस	नोलियो	नेवला
कालक्रम		रंग	
ढाटी	हिन्दी	ढाटी	हिन्दी
असूर	सूर्योदय से पूर्व	रतो	लाल
साकला	सूर्योदय के पश्चात्	नीरो	नीला
काव्ये	दोपहर	पीव्ये	पीला
		पियाजी	गुलाबी
		सावो	हरा

ढाटकी बोली की प्रमुख विशेषताएँ

ढाटकी बोली/थरी बोली का वैज्ञानिक तरीके से कोई स्पष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं है। यह बोली बोलचाल (Colloquial) भाषा होने के कारण लिखित रूप में न उपलब्ध होकर लोकगीतों, लग्नगीतों, होली गीतों, शिलोको, कहेवतो के रूप में लोक साहित्य के रूप में उपलब्ध है, जिसे वर्तमान में पाकिस्तान के “सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद (सिंध) की तरफ से संकलन व संपादन कराया गया है जिसे हाल में बेनजीर भुट्टो हत्याकांड के बाद उठे भड़के दंगों के कारण इस कार्य को काफी नुकसान पहुंचा है। धाट संस्कृति में ‘तू’ शब्द ज्यादा बोला जाता है। खुदा या ईश्वर को भी ‘तू’ भली करें यहां तक की ईश्वर को भी तूंकारा से पुकारा जाता है। लेकिन भाषा में यह तूंकाने अपनत्व इज्जत व आदर से भरा होता है।

व्याकरण की दृष्टि से

ढाटकी बोली में ‘अ’ अनुस्वर का अधिक प्रयोग होता है। इस बोली में एकवचन के लिए ‘अ’ तथा बहुवचन के लिए ‘आ’ प्रत्यय का प्रयोग होता है। ढाटकी पुल्लिंग व स्त्रीलिंग के अलावा कोई लिंग (नपुंसक) नहीं होता है।

इसमें उत्तम व मध्यम पुरुषवाचक सर्वनामों के लिए मोहजो, ताहजां एवं बहुवचनान्त रूपों के लिए असांजो का प्रयोग किया जाता है। सम्बन्ध कारक में जो, जो, जी, प्रत्यय

का प्रयोग किया जाता है, भूतकाल के लिए को, वर्तमान के लिए तो, भविष्यकाल के लिए से आदि रूपों का प्रयोग किया जाता है। सम्प्रदान के लिए नौ, अपादन के लिए सूं रूप प्रचलित है। इसमें ध्वनि का कम-अधिक प्रयोग होता है।

सन् 1947 के विभाजन के कारण धाट क्षेत्र का 70 प्रतिशत भाग पाकिस्तान में और 30 प्रतिशत भाग भारत में आ जाने के कारण ढाटभाषी लोगों का बंटवारा हो गया। पाकिस्तान में सिन्धी उर्दू भाषा और भारतीय क्षेत्रों में मारवाड़ी हिन्दी के प्रभुत्व के कारण इस ढाटकी भाषा का विकास अवरुद्ध हो गया है। फिर भी थार मरुस्थल में अपने अपनत्व और सरलता के कारण लोकवाणी के रूप में यह अभी भी अपना अस्तित्व कायम रखे हुए है।

संदर्भ

1. Linguistic Survey of India-George Gearson
2. Census of India-1911 Vol 7 Bombay Presidency Page 168
3. जागू, रायचन्द, रेगिस्तान की तवारीख, वोल्यूम I SU सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद-सिन्ध 1956
4. माहेश्वरी, बंशीधर, आपणो सांस्कृति वासो, श्री थरी चेरीटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद
5. गढवीर, मेघाराम, अब्बा की बातें, राजस्थान ग्रन्थागार, जोधपुर
साक्षात्कार-
 1. श्रीमती लक्ष्मीदेवी ताराचन्द माहेश्वरी गडरा रोड़ बाड़मेर
 2. श्री गणपतसिंह चैण राणा हम्मीर सिंह सोड़ा उमरकोट
 3. श्री बंशीधर माहेश्वरी झड़न्जि.ऋ अहमदाबाद
 4. श्री जितेन्द्र छंगाणी, बाड़मेर

उदयपुर एवं चूरु का तुलनात्मक अध्ययन: परम्परागत जल प्रबंधन के संदर्भ में

डॉ. मीना कुमारी जांगिड़

राजस्थान के मध्य से गुजरने वाली अरावली पर्वत विश्व के प्राचीनतम पर्वत शृंखला है जो राजस्थान प्रांत को दो भागों में विभक्त करती है जिसके कारण यहां दो स्पष्ट जलवायु व सांस्कृतिक रूपों का सृजन करती होता है। राजस्थान का पूर्वी भाग गंगा-यमुना नदियों द्वारा विस्तारित मैदान का ही भाग है। राजस्थान के पश्चिम में थार का मरूस्थल है तथा दक्षिण-पूर्व का पठारी भाग गोंडवाना भूखण्ड का अवशेष है।¹ अतः राजस्थान की स्थलाकृति में हर प्रकार की प्राकृतिक रचना शामिल है। अरावली के पश्चिम में मरूस्थल क्षेत्र में उच्च तापक्रम, कठोर सूखे की लम्बी अवधि उच्च वायुवेग, निम्न सापेक्षिक आद्रता जैसी विशेषताएं रहती हैं। यहाँ शीत ऋतु में तापमान शून्य से नीचे गिर जाता है तथा गर्मी में 50 डिग्री तक पहुँच जाता है। अरावली पर्वतमाला के दक्षिण पूर्व में मेवाड़ राज्य स्थित था, जिसकी जलवायु प्रायः समशीतोष्ण थी। मेवाड़ के भाग उदयपुर की धरातलीय स्तर से ऊँचाई होने से यहाँ न तो अधिक गर्मी होती है और न ही ज्यादा सर्दी। साथ ही जंगलों एवं वृक्षों की बहुतायत से ठण्डी एवं गरम हवाओं (लू), बवण्डरों इत्यादि की उपस्थिति न के बराबर होती है।² वर्षा का वार्षिक औसत 66 से. मी. से 95 से.मी. तक रहता है।³

प्रस्तुत शोध पत्र 'उदयपुर एवं चूरु का तुलनात्मक अध्ययन: परम्परागत जल प्रबंधन के संदर्भ में' में दोनों क्षेत्रों के भिन्न-भिन्न जलप्रबंधन के रूप-प्रकार व क्षेत्र विशेष में इनकी उपयोगिता और महत्वता को स्पष्ट किया जाएगा। बीकानेर रियासत में स्थित चूरु जिसका विस्तार 27°25' से 28°42' उत्तर तथा देशान्तर 74°28' से 75°3' के मध्य में विद्यमान है।⁴ चूरु में वर्षा की औसत मात्रा 11 और 12 इंच के लगभग रहती है।⁵ चूरु में अल्पवृष्टि, अनावृष्टि, भूजल के खारेपन से युक्त होने, झीलों एवं नदियों के अभाव वाले इस क्षेत्र में वर्षा जल संग्रहण के उचित प्रबंध किये गए थे।⁶

उदयपुर जो कि 24°34' 16.5720 उत्तरी अक्षांश से 73°41' 29.5584'' पूर्वी अक्षांश के मध्य में स्थित है।⁷ यहाँ वर्षा की पर्याप्त मात्रा एवं पर्वतीय क्षेत्र में झीलों व नदियों की कोई कमी नहीं थी फिर भी वर्षा के जल के संग्रह एवं संचयन हेतु उचित जल प्रबंध किया गया था जिसकी जानकारी यहां के ऐतिहासिक स्रोतों से मिलती है।⁸

जल की मात्रा जहाँ कम थी वहाँ भी और जहाँ ज्यादा थी वहाँ भी परम्परागत जल प्रबन्धन किया जाता था। यहाँ दोनों ओर विभिन्न रूप एवं प्रकार से वर्षा एवं भू-जल संग्रहित किया गया क्योंकि चूरु में वर्षा की कम मात्रा से प्राप्त होने वाले जल को वर्ष पर्यन्त जीवन यापन हेतु वर्षा जल का संग्रहण आवश्यक था वहीं उदयपुर की भौगोलिक परिस्थितियों में इनका निर्माण अत्यावश्यक था। वर्षा जल के बहकर निकल जाने एवं निम्न धरातल पर सतही जल के सूख जाने पर जल का पूर्ण अभाव ही रहता था। अतः प्राणिजन के उपयोग व कृषि सिचाई व्यवस्था हेतु इनका निर्माण अत्यन्त आवश्यक था।⁹

परन्तु इन दोनों क्षेत्रों में जल प्रबन्धन के प्रकार एवं रूपों में भिन्नता थी। चूरु में जहाँ वर्षा जल आधारित संरचनाओं में ढाब, जोहड़ा (तालाब) कच्चे-पक्के टांका, टंकी, कुण्ड-कुण्डी एवं भूमिगत जल संरचनाओं में कुएं तथा रेजाणी जल प्राप्ति हेतु कुई मुख्य थी।¹⁰ उदयपुर में परम्परागत जल संग्रहण हेतु वर्षा जल आधारित संरचनाओं में झीले, तालाब, ताल-तलैया इत्यादि थे एवं भूमिगत जल प्राप्ति हेतु कुएं एवं बावडियां थी।¹¹ इस तरह से दोनों क्षेत्रों में परम्परागत जल प्रबन्ध था पर इनके स्वरूपों में भिन्नता थी। क्योंकि विभिन्न स्थानों पर वर्षा जल एवं भू-जल का संग्रहण वहाँ की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, वार्षिक औसत वर्षा, भू-जल की गहराई एवं गुणवत्ता के आधार पर अलग-अलग पारम्परिक तरीकों से किया जाता था। चूरु में वर्षा की मात्रा कम और धरातल पर गिरे जल को सूर्य की तपिश से बचाने हेतु यहाँ कुण्ड-कुण्डी एवं टांका, तालाब आदि बनाये गये थे और इस क्षेत्र में कुण्ड, टांका प्रायः हर खेत-खलिहान, घर, मन्दिर में देखने को मिल जाते हैं।¹² इसके विपरीत उदयपुर में वर्षा की औसत मात्रा ज्यादा थी तो वहाँ जल संग्रहण हेतु बड़े रूप झील, नाड़ा, तालाब निर्मित किये गये थे।

चूरु एवं उदयपुर दोनों क्षेत्रों में पाताल जल (भू-जल) को भी उपयोग किया जाता था और भू-जल की उपयोगिता थी। समान उपयोगिता वाले क्षेत्रों में कुछ समानताओं के साथ भिन्नता भी थी। भू-जल प्राप्ति के स्रोत एवं साधन भिन्न-भिन्न थे। मरुस्थलीय क्षेत्र चूरु में भू-जल 100 मीटर से 130 मीटर तक अर्थात् 300 फुट से 400 फुट तक की गहराई पर मिलता था। इतने गहरे पानी को हाथों से निकालना संभव नहीं था, इसलिए चड़स द्वारा बैलगाड़ी या ऊंटों की सहायता से खींचा जाता था। साथ ही इतने गहरे और पानी भरे चड़स को आसानी से खींचा जा सके इस हेतु कुओं के साथ 'सारण' बनाई जाती थी। सारण एक ढलवा रास्ता होता था।¹³ पानी के अभाव वाले इस क्षेत्र में कुछ कुएं इतने बड़े बने होते थे कि एक साथ चार लाव चलते थे। चूरु का चौलावा कुआ बहुत प्रसिद्ध था जिसे ठाकुर संग्राम सिंह ने बनवाया था।¹⁴ इसी तरह यहां दुलावा, तिलावा कुएं बने हुए थे। वहीं उदयपुर में पाताल जल को ढेकली और रेहट द्वारा प्राप्त किया जाता था।¹⁵ वीरविनोद में भी इसका उल्लेख मिलता है।¹⁶ दूसरा भू-जल प्राप्ति हेतु उदयपुर में अनेकों बावडियां बनी हुई थी क्योंकि इस जगह पानी कम गहराई एवं

पर्याप्त मात्रा में उपलब्धता के कारण चौड़े-चौड़े सीढ़ीनुमा कुए बनाए जाते थे, जिन्हे बावड़ी या वापिका कहते हैं।¹⁷ बावड़ी से पाताल पानी सीढ़ियों से उतरकर प्राप्त कर लिया जाता था।

उदयपुर एवं चूरू के ये भिन्न-भिन्न रूप वहाँ के भौगोलिक परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण ही भिन्न थे। मरुस्थलीय क्षेत्रों में गहरे कुओं से चड़स खींचने के लिए सारण बनाने हेतु स्थान की कोई कमी नहीं होती थी।¹⁸ वहीं उदयपुर के पर्वतीय स्थलों में रहट और ढेकली का ही उपयोग संभव था क्योंकि वहाँ सारण बनाने के लिए समतल मैदान की कमी होती थी।¹⁹ दूसरा कारण वर्षा की मात्रा एवं जल की गहराई भी थी। चूरू में वर्षा की मात्रा की कमी के कारण भू-जल काफी गहराई पर मिलता था और वहीं उदयपुर में वर्षा की औसत मात्रा अच्छी थी, जिससे जल ऊंचाई पर ही मिल जाता था। इस ऊंचे जल को रहट या ढेकली द्वारा आसानी से निकाला जा सकता था।

जल की आवश्यकता जितनी प्राणिजन को होती है उतनी ही पेड़-पौधों एवं कृषि के लिए महत्वपूर्ण है। उदयपुर में वर्षा जल एवं पाताल जल द्वारा भी सिंचाई के परम्परागत जल स्रोत थे। सिंचाई के लिए जल प्राप्ति के यहाँ प्रमुख साधन नदी-नाले, बाहला, पड़वा, झरना, तालाब और कुएं थे।²⁰ वही चूरू में कृषि वर्षा जल पर ही आधारित थी।²¹ सिंचाई हेतु परम्परागत जल प्रबंधन नहीं था। वर्षा जल की इतनी मात्रा ही एकत्रित हो पाती थी कि प्राणिजन की ही वर्ष भर प्यास बुझ सके। पशुओं को तो खारे पानी में कुछ मीठा पानी (कुण्ड एवं तालाब का वर्षा जल) मिलाकर पिलाया जाता था जो इसे स्पष्ट होता है कि²²

न्हावण पाणी और है पीवण पाणी और।

धन धामण न और है, वाह रे नन्द किशोर।।

यहाँ की मिट्टी रेतीली मिट्टी है,²³ जिसमें सिंचाई हेतु पर्याप्त मात्रा में जल की जरूरत होती है। अतः इन परिस्थितियों वाले इस भू-क्षेत्र में सिंचाई हेतु परम्परागत जल प्रबंधन सक्षम नहीं था।

परम्परागत जल प्रबंधन जितना मजबूत प्रबन्धन था उसी के अनुरूप स्थापत्य कला की दृष्टि से भी ये अनुपम थे। अध्ययन क्षेत्रों में कुए, तालाब, कुण्ड, बावड़ियों के निर्माण के साथ इन स्रोतों एवं इनके आस-पास बनाये जाने वाले मेहराब, छतरियाँ, देवताओं के कलात्मक आले, तिबारे, गुम्बद, गरुघाट, खेल-कोठे एवं मुखे स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरण थे।²⁴ चूरू के कुओं की एक विशेषता थी कि इनके ऊपर मुरवे बने होते थे जिससे कि मरुस्थलीय एवं रेतीले क्षेत्र में दूर से इन्हे देखकर राहगीर जल प्राप्ति के स्थान से जल प्राप्त कर सके। साथ ही ये मुखे कुएं को आकर्षक स्वरूप प्रदान करते थे।

इन जलाशयों को निर्मित करने के लिए पत्थर एवं चूने का उपयोग होता था। चूरू में जलाशयों को धांधले भाटे²⁵ एवं चूने से निर्मित किया जाता था एवं उदयपुर में भी चूने एवं वहां के पत्थरों से जलाशय बनाए जाते थे।²⁶ इससे ज्ञात होता है कि कोई भी स्थापत्य निर्माण उस क्षेत्र विशेष में आसानी से उपलब्ध होने वाली वस्तु सामग्री पर निर्भर करती है। चूरू में धांधले भाटे की प्रचुरता थी²⁷ तो वहीं उदयपुर में पहाड़ी इलाके में पत्थर आसानी से मिल जाते थे।

अध्ययन क्षेत्रों में जल प्रबंधन के इस निर्माण कार्य में शासकीय एवं गैरशासकीय दोनों वर्गों का महत्वपूर्ण योगदान था। जल एवं इसके स्रोतों के निर्माण की महत्वता का उल्लेख धर्म शास्त्रों में भी किया गया था कि राज और प्रजा को जलाशय निर्मित कराने चाहिए।²⁸ इसी भावना से परिपूर्ण समाज ने यहाँ जलाशय निर्मित करवाये थे। चूरू²⁹ एवं उदयपुर³⁰ में इस परम्परा को निभाते हुए यहाँ के शासक वर्ग व गैर शासक वर्ग का उल्लेखनीय योगदान रहा। सैकड़ों की संख्या में जो जलाशय निर्मित करवाये गये थे उनमें श्रीमन्त वर्ग का महत्वपूर्ण योगदान था। यहां के ऐतिहासिक स्रोतों के अध्ययन एवं सर्वेक्षण के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में आज कोई भी ऐसा जलाशय या उसका अवशेष नहीं मिलता जिसका प्रत्यक्ष रूप से बीकानेर रियासत के किसी महाराजा ने निर्मित करवाया हो। इसके विपरीत उदयपुर शोध क्षेत्र के अधिकतर जलाशय यहाँ के महाराणाओं एवं इनके वंशजों द्वारा निर्मित हैं। जिनमें यहां के प्रमुख तालाब उदयसागर,³¹ रूप सागर,³² जनासागर,³³ राजसमंद झील³⁴ एवं अन्य अनेकों जलाशय जिनका निर्माण शासकों ने किया था। यहाँ के महाराणाओं ने न केवल अनेक जल संसाधनों का निर्माण करवाया अपितु इनके निर्माण कार्य में व्यक्तिगत रुचि व्यक्त करते हुए अपने अधीन सामंत सरदारों एवं रय्यतों को भी प्रेरित किया था, क्योंकि यहाँ के महाराणाओं का उदयपुर का आलोच्य काल में शास्त्रीय, रक्षात्मक तथा प्रशासनिक कार्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण था जिसे पूर्ण योजना सहित बसाया एवं निर्मित किया गया था।³⁵ वहीं बीकानेर के शासकों ने चूरू की विपरीत परिस्थितियों के बावजूद पट्टे जारी करने के अलावा व्यक्तिगत रूप से किसी जलाशय का निर्माण नहीं करवाया क्योंकि बीकानेर एवं चूरू के ठाकुरों व यहाँ की जनता के बीच संघर्ष चलता रहता था, जिसका बेजोड़ उदाहरण ठाकुर स्योजी सिंह के द्वारा बीकानेर शासक के विरुद्ध चाँदी के गोले दागे गये थे। इस तरह से न केवल सामन्त ठाकुरों ने जनजागृति हेतु बीकानेर शासकों का विरोध किया अपितु यहाँ की जनता एवं स्वामी गोपलदास जी ने भी चूरू पर होने वाले असमान व्यवहार का विरोध किया था।³⁶

बीकानेर शासकों के इस बेरुखे व्यवहार वाले इस क्षेत्र में स्वामी गोपालदास जी ने यहाँ के श्रीमन्त वर्ग की सहायता से सैकड़ों जलाशय निर्मित करवाये गये थे।³⁷ इन जलाशय को चूरू के ढाणी, गांव, रोही, खेत स्वामी सभी जगह देखे जा सकते हैं। इस

तरह से किसी भी क्षेत्र के विकास कार्य वहाँ के शासक वर्ग की रुचि, उपयोगिता एवं जागरूकता पर निर्भर करता था।

किन्हीं दो भिन्न स्थानों पर परम्परागत जल प्रबंध एवं इसकी विधियाँ उपयोगिता, रूप-प्रकार एवं इसके निर्माताओं की भूमिका में समरूपता नहीं होती थी। ये सभी किसी क्षेत्र विशेष की भौगोलिक परिस्थितियों, जलवायु, वार्षिक औसत वर्षा, भू-जल गहराई एवं गुणवत्ता के आधार पर एवं शासकीय एवं गैर शासकीय वर्ग की जागरूकता व रुचि पर निर्भर होती थी। जो इन दोनों क्षेत्रों के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध हुआ है और यहाँ के परम्परागत जल स्रोतों के प्रबंधन में कुछ समानताओं के साथ इनके प्रबंधन में विविधता भी मिलती थी।

संदर्भ

1. द इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, 1908, वॉल्यूम XXI
2. डॉ. राजशेखर व्यास, मेवाड़ की कला और स्थापत्य, जयपुर, 1988 ई. पृ. 6-7
3. एर्सकिन, ए गजेटियर ऑफ दी उदयपुर स्टेट, पृ. 13,14
4. राजस्थान डिस्ट्रीक्ट एसस हेण्ड बुक, चूरू डिस्ट्रीक्ट पृ. 3, जिला गजेटीयर चूरू में अक्षांश 27°24' से 29°00' तथा देशान्तर 73°40' से 75°49' दिया है, पृ. 1
5. श्री गोविन्द अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, नगर श्री चूरू, 1974, पृ. 7
6. श्री गोविन्द अग्रवाल, पत्रों के प्रकाश में स्वामी गोपालदास जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, नगर श्री, चूरू वि.स. 2025, पृ.13
7. नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 34
8. डॉ. राजशेखर व्यास, पूर्वोक्त पृ. 22, डॉ. गौरीशंकर हीराचंद औझा, पूर्वोक्त पृ. 242
9. डॉ. प्रियदर्शी औझा, पश्चिमी भारत में जल प्रबन्धन, दिल्ली 2012 पृ. 108
10. राजस्थान सुजस, वार्षिकी, 1997 सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय, जयपुर राजस्थान पृ. 3
11. मण्डन, राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम सं एव व्याख्याकार डॉ. कृष्ण जुगनू, दिल्ली 2005, अध्याय 4 पृ. 48, 49
12. स्वयं द्वारा सर्वे किया गया।
13. अनुपम मिश्रा, राजस्थान की रजत बूंदें, जोधपुर, 2010, पृ. 75
14. गोविन्द अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास पूर्वोक्त, पृ. 205
15. एर्सकिन द गजेटियर ऑफ दी उदयपुर स्टेट, पृ. 47-48
16. वीर विनोद भाग -5, पृ. 118
17. डॉ. प्रियदर्शी औझा, पूर्वोक्त पृ. 195

18. स्वयं द्वारा सर्वे किया गया।
19. डॉ. प्रियदर्शी औझा, पूर्वोक्त पृ. 198
20. वही पृ. 192
21. डॉ. जी. एस. एल. देवड़ा, बीकानेर की मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में सहायता व निस्तार का प्रतिरूप, राजस्थान हिस्ट्री कॉन्ग्रेस, वॉल्यूम VII, पाली, 1973
22. मरूश्री, जुलाई, 1973, अकाल एवं गणपति शताब्दी विशेषांक
23. डॉ. जी. एस. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था धरती प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण, 1981, पृ. 201
24. मीना कुमारी मध्यकालीन राजस्थान के पारम्परिक जल स्रोत चूरू के संदर्भ में, जूनी ख्यात, सम्पादित डॉ. भँवर भादानी, मरूभूमि शोध संस्थान, श्री डूंगरगढ़, राजस्थान, वर्ष 2, अंक, 2013, पृ. 67-72
25. मीना कुमारी, शोध प्रबन्ध, चूरू मण्डल का परम्परागत जल प्रबंधन, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा, पृ. 41
26. डॉ. ईश्वरसिंह राणावत, राजस्थान के जल संसाधन, उदयपुर, 2004, पृ. 228-230
27. राजस्थान भारती, वर्ष 8, अंक 2, जुलाई, 1960, डॉ. डी.एस. यादव, इकोनोमिक ऑफ द डेजर्ट, चूरू डिस्ट्रीक्ट, पृ. 22-23
28. डॉ. ईश्वरसिंह राणावत, पूर्वोक्त पृ. 93
29. मीना कुमारी, चूरू मण्डल में जल प्रबंधन, बीकानेर के शासकों व उनके अधीन सामन्तों के प्रयास: एक सर्वेक्षण, अभिलेख सम्पादित डॉ. महेन्द्रसिंह खड़गावत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर 2016 पृ. 135-138
30. डॉ. प्रियदर्शी औझा, पूर्वोक्त पृ. 108-145
31. डॉ. मनोहर सिंह राणावत (सं.) मुहणोत नैणसी की ख्यात, श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ, 1987 पृ. 2
32. जगन्नाथ राय प्रशस्ति, शिला 2, श्लोक 34
33. ईश्वरसिंह राणावत पूर्वोक्त पृ. 103-105
34. महाराणा राजसिंह की पट्टी बही न. 92, वि. सं. 1713, राजस्थान राज्य पुरा अभिलेखागार, शाखा उदयपुर
35. डॉ. ईश्वरसिंह राणावत, पूर्वोक्त, पृ. 79
36. गोविन्द अग्रवाल, पत्रों के प्रकाश में स्वामी गोपाल दास जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पूर्वोक्त, पृ. 33-38
37. मीना कुमारी, चूरू में जल संकट के समाधान में स्वामी गोपाल दास जी का योगदान, इन्टरनेशनल रिसर्च जर्नल ऑफ मैनेजमेंट सोशियोलॉजी एण्ड ह्यूमानीटीज वॉल्यूम 6, इश्यु व सितम्बर 2015, पृ. 10-15

राजस्थान के इतिहास में वीरांगनाओं का योगदान : ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. ममता यादव

गौरवमयी राजस्थान, जिसकी माटी के कण-कण से रक्त सनी गंध आती है, जहां स्थान-स्थान पर जौहर के निशान, दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ का हर कण मान, शौर्य की महिमा से मण्डित और गौरव की गरिमा से आलोकित है। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' व 'इला न देणी आपणी...' आदि उक्तियाँ यहाँ की अनुपम थाती कही जाती है। इस धोरों री धरती¹... में उपजाऊ फसलों के साथ-साथ अजय तलवारों की फसलें भी निपजी हैं। यहां के नर-नारी हमेशा से ही² "संग बल जावै नारियाँ, अर नर जावे कट्ट, घर बालक सूना रमें, उण घर रजवट्ट" की कहावत को चरितार्थ करते आये हैं। राजस्थान की इस पूज्य धरा के लिये कवि रामधारी सिंह दिनकर³ ने कहा था कि जब मैं इस पूज्य धरा पर कदम रखता हूँ, तो मेरे कदम एकाएक रुक जाते हैं, मैं सहम जाता हूँ कि कहीं मेरे पैर के नीचे किसी वीर की समाधि या किसी वीरांगना का थान ना हो।

वीरांगना अर्थात् वीर स्त्री, जो एक साहसी नारी योद्धा का द्योतक है⁴, ना केवल निडर व्यक्तित्व वाली होती है, किंतु वह वास्तविक युद्ध में भाग भी लेती है। दुर्गादास की माता वीरांगना है, जिनके लिये प्रसिद्ध है, "जननी एहड़ा पूत जण जहड़ा दुर्गादास", "मार मंडासो थामियो बिन थंभा आकास"⁵। अर्थात् माताओं यदि तुम पुत्र उत्पन्न करो, तो तुम दुर्गादास जैसे वीर व देशभक्त को जन्म दो। पुत्र का देशहित संग्राम में वीरगति को प्राप्त हो जाना, जननी के गर्व का विषय होता है।⁶

*आये रण में कूद जूझि कै लला लाडिले काम,
सुनि छाती फूली, फटि, गई जननि सुर धाम।*

वह नारी वीरांगना है जो अपने पति को उत्साह के साथ तिलक कर रण क्षेत्र में भेजती है, जैसे हाड़ी रानी। मैं प्रस्तुत शोध पत्र में ऐसी ही कुछ वीरांगनाओं का उल्लेख कर रही हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में राजस्थान के इतिहास में योगदान दिया है।

त्याग मूर्ति पन्नाधाय-पन्नाधाय⁸, राणा सांगा के पुत्र, राणा उदयसिंह की धाय माँ थी। यह किसी राजपरिवार की सदस्या नहीं थी। अपना सर्वस्व स्वामी को अर्पण करने वाली इस वीरांगना का जन्म कमेरी गांव में हुआ था। मेवाड़ रानी का स्वास्थ्य खराब होने

के कारण, राणा सांगा के पुत्र उदयसिंह को माँ के स्थान पर दूध पिलाने के कारण पन्ना, धाय माँ कहलायी। पन्ना ने रानी कर्मावती के आत्मबलिदान (जौहर) के पश्चात् उदयसिंह की परवरिश का दायित्व संभाला। चित्तौड़ का शासक, राणा सांगा की मृत्यु के बाद, दासी पुत्र बनवीर⁹ बनना चाहता था। उसने राणा के वंशजों को एक-एक करके मार डाला। उदयसिंह को मारने के लिये महल पहुँचने से पूर्व ही बनवीर के आने की सूचना एक सेवक के द्वारा पन्ना धाय को मिल गई। उसने अपने पुत्र को उदयसिंह की जगह पलंग पर लिटा दिया। बनवीर ने उस बालक को उदयसिंह समझकर मार डाला और पन्ना ने स्वामी भक्ति के वचन में एक आँसू भी पुत्र की मौत पर नहीं बहाया और उदयसिंह को महल से बाहर सुरक्षित स्थान पर ले गई। स्वामीभक्त वीरांगना पन्नाधाय धन्य है, अमर है उसका त्याग¹⁰, जिसने अपने कर्तव्यपूर्ति में पुत्र का बलिदान देकर मेवाड़ राजवंश को बचाया।

पद्मिनी - पद्मिनी या पद्मावती जो चित्तौड़ के राजा रतनसिंह (रतन सेन) की वीर रानी थी। इस रानी का ऐतिहासिक अस्तित्व तो स्वीकार कर लिया है, किंतु इनके नाम पर ऐतिहासिक अस्तित्व संदिग्ध है। पद्मावती नाम का मुख्य स्रोत पद्मावत¹¹ महाकाव्य है, किंतु पद्मावत एक काव्य होने के कारण इसमें जो कथा वर्णित है, उस कथा में (सिंहल द्वीप के राजा गंधर्व सेन व रानी चंपावती की पुत्री पद्मावती) पद्मावती की चारित्रिक विशेषताएँ अतिशयोक्तिपूर्ण एवं कल्पनात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं, लेकिन पद्मावत, तारीखे फरिश्ता¹² व कर्नल टॉड¹³ के राजस्थान के लेखों में मूल बात यह है कि अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण (1303 ईस्वी) कर उसे जीता। अलाउद्दीन की सेना ने किले में प्रवेश करने का प्रयास आरम्भ किया, लेकिन राजपूतों के प्रबल विरोध के कारण शीघ्र सफलता नहीं मिली। रानी पद्मिनी ने अलाउद्दीन के आक्रमण के समय सूझ-बूझ व वीरता का परिचय दिया¹⁴ और हतोत्साहित बैठे हुये राजपूतों के हृदय में आग लगा दी, वे सहज ही कह उठते हैं-

*इंगित की ही देरी थी, कह तो ब्रह्माण्ड हिला दे,
देरी थी उद्बोधन की, भू से आकाश हिला दे।¹⁵*

राजपूत सरदारों ने बड़े ही पराक्रम के साथ आक्रमणकारियों का विरोध किया, किंतु धीरे-धीरे राजपूत सेना विदेशी आक्रमणकारी के सामने टिक नहीं पायी और राजपूत सरदारों सहित रतनसिंह वीरगति को प्राप्त हुये। इसके पश्चात् मेवाड़ की वीरांगना पद्मिनी ने 16,000 राजपूत स्त्रियों सहित जौहर¹⁶ की अग्नि में आत्मसमर्पण किया।¹⁷ “रंग रजपूतण रावली, भर क्षत्राणी भाव, जलती ज्वाला कूदगी, पूजूं पदमन नार।” ऐसी जोशीले भाव वाली पद्मिनी के बारे में कवि ने ये पंक्तियाँ कही हैं -

*पतिप्रेम वतन के पूजन में, आजादी बलि के जीवन में,
तप त्याग धधकती ज्वाला में, जौहर प्रिय अमर के चिंतन में,*

*जो अमर बेलि बन कर फैली, वह आजादी की दीवानी,
रक्त चण्डी जौहर की रानी ।¹⁸*

स्थापत्य इस बात का साक्षी है कि चित्तौड़ में पद्मिनी के महल और पद्मिनी ताल है¹⁹, जो उसके अस्तित्व की ऐतिहासिकता को स्वतः सिद्ध करते हैं। उस पतिव्रता ने अनुपम बलिदान देकर अपने वंश व राणा के कुल गौरव की रक्षा की। धन्य है वह क्षत्राणी पद्मिनी, धन्य है वीरांगना नार, जिसने जीते जी जौहर करके दुश्मन का सिर नीचा कर दिया।²⁰

कर्मावती/कर्णवती -मेवाड़ के राणा सांगा की पत्नी रानी कर्मावती²¹ थी, जो कुछ समय के लिये बूंदी की शासिका भी रही। वे विक्रमादित्य और राणा उदयसिंह की माँ थी। खानवा युद्ध के बाद राणा सांगा की मृत्यु हो गई व मेवाड़ की गद्दी पर अल्प वयस्क पुत्र विक्रमादित्य को बिठाया, किंतु उनकी कमजोरी का फायदा उठाकर गुजरात के शासक बहादुरशाह ने मेवाड़ पर सन् 1535 ईस्वी में आक्रमण कर दिया। विक्रमादित्य ने बहादुरशाह से संधि कर ली परन्तु वीरांगना कर्मावती को संधि अपमान स्वरूप लगी, अतः उसने मेवाड़ के सामंतों व सेना का नेतृत्व स्वीकार कर मातृभूमि की रक्षा के लिये मर मिटने का संकल्प लिया। युद्ध काल में भगिनी और उसकी राखी का भी विशेष महत्व हो जाता है। चित्तौड़ की रानी कर्मावती ने राखी भेजकर विजातीय हुमायूँ²² को भाई बनाया और कहा था -

*करो तुम रिपु सेना का नाश,
गुंजा जय ध्वनि से सब आकाश,
हटा दो रिपु का उन्माद²³ ।*

हुमायूँ राखी का सम्मान करते हुये रवाना भी हुआ²⁴, परन्तु समय पर चित्तौड़ नहीं पहुँच सका, बहादुरशाह²⁵ ने चित्तौड़ का घेरा डाला (1535 ई.) और रानी कर्मावती ने बहादुर राजपूत वीरों (बाघसिंह, रावत दूदा, भैरू दास, राणा सज्जा) को आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये एकत्रित किया, सभी सरदार लड़ते हुये वीरगति को प्राप्त हुये। अंत में विजय की आशा ना पाकर वीर रानी कर्मावती ने 13000 राजपूत ललनाओं के साथ जौहर किया²⁶। धन्य है ऐसी वीरांगना का अद्वितीय बलिदान।

हाड़ी रानी - वीर क्षत्राणी हाड़ी रानी (सलह कंवर)²⁷ बूंदी के जागीरदार संग्रामसिंह की पुत्री थी, जो सलूमबर के राव चूण्डावत रतन सिंह को ब्याही गई थी। विवाह के दो दिन बाद ही जब चूण्डावत रतन सिंह को मुगल बादशाह औरंगजेब के मेवाड़ पर आक्रमण के विरुद्ध युद्ध में जाने का आदेश हुआ, तो राव चूण्डावत अपनी नवविवाहिता पत्नी को छोड़कर जाने से कतराने लगा। हाड़ी रानी के समझाने पर चूण्डावत रतन सिंह युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गया। हाड़ी रानी ने अपने हाथों से पति को

अस्त्र-शस्त्र धारण करवाये, तिलक लगाया और आरती उतारकर युद्ध क्षेत्र के लिये विदा किया।²⁸ चूण्डावत सरदार ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया, किंतु क्षत्राणी की याद सताने लगी, तब उसने अपने सेवक को रानी से सैनाणी (निशानी) लाने भेजा – “राव सलूमबर मांगी सैलाणी, हाड़ी राणी हाथां सूँ काट शीश दियो सैलाणी, वा तो असली ही क्षत्राणी!”²⁹ रानी ने सेवक की बात सुनकर सोचा कि रणक्षेत्र में भी राव को मेरी याद सतायेगी तो वे कमजोर पड़ जायेंगे, युद्ध नहीं कर पायेंगे। मैं उनके कर्तव्यों में बाधक नहीं, सहायक बनूँ, ऐसा सोचकर हाड़ी रानी ने सेवक के हाथ से तलवार खींचकर अपना शीश काटकर निशानी के रूप में दे दिया। सेवक हाड़ी रानी का कटा शीश थाल में लेकर सरदार चूण्डावत के पास पहुंचा, चूण्डावत ने थाल देखकर कहा – “ओह ! रानी क्या भेजी तूने सैनाणी, तू धन्य है क्षत्राणी, मैं थोड़ा बहक गया था, तूने मेरी राह आसान बना दी और रानी का बलिदान देखकर चूण्डावत की भुजाएँ फड़की, उत्साहित होकर तलवार लेकर, हाड़ी रानी का सिर गले में लटकाये हुये, शत्रु दल पर टूट पड़ा और लड़ते-लड़ते वीर गति को प्राप्त हुआ। वीरों की इस धरती राजस्थान में वीरांगना हाड़ी रानी का नाम सदा, नक्षत्र के समान चमकता रहेगा।

*जग में रहसि जीवतों हाड़ी थारो इतिहास,
नेह निभाण नातो, न हुवो न कद होवसी।³⁰*

रंगा देवी - रणथम्भौर के चौहान शासक हम्मीरदेव की पत्नी रंगादेवी³¹ थी। सन् 1301 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने रणथम्भौर पर आक्रमण किया।³² आक्रमण का मुख्य कारण हम्मीर द्वारा अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध मंगोल शरणार्थियों को आश्रय देना था।³³ इस युद्ध में सेनानायक रणमल व रतिपाल के विश्वासघात के पश्चात् दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी का अधिकार हो गया तथा हम्मीर लड़ते हुये वीरगति को प्राप्त हो गया। हम्मीर की रानी रंगा देवी ने अन्य महिलाओं के साथ जौहर किया³⁴ और उसकी पुत्री देवल देवी ने जल जौहर कर अपने धर्म व सतीत्व की रक्षा की। यह राजस्थान का प्रथम जौहर माना जाता है।

रानी उमादे - जैसलमेर के रावल लूनकरण की राजकुमारी उमादे, इतिहास में रूठी रानी के नाम से प्रसिद्ध है। उमादे का विवाह जोधपुर के राठौड़ शासक मालदेव के साथ वैसाख सुदी चतुर्थी, विक्रम संवत् 1592 को हुआ था।³⁵ उमादे अपनी सुन्दरता व चतुरता के लिये प्रसिद्ध थी, ऐसा उल्लेख मिलता है कि शूरवीर व प्रतापी मालदेव को पति के रूप में प्राप्त कर उमादे बहुत प्रसन्नचित्त थी, किंतु विवाह सम्पन्न होने के बाद रानी उमादे सुहाग की सेज पर मालदेव की राह देखते-देखते थक गई। बाद में जब रानी ने नशे में चूर मालदेव को एक अन्य स्त्री (संभवतः उमादे की दासी भारमली) के आगोश में देखा तो रूठ गई और आजीवन मालदेव से रूठी रही।³⁶ रूठी रानी को मनाने

के लिये व वापस जोधपुर लाने के लिये चारण कवि आसाजी ने दोहा सुनाया -

*मान रखे तो पीव तज, पीव रखे तज मान,
दोय गयन्द न बन्ध ही, एकण खम्भे ठाण ।³⁷*

किंतु रूठी रानी आजीवन रूठी रही। धन्य है ऐसी वीरांगना, जो आत्म सम्मान के लिये जीवन पर्यन्त अपने पति से दूर रही एवं मालदेव की मृत्यु के बाद पतिव्रत धर्म निभाते हुये सती हो गई।

राजकुमारी रत्नावती - जैसलमेर नरेश महारावल रत्तसिंह किले से बाहर गये थे, अलाउद्दीन के आक्रमण के समय रत्नावती ने सेना का संचालन किया था और वीरता और पराक्रम का परिचय था।³⁸

बजरंगदे - मारवाड़ राज्य के आलणियावास ग्राम के ठाकुर विजयसिंह की धर्मपत्नी बजरंगदे³⁹, बड़ी वीर राजपूत महिला थी। इसने पति की मृत्यु के बाद ठिकाने का कार्यभार स्वयं ने संभाला था। दुर्गादास राठौड़ द्वारा आलणियावास ठिकाने की बंद रेख को पुनः प्रारम्भ करने का प्रयास किया गया, लेकिन बजरंगदे ने रेख देने से मना कर दिया, फलतः दोनों के बीच युद्ध हुआ, जिसमें ठकुरानी बजरंगदे की विजय हुई और दुर्गादास को परास्त होकर भागना पड़ा।⁴⁰

राजकुमारी सोमा देवी - जांगल प्रदेश (बीकानेर) के सीधमुख नामक स्थान पर चाहर गोत्र का राजा मालदेव शासन करता था, उसी की पुत्री का नाम सोमा देवी था। जो अपनी वीरता और साहस के लिये प्रसिद्ध थी।⁴¹ एक बार गुलाम वंश के मुस्लिम शासक ने मालदेव के गढ़ के बाहर डेरा डाल दिया और मुस्लिम सेनापति ने राजकुमारी पर कुदृष्टि डाली, परिणामस्वरूप भयंकर युद्ध हुआ। वीरांगना सोमा देवी घोड़े पर चढ़कर इस युद्ध में शामिल हुई। उसने मुस्लिम सैनिकों को गाजर-मूली की तरह काट फेंका था⁴² और स्वयं और अपने परिवार की रक्षा की।

जवाहर बाई - मेवाड़ के संग्राम सिंह का पुत्र विक्रमादित्य कायर, विलासी और अयोग्य था। मेवाड़ की बागडोर जब उसके हाथ आई तो उसके कुप्रबंध के कारण राज्य में अव्यवस्था फैल गई, जिसका लाभ उठाकर मारवाड़ और गुजरात के शासकों ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। शक्तिहीन विक्रमादित्य अपने आपको असमर्थ समझ कायर की भांति जान बचाकर भागा, क्षत्राणियों ने जौहर करने की ठानी, लेकिन विक्रमादित्य की राजरानी जवाहर बाई⁴³ ने ललकारते हुये कहा- “वीर क्षत्राणियों जौहर करके हम केवल अपने सतीत्व की ही रक्षा कर सकेंगे, देश की रक्षा नहीं होगी, हमें मरना तो है ही, इसलिये अच्छा है हम शत्रु को मारकर मरें और अपने जीवन को ही नहीं, मृत्यु को भी सार्थक बनायें”।⁴⁴ इस प्रकार सतीत्व के साथ स्वत्व व देश रक्षा के लिये रानी जवाहर बाई के नेतृत्व में इन क्षत्रिय वीरांगनाओं ने जो अद्भुत शौर्य प्रदर्शन किया व वीर गति को प्राप्त हुई, नमन है इन वीरांगनाओं के शौर्य और बलिदान को।

वीरांगना वीरा⁴⁵, वीर बाला चम्पाबाई, कृष्णा कुमारी⁴⁶, वीर माता जयवंता बाई, संत शिरोमणीराना बाई⁴⁷, राज रानी वीरमति एवं अन्य वीरांगनाएँ जिन्होंने राजस्थान के इतिहास को गौरवपूर्ण इतिहास बनाने में अपना अपार योगदान दिया, उन सबके लिये अंत में यहीं कहेंगे -

*दिखलाता इतिहास आपकी सच्ची गाथा,
वीर कर्म को देख नवाता जग है माथा⁴⁸*

संदर्भ

1. कन्हैया लाल सेठिया (धरती धोरों री काव्य पाठ) https://en.wikipedia.org/wiki/Kanhaiyalal_Sethia
2. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 82
3. रामधारी सिंह दिनकर, हुंकार (1938)
4. भारतीय स्त्री, सांस्कृतिक संदर्भ, प्रतिभा जैन एवं संगीता शर्मा, पृ. 181
5. राजस्थान के प्रसिद्ध दोहे एवं सोरठे, लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, पृ. 16-17
6. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, शैल कुमारी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ. 151-152
7. वियोगी हरि, वीर सतसई, 7 शतक, पृ. 108, 88
8. वियोगी हरि, वीर सतसई, पन्नाधाय, पृ. 70
9. वीर विनोद, वॉल्यूम-2, पृ. 62-63
10. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 7-8
11. पदमावत, मलिक मोहम्मद जायसी
12. तारीखे फरिश्ता
13. कर्नल टॉड कृत, राजस्थान का इतिहास, अनुवादक केशव ठाकुर, साहित्यागार, जयपुर पृ. 132-136
14. राजपूताने का इतिहास, जी.एच. ओझा, वैदिक यंत्रालय, अजमेर (1927) पृ. 491-492
15. जौहर महाकाव्य, श्याम नारायण पाण्डे, पृ. 40, 8
16. राजस्थान, इतिहास एवं संस्कृति एनसाईक्लोपीडिया, डॉ. हुकुम चन्द जैन, डॉ. नारायण माली, पृ. 343
17. राजस्थान का इतिहास, डॉ. गोपीनाथ शर्मा, शिव लाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा पृ. 172
18. जौहर की रानी, पुरुषोत्तम विषय, अप्रैल, 1957
19. राजस्थान थ्रू दी एजेज, वॉल्यूम-2 राजपूत समाज संस्कृति व प्रशासन, संपादक आर.के. गुप्ता, एस.आर. बक्षी, पृ. 51-52

20. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 14-15
21. उदयपुर राज्य का इतिहास, जी.एन. शर्मा, वॉल्यूम-2
22. मेवाड़ व मुगल, जी.एन. शर्मा, पृ. 57, 58
23. रामकुमार वर्मा, चित्तौड़ की चिता, पृ. 86 व 87
24. राजस्थान थू दी एजेज, वॉल्यूम-2, राजपूत समाज संस्कृति व प्रशासन, संपादक आर.के. गुप्ता, एस.आर. बक्षी, पृ. 168-169
25. उदयपुर राज्य का इतिहास, जी.एच. ओझा, वॉल्यूम-2, पृ.710
26. मेवाड़ एवं मुगल एम्परर्स, गोपीनाथ शर्मा पृ. 48
27. राजस्थान, इतिहास एवं संस्कृति एनसाईक्लोपीडिया, डॉ. हुकुमचन्द जैन, डॉ. नारायण माली, पृ. 417
28. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 37
29. हाडा राजवंश, राव गणपत सिंह, चीतलवाना, कनकगढ़ प्रकाशन, पृ. 140-141
30. ठाकुर हुकम सिंह सिराना सौरठा
31. तारीखे अलाई, सम्पादित, वॉल्यूम-3, पृ. 75
32. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 65
33. फुतूह-उस-सलातीन, पृ. 261-264
34. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 66
35. राजस्थान, इतिहास एवं संस्कृति एनसाईक्लोपीडिया, डॉ. हुकुम चन्द जैन, डॉ. नारायण माली, पृ. 294-295
36. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया, पृ. 91-92
37. वही, पृ. 93
38. <http://hihindi.com> / जैसलमेर की राजकुमारी
39. बांकीदास री ख्यात, राठौडा री वार्ता, पृ. 710
40. बांकीदास, रमेशचन्द्र गुणार्थी, राज परिजन परिचय - 49
41. जाट वीरांगनाएँ सुख वीर सिंह दलाल, पृ. 57
42. वही
43. राजस्थान के नारी रत्न डॉ. शिव चरण मीनारिया, पृ. 180-184
44. राजपूत नारियाँ डॉ. विक्रम सिंह राठौड़, पृ. 82
45. ठाकुर भगवती सिंह, वीरांगना वीरा, पृ. 9-10, 33-39
46. राजस्थान के नारी रत्न, डॉ. शिव चरण मेनारिया
47. जाट वीरांगनाएँ सुख वीर सिंह दलाल, पृ. 66
48. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, शैल कुमारी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ. 158-159

मेवाड़ के लोक कलाओं में बदलते सामाजिक मूल्य

डॉ. मीनाक्षी बोहरा (शर्मा)

‘लोक की कला’ या लोक में प्रचलित कला अथवा लोकमानस की कलात्मक अभिव्यक्ति आदि लोक कला के विभिन्न पक्ष हो सकते हैं।¹ लोक कलाएं लोकजीवन की आस्थावान संस्कृतिपरक सुभाषिनियां हैं। लोक संस्कृति के रूप न केवल अपने भीतर विकास की मौक्तिक व स्वायत्त अवधारणा वहन करते हैं, बल्कि उनकी इन लोक अवधारणों पर बाह्य सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक शक्तियों द्वारा जब भी कोई प्रहार होता है, तो उसका चिह्न उसके लिए प्रतिक्रिया भी लोक संस्कृति में दिखलाई पड़ती है।² भारत जैसे देश में लोक संस्कृति अभी भी जीवंत है। लोक परम्परा अपनी लोच बनाये रखती है व साथ-साथ नये तत्वों को भी आत्मसात करती है। लोक परम्पराओं में समकालीन वस्तुओं के नये प्रतीक भी लिये जा रहे हैं³ उदाहरण दूरबीन, रेल आदि। एक अवधी लोकगीत में महिला रेलगाड़ी को सौतन बताती है, क्योंकि वह उसके पति को दूर ले जाती है।

आधुनिकीकरण के प्रारम्भिक युग में जिस प्रकार का विरोध लोक जीवन शैली का था, वैसा वातावरण अब नहीं है। बदली भौतिक व विचारात्मक स्थितियों में यह सम्भव है कि लोक संस्कृति को विकास हेतु नये मार्ग मिल सके।⁴ सब कलाओं में लोक कलाएं आजकल बड़ी चर्चा का विषय बनी हुई हैं। कोई भी सभा, समारोह, उत्सव हो, उसका लोक कलात्मक रूप रंग आवश्यक हो जाता है।⁵ लोक कला का क्षेत्र मंदिर, घर का आंगन या रंगमंच ही नहीं रहा। वह उद्योग और व्यवसाय में भी प्रवेश कर गई है। अब धार्मिक विश्वासों व प्रतीकों का स्थान वैज्ञानिक दृष्टिकोण व उससे सम्बद्ध प्रतीक लेने लगे हैं।⁶

आज नृत्य, गान, नाट्य जैसी लोककलाएं अपने-अपने छोटे-छोटे क्षेत्र से बाहर आकर विशेष सम्मान भाजन बन रही हैं। आज उनका विस्तार हुआ है। वे अपनी देहरी से देश-देशान्तर में छलांगी हैं। लोक कलाओं के प्रति आकर्षण में उनका आर्थिक मूल्य बढ़ा दिया है और उनका व्यवसाय भी चल पड़ा है। किन्तु इससे लोक कला की आत्मा का ह्रास भी हुआ है, ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं।⁷

लोक कलाओं का स्वरूप बदलता जा रहा है। ये अपनी वास्तविकता से दूर जाती हुई प्रतीत होती हैं। लोक कलाओं का दायरा बढ़ने से सांस्कृतिक मेलजोल के सरोकार बढे। लोक कलाओं का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होने लगा। विभिन्न सभ्यताओं,

संस्कृतियों व परम्पराओं के प्रभाव ने इन लोककलाओं की स्वतंत्र अपनी वैयक्तिक पहचान के आधारों को झकझोरा।⁸ जो जमीन इनको जकड़ी हुई थी। उसकी जड़ें अब जर्जरायमान हुई जा रही हैं। एक ठहराव, अलगाव और टूटन की अजीब स्थिति ने ऐसे संक्रमण को जन्म दे दिया है। जिससे लोक कलाओं के साथ जो अनुष्ठान, आस्थाएं, उत्सव और यजमान आजीविका से जुड़े हुए थे, झकझोर दिये गये हैं। संक्रमण की यह स्थिति कहीं-कहीं अतिक्रमण तक पहुंच गई है। कई कला विधाएं इतनी बदल गई हैं कि वे पहचानी ही नहीं जा रही हैं। कई नकलची असलची बन बैठे और जो असली हैं उनकी स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण हो चुकी है। आज वे यह कहते हए सुनाई देते हैं कि आज असली कला को समझने वाला कोई नहीं रहा है।⁹ सही-गलत का अहसास किसी को नहीं रह गया है। फिर भी ये विधाएं गतिमान हैं।

भवाई कला

भवाई नाम से उस नृत्य की पहचान की जाती है, जिसमें सिर पर एक के ऊपर एक दस-बारह मटके रखकर नाचा जाता है। मूलतः भवाई एक जाति है जो अपनी कठिन क्रियाओं द्वारा बड़े रोचक संवादों में बड़ा सशक्त अनुरंजन देती है।¹⁰ इस जाति के कलाकार अपने-अपने यजमानों के लिए प्रदर्शन करते हैं।

इस जाति के लोग अपने यजमानों से जुड़े होते हैं और अपन यजमानों का मनोरंजन करना ही इनका प्रमुख व्यवसाय रहा है। हालांकि अब वे यजमानों के अलावा देवस्थानों रूप से ही अपनी प्रस्तुति देने लगे हैं। ये कलाकार बड़े विनोदी, वाचाल और व्यंग्यक होते हैं। यही कारण है कि लोक भवाई को अपने गांव में आया देखकर उसकी अच्छी खातिरदारी करते हैं और नेग चार देकर बिना प्रदर्शन ही विदा कर देते हैं, क्योंकि उन्हें प्रदर्शन द्वारा हास्य का पात्र बनाये जाने का डर रहता है।¹¹

भवाई कलाकार बिना रिटेक व रिहर्सल के उपरान्त भी सैकड़ों दर्शकों के सामने वाक पटुता व हाजिर जवाबी के द्वारा जीवन्त अभिनय करते हैं। भवाई कला में राजा हरिशचन्द्र, अमरसिंह राठौड़, तेजाजी महाराज, राजा भर्तृहरि, रानी पिंगला आदि अनेक धार्मिक और ऐतिहासिक प्रसंगों का मंचन किया जाता है। जो मनोरंजन तो है ही, साथ ही भारतीय इतिहास की धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक झलक भी है। भवाई में नारी पात्र का मंचन आज भी पुरुष पात्र द्वारा ही किया जाता है। इस मंचन में नगाड़े, हारमोनियम, मंजीरा एवं तबला प्रमुख वाद्य यंत्र होते हैं। ये स्वांग आज भी ग्रामीणों में खासे लोकप्रिय है यद्यपि वर्तमान परिदृश्य में भवाई कला में प्रस्तुतिकरण का तरीका भी बदला है। आज भवाई कलाकारों की बहार हर कहीं देखने को मिल रही है। इस भवाई में महिलाएं भी उतर आई हैं। स्कूलों में भी लड़के-लड़कियों की भवाई प्रस्तुतियां विशेष उत्सव समारोहों पर देखने को मिल जाती है। भवाई नाच को लेकर कई मण्डलियां ही खुल

पड़ी है जो यंत्र तंत्र, मेलों तथा अन्य समारोहों में अपना कमाल दिखाती है।¹³ अधिकांश समारोहों में जिनका संबंध परम्परा या किसी विशेष अनुष्ठान से नहीं होता है जो नृत्य पेश किये जाते हैं, वे बहुधा मौलिक न होकर नकल मात्र होते हैं। कहीं कहीं तो यह नकल केवल पोशाक तक सीमित रहती है। आज की फिल्मों में तो इन बेमेल पोशाकों और नृत्य का मेला ही पड़ता है।

घूमर

पारम्परिक तौर पर गणगौर पर किये जाने वाले घूमर नृत्य में मुख्यतः एक सौ साठ कलियों तक का घेर घुमेरदार घाघरा पहना जाता है और गज-गज भर तक का घूंघट रहता था। परन्तु आधुनिकता की होड़ में घूंघट हटा लिया जाता है व यहां तक कि अब पोशाकों में भी बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। अब केसरिया रंग के परिधानों का फैशन चल पड़ा है तथा नर्तकियां बिना घूंघट के नृत्य करती हैं व चेहरे पर मेकअप किया जाने लगा है।¹⁴

पड़वाचन

पाबूजी की पड़वाचन गाकर अपनी कुल परम्परा का निर्वाह करने वाले भोपा अब अन्य लोक गीतों व नृत्य आदि को आजीविका के लिए अपना चुके हैं। भोपा मानते हैं कि अब एक ही कला से उदरपूर्ति होना मुश्किल है। इस कारण पाबूजी के पड़वाचन का स्वरूप बदलता जा रहा है।

गवरी

भीलों में प्रचलित गवरी नृत्यानुष्ठान उदयपुर खण्ड के भीलों का मेरू-नाट्य है। इसका कथानक शिव को केन्द्र बनाकर संगठित किया है। शिव तथा भस्मासुर का प्रतीक राईबूड़िया, मोहिनी तथा पार्वती की प्रतिमूर्ति दोनों राईया कुटकड़िया तथा पाटभोना में पांच गवरी के प्रमुख नायक होते हैं जो मांजी कहलाते हैं। गवरी में जो दृश्य अभिनीत किये जाते हैं वे खेल, भाव अथवा सांग के नाम से पुकारे जाते हैं। कुड़कड़िया इस नाट्य का सूत्रधार होता है जो प्रत्येक खेल से पूर्व उसकी संक्षिप्त कथा सुनाता है। इसे इस खेल का झामटड़ा सुनाना कहते हैं। इससे आने वाले खेल तथा उसकी कथा की जानकारी दर्शकों को पहले से ही हो जाती है।

गवरी के मूल में नृत्य की प्रधानता रही है। इस कारण इसे 'गवरी का नाच' भी कहते हैं। जब यह नृत्य अपने विकास की मंजिल को पहुंच गया, तब इसमें नाना स्वांग स्वरूपों की रचना आरंभ हुई। इसके आधार पर कथा तत्व का गठन हुआ और गीति तत्व ने जोर पकड़ा। गांव का चौराहा अथवा खुला आंगन गवरी का रंगमंच होता है। भाद्र महिने से प्रारम्भ होकर पूरे सवा महिने तक प्रतिदिन प्रातः से सायं तक, जहां-जहां गवरी वाले गांव की बहन बेटियां ब्याही हुई होती हैं इसके प्रदर्शन आयोजित किये जाते हैं।¹⁶

गवरी में अभिनेताओं की संख्या 40-50 से लगाकर 90-100 तक देखने को मिलती है। भारतवर्ष में कहीं ऐसा नाट्य देखने को नहीं मिलेगा, जो इतनी लम्बी अवधि तक इतने बड़े समूह के साथ विविध गांवों में इतने सुव्यवस्थित ढंग से दिन भर प्रदर्शित होता हो। युग-बोध के बदलते हुए परिवेश के साथ-साथ इनमें अनेक उतार-चढ़ाव तथा आवर्तन परिवर्तन हुए। गवरी में गीत-तत्वों का समावेश और विकास भी इसी क्रम से हुआ। समय के साथ गवरी का स्वरूप भी प्रभावित होता गया। यह पारम्परिक-धार्मिक अनुष्ठान अपने-अपने आंचलिक परिवेश से बाहर भी सांस्कृतिक मंचों पर प्रस्तुत होने लगा है। इससे उसके सांस्कृतिक सरोकार प्रभावित होने लगे। गवरी के नाम पर गैर भीलों की प्रस्तुति गवरी ही अधिक लगती है। भीली संस्कृति का यह रास अपने स्वरूप में हास-विलास ही अधिक हो गया है।

पहले मेवाड़-वागड़ के पूरे इलाके में गवरी होती थी अब उससे बागड़ छूटा जा रहा है। वहां भीली संस्कृति का यह सर्वांग सुन्दर स्वरूप अपने प्रतीक रूप में रहकर स्वांगोत्सव ही जैसे रह गया है। अब वहां न पूरी गवरी परिलक्षित होती है और न वैसा धार्मिक आचरण ही देखने को मिलता है। कहीं-कहीं गवरी का जुड़ाव गैर के साथ व गवरी का पात्र बुड़िया हेट व पतलूनधारी अंग्रेज के रूप में दिखलाई पड़ता है। कई जगह गवरी के पात्र बुड़िया व राई स्वांग ही बचे हैं जो दिवाली के दूसरे दिन नाचते तुमकते घर-घर रामाश्यामा करते चलते हैं। अब गवरी में खैल्ये नौकरी करने लगे हैं व कई राजनीति में आने लगे हैं। समाज सुधार और शिक्षित सभ्य कहलाने के नाम पर भी कई जगह गवरी का प्रदर्शन बंद होता देखा गया जो अब पिछड़ेपन में गिना जाने लगा।¹⁷

मांडणो

मांगलिक पर्वों पर, धार्मिक-गतिविधियों में पूजा स्थलों की शुद्धि के लिए मांडे जाने वाले मांडणों में समय के साथ परिवर्तन होता गया, इसका विकास होता गया। भौतिक बदलावों के कारण लुप्त हो रहे मांडणों को नया आयाम दिया जाने लगा।

इन मांडणों की विशेषता यह है कि श्री गणेश जी के माथे का तिलक, मुकुट उस पर लगा हुआ मयूर पंख सुपड़े जैसे कान, गले के आभूषण, दांत-सूंड और बहु-भुजाओं में लिए अस्त्र-शस्त्र आदि मांडणों के ढंग में ही है। कई मांडणों में ऑयल, एक्रैलिक जैसे मिक्स मिडियम रंगों का प्रयोग भी किया जाता है। यद्यपि आजकल मांडणों में कलात्मक स्वरूप की अधिकता है। परन्तु अभी भी लक्ष्मी को घर आमंत्रित करने की मूल भावना स्त्रियों के मन में विद्यमान है और वे पारम्परिक मांडणों से अपने घर-आंगन को सजाती हैं।¹⁸

यद्यपि आंचल विशेष की कलाओं का विस्तार विश्व स्तर पर हुआ, फिर भी बाहरी प्रभाव के कारण गड़बड़ा गई है। आजादी के बाद जो कुछ बदलाव आया उसका

इन कलाओं पर बहुत असर पड़ा। इनके यजमान उठ गये। कलाकारों का रहन-सहन, खान-पान और जीवनयापन के तौर तरीकों का स्वरूप बिल्कुल बदल गया। इससे कई कलाएं लुप्त होने लगी। मेवाड़ा का एक मात्र रासधारी खेल जिसमें राम का वनवासगमन नृत्याभिनीत होता था, सदैव के लिए समाप्त हो गया।

आधुनिकता की चकाचौंध में कई परम्पराएं लुप्त होती गईं। दीपावली में घुड़लिया गीतों के माध्य से दी जाने वाली बधाइयों की परम्परा अब लुप्त होती जा रही है। इसमें दीपावली के दस-पन्द्रह दिन पूर्व ये ही छोटे-छोटे लड़के-लड़कियां रात्रि के समय घुड़लिया गीत के माध्यम से बधाइयां और बदले में अनाज प्राप्त करते थे।¹⁹ बहुरूपिया, कच्ची घोड़ी नाचने वाले, कावड़ बांचने वाले कावड़िया भाट, बगड़ावत की गाथा, देवनारायण का संपूर्ण पड़ गाने वाले आदि कलाकारों का लोप हो गया है। गांवों में ख्याल तमाशे करने वाले कई सशक्त ख्याल दल भी टूट चुके हैं।

कठपुतली प्रदर्शन कला भी इसी कारण निष्क्रिय हो रही थी। लोक-कला मण्डल के कलाकारों ने समय के बदलाव को आत्मसात करते हुए बुखारेस्ट में कठपुतलियों के अंतर्राष्ट्रीय समारोह में पहला पुरस्कार प्राप्त करके सारी दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया।²⁰ अतः लोक कलाकारों की उपयोगिता व प्राणवत्ता तभी संभव है, जब वह सामयिक जीवन चक्र के साथ अपनी सार्थकता को जोड़े रखती है।

लोक गीतों में बदलाव सामाजिक मूल्य

लोक गीतों की गंगोत्री आदिम युग से निरन्तर गतिमान है। सृष्टि के आदिकाल में सामाजिक चेतना के साथ लोक गीत का उदय हुआ, जिसका संबंध जनजीवन से था। धीरे-धीरे मानव में ज्ञान का विकास हुआ और उसने लयबद्ध वाणी में अपने सुख-दुख की कहानी कहना प्रारम्भ किया। यह लयबद्ध वाणी लोक कंठ का आश्रय पाकर लोग गीत बनी। मानव में संगठन व सामाजिकता की भावना के उदय के साथ लोक गीतों का भी विकास हुआ।²¹

लोक गीत ऐतिहासिक परम्परा के पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाह के साथ समयकालीन समाज की अनेकानेक स्थितियों को प्रतिबिम्बित भी करते हैं। लोक गीतों में बदलते हुए जीवन मूल्यों को आत्मसात करने की अद्भुत क्षमता है। लोक जीवन व लोक साहित्य के बीच अपना समूचा जीवन समर्पित करने वाले कैरियर एलविन ने लिखा है, “लोक गीत अथवा लोक कथा अजायबघर की वस्तु नहीं, उसमें नई पीढ़ियों के साथ-साथ नये परिवेश और नये संघर्ष जुड़ते रहते हैं।²²

आज का जीवन विज्ञान से प्रभावित है। अतः बोलचाल, रहन-सहन तथा अन्यान्य जीवनधर्मी पक्षों में इसका दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में गीतों का इससे प्रभावित होना भी स्वाभाविक है-

बना टिकट रौकेट कटवायेंगे।
 तेरी शादी चन्द्रलोक रचवायेंगे।
 भारत से बनडी मंगायेंगे।
 तेरी जोड़ी वही सजायेंगे।
 जापानी केमरा मंगायेंगे।
 तेरी फोटो से बगस मंगायेंगे।
 तेरी बनडी वहीं सजायेंगे।²³

लोक गीतों में शहरीकरण तथा आधुनिकता का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। लोक गीतों में अंग्रेजियत व आधुनिकता एवं फिल्मिपन का रंग कुछ इस तरह दिखलाई पड़ता है-

ई छोरा छोरी फेरा में बोल गया रे।
 गजब किया छोरा गजब किया रे।
 मेरे सामने वाली खडकी में
 इक चांद सी बनडी रहती है।
 मेरे सामने वाली खडकी में
 इक फूल सा बनडा रहता है।²⁴

लोक गीतों के परिवर्तन में आधुनिक मीडिया व जनसंचार माध्यमों की अहम् भूमिका है। इनके माध्यम से लोक गीतों का एक जगह से दूसरी जगह पहुंचना बहुत ही आसान हो गया है। इस तरह मीडिया के माध्यम से लोक गीतों में परिवर्तन की धारा सहज ही प्रवाहमान हो उठी है।

परिवर्तन के इस दौर में बन्ना लोक गीत भी अछूते नहीं रहे हैं। इन गीतों का नायक बन्ना युवा है, अतः उनमें युगानुरूप बदलती युवा शक्ति की जीवन शैली, उसकी इच्छा, आकांक्षाओं तथा सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकारों की बड़ी क्रमवत झांकी मिलती है। पारम्परिक लीक से हटकर अब माई डियर, बुफे डिनर तथा हनीमून की संस्कृति का प्रभाव भी इन पर पड़ा है।

प्राचीन लोक गीतों के अनुसार जो पुरुष यज्ञोपवीत धारण कर ब्रह्मचर्य एवं उत्तम विद्यावान हो सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए पूर्ण युवा होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, वही अतिशय शोभायुक्त और मंगलकारी होता है।²⁵ लोक जीवन में राम और कृष्ण के शौर्य और शील, शक्ति और सौन्दर्य के प्रतिमान नायक हैं। प्राचीन काल का वर वेदपाठी, ब्रह्मचारी है। जो वधू जानकी पाने के लिए कोई भी धनुष तोड़ने को उद्यत है।

लोक गीत सदैव ऐतिहासिक चेतना और युग प्रदान रहे हैं। इन्होंने आंचलिक लोकतत्वों को अपनाया है। वहीं विदेशीय और राष्ट्रीय चेतना को भी आत्मसात करने में

आगे रहे हैं। लोक गीतों में स्वतंत्रता के लिए मर मिटने का विद्रोही स्वर हमेशा गूँजा है। चाहे घटना विदेशियों के आक्रमण और लूटपाट की हो, विदेशी जाति के जुल्मों की हो या अपने ही देश के शासकों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों की हो, सबका ब्यौरा और उस पर जनप्रतिक्रिया लोक गीतों में सुरक्षित मिलेगी।

सन्दर्भ

1. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य, सिद्धान्त और प्रयोग, पृ. 332
2. पीयूष दर्ईया, लोक, पृ. 346
3. वही, पृ. 364
4. वही, पृ. 364
5. महेन्द्र भानावत, लोक कलाओं का आजादीकरण, पृ. 246
6. महेन्द्र भानावत, लोककला-मूल्य व संदर्भ, पृ. 34
7. वही, पृ. 47 एवं 48
8. महेन्द्र भानावत, पूर्वोक्त, पृ. 255
9. वही, पृ. 247
10. वही, पृ. 256
11. वही, पृ. 256
12. दैनिक भास्कर, उदयपुर, 31 मई 2001, पृ. 12
13. देवीलाल सामर, लोकधर्मी प्रदर्शन कलाएं, पृ. 147
14. लेख महेन्द्र भानावत, स्वतंत्र भारत के पचास वर्ष-भाग 2, संपादक भालचन्द्र गोस्वामी प्रखर, पृ. 170
15. दैनिक भास्कर, उदयपुर, 4 नवम्बर 2002
16. महेन्द्र भानावत, उदयपुर के आदिवासी, पृ. 157
17. वही, पृ. 176 व 177
18. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, 30 अक्टूबर 2002, पृ. 4
19. दैनिक भास्कर, उदयपुर, 3-4 नवम्बर, 2002
20. भालचन्द्र गोस्वामी प्रखर, स्वतंत्र भारत के पचास वर्ष, भाग 2, पृ. 168
21. डॉ. श्रीराम शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 46
22. कपिल तिवारी, चौमासा, वर्ष 18, अंक 56, जुलाई-अक्टूबर 2001, पृ. 73
23. रंगायन, जन.-दिस., 1988 (भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर), पृ. 57
24. वही, पृ. 58 से 60
25. रंगायन, जन.-मार्च, 1991, पृ. 23

Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize Paper

उपान्तिक वर्ग में आन्तरिक स्तरीकरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. अनिल पुरोहित

कार्लमार्क्स का यह कथन है कि, जिस समय सर्वहारा-वर्ग की सत्ता स्थापित होगी, उस समय वर्ग संघर्ष सदैव के लिये समाप्त हो जायेगा। किन्तु वास्तविक स्थितियों का यदि अध्ययन करें, तो मार्क्स की यह सोच मात्र यूटोपिया ही सिद्ध हो सकती है, क्योंकि साम्यावादी सरकारों (सर्वहारा का शासन) की स्थापना के साथ शोषण समाप्त नहीं हुआ। फ्रांसिस फुकोयामा जैसे नवमार्क्सवादी विचारकों का यह मानना है कि, शोषण सदैव समाज में विद्यमान रहता है। विभिन्न वर्गों में सामाजिक स्तरीकरण में शोषण के बीज निहित रहते हैं। स्वयं सर्वहारा वर्ग में स्तरीकरण प्राप्त होता है तथा आर्थिक-सामाजिक स्तरीकरण शोषण का मूल आधार बनता है। यथा- शोषण सिर्फ मालिक-मजदूर के बीच ही नहीं है-मजदूर वर्ग में भी सामाजिक-आर्थिक भेद के चलते ऊँच-नीच का भाव विद्यमान दिखलाई पड़ता है। वर्ग संघर्ष मात्र अधिकार युक्त एवं सर्वहारों में ही नहीं है, बल्कि आन्तरिक रूप से यह संघर्ष सर्वहारा वर्ग में व्याप्त है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की भाँति भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी सामाजिक स्तरीकरण दिखलाई पड़ता है। कार्लमार्क्स की धारणा के अनुसार, प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में अधिकार सहित एवं अधिकार विहीन दोनों ही प्रकार के वर्ग होते हैं तथा दोनों में ही वर्ग-संघर्ष होना स्वाभाविक है। किन्तु इस सामान्य वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग-संघर्ष का भी अस्तित्व है। उत्तर आधुनिक विचारधारा के समर्थक विद्वानों का यह मानना है कि, समाज के अधिकार विहीन अर्थात् उपान्तिक (Marginalized) वर्गों में भी वर्ग-संघर्ष व्याप्त है। सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया में यह बात सोच से परे है कि उच्च वर्ग के मनुष्य निम्न वर्ग का हिस्सा बनने लगे। किन्तु हम यदि भारत के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करें तो, हमें ऐसी अनेक जातियाँ मिलेगी, जिनका उदय समाज में उच्च वर्ग के रूप में हुआ, किन्तु वे बाद के काल में वे अपने से निम्न वर्ग का अंग बन जाती हैं।

जाति सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी प्रणाली है जिसकी विशेषताएँ हैं-

श्रेणीबद्धता, आनुवंशिकता, एक या कुछ विशेष व्यवसायों में लगे रहना, असमानता, सजातीय विवाह, बाहरी लोगों से भोजन लेने पर प्रतिबंध और श्रेणीबद्धता से जुड़ा परिशुद्धता और अपवित्र होने का विचार। परवर्ती वैदिक काल (लगभग 1000 ई.पू. - लगभग 600 ई.पू.) में ऊपरी गंगा घाटी में अपेक्षाकृत स्थायी, प्रमुख रूप से कृषि व्यवस्था में सामाजिक विभेदन की प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रही और एक दूसरे से भिन्न और अलग चार वर्ण पूरी तरह से सामाजिक वास्तविकता बन गए। ब्राह्मण जटिल धार्मिक अनुष्ठानों पर एकाधिकार रखने वाले विशेषज्ञ पुजारी, विद्वान और अध्यापक बन गए। क्षत्रिय योद्धा और शासक बन गए जो निरंतर लड़ाइयों में हिस्से और विजयों के कारण बड़ी भूमि और भौतिक संसाधनों पर नियंत्रण रखते थे। वैश्य कर देने वाले किसान, पशुपालक, कामगार और व्यापारी और शूद्र घरेलू नौकर, कृषि मजदूर और दासों में परिवर्तित हो गए। पाठों में उस काल उत्तरोत्तर अक्षमतावादी परिवेष और असमान वितरण के लिए अधिक अधिशेष की स्थितियों में वैश्यों और शूद्रों के मुकाबले ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्चस्व के बारे में कोई संदेह नहीं होता है। श्रेष्ठता के ब्राह्मणों के दावे को क्षत्रियों द्वारा काफी लंबे समय तक चुनौती दिये जाने के बावजूद ये दोनों निम्न दो वर्णों के खिलाफ एकजुट रहे और एतरेय ब्राह्मण (VII.29) में वैश्य को अनस्य बालीकृत (दूसरों के लिए), अनस्यद्य (दूसरे जिसके ऊपर रहते हैं) और यथाकामाज्ञेय (जिसका जब चाहे दमन किया जा सकता है) बताया जाना और शूद्र को अनस्य प्रेष्य (दूसरों का नौकर या संदेशवाहक), कामोत्थप्य (जिससे दिन-रात काम लिया जा सकता है) और यथाकामावध्य (जिसे जब चाहे पीटा जा सकता है) बताया जाना अपने आप में सब कुछ कह देता है।

सामाजिक स्तरीकरण के मुद्दे पर धर्मसूत्रों द्वारा निर्धारित विचारों का गृह्यसूत्रों, पाणिनी की अष्टाध्यायी, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, पतंजलि के महाभाष्य, रामायण और महाभारत ने पूरी तरह से अनुमोदित और व्याख्यित किया है। विस्तृत विवरण में अन्तर है लेकिन हमारे पास बहुत से समूहों को वर्णजाति फ्रेमवर्क में आत्मसात किये जाने, सामाजिक श्रेणीबद्धता में उनकी बदली हुई स्थिति और इस बारे में बदलती अवधारणा, उनके वास्तविक और निर्धारित कार्यों तथा उनके विखण्डन और संयोजन के बारे में सूचना है। मनु के विचार हिनहिनान प्रसुयंते वर्णान पंचाधशवेत¹ का मतलब यह नहीं है कि, निम्न वर्ण, पंद्रह निम्न वर्ण पैदा करते हैं, बल्कि यह कि निम्न बढ़ते हुए क्रम में छः प्रतिलोम जातियाँ चाण्डाल, क्षत्रि, अयोगवा, वैदेहक, मगध और सूत प्रतिलोम पत्नियों अथवा प्रतिलोम संबंधों से पंद्रह निम्न जातियाँ पैदा करते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अस्पृश्यता का चरणों में विकास हुआ और समाज के निचले स्थान पर वास्तव में अस्पृश्य जातियों की संरचना धीरे-धीरे बढ़ी। 200 ई. तक के सभी ब्राह्मणीय पुस्तकों

का साक्ष्य धर्मसूत्रों की तीन की सूची में तीन या चार से अधिक जातियां नहीं जोड़ता। चाण्डाल अतिरिक्त गरीब और अलग-थलग समूह था, जो शमशानों में कार्य करता था, लेकिन इसके साथ वे शिकारियों, चिड़िमारों और कसाईयों का भी कार्य करते थे। कुछ पुस्तकों में उल्लिखित मृतप और मतंग चाण्डालों के ही उपसमूह रहे होंगे। सामाजिक ताने-बाने में इस समय जबरदस्त परिवर्तन आ रहा था। बहुत से व्यवसाय शिल्प और जनजातियां अलग सत्ताओं के रूप में सामने आ रही हैं। न तो उनके अस्तित्व की उपेक्षा की जा रही सकती थी और न उन्हें मौजूदा वर्णों में रखा जा सकता है। इससे वर्णसंकर या मिश्रित जातियों के सिद्धांत का प्रादुर्भाव हुआ। इनका मूल चार वर्णों के सदस्यों के बीच अंतर्जनन और अनुलोम (स्वाभाविक क्रम या निम्न वर्ण की स्त्री) और प्रतिलोम (उल्टे क्रम में या स्त्री उच्च वर्ण की) संबंधों से उत्पन्न संतानों में देखा गया। प्रतिलोम के मुकाबले अनलोम की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता समाज की पितृसत्तात्मक प्रकृति के कारण थी। धर्मसूत्रों ने विनिर्दिष्ट वर्ण स्तरों पर जाति मिश्रण के परिणामस्वरूप इस तरह की चौबीस मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है। यह मिश्रित जातियां चार वर्णों के अलावा अवशिष्ट श्रेणी है, यह बात बौधायन द्वारा अवन्ती, मगध, सौराष्ट्र, दक्षिणपथ, उपवृत, सिंध और सौविरस के बांशियों को संकरनयोनाह् बताए जाने के सिद्ध हो जाती है।¹² त्र्य का विचार, जिसके अंतर्गत एक समूह के आर्य मूल और बाद में उपनयन जैसे वर्ण मापदण्डों का पालन न किए जाने से प्रतिष्ठा के नुकसान को स्वीकार किया गया, एक अवधारणा है, जिसका स्वतंत्र रूप से और बाहरी लोगों को मुख्य धारा में स्वीकार करने के लिये वर्णसंकर सिद्धान्त के अंग के रूप में प्रयोग किया गया।¹³

बुद्धवाद और जैनवाद जैसे शास्त्र विरुद्ध पंथों ने जाति और अस्पृश्यता के विकास को किस तरह से लिया? यह विचार करना जरूरी है। उनकी धार्मिक व्यवस्थाएं धन, हैसियत या सामाजिक मूल पर ध्यान दिए बगैर लोगों को स्वीकार करती थी और केवल अपने सदगुणों और ज्ञान के आधार पर लोगों को उच्च पद तक जाने देती थी। उन्होंने इस बात से इन्कार किया कि, चार वर्णों वाली संरचना के पीछे कोई दिव्य स्वीकृति है अथवा सांसारिक कामों में लगकर भी ब्राह्मण ऊँची सामाजिक हैसियत के हकदार थे और शूद्रों का काम तीन उच्च वर्णों की सेवा करना था। परिवर्तन के तौर पर चार वर्णों की बात करते हुए उन्होंने क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊपर रखा। बुद्धवाद कृषि (कषी), व्यापार (वाणिज) और पशुपालन (गोरकखा) को उच्च व्यवसाय (कम्म) मानते थे। बुद्धवाद ने वर्ण पृष्ठभूमि पर ध्यान दिए बगैर गृहपतियों को सम्मानीय स्थान दिया और व्यापारी समुदाय को ताल्लुक रखने वाले गृहवंशों को जैनवाद में ऐसा ही सम्मान मिला। इसके बावजूद बुद्धवाद और जैनवाद दोनों ने चार श्रेणीबद्ध वर्णों, बहुत सी जातियों और अस्पृश्यता की वास्तविकता को उत्तर वैदिक चरण की जटिल सामाजिक-आर्थिक

संरचना के अभिन्न और अहरणीय अंग के रूप में स्वीकार किया और मौजूद सामाजिक व्यवस्था में कोई संरचनागत परिवर्तन करने का प्रयास नहीं किया। समानता और भाईचारे का उनका आग्रह उनके संघ तक ही सीमित रहा और यहां भी स्त्रियां पुरुषों के अधिनस्थ ही रहीं। बुद्धवाद काफी व्यावहारिक था और उसने दासों, कर्जदारों और भगोड़ों सैनिकों को प्रवेश देकर अपने संरक्षकों को पराया नहीं बनाया। भारी बहुसंख्या के बाहर संघ में शामिल होने वाले या उसकी सहायता करने वाले लोग उच्च जातियों और परिवारों से थे।⁴ बुद्धवाद और जैनवाद दोनों में समृद्ध और कंगाल, उच्च (उकथ) और नीच (हीन) के बीच अंतर स्पष्ट और साफ है और उसे जातियों, कुलों (परिवारों), कम्मों (व्यवसायों) और सिप्पों (शिल्पों) में लागू किया गया है। पालि कानून में स्वीपर (पप्पचडक) के व्यवसाय, टोकरी बनाने वाले (नलकार), चमड़ा कामगार (चम्मकार), जुलाहे (पेसकार), कुम्हार (कुंभकार) और नाई (नहापित) के शिल्पों को नीच माना जाता है और चांडालों, नेसदों, पुक्कसों वेनों और रथाकारों को हीन जातियां माना जाता है और चांडालों, जो मंतगो और पनों के रूप में भी जाने जाते हैं, का जैन पुस्तकों में इतना ही तिरस्कार किया गया है। शिकारियों और मछवारों के व्यवसाय को भी बहुत हेय माना गया है।

बुद्धवादी जातकों, जो पालि कानून के बाद के हैं और अक्सर मनुस्मृति के समय के हैं, में चांडालो के साथ अस्पृश्यता का स्वरूप और उनकी आर्थिक दुर्दशा उतनी ही कठोर है, जिसका निर्धारण मनुस्मृति के कानूनदाता ने किया है और जिसे सामान्य तौर पर ब्राह्मणवाद के कुरूप चेहरे का प्रतीक माना जाता है, हालांकि चांडालो को शव वाहक, हटाने वाले और दाह संस्कार करने वाले, फांसी लगाने वाले, स्वीपर, रात्रि गार्ड और शिकारी सहित बहुत से काम करते पाया गया है। निषादों, जो शिकार करते हैं और मछली मारते थे (उनके गांवों, मुखियाओं और संघों के बीच में उल्लेख है), पुक्कुसों, जो शिकारी और कचरा साफ करने वाले थे, वेनाओं, जो बांस मजदूर थे और शायद शिकारी भी थे और रथाकारों, जो युद्ध के लिये रथ बनाते थे, को चांडालों जैसा चित्रित किया गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि टोकरी निर्माता, चर्मकार, कुम्हार और नाई को समकालीन ब्राह्मणीय कामों में बेहतर स्थान मिला है; बौधायन⁵ और भारद्वाज⁶ के गृहसूत्रों में रथाकार के लिये उपनयन भी निर्धारित किया गया है; और बांस मजदूर और टोकरी निर्माता, बरूड़ को प्रारंभिक मध्ययुगीन स्मृतियों से ही अस्पृश्य मानना शुरू किया गया।⁷ बुद्धवाद और जैनवाद दोनों द्वारा अहिंसा पर बल ने इनमें से बहुत जातियों, जो अपनी भौतिक स्थिति, गुजारे और आजीविका को जरूरतों के कारण हिंसापूर्वक गतिविधियों के लिये बाध्य थीं, के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित किया। चांडालों के मामले में मानव शवों, जिन्हें वे संभालते थे, के प्रति आदिम भय ने उनकी अपवित्रता की मात्रा को बढ़ा दिया।

बुनियादी तथ्य यह है कि जाति ने आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी शुरू कर दी थी और इसने प्रारंभिक भारत के जन्म आधारित श्रेणीबद्ध वर्ग समाज के व्यवसायों में मजबूत जड़े जमा ली थी और इस आंतरिक असमानता में निहित अन्याय का विरोध करने वाले किसी आंदोलन में इस वास्तविकता को बदलने या कोई व्यवहार्य और स्थाई विकल्प देने की शक्ति नहीं थी। यह बात स्वीकार की जानी चाहिये कि बाह्यवाद, बुद्धवाद और जैनवाद ने जाति और अस्पृश्यता के विकास की इस प्रक्रिया का विरोध करने के बजाए विचारधारात्मक रूप से उसमें योगदान किया। वास्तव में उत्तरी भारत में 600 ई.पू. और 200 ई.पू. के बीच वर्ग संबंधों के सख्त हो जाने के साथ जाति व्यवस्था ठोस बन गई और अस्पृश्यता मौर्य काल से पहले शुरू होकर 200 ई. तक प्रबल बन गई।⁸ चूंकि अस्पृश्य बनाई गई अधिकांश जातियां वे थी, जिनका धन, सत्ता या सम्मान के वितरण में न के बराबर हिस्सा था, इसलिये अस्पृश्यता को जाति और वर्ग दोनों की संस्थाबद्ध असमानता की चरम अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए। अस्पृश्य भारतीय जाति और वर्ग संरचना का हिस्सा थे और हैं।

रामशरण शर्मा द्वारा लिखित शूद्राज इन एनशियंट इंडिया में शूद्रों और दलितों की प्राचीन भारत में उपस्थिति और स्थिति को कई चरणों में देखा गया यद्यपि इस पुस्तक का फोकस शूद्रों पर है लेकिन शूद्रों की एक श्रेणी, निर्वासित शूद्र, में दलित भी समाहित है। शर्मा के अनुसार, शूद्रों के इतिहास का प्रत्येक चरण अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तन और इसके फलस्वरूप होने वाले वर्ग-विभाजन से जुड़ा हुआ था। ऋग्वैदिक काल में आर्य समाज मुख्य रूप से कबीलाई, पशुचारक और एक तरह से समतामूलक था। खेती अभी पूरी तरह से स्थापित नहीं हो पाई थी, अतः पर्याप्त अधिशेष (सरप्लस) के अभाव में वर्ग-विभाजन अधिक विकसित नहीं था। यह एक तरह का वर्ग-पूर्व समाज था, जिसमें सेवा-कार्य के लिये पूर्णतः समर्पित वर्ग अर्थात् शूद्रों की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इस युग के अंत में अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब पराजित आर्य या अनार्य कबीलों के लोगों को शूद्र बनाया गया। परंतु बड़ा परिवर्तन तब आया, जब कृषि अर्थव्यवस्था का पूरा विकास हो गया और बड़े पैमाने पर मजदूरों की जरूरत महसूस होने लगी। अतः इस काल में शूद्र वर्ण का निर्माण हुआ, अर्थात् ऐसे लोगों का जिन्हें सामाजिक और कानूनी तौर पर निरंतर मजदूर और सेवक के रूप में रखा जा सके। बड़े-बड़े राज्यों के विकास होने के कारण निम्न वर्गों को और दबाया जा सकता था, और फलतः शूद्रों और अन्य वर्णों के बीच का अंतर और अधिक होने लगा। इस विभेद को धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों ने न्यायाचित बना दिया। मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच की दूरी बढ़ने लगी। शूद्रों को वैदिक शिक्षा, धार्मिक कर्मकांडों और उपनयन से वंचित कर दिया गया। उन्हें सिर्फ शारीरिक श्रम के योग्य माना गया। लेकिन सन् 500

और 300 ईसा पूर्व के बीच शूद्रों की संख्या इतनी नहीं थी कि वे उत्पादन की मुख्य शक्ति बन सकें, यह कार्य प्रमुखतः वैश्यों द्वारा ही किया जाता था और शूद्र उनके सहायक के रूप की तरह काम करते थे। गुप्त काल (सन् 300 से 600 ई.के बीच) में शूद्रों की स्थिति में थोड़ा परिवर्तन आया और कई स्तर पर उन्हें वैश्यों के समकक्ष माना जाने लगा। शर्मा के अनुसार, एक दुहरी गतिशीलता के तहत वैश्यों का स्तर नीचे गया और शूद्रों का ऊपर उठा। इस दौरान शूद्रों के दो विभाग हो गये – एक को सतशुद्र और दुसरे को असतशुद्र की श्रेणी में रखा जाने लगा। दोनों के सामाजिक और धार्मिक अधिकारों में काफी फर्क था। असतशुद्रों को अछूत भी समझा जाने लगा और इनकी संख्या में निरंतर वृद्धि होती गई। इस तरह से देखें तो शूद्रों के बीच से ही दलित जातियों का आविर्भाव हुआ।

विवेकानंद झा ने अपने लेखों में खास तौर पर प्राचीन भारत में अछूतों के इतिहास पर ध्यान केंद्रित किया है। अपने लेख 'स्टेजेज इन दी हिस्ट्री आफ अनटचेबल्स' (1975) और 'चांडाल एण्ड द ओरिजिंस आफ अनटचेबल्टी' (2004) में वे ऋग्वेदिक काल से लेकर सन् 1200 ईसवी तक दलितों के इतिहास का सर्वेक्षण करते हैं। वे 'अछूतों के इतिहास' को चार चरणों में विभाजित करते हैं। उनके अनुसार, ऋग्वेदिक काल में कोई अछूत नहीं था, न ही कोई समाज में बहिष्कृत था। हालांकि उत्तरवैदिक काल में चांडाल को अत्यंत घृणा के साथ देखा जाता था, परंतु वे अछूत नहीं थे। वैदिक काल की समाप्ति के बाद दूसरे चरण की शुरुआत हुई जो 600 ईसा पूर्व से 200 ई. तक माना जा सकता है। इस दौरान प्रदूषण और कुछ हद तक अस्पृश्यता भी भावनाएं उभरने लगीं। चांडाल न सिर्फ प्रदूषित बल्कि अछूत भी समझे जाने लगे। उन्हें सामाजिक और धार्मिक स्तर पर अशुभ और अमंगलकारी माना जाने लगा। तीसरे चरण में (सन् 200 से 600 ई. तक) में अस्पृश्यता से संबंधित प्रतिबंध अधिक सशक्त होते गए और नए समूह अछूतों की श्रेणी में शामिल किए जाते रहे जिससे उनकी संख्या में काफी वृद्धि हो गई। अछूत माने जाने वाले विभिन्न जातियों के लिये भिन्न-भिन्न स्तर पर अपवित्रता के नियम लागू किए गए। चौथे चरण में, सन् 600 से 1200 ई. तक के अनगिनत नए समूहों को अछूत करार देकर उनको अपवित्र घोषित किया गया। इस तरह से दलित जातियों की संख्या में अपरिमित वृद्धि हुई और उनके खिलाफ प्रतिबंध और कड़े होते गए।

सुवीरा जायसवाल ने भारत की जाति व्यवस्था पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। अपनी पुस्तक कास्ट : ओरिजन, फक्शन एंड डाइमेंशंस आफ चेंज (2005) और अपने एक लेख में उन्होंने जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास पर गंभीर विचार किया है। उनके अनुसार, जातियों का उद्भव एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत हुआ और यह वर्ण व्यवस्था के मानक पर आधारित था। जातियों का निर्माण और विशेष रूप से सजातीय

विवाह की प्रथा निरंतर सुदृढ़ होते पितृसत्ता के कारण विकसित हुई। इसके अलावा श्रमिकों की लगातार बढ़ती हुई जरूरत ने शूद्रों और अछूतों का निर्माण किया। इस तरह से, लेखिका के अनुसार, जाति व्यवस्था दरअसल वर्ण व्यवस्था पर आधारित है और प्राचीन भारत में वर्ण-समाज को नियंत्रित करने का काम करती थी। शासक वर्गों के हितों को सुरक्षित करने में इसकी बड़ी भूमिका थी। अतः जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता के मूल में निरंतर सुदृढ़ होती पितृसत्तात्मकता, शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि और तिरस्कार की भावना और श्रमिकों को नियंत्रित करने की आवश्यकता थी।

दक्षिण भारत में जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के विकास पर के.आर. हनुमंतन का लेख 'इवोल्यूशन आफ अनटचेबिलिटी इन तमिलनाडु (2004)' महत्वपूर्ण है। उनका मानना है कि अस्पृश्यता वस्तुतः वर्ण व्यवस्था का ही उपोत्पाद (बाई-प्रोडक्ट) है। उत्तर-वैदिक काल में अछूतों को चांडाल कहा जाता था और उनके दो प्रकार थे: कर्म चांडाल और जन्म चांडाल। हनुमंतन के अनुसार, अहिंसा के सिद्धांत ने अछूत जातियों की संख्या में बहुत बढ़ोतरी कर दी। इसके कारण जो जातियां (जैसे परड्यार, चमार इत्यादि) पहले समाज में सम्मानित और प्रतिष्ठित थी, अब धीरे-धीरे अछूतों की श्रेणी में शामिल होती गयी। तमिलनाडु में संगम काल में छुआछूत की भावना नहीं थी। लेकिन उत्तर संगम काल में इस मनोवृत्ति को शुरूआत हुई और अस्पृश्यता का जोर बढ़ा। पल्लव काल में (सन् 575-900 ई.) जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की भावना समाज में और व्यापक तथा गहरी होती गई। पल्लव काल में ही तमिल समाज में गोमांस खाने वाले के प्रति वितृष्णा की भावना व्याप्त हो गई। लेखक के अनुसार, दक्षिण भारत में संगम युग में अस्पृश्यता नहीं मौजूद थी, उत्तर-संगम काल में बौद्ध और जैन धर्मों के अहिंसा-सिद्धांत के कारण इसका आविर्भाव हुआ और पल्लव युग में इस भावना का विस्तार हुआ। चोल काल में अलग अछूत गांवों का जिक्र पाया गया है, और विजयनगर शासनकाल में अछूत जातियों की संख्या काफी बढ़ जाती है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था थी, जिसमें चार वर्णों को स्वीकारा गया है, यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। इनमें स्तरीकरण में सबसे निचला स्तर शूद्रों को प्राप्त था, किन्तु यदि हम इस प्राचीन भारतीय व्यवस्था के इस वर्ण का अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि, इस वर्ण का विभाजन (आंतरिक रूप से) हो चुका था, जिसे हम तकनीकि (Skilled) शूद्र एवं गैर-तकनीकि (Non-Skilled) शूद्र मान सकते हैं। यह विभाजन हमें इसलिये स्वीकारना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय-वर्ण यद्यपि उच्च है, किन्तु उसके लिये युद्ध-सम्बन्धी सामग्रियों, राजप्रासाद को सजाने-संवारने की सामग्रियों, सामान्य और राजउद्यानों की व्यवस्थाओं आदि कार्यों के लिये उन्हें जिन लोगों की आवश्यकता होती थी, वे सभी शूद्र-वर्ण से जुड़े थे। इसके

अलावा वैश्य-वर्ण के लोग का मुख्य कार्य व्यापार करना था, किन्तु उनके लिये उत्पादों एवं उत्पादकों की प्राप्ति का स्रोत यही शूद्र वर्ण था, जो अपने कौशल से उपरोक्त सभी कार्य किया करता था। कौशल-निपुण होने पर भी मुख्य सामाजिक व्यवस्था में उन्हें निम्न स्थान ही प्राप्त था, किन्तु अपने वर्ण में ये कौशल युक्त समूह अन्य सामान्य समूहों से उच्च था। शूद्रों में यह कौशल कैसे उत्पन्न हुए? यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इसका एक कारण हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि, प्रारम्भ में भारत के अनेक क्षेत्रों में रहने वाली जंगली-जातियों को यद्यपि विजित क्षत्रियों ने किया, किन्तु उनका संस्कृतिकरण ब्राह्मणों ने किया तथा उन्होंने जीवन-यापन के तरीके वैश्यों से सीखे हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति के समीप रहने के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अलग-अलग तरीके से प्रयोग करना शूद्रों ने अधिक कुशलता से सीखा होगा। यद्यपि प्राचीन भारत में समाज की मुख्य व्यवस्था में शूद्रों की स्थिति में बदलाव आने लगे थे, किन्तु स्पष्ट बदलाव हमें गुप्त एवं गुप्तोत्तर भारत में मिलते हैं। स्कन्द पुराण में शूद्रों को अन्नदाता और गृहस्थ कहा गया है।⁹ इस काल में दस्तकारों का अत्यधिक महत्त्व हुआ करता था। कोई भी क्षेत्र का स्वामी यह नहीं चाहता था कि, उसके क्षेत्र के दस्तकार उसका क्षेत्र छोड़ अन्य क्षेत्रों में चले जायें, क्योंकि से दस्तकार स्थानीय अर्थव्यवस्था का मुख्याधार थे। 7वीं शताब्दी के समुन्द्र गुप्त के दो अधिकार-पत्र प्राप्त होते हैं, जिनमें कर अदा करने वाले दस्तकारों एवं कृषकों से कहा गया है कि, वे गांव छोड़कर ना जायें और ना ही करमुक्त क्षेत्रों में रहें।¹⁰ कुछ चन्देल वंशी अनुदान पत्रों में भी दस्तकारों की ऐसी अनेक जातियों का वर्णन है, जिन्हें दान किये जाने वाले ग्रामों के साथ पूर्णतः हस्तान्तरित कर दिया जाता था।¹¹ दक्षिण भारतीय इतिहास के स्रोतों में अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें अनेक दस्तकारों को मंदिरों एवं मठों को हस्तान्तरित किया गया था।¹² इसी प्रकार मध्ययुगीन भारत यद्यपि युद्धों का काल था, किन्तु दस्तकारों अथवा समाज के निम्नतम वर्ग की आवश्यकता इस काल भी समाज को अत्यधिक रही, क्योंकि जो सैनिक-अभियान हुआ करते थे, उनमें सेवा के विभिन्न कार्यों एवं आवश्यकताओं के लिये इन श्रम करने वाले लोगों की आवश्यकता थी। इस काल में अनेक शिल्पकारों को सामन्ती पद प्रदान किये गये थे। विजयसेना के देवपारा शिलालेखों से ज्ञात होता है कि, वारेन्द्र के शिल्पकारों की बस्ती के मुखिया शूलपाणी को रणक¹³ की उपाधि दी गयी थी। इस काल में ठाकुर, राउत, नायक जैसी उपाधियां कायस्थ एवं उनके सम-जातियों को दी जाती थी, जिससे उनकी सामाजिक स्थिति में अवश्य सुधार आया होगा। आज भी ब्राह्मणों, राजपूतों, कायस्थों, नापतों, हज्जामों आदि उच्च एवं निम्न जातियों में ठाकुर मिलते हैं।

इस काल में ग्राम एवं भूमि सम्बन्धी रिकार्ड रखने का कार्य अहलक किया करते थे। इनमें कई श्रेणियां थी, जिनमें से कायस्थ प्रमुख थे। धीरे-धीरे यह पद

महत्वपूर्ण हो गया तो, उच्चतर वर्ण के पढे- लिखे सदस्य भी इस पद की तरफ आकर्षित हुए। कल्हण ने लिखा है कि, बाह्य शिवरथ को कायस्थ अधिकारी नियुक्त किया गया।¹⁴ धीरे-धीरे उच्च वर्णों की विभिन्न श्रेणियों के लोग इस प्रकार के कार्यों से जुड़ने लगे तथा उन्होंने अपनी मूल श्रेणी से सम्बन्ध पूर्ण समाप्त कर लिये। कायस्थों की भाँति ही इस काल में उत्तरी-भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम-प्रमुखों का एक वर्ग था, जिन्हें महत्तर कहा जाता था। भूमि-अनुदानों एवं भूमि की खरीद-फरोख्त के बारे में अपने क्षेत्र के महत्तर को सूचित करना अनिवार्य होता था। इसके अलावा ग्राम-विशेष के महत्तर की वहाँ की भूमि में काफी हद तक हिस्सेदारी हुआ करती थी। इससे प्रतीत होता है कि, प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में शूद्र वर्ण का महत्तर पूर्व-मध्यकाल एवं मध्यकाल के समय में काफी अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। इसके अतिरिक्त अनेक उच्च वर्ण के लोग महत्तरों में परिवर्तित हो गये थे, इसी कारण हमें वर्तमान में मेहत्तर, महतो, महाथा, मल्होत्रा, मेहरीता आदि जातियाँ उच्च एवं निम्न दोनों प्रकार की जातियों में मिलती हैं।

गुप्तोत्तर काल में भारत आए हेनसांग शुद्रों को खेतीहर स्वीकारता है।¹⁵ किन्तु अलबरूनी, जो कि उसके कुछ शताब्दियों बाद ही भारत आया था, वह वैश्यों एवं शुद्रों की सामाजिक स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं बताता है।¹⁶ जैसा कि स्कन्दपुराण में कहा गया था कि, वैश्य वर्ण का पतन हो जाएगा एवं वे तेल निकालने वाले एवं धान कूटने वाले बन जाएंगे। 11वीं शताब्दी तक ये परिवर्तन देखने को मिल जाते हैं।¹⁷

भारतीय इतिहास की भाँति क्षेत्रिय इतिहास में भी इस प्रकार का आंतरिक स्तरीकरण देखने को मिल जाता है। राजस्थान के सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर विशेषतः मारवाड़ परगने के सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण पर सर्वप्रथम प्रामाणिक कार्य मारवाड़ नरेश जंसवतसिंह प्रथम के दीवान मुहता नैणसी ने अपने ग्रंथ 'मारवाड़ रा परगना री विगर्त' के रूप में किया है। नैणसी के इस अध्ययन से हमें 17वीं शताब्दी में राजपूताना के एक बड़े हिस्से में व्याप्त जातियों के उदय एवं विकास की जानकारी हो जाती है। कालान्तर में कर्नल जेम्स टॉड के एनाल्स एण्ड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान; एम.ए. रोरिंग के ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ राजपूताना; सी.टी. मैटकॉफ के दी राजपूत ट्राइब्स; मुंशी रायबहादुर मुंशी हरदयाल की रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 (Marwar Census Report-1891) जैसे ऐतिहासिक ग्रंथों का आधार नैणसी की परगना री विगर्त ही रही होगी। मर्दुमशुमारी 1894 में प्रथम बार प्रकाशित हुई तथा इसमें 1891 में हुई तत्कालीन मारवाड़ की जन-गणना की रिपोर्ट है। इसमें तत्कालीन मारवाड़ की कौमों का इतिहास, रीति-रिवाज, परम्पराओं आदि का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ इसलिये भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें जिन कौमों-जातियों का उल्लेख किया गया है,

उनका विभिन्न कालों में सामाजिक-स्तर परिवर्तन, व्यवसाय आदि का भी विवरण दिया गया है। मर्दुमशुमारी में जातियों का विभाजन छः श्रेणियां में (A,B,C,D,E,F) किया गया है। इनमें उपान्तिक वर्ग से सम्बन्धित श्रेणियां डी एवं ई है, इनमें भी ई श्रेणी तुलनात्मक रूप से अधिक महत्वपूर्ण है। इन दोनों ही श्रेणियों में शिल्पी, कारीगर, मजदूर इत्यादि आदि उपान्तिक जातियों का सम्पूर्ण विवरण मिलता है।¹⁸

यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि 'डी' एवं 'ई' श्रेणियों में आन्तरिक रूप से वर्ग-स्तरीकरण देखने को मिलता है। तथ्य यह है कि, इन श्रेणियों में जो विभिन्न जातियां मिलती हैं, उन जातियों में अनेक जो उप-जातियां हैं, उनमें समान रीति-रिवाज, परम्पराओं एवं व्यवस्थाओं के होने पर भी उनमें सामाजिक स्तरीकरण की भावना व्याप्त है। प्रस्तुत शोध-पत्र में रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज-मारवाड़ में वर्णित उपांतिक जातियों के आंतरिक सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

मर्दुमशुमारी में 'डी' श्रेणी की प्रमुख जातियों में सुनार, नाई, लुहार, खाती, लखारा, रंगरेज, कंदोई, घांची, तेली, कुम्हार, जुलाहा, रैगर, कसाई, पिंजारा, धोबी जैसी अनेक जातियां सम्मिलित हैं।¹⁹ ई श्रेणी में चेला, चाकर, बागड़ी, थोरी, कोली, रैबारी, धाणका, सांसी इत्यादि अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है।²⁰

'डी' क्लास का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि, सुनार जाति में मेड़, बामनिया और नियारिया खांपें हैं। मेड़ सुनार शक्ति पूजक है एवं माँस-मदिरा का सेवन करते हैं। बामनिया सुनार, जो कि पहले ब्राह्मण थे एवं फिर सुनारी के कर्म में लिप्त होकर सुनार हो गये, वे वैष्णव हैं एवं माँस-मदिरा का सेवन नहीं करते।²¹ मेड़ सुनार चूंकि मूल जाति है तथा अन्य दो जातियां व्यवसाय बदलने से सुनार हुए, अतः मेड़ सुनार स्वयं को उच्च एवं शेष दो को स्वयं से निम्न स्वीकार करते हैं। मेड़ सुनार ब्राह्मण सुनारों के यहां का भोजन करते हैं, किन्तु वैवाहिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करते हैं।²²

इसी प्रकार नापत जाति में मारुनाई, पूरबिया नाई, वेद नाई, बाबर, मुस्लिम, नायता, जांगडा आदि कौमों का उल्लेख मिलता है। वेद नाई मारुओं की ही खांप है, किन्तु वेद नाई वेदपाठी हो जाने से वेद नाई कहलाए। जब इनकी स्त्रियों ने दाई का कार्य शुरू कर दिया, तो मारुओं ने इनके यहाँ का भोजन तक त्याग दिया।²³ वेद नाई अपने से निम्न जातियों यथा मोची, सरगरा, धाणका आदि के यहाँ भोजन तक नहीं करते हैं।²⁴

मर्दुमशुमारी से यह ज्ञात होता है कि, लुहार जाति में हिन्दु और मुस्लिम दोनों धर्म के लोग हैं। हिन्दु लुहारों में मारु एवं मालविये लोहार एक-दूसरे के घर से आया भोजन तो कर लेते हैं, किन्तु शामिल बैठकर नहीं करते हैं, क्योंकि दोनों ही स्वयं को दूसरे से उच्च मानते हैं। इसी प्रकार से दोनों ही लुहार जाति के लोग गाड़ोलिये एवं जाघंडों लुहारों को निम्नतर मानते हैं और उनके हाथ का पानी तक नहीं पीते हैं।²⁵

इसी प्रकार 'डी' श्रेणी में खाती जाति का उल्लेख आता है, इनका उत्पत्ति सम्बंध सुथार राजपूतों से स्वीकारा जाता है।²⁶ यद्यपि सुथार राजपूत इनसे उच्च जाति है, किन्तु मर्दुमशुमारी के विवरण अनुसार अब इन दोनों कौमों में सामाजिक सम्बन्ध बनने लगे।²⁷ इसी खाती जाति में गजधर खाती मिलते हैं। इनकी विशेषता यह है कि, जो खाती राज-परिवार का काम किया करते थे, उन्हें राज्य से 'गज' का नाम मिला एवं वे गजधर कहलाये एवं इसी कारण वे स्वयं को अन्य खातियों से उच्च मानते हैं।²⁸

मारवाड़ में कलाल भी एक अन्य जाति है, जो शराब के व्यवसाय से सम्बन्धित है। प्रारम्भ में शराब का व्यवसाय करने वाले खंडेलवाल महाजन कलाल कहलाते थे, वे लोग स्वयं शराब पीते नहीं थे। मुस्लिम शासन के प्रभाव से जब शराब की विभिन्न किस्में अस्तित्व में आयी, तब अन्य कौमों भी स्वयं कलालों में बदल गयी, उनमें से प्रमुख थी-टाक राजपूत।²⁹ टाक राजपूत यद्यपि कलाल जाति का व्यवसाय करके कलाल हो गये, किन्तु इस कौम का होने पर भी उनके सामाजिक सम्बन्ध उन्होंने मात्र राजपूत जातियों से ही रखे। यह जाति कलालों की पुत्री का विवाह तो अपने पुत्र से कर देते, किन्तु अपनी पुत्री कलालों में नहीं ब्याहते थे।³⁰ मारवाड़ में धोबी जाति में हिन्दु एवं मुसलमान दोनों ही प्रकार के धोबी हैं। हिन्दु धोबियों में जो राजपूत यथा तंवर, पंवार, राठौड, परिहार, सोलंकी इत्यादि आते हैं, वे समान श्रेणी के होने पर भी मोची, बेलदार, डाकोत, महत्तर आदि के हाथ का भोजन नहीं करते हैं।³¹ इसके विपरित मुस्लिम धोबी, जो शेख, बहलीम आदि से सम्बन्ध रखते हैं, वे मात्र हरिजन चमार के घर का ही भोजन नहीं करते हैं।³²

'डी' श्रेणी में कुछ जातियां जो पहले राजपूत थी, फिर वे भीलो के लिये तीर बनाने के कर्म में लग गयी, तो उनका नाम तीरगर हो गया।³³ इनकी सामाजिक परम्पराएं भीलों आदि से साम्यता रखती हैं, किन्तु चूंकि ये राजपूत थे, अतः ये स्वयं को राजपूत ही कहते हैं।³⁴ 'डी' क्लास में खरीद जाति मिलती है, जो मुख्य रूप से मुस्लिमों की शेख एवं सैय्यद कौमों से मिलकर बनी है। ये लोग लकड़ी को खरीद कर उतारते हैं इसी कारण ये खरीदी कहलाये।³⁵ यह लोग रंगरेजों की तरह लकड़ियों को रंगने का कार्य भी करते हैं। इनके पूर्वज दिल्ली में रहा करते थे तथा वहीं से राजपूताना के नागौर-मारवाड़ के क्षेत्रों में आये। आगे चलकर कई राजपूत जातियों ने भी यह कार्य अपना लिया और खरीदी कहलाये। राजपूतों एवं मुस्लिमों के इस प्रकार के समन्वय से इनमें कुछ परम्पराएं हिन्दुओं की तो कुछ मुसलमानों की भी हैं।³⁶

इसी प्रकार मारवाड़ के लखारों में एक जाति है- कचारा। इनका मूल पुरुष खीमसी राजपूत था।³⁷ ये मूल रूप से जैसलमेर से आये थे, जब उन क्षेत्रों में मुसलमानों का उपद्रव बढ़ा तो, खीमसी राजपूत परिवार के लोग स्वयं को काँच की चूड़ियाँ बनाने

वाले बता कर वहाँ से अपनी जान बचाकर निकले थे, इसी कारण कचारा कहलाये। इनमें चौहान, भाटी, राजपूत आते हैं एवं धर्म इनका वैष्णव है।

मारवाड़ में रंगरेज एवं नीलगर जाति के लोग भी निवास करते हैं। कसूम का रंग रंगने वाले रंगरेज³⁸ एवं नील की रंगत करने वाले नीलगर³⁹ कहलाये। ये लोग भी मुस्लिम आक्रमणों के कारण दिल्ली से आकर मारवाड़ क्षेत्रों में बसे। इनके पूर्वज चौहान, खींची, खोखर, बहलीम वंशी ज्यादा हैं। यद्यपि ये लोग मूलतः हिन्दु राजपूत थे, किन्तु मुस्लिम शिल्प अपनाने के कारण इनकी परम्पराएं मुस्लिम हैं।⁴⁰ ये मूलतः राजपूत हिन्दू हैं, किन्तु बदल जाने से मुस्लिम हो गये, अतः मूल राजपूत इनके सम्बंध नहीं करते। 'डी' क्लास की घाँची कौम गुजरात से आयी है। वहाँ के राजा सिद्धराज जयसिंघ के क्षेत्र की तेल की घाणियों के तेलियों के कार्य छोड़ कर चले जाने से उनके क्षेत्र के कई कार्य रूक गए। तब उन्होंने इन घाणियों की सार-संभाल करने वाले राजपूतों से कहा कि वे ही इन घाणियों से तेल निकाले एवं इसके बदले प्रतिदिन एक सोने की अशरफी मिलेगी। इसके लालच में उन्होंने यह कार्य कर दिया, किन्तु इस कार्य के बाद वहाँ के राजपूतों ने इनको खुद से अलग कर दिया।⁴¹ तब इन राजपूतों ने घाणियां चलाने का कार्य जारी रखा। यद्यपि घाँची (तेली) थे, किन्तु मूलतः राजपूत होने के कारण अपने सम्बंध राजपूतों से ही करते हैं, क्योंकि वे तेलियों को स्वयं से काफी निम्न मानते हैं।

'डी' क्लास में चितारा जाति भी आती है, जो लकड़ी, दीवार इत्यादि पर चित्र बनाने का कार्य करते हैं। इनका मूल क्षेत्र लोदवा (जैसलमेर) था तथा भाटियों के सगे थे।⁴² तुकों के हमलों से इनकी मूल जमीन छूट गयी तथा, इन्होंने जीवन-निर्वाह के लिये यह पेशा अपना लिया, किन्तु आज भी अपने नाते यह लोग पंवारों, भाटियों, चौहानों में ही करते हैं। 'डी' क्लास के गांछे जाति के लोग गुजरात से आये राजपूत हैं, कुछ राजपूत जबरदस्ती मुसलमान बनाये जाने से बचने के लिये बाँस का काम करने लगे,⁴³ जिससे गांछे कहलाये, किन्तु गुजरात के मूल गांछा जाति के लोग इनसे सगापन नहीं करते।⁴⁴ इनमें चौहान, गहलोत, सोलंकी, परिहार, भाटी, परमार, राठौड़ जाति के लोग जुड़े हैं। ये गांछे महाजन राजपूत और जाटों से ही कोई सम्बंध नहीं करते हैं। नागौर क्षेत्र के गांछों को महत्तर के समान माना जाता है, किन्तु वे महत्तरों को स्वयं से निम्न मानते हैं।⁴⁵

'डी' श्रेणी की तुलना में 'ई' श्रेणी की जातियों में यह स्तरीकरण और अधिक स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। चाकर कौम के लोग पहले जोधपुर राजपरिवार के साथ रहते थे तथा रावणां कहलाते थे, चूँकि वे राजपरिवार के चाकर थे, अतः वे अन्य चाकरों से स्वयं को उच्च मानते थे तथा उनकी परम्पराएं पूर्णरूप से राजपूती हैं।⁴⁶ 'ई' श्रेणी की एक अन्य कौम बावरी है। यह कौम चोरी एवं ठगी में संलग्न थी। भील जाति के लोग यही

करते थे, किन्तु वे जानवरों को चुराते थे, परन्तु यह धन चुराते थे तथा स्वयं को राजपूत बताकर स्वयं को भीलो से उच्च मानते थे।⁴⁷ बागड़ी जाति को राज ने खेतों की रखवाली का कार्य दिया था। इससे पूर्व ये चोरी इत्यादि में संलग्न थे। बागड़ी सांचौर, मालानी आदि में अधिक है, वे अन्य परगनों या क्षेत्रों के बागड़ियों को स्वयं से निम्न मानते हैं तथा उन्हें चोर कहते हैं।⁴⁸ वे स्वयं को राजपूतों के नजदीक मानते हैं। थोरी जाति के लोग भीलों से सम्बन्धित है, किन्तु वे स्वयं को पाबूजी के काल से राजपूत होना बताते हैं⁴⁹ और सम्पूर्ण मारवाड़ में इनका रहवास है। इनका सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि, यह अपनी परम्पराएं आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। जैसे कई स्थानों पर मृत्यु के बाद थोरी जलाते हैं एवं कई स्थानों पर दफनाते हैं।⁵⁰

थोरी जाति के लोग भाटी, चौहान, राठौड़, सोलंकी आदि खांपों में बँटे हुए हैं।⁵¹ इसी प्रकार कोली जाति के लोग चोरी के कार्य में संलग्न थे तथा भील मेणों में गिने जाते थे, किन्तु अब वे कृषि में संलग्न हो गये।⁵² तलपदा एवं बारियां खांपों के कोली उच्च माने जाते थे तथा इन्हें पालनपुर दरबार में जागीरें भी प्राप्त थी।⁵³ हरिजनों से भी निम्न सांसी कौम होती है। ये हरिजनों का झूठन खा लेते हैं। हरिजन इनके समान होने पर भी इनका भोजन नहीं करते हैं।⁵⁴ सांसी भी हरिजनों को अपने से उच्च मानते हैं⁵⁵, किन्तु धोबी को स्वयं से नीचा मानते हैं।⁵⁶ सांसी गैर-मुल्क के सांसियों से सम्बन्ध भी नहीं करते, क्योंकि वे उन्हें स्वयं से नीचा मानते हैं।⁵⁷ 'ई' क्लास में गंवारिया जाति के लोग मूज कूटे हैं, सिरकियां बांधते हैं, भैस के सर्गों से कंघे बनाते हैं। ये लोग अमृतसर एवं पटियाला से सम्बन्धित हैं।⁵⁸ ये अपने पूर्वजों को राजपूत बताते हैं। मारवाड़ में इनकी बीसलोत, गोरामा, केलोत, मूँछल, कुट्टा, बीजलोत इत्यादि खांपें हैं।⁵⁹ रिवाज सभी राजपूतों के समान करते हैं, किन्तु राजपूतों के समान इन्हे सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं है।

'ई' क्लास की एक जाति हरिजन (स्वीपर) भी है। मारवाड़ में इन्हें महत्तर एवं चूडा भी कहते हैं। इनकी उत्पत्ति ये मात्रक से मानते हैं। उसके वंशजों ने मांतगी देवी के मंदिर की क्रिया को भंग (अपवित्र) किया तो, उन्हें लोगों के मल-मूत्र उठाने का श्राप मिला एवं स्वीपर (अपवित्र करने वाला) की पदवी मिली। ये लोग लाल गुरू नामक व्यक्ति को अपना पीर मानते हैं।⁶⁰ इनमें आदिवालो, अमच, अमरवाला, किलाणा, गडवाड़, गारू, चागरा, चंडालिया, डारों, ढिकिया, भेद, भारिया, मारू, लखन, सारसर इत्यादि खांपे हैं। ये लोग सांसी, धोबी, ढोली एवं सांठियें का जूठा नहीं खाते हैं। ढोली से ये अत्यधिक परहेज करते हैं। यदि इनके भोजन पर ढोली की परछाई भी आ जाये तो, उसे त्याग देते हैं।⁶¹

'ई' क्लास की एक अन्य जाति रैबारी है। इन्हे मारवाड़ में राईका भी कहते हैं।

ये लोग जानवरों के चराने का कार्य करते हैं, (मुख्य रूप से ऊंटों एवं भेड़ों को चराते हैं) इसके अतिरिक्त ये लोग जानवरों को चुराने का कार्य भी किया करते हैं। ये रात के समय में भी जानवरों को पहचान लेते हैं। रैबारियों में मारू और चालकिया दो प्रमुख खांपें हैं।⁶² मारू स्वयं को चालकियों से उच्च समझते हैं। वे चालकियों की बेटी से अपने बेटे का विवाह कर देते हैं, किंतु अपनी बेटियां चालकियों में नहीं ब्याहते हैं।⁶³

रैबारी जाति के लोग मारवाड़ के जैतारण क्षेत्र में चौधरी कहे जाते हैं। कई रैबारी मुस्लिम भी हैं। किंतु इन्हें यहाँ के मुस्लिम समाज में कोई स्थान तक नहीं मिलता, क्योंकि ये नमाज-रोजा कुछ नहीं जानते हैं और नाम भी हिन्दुओं जैसे रखते हैं।⁶⁴ नापत जाति के लोगों से यह हजामत नहीं करवाते हैं। 'ई' क्लास में चेला जाति भी आती है। ये स्वयं को हिन्दु राजपूत कहती हैं। इन्हे राज्य की और से एक चाँदी का डण्डा मिला हुआ है,⁶⁵ जिसे लेकर यह दरबार की ड्योडी (Gate) पर खडे रहते हैं। इन्हें ड्योडीदार के आदेशों का पालन करना होता है। ये राजकीय अदालतों एवं महकमों की डाक बाँटते हैं। ये स्वयं को पुराने राठौड़ राजपूत राजाओं की परदायतों की संतान बता कर स्वयं को उच्च बताते हैं। चेला जाति के लोग सम्बंध रावणा राजपूतों में ही करते हैं।⁶⁶

इस प्रकार मर्दुमशुमारी उपरोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अनेक उदाहरण हैं, जो उपांतिक वर्ग के आंतरिक वर्ग-स्तरीकरण को स्थापित करती हैं। सामान्यतः भारत में वर्ग विभाजन - वर्ण विभाजन को ही माना जाता रहा है, किन्तु यदि सामाजिक ढाँचे के आन्तरिक स्तरीकरण को देखा जाए तो, प्रत्येक वर्ग में भी अनेक वर्ग प्राप्त होते हैं तथा यह विभाजन आन्तरिक शोषण का आधार बनता है। अतः वर्तमान समय में उपांतिक वर्ग का अध्ययन, अगर उनके आंतरिक सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण से किया जाए तो, नवीन प्रकार के शोध-आयामों के मार्ग स्थापित होंगे।

संदर्भ

1. 10.31, महाभारत का अनुष्ठान पर्व, क्रिटीकल एडिशन, 48.18 में इसकी जानकारी है।
2. बोधायन धर्मसूत्र, I, 1.2.31
3. वर्ण संकर, अदुतपनन्न व्रत्यानाहुरमनीशान, I. 9.17.15
4. उमा चक्रवती, द सोशल डाइमेन्शंस ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1987, पृ. 122-149
5. बोधायन गृहसूत्र, 2.5.6
6. भारद्वाज गृहसूत्र, 1.1
7. अत्रि स्मृति, पथ 196; अंगिरस स्मृति, पथ 3; यम स्मृति, पद्य 33
8. रामशरण शर्मा, शूद्राज इन एनशियंट इंडिया, तीसरा संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास,

- दिल्ली, 1990, पृ. 324
9. स्कन्दपुराण, नगर खण्ड, VI, 242-32
 10. सी.आई.आई., iii, संख्या 60, II 12.3
 11. ई.आई., XX, संख्या 14, बी. प्लेट्स, 1-19
 12. ई.आई., iii, संख्या 40, एपियफिया कर्नाटिका, VII, शिकारपुरा तालुका 20ए.
 13. इस्क्रिप्सन ऑफ बंगाल, iii, संपादक, एन.सी. मजूमदार, राजशाही, 1929, संख्या 5, दोहा 36
 14. पी.वी.काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 2, 77
 15. टी.वार्ट्स, ऑन युआन च्वांग्सू ट्रेवल्स इन इंडिया, सं. टी. रिस डेविड्स और एस. डब्ल्यू. बुशेल, दो खण्डों में, 1, 168, लंदन, 1904-1905
 16. अलबरूनीज् इंडिया, सं. एडवर्ड सी. सचाऊ, ii, 134-135, दिल्ली, 1965
 17. स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, 2, 39-291-292
 18. मुंशी रायबहादुर मुंशी हरदयालसिंह, रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राजमारवाड़, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, मेहरानगढ़ फोर्ट, जोधपुर, 2010, पृ. 1
 19. वही, पृ. 448-552
 20. वही, पृ. 553-589
 21. वही, पृ. 449
 22. वही, पृ. 450
 23. वही, पृ. 457
 24. वही, पृ. 458
 25. वही, पृ. 462 (गाड़ोलिये बैलों की खस्सी करते हैं एवं जांघड़े मोचियों की भांति चमड़ेका म्यान बांधते हैं)
 26. वही, पृ. 465
 27. वही
 28. वही, पृ. 470
 29. वही, पृ. 487
 30. वही, पृ. 488
 31. वही, पृ. 553
 32. वही, पृ. 554
 33. वही
 34. वही
 35. वही, पृ. 471
 36. वही
 37. वही, पृ. 475

38. वही, पृ. 481
39. वही
40. वही
41. वही, पृ. 493
42. वही, पृ. 509-510
43. वही, पृ. 515
44. वही
45. वही
46. वही, पृ. 558
47. वही, पृ. 560
48. वही, पृ. 562
49. वही, पृ. 564
50. वही, पृ. 565
51. वही, पृ. 564
52. वही, पृ. 566
53. वही
54. वही, पृ. 585
55. वही, पृ. 588
56. वही
57. वही
58. वही, पृ. 581
59. वही
60. वही, पृ. 582-583
61. वही, पृ. 584
62. वही, पृ. 571
63. वही
64. वही, पृ. 577-579
65. वही, पृ. 556
66. वही

Dr. Gajanand Choudhary Prize Paper

सामाजिक इतिहास लेखन एवं इसके स्रोत : 'सामंतीय-औपनिवेशिक राजस्थान'

डॉ. सुमेस्ता

सामाजिक व आर्थिक इतिहास लेखन का, 'इतिहास नीचे से' (History from Below), 'लोगों का इतिहास' (People's History) से गहरा संबंध है।¹ यूनिवर्सिटी ऑफ प्यूर्टो रिको के इतिहासकारों ने अपने मैनिफैस्टों में लिखा कि "हमारे सामने एक समस्या है कि जो इतिहास प्रस्तुत किया गया है वह 'हमारे' - लोगों के इतिहास का सिर्फ एक हिस्सा है। ...यह इतिहास, 'इतिहासहीन' (Historyless) है, क्योंकि इसमें वे असंख्य लोग जिन्होंने अपने सामूहिक प्रयासों से अपने रोजमर्रा की जिंदगी के कामों से समाज को सदियों से आगे बढ़ाया, उनका इतिहास नहीं है।"² इसी प्रकार का मत इतिहास लेखन के एक अन्य स्कूल डारे-ए-सलम के एक इतिहासकार ने भी जाहिर किया था : "हम एक तरफा व बेकार के 'इतिहास' को समाप्त करते हैं, जो केवल व्यक्ति विशेष के नायकीय कार्यों व उनकी जीवन गाथा का इतिहास होता है, अथवा जिसमें अधिक से अधिक केवल कुछ बहादुर आदिवासियों की याद में स्मारक बनाकर खड़े कर दिये जाते हैं। इससे, हमारे लोगों (आम आदमी) के बड़े हिस्से को इतिहास से बाहर रख दिया जाता है। यानि उसे 'इतिहासहीन' बना दिया जाता है।"³ सन् 1970 के दशक में आये इन विचारों की कड़ियां बहुत पीछे तक जाती हैं। जिसके उदाहरण 1980 के दशक में रफैल सैमुएल ने दिये। उन्होंने लिखा कि जे.आर. ग्रीन, जिन्होंने ए सोर्ट हिस्ट्री ऑफ दी इंगलिश पीपल, 1877, में 'लोगों का इतिहास' के सिद्धान्त पर बल दिया। 19वीं सदी के अंतिम वर्षों में इथनोहिस्ट्री ऑफ मास कल्चर पर काम किया गया। इसी दौरान पूर्वी यूरोप के राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने अपने लोगों की आवाज़ व विदेशी शासन के खिलाफ उठने वाले संघर्ष का इतिहास लिखने का विचार दिया। फ्रांस में 'लोगों का इतिहास' को सामाजिक रोमांचकता कहा गया तथा इसी दिशा में 'डिस्कवरींग दि पीपल' शीर्षक से एक पुस्तक सामने आई। इसी कड़ी में ए.एल; मॉर्टन एवं ई.पी. थोम्पसन, इत्यादि ने 'लोगों का इतिहास' अथवा 'इतिहास नीचे से' के सिद्धान्त पर काम किया।⁴ जब रूस के शासक जार ने पुश्किन से रूस के किसान नेता पुगाचेव (Pugachev)

का इतिहास लिखने की योजना सुनी तो जार ने कहा "इस प्रकार के व्यक्ति का कोई इतिहास नहीं होता है।⁵

पुनः इस दिशा में हुए कुछ और कार्यों का संक्षेपण इस प्रकार है : फबियन सोशलिस्ट⁶ एवं लिबरल रडिकल बुद्धिजीवियों ने इंग्लैण्ड में 19वीं सदी के अंतिम वर्षों व दूसरे विश्व युद्ध के बीच सामाजिक-आर्थिक इतिहास लेखन पर बल दिया। जे.एल. बारबरा हम्मांड, दि विलेज लेबर, 1911; दि टाऊन लेबर, 1917; स्कील्ड लेबर, 1919 में उन्होंने औद्योगिकरण से समाज के निचले तबके के सामाजिक व आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का उल्लेख किया है। एली हालेवी, दि इंगलिस पीपल, 1815; जी.डी.एच. कौल एवं रेमण्ड पोस्टगेट, दि मेकिंग ऑफ दि इंगलिस वर्किंग क्लास पुस्तक ने पूरे विश्व के मजदूरों एवं समाज वैज्ञानिकों को बहुत प्रेरित किया।⁷ ट्रेविलियन की पुस्तक, इंगलिस सोशल हिस्ट्री, 1944 भी अत्यधिक लोकप्रिय रही। जर्मनी में कार्ल लामपरीचैट ने कल्चरल डेवलेपमेन्ट ऑफ दि जर्मन लिखी।⁸

इस प्रकार 'इतिहास नीचे से', 'लोगों का इतिहास' का सिद्धान्त, इतिहास को सामाजिक घटनाओं का अध्ययन बनाने के लिए बाध्य करते हैं। इससे इतिहास, महिमामंडन, अनाकार व उददेश्यहीन इतिहास, जो एक बाद दूसरा लगातार लिखा जाता रहा है, की प्रक्रिया को रोकता है।⁹

इतिहास लेखन के इसी सिद्धान्त के तहत 20वीं सदी में इतिहास लेखन का क्षेत्र (Scope) बहुत विस्तृत होता गया। इस दौरान सामाजिक व आर्थिक इतिहास, कानूनी इतिहास, विचारों का इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास व कला का इतिहास लिखना होना शुरू हो गया था।¹⁰

परन्तु, उपर्युक्त संदर्भों को सिर्फ विश्व में सामाजिक इतिहास लेखन प्रारम्भ होने की दिशा में हुए प्रयासों के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि हम पश्चिमी देशों के इन इतिहासकारों की प्रशंसा करके उन्हें न्यायसंगत ठहराने का प्रयास कर रहे हैं।

भारत में सामाजिक इतिहास लेखन के विषय में चर्चा करने से पहले एक घटना का संक्षेपण देना आवश्यक है और वह यह है कि जब सन् 1993 ई. के अगस्त माह में ई.पी. थोम्पसन की मृत्यु के बाद विश्वभर के इतिहासकारों में दुःख की एक लहर थी। पूरे विश्व में उनके लिए संस्मृति व्याख्यान व अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ हो रही थी तथा थोम्पसन साहेब को श्रद्धान्जलि दी जा रही थी। उन्हीं ई.पी. थोम्पसन साहेब का भारत से बेहद करीबी का रिश्ता था।¹¹ 1976 ई. में भारतीय इतिहास कांग्रेस (Indian History Congress) के त्रिवेन्द्रम अधिवेशन में अपने भाषण में ई.पी. थोम्पसन ने 'लोगों का इतिहास' एवं भारत में सामाजिक इतिहास के क्षेत्र में शोध एवं अध्ययन¹² (Social

Historical Research and Teaching in this Country) के माध्यम से भारतीय इतिहासकारों में नये क्षेत्र में इतिहास लेखन की ऊर्जा पैदा की।

सब्यासाची भट्टाचार्य ने लिखा है कि भारत के संदर्भ में पाश्चात्य इतिहासकारों से पूर्व 19वीं एवं 20वीं सदी में कुछ भारतीयों ने भी सामाजिक इतिहास लेखन पर चर्चा की है। उदाहरणतः बंकिमचंद्र चटर्जी ने बंगाल के जातीय इतिहास पर लिखा ना कि बंगाल के राजनैतिक इतिहास पर।¹³ परन्तु इसी कड़ी में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी रचनाओं में लोगों का इतिहास लिखने पर जोर दिया। मुंशी प्रेमचन्द की अधिकतर रचनाओं में समाज व सामाजिक पहलुओं को सामने रखा जाता था। आर.सी. मजूमदार (एडिटिड), दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इंडियन पीपल दि ऐज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, वाल्यूम-II, 1968 में लोगों के इतिहास पर जोर दिया। पुनः इस दिशा में राजस्थान में स्वामी गोकुलदास ने आर्य समाज, महात्मा गाँधी एवं राजस्थान मेघवंश महासभा के सहयोग से 1934 में मेघवंशः इतिहास और धर्मशास्त्र, प्रकाशित की। रमेश चन्द्र गुणार्थी की पुस्तक, राजस्थानी जातियों की खोज, 1950 ई. राजस्थानी समाज की विविधताओं, परम्पराओं, रितिरिवाजों पर विवरण प्रस्तुत करती हैं। सन 1960 ई. में अक्षयचंद्र शर्मा व चंदोदन चरण ने जनसेवक बारूपल की बायोग्राफी लिखकर समाज के निचले स्तर पर सेवक रहे महान मान विभूति के कार्यों का लेखा प्रस्तुत किया।

भारत में सामाजिक आर्थिक इतिहास लेखन में सबाल्टर्न इतिहासकारों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। इनमें कुछ मुख्य इतिहासकार व उनके कार्य इस प्रकार हैं: रणजीत गुहा, एलिमेन्ट्री अस्पैक्ट्स ऑफ पिजेंट इन्सर्जन्सी इन कोलोनियल इंडिया, 1983; रणजीत गुहा एंड गायत्री चक्रवर्ती (एडिटिड), सलेक्टिड सबाल्टर्न स्टडीज़, 1988; रणजीत गुहा, ए सबाल्टर्न स्टडीज़ रिडर, 1986-1995 (प्रकाशित 1997); सुमित सरकार, राईटिंग सोसल हिस्ट्री, 1997; रविन्द्र कुमार, एसेज इन दि सोसल हिस्ट्री ऑफ मार्डर्न इंडिया, 1983; ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, 'रलींग राऊंड दि कारु' सक्टेरियन स्ट्राईफ इन दि भोजपुर रिजन, सी. 1888-1917', सबाल्टर्न स्टडीज़ II; आशिष नंदी, 'दि पोलिटिक्स ऑफ सेक्यूलरिज्म एंड रिक्वरी ऑफ रिलिजियस टोलेरन्स', बीना दास (एडिटिड), मिरर्स ऑफ वाईलेंस कॉम्प्यूनिटिज, 'राईट्स एंड सर्वाइवर्स इन साऊथ एशिया', 1990।

इतिहास लेखन के इस बदलते ट्रेंड में राजस्थान के इतिहासकारों ने सामाजिक-आर्थिक इतिहास लेखन में बेहद रूचि ली। चूंकि सामंतीय-औपनिवेशिक राजपूताना के सामाजिक इतिहास लेखन का क्षेत्र (Scope) बहुत बड़ा है, जिसमें समाज व संस्कृति के विभिन्न पहलु यथा मानव इतिहास (जन्म, मृत्यु, भूख, बीमारी इत्यादि के आँकड़ों के आधार पर), जनसंख्या स्थानान्तरण, कृषकीय समुदाय, श्रमिक समुदाय,

सामाजिक सुधार आन्दोलनों, आरक्षण, अहिंसा, शिक्षा, सामाजिक कु-प्रथाओं, संगीत, मेलों, कला, जातियों का इतिहास, लिंग (Gender) इतिहास, धार्मिक इतिहास, भक्ति संतों का इतिहास, इत्यादि विषय शामिल हैं। उपर्युक्त मुद्दों पर निष्पक्ष व साईटिफिक ऐतिहासिक शोध के लिये स्रोतों की विभिन्नता की सूची बहुत लम्बी है।

राजस्थान में सामाजिक इतिहास लेखन के कुछ महत्वपूर्ण प्राथमिक (अभिलेखीय) एवं द्वितीयक स्रोतों का विवरण निम्नानुसार है :

बहियाँ/अंगेजी रिकार्ड्स - अर्जी बहियाँ, कागदरी बहियाँ, पट्टा बहियाँ, ब्याहरी बहियाँ, ख्यातरी बहियाँ, सनद परवाना बहियाँ, हकीकत बहियाँ, खालसा गाँवरी बहियाँ, मालरी बहियाँ, सावा बहियाँ इत्यादि। फॉरेन पोलिटिकल कंसलटेशन फाईल्स; क्राऊन्स रिप्रेजेन्टेटिव रिकार्ड्स, एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स, गर्वनेंट गजेट्स, गजेटियरस इत्यादि।

व्यक्तिगत व संस्थागत निजी संग्रह - विभिन्न जाति सभाएँ एवं उनके दस्तावेज (जाति सभाओं के वार्षिक अधिवेशनों के दौरान प्रकाशित पम्फलेट्स, सुधारक संदेश, गीत, भजनावली इत्यादि), ऑल इंडिया स्टेट्स पिप्लस कानफर्स पेपरस, राजपूताना प्रजा परिषद् पेपर्स। मेहता संग्राम सिंह कलेक्शन, भैया आमलचंद जी के पत्र, भाई नथमल व जेटमल के पत्र, हरबिलास शारदा के कागजात, हरिभारु उपाध्याय के कागजात, चाँदकरण शारदा के कागजात, झाबरमल शर्मा के कागजात, हीरालाल शास्त्री पेपरस, जयनारायण व्यास पेपरस, इत्यादि।

समसामयिक समाचार पत्र - मारवाड़ी हितकारक, चाँद, पंचराज, मारवाड़ी अग्रवाल, अनाथ रक्षक, आर्यमार्तण्ड, तरूण राजस्थान, नवीन राजस्थान, लोकवाणी, गणेश, सैनिक, रियासती, प्रजामंडल, विधवा बन्धु (सभी हिन्दी में), दि हिन्दुस्तान टाइम्स, बॉम्बे कार्निकल, दि लीडर, नेशनलकाल (सभी अंग्रेजी में)।

इन स्रोतों में समाज के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित जानकारी, जैसे जातिय अन्तर्सम्बन्ध, विवाह संबन्ध, तलाक, सती, राजाओं द्वारा लोगों से जबरन वसूले जाने वाले विभिन्न प्रकार के कर, गाँव व कस्बों से संबंधित जानकारी, जलाभाव व जल संसाधन, समाज के एक तबके जिसके बारे में मुश्किल से कभी सोचा जाता था- महिलाओं, दलितों, लड़कियों की स्थिति, किसान की स्थिति, बेगार, स्वतन्त्रता संघर्ष के लिये पूरे देश में उठी आवाज के साथ सुर मिलाने के लिए रियासतों में उठने वाले उत्तरदायी शासन के लिये संघर्ष की आवाज, सामाजिक कुरीतियों इत्यादि के विषय में भरपूर सामग्री उपलब्ध है।

शोध पत्र के शीर्षक से सम्बन्धित अवधिकाल के राजपूताना के सामाजिक

इतिहास पर इतिहासकारों ने बहुत शोध किया है और हो रहा है। इस सम्बन्ध में आगे बढ़ने से पहले बता दें कि राजस्थान इतिहास पर उपलब्ध स्रोतों की विविधता की ही तरह यहां के सामाजिक इतिहास लेखन का विस्तार भी वामपंथ, दक्षिण पंथ एवं मध्यपंथ (तीनों ही इतिहासकारों) ने किया है। पुनः विनम्रता से कहना होगा कि यद्यपि राजस्थान में सामाजिक इतिहास लेखन पर काफी शोध हुआ है तथा हो रहा है। परन्तु, चूंकि मेरे शोध का क्षेत्र सामाजिक मुद्दों – सती, कन्या वध, त्याग, बाल-विवाह, बेमेल विवाह, विधवा पुनर्विवाह का ना होना, लड़कियों व महिलाओं की खरीद-फरोख्त, मृत्यु भोज (ओसर-मोसर), टीका एवं रीत आदि से सीधा सम्बन्ध रखता है। इसलिए इन विषयों पर हुए सामाजिक इतिहास लेखन का ब्यौरा देने का प्रयास है। तथापि सामाजिक अध्ययन के अर्न्तगत आने वाले दूसरे विषयों किसान संघर्ष, मानव इतिहास, रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिये संघर्ष, आदिवासी आन्दोलन, इत्यादि के कुछ महत्वपूर्ण कार्यों का भी यहाँ उल्लेख किया गया है। उक्त सामाजिक विषयों पर हुए इतिहास लेखन का विवरण इस प्रकार है:

(अ) समाज, सामाजिक कु-प्रथाओं एवं सामाजिक सुधारों से सम्बन्धित इतिहास लेखन:

आर.के. सक्सेना, सोशल रिफॉर्मर्स : इन्फैंन्टीसाईड एंड सती, त्रिमूर्ति पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 1975; आर.के. सक्सेना, एज्यूकेशन एंड सोशल एमेलीयोरेशन ऑफ वुमैन : ए स्टेडी ऑफ राजस्थान, सांघी प्रकाशन, जयपुर 1978। इस पुस्तक में सती व कन्या वध पर जोर दिया गया है। इसमें प्रयुक्त स्रोत अधिकतर राष्ट्रीय अभिलेखागार से हैं। मीना गौड़, सती एंड सोशल रिफॉर्मर्स इन इंडिया, पब्लिकेशन्स स्कीम, जयपुर 1989, में राजस्थान – विशेषकर मेवाड़ में सती प्रथा की भयावहता, उसके उन्मूलन हेतु सरकारी व गैर सरकारी प्रयासों पर बहुत अच्छा विवरण प्रस्तुत करती है। उक्त कार्य में अंग्रेजी व वर्नाक्यूलर दोनों प्रकार के स्रोतों का भरपूर इस्तेमाल हुआ है। मन्जू, कच्छल, उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक परिवर्तन, पोईन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1998, में राजपूताना रियासतों का अंग्रेजी नियन्त्रण में आना, राजपूताना के सामंतवादी ढांचे का सामाजिक संरचना पर प्रभाव, परिवार व्यवस्था व विभिन्न जातियों के उल्लेख के साथ स्त्रियों की स्थिति का वर्णनात्मक उल्लेख है। वर्षा जोशी, पोलीगैमी एंड पर्दा : वुमैन एंड सोसायटी अमंग दि राजपूत्स, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, में यद्यपि लेखिका ने स्त्रियों से जुड़े हुए सामाजिक मुद्दों को उठाया है, लेकिन इस पुस्तक में पर्दा के चलन व राजपूत राजघरानों में उसकी भूमिका को केन्द्र में रखा है। डॉ. कैलाशनाथ व्यास एवं देवेन्द्र सिंह गहलोत, राजस्थान की जातियों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, शोध-संस्थान, जोधपुर, 1992, का मुख्य उद्देश्य विभिन्न जातियों, जनजातियों की उत्पत्ति के इतिहास व

उनकी आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक स्तर आदि पर केन्द्रित रहा है। संतोष यादव, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर, 1987, में महिलाओं की स्थिति – सती, आदि पर तत्कालीन समय का सटीक चित्रण किया है। एडवर्ड थोम्पसन, सती, जार्ज ऐलन अनविन प्रेस, लन्दन, 1928, में भारत में सती को विशेषकर राजपुताना एवं बंगाल में साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी चश्मे से व्याख्यायित किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सती प्रथा को न्यायसंगत ठहराया जा सके।

आर.पी. व्यास ने अपने एक शोध पत्र 'बीकानेर के अभिलेख एवम् उनका ऐतिहासिक महत्व', राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रौसिडिंग्स, वाल्यूम XIV, बीकानेर, 1984 में, मन्दिरों के शिलालेखों व अन्य स्थलों पर मिले अभिलेखों के माध्यम से सामाजिक कु-प्रथाओं व अन्य सामाजिक मुद्दों को उजागर किया है। जी.एस.एल.देवड़ा की दो पुस्तकें, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574 से 1818 ई.) बीकानेर के संदर्भ में, बीकानेर 1981 तथा सोशियो-इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, जोधपुर, 1980, में राजस्थान की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, प्रशासनिक व आर्थिक दशा का चित्रण किया गया है। इन्होंने अपनी उपर्युक्त पुस्तकों में प्रथम पुस्तक में विश्लेषण करते हुए लिखा है कि अपनी सांस्कृतिक एकता के पीछे राजस्थान प्रदेश भौगोलिक व वातावरणीय दृष्टि से दो भागों में विभक्त है। एक भाग हरी-भरी ऊँची अरावली पहाड़ियों से युक्त है जिसे अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों ने अध्ययन का क्षेत्र बनाकर राजस्थान का इतिहास लिखा है। द्वितीय भाग रेतीले टीलों से भरा हुआ है, जिस पर प्रकृति की अनुदारता के साथ-साथ इतिहासकारों का भी ध्यान कम गया है। लिंडसे हरसन, 'परकसन एंड डिवोसन : सती ट्रेडिसन इन राजस्थान', जॉन स्टार्टन हवले (एडिड), सती, दि बलेसिंग्स एंड क्यूर्स : द बर्निंग वाईव्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली 1994, ने भी राजस्थान में सती प्रथा का आलोचनात्मक उल्लेख किया है। कालूराम शर्मा, 19वीं शताब्दी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1974, में जाति, लोगों के रहन-सहन, खान-पान पर तो निश्चित ही जानकारी मिलती है, तथापि स्रोतों के अन्वेषण एवं समीक्षा का हल्का सा अभाव खलता है। शशि अरोड़ा, राजस्थान में नारी की स्थिति 1600-1800 ई., तरुण प्रकाशन, बीकानेर, 1981, में लेखिका ने महिलाओं की स्थिति का ब्यौरा देते हुए त्याग प्रथा एवं कन्या वध पर लिखते हुए 17वीं सदी से 18वीं सदी के अंत तक विस्तृत शोध विवरण दिया है। प्रकाश व्यास, राजस्थान का सामाजिक इतिहास सातवीं शताब्दी से 1950 ई. तक, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2001, में प्राचीन भारतीय इतिहास से 1950 ई. तक (Post 1947 period) का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास

किया गया है। प्रेम ऐंग्रिस, मारवाड़ का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, ऊषा पब्लिशिंग हाऊस, जोधपुर, 1991, में तत्कालीन मारवाड़ की जातियों, उनका रहन-सहन व रोजमर्रा के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। पुनः उक्त ग्रन्थ प्राचीन काल से आधुनिक काल तक लगभग सभी विषयों पर एक ही प्रकार के जीवन व संस्कृति की बात करता है कहीं भी ग्रन्थ में समाज व लोगों की अर्थव्यवस्था में उतार-चढ़ाव की चर्चा नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ में समाज व अर्थव्यवस्था का विषय अधिकतर महाराजाओं, उनके पदाधिकारियों व जागीरदारों के इर्द-गिर्द ही रहता है। मेघराम गढवीर, जैसलमेर राज्य का सामाजिक इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2012; जैसलमेर के लोगों का सामाजिक, धार्मिक जीवन, राजपूत अभिजात वर्ग का जीवन, नगरीय व ग्रामीण जीवन, सांस्कृतिक इतिहास, चिकित्सा एवं शिक्षा व्यवस्था पर 1818-1949 तक की जानकारी उपलब्ध कराता है। इसी प्रकार नन्दकिशोर शर्मा द्वारा रचित ग्रन्थ युगयुगीन वल्लप्रदेश जैसलमेर का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, सीमान्त प्रकाशन, जैसलमेर, 1993 (दो भागों में) प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में भी जैसलमेर के इतिहास के लगभग सभी पहलुओं को छुने का प्रयास किया गया है। तथापि उक्त ग्रन्थ में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों ही स्रोतों का भरपूर इस्तेमाल नजर नहीं आता है।

सामाजिक इतिहास लेखन के विषय में राजस्थान में स्थानीय समाज सुधारकों व आर्य समाज की बहुत अहम भूमिका रही है। हरविलास शारदा के लेख 'स्वामी दयानन्द इन राजस्थान', सुरेश के. शर्मा एवं अन्य (एडिड), राजस्थान थ्रू दि ऐजेज, वॉल्यूम-3, सोशल एंड कल्चरल लाईफ, दीप एवं दीप पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1999, में स्वामी दयानन्द के राजस्थान आगमन व आर्य समाज के प्रभाव का सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

वी.के. वशिष्ठ, 'राजस्थान में सती प्रथा का निवारण (1846-1988)', प्रतिभा जैन एवं संगीता शर्मा (सम्पादित), भारतीय स्त्री, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, 1998, में जैन गुरुओं एवं विचारकों द्वारा सती प्रथा उन्मूलन हेतु तैयार की गई पृष्ठभूमि, अंग्रेजों से पूर्व अकबर द्वारा सती प्रथा को रोकने के प्रयास तथा निश्चित तौर पर 26 अप्रैल 1846 ई. को जयपुर कौंसिल द्वारा सती प्रथा निषेध की घोषणा से धीरे-धीरे रियासतों में इसे प्रतिबन्धित कर देने तथा 1988 में रूप कंवर के सती होने की घटना तक का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

राजस्थान के सामाजिक इतिहास लेखन की दिशा में ऐन्ड्रिया मेजर की पुस्तकें सोवरिनीटी एंड सोशल रिफॉर्म इन इंडिया : ब्रिटिश कोलोनियलिज़्म एंड कैम्पेन अगेन्स्ट सती, 1830-60, रोटलेज, न्यूयॉर्क 2011 तथा सती ए हिस्टोरिकल एन्थोलोजी, ऑक्सफोर्ड, नई दिल्ली 2007, क्रमशः भारत में सती के कोलोनियल कॉन्टेक्ट और पोस्ट कोलोनियल कॉन्टेक्ट की बहस पर बल देती हैं। ब्रिटिश पेरामाउन्टसी, इंडियन सोवरिनीटी तथा

रियासती भारत में सती पर चर्चा करती हैं। साथ ही लेखिका ने सती से सम्बन्धित साक्ष्यों के लिये, विदेशी यात्रियों-बर्नियर, मनूची, पेलसर्ट इत्यादि के उल्लेखों को आधार बनाया है। उन्होंने राजस्थान में सती प्रथा को रोकने के लिए अंग्रेजी शासन व उसके पीछे काम कर रही उपयोगितावादी विचारधारा का भी उल्लेख किया है। परन्तु लेखिका के इस दावे के बावजूद कि उन्होंने राजस्थानी स्रोतों का इस्तेमाल किया है उनके 90 प्रतिशत स्रोत औपनिवेशिक स्रोत हैं। इती बहादुर, हिस्ट्री ऑफ दि जाट्स : ए स्टडी इन वेस्टर्न राजस्थान, शुभी पब्लिकेशन्स, गुडगांव 2011, में ग्रामीण क्षेत्रों में जाट समुदाय, सामुदायिक रिती रिवाजों, जाट समाज में जेन्डर रिलेशन्स, पश्चिमी राजस्थान के जाटों में जाति पंचायतों की भूमिका, आदि विषयों पर सटीक चित्रण देती है। वर्ष 2016 एवं 2013 में विक्रम सिंह भाटी की प्रकाशित पुस्तकें क्रमशः सिन्धल राठौड़ों का राजनीतिक और सामाजिक इतिहास एवं, मारवाड़ इतिहास एवं संस्कृति के सोपान, सामाजिक इतिहास लेखन की दिशा में वर्तमान में प्रकाशित उच्चकोटि के ग्रंथ हैं जिनमें मूलतः प्राथमिक स्रोत सामग्री उपलब्ध होती है। रूस्तम भरूचा की पुस्तक राजस्थान एन ओरल हिस्ट्री, पेंगुइन बुक्स, गुडगाँव, 2003 में राजस्थान के भूगोल, जलस्रोतों, मौखिक काव्यों, लोक देवी-देवताओं, महिलाओं द्वारा गाए जाने वाले लोकगीतों, सती, व्यवसायिक परम्परागत जातीय संगीतकारों सहित समाज के विभिन्न मुद्दों पर विस्तार से चर्चा की गई है। राजस्थान में सामाजिक इतिहास लेखन की कड़ी में एक नवीन अध्याय भी जुड़ा है। वर्ष 2015 में एस.पी.व्यास का व्याख्यान 'इतिहास लेखन में नवीन प्रवृत्ति-थर्ड जेण्डर : नाजिर वर्ग का अध्ययन', में जेंडर स्टडिज में अब तक अगणित व अनछुए रहे थर्ड जेंडर के इतिहास लेखन की आवश्यकता, महत्ता एवं इसकी प्रकृति पर विद्वतीय टिप्पणियाँ की गई हैं। इस लेख में उक्त विषय पर विद्वजनों के बीच बहस व शोध के अनेकों नए पहलु हैं। अतः निश्चित तौर पर सामाजिक इतिहास लेखन की दिशा में राजस्थान के इतिहासकारों ने लीक से हटकर अद्वितीय लेखन किया है।

(आ) शिक्षा एवं इतिहास लेखन

सामाजिक इतिहास लेखन की कड़ी में शिक्षा का इतिहास भी अहम है। चन्द्रपाल सिंह, नेशनल ऐज्यूकेशन मूवमेंट: ए सागा ऑफ क्यूस्ट फॉर एलटरनेटिव्स टू कोलोनियल ऐज्यूकेशन, ओरिजिनल्स, 2012, में भारत में परम्परागत शिक्षा प्रणाली, कोलोनियल शिक्षा पद्धति, भारत में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति जागृति राष्ट्रीय शिक्षा की संस्थाएँ, मूल शिक्षा तथा शिक्षा के प्रति गाँधीवादी दृष्टिकोण का गहराई से विश्लेषण किया गया है। वर्ष 2010 में अर्चना कालरा ने अपने लेख 'स्वामी दयानन्द के सुधारवादी विचार: स्त्री शिक्षा के विशेष संदर्भ में', राजस्थान में स्त्री शिक्षा के सभी मूल विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। जी.सी. वर्मा, मार्डन ऐज्यूकेशन : इट्स ग्रोथ एंड डेवलेपमेन्ट

इन राजस्थान (1818-1983), पब्लिकेशन्स स्कीम, जयपुर, 1984, राजपूताना रियासतों से अंग्रेजों की सन्धियां होने से लेकर स्वतन्त्र भारत के राजस्थान प्रान्त में शिक्षा के क्षेत्र में-परम्परागत शिक्षा पद्धति से लेकर आधुनिक विज्ञान व तकनीकी शिक्षा तक के युग की शिक्षा व्यवस्था तथा उसके लाभार्थी वर्गों का विश्लेषण करती है। एफ.एल. रीड (प्रिंसिपल, अजमेर गर्वनमेंट कॉलेज एंड इंस्पेक्टर ऑफ स्कूलस ऑन स्पेसियल डेपुटेशन) ने 1905 में रिपोर्ट ऑन दि स्टेट ऑफ एज्युकेशन इन दि नेटिव स्टेट्स ऑफ राजपूताना, में अजमेर-मेरवाड़ा के साथ-साथ सभी राजपूताना रियासतों में शिक्षा की स्थिति व आधुनिक शिक्षा पद्धति को बढ़ावा देते हुए महिला शिक्षा पर भी बल दिया।

(इ) सांस्कृतिक, दलित, जनजातिय एवं किसान इतिहास लेखन

हाल ही में वर्ष 2016 में के.एस. गुप्ता, जे.के. ओझा एवं गोपाल व्यास, की पुस्तक इतिहास: राजस्थान का इतिहास एवं संस्कृति, यूनिवर्सिटी ट्रेडर्स, जयपुर, 2016 में प्रकाशित हुई है जो राजस्थान के सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास पर परिचायक प्रकाश डालती है। के.एस. गुप्ता, राजस्थान का राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1986 में भी आरम्भिक मध्यकालीन राजस्थान से 1857 ई. तक राजनैतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास से रूबरू करवाया गया है। गोपीनाथ शर्मा, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, ग्रन्थ विकास, जयपुर 2004, में राजस्थान की रियासतों के अन्तर्सम्बन्ध, 18वीं सदी के पूर्वार्ध में मुगल-राजपूत सम्बन्ध, मराठा-राजपूत सम्बन्ध, राजस्थान अंग्रेजी चंगुल में, सर्वोच्चता का नया स्वरूप, प्रशासन, पारम्परिक आर्थिक संरचना, समाज, सभ्यता और संस्कृति के बदलते चरणों पर अच्छी जानकारी उपलब्ध कराती है। विजय कुमार वशिष्ठ ने अपने 'न्यू सोशल हिस्ट्री ऑफ राजस्थान: हिस्टोरियोग्राफी', वैचारिकी, भारतीय विद्या मन्दिर के द्वैमासिक शोध पत्रिका, मई-जून, 2015 भाग 31, नं. 3, में दलित इतिहास लेखन के क्षेत्र में अध्ययन की संभावनाओं, जातिय इतिहास, गाँधी जी के दौर में दलित इतिहास लेखन, अम्बेडकर पर हुए इतिहास लेखन, दलित सुधारक संगठनों पर इतिहास लेखन, दलित संतों पर इतिहास लेखन एवं दलितों पर हुए अत्याचारों पर हुए इतिहास लेखन पर चर्चा करते हुए अपनी विद्वतीय टिप्पणियाँ की हैं। इसके अतिरिक्त विजय कुमार वशिष्ठ के ही एक अन्य लेख 'सोशल एवेकिंग एंगग दि दलितस ऑफ राजस्थान एंड देयर कोनट्रीब्युशन टु फ्रीडम मूवमेंट, 1998 में दलितों की स्वतंत्रता संघर्ष में भागीदारी पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त अन्य इतिहासकारों: मुक्तबिहारी वर्मा, हरिजन सेवक संघ, 1932 टु 1968, दिल्ली 1969, श्यामलाल, कास्ट एंड पोलिटिकल मोबिलाइजेशन: दि भंगीज, जयपुर 1981, परणमल बैरवा, अस्पृश्यता एवं दलित चेतना, जयपुर, 1999, चन्दनमल नवल, रैगर जाति, इतिहास एवं संस्कृति, जोधपुर, 2009, श्यामलाल की आत्मकथा, दि

अनटोल्ड स्टोरी ऑफ ए भंगी वाईस चांसलर, जयपुर, 2009; विजय कुमार वशिष्ठ, 'स्ट्रगल ऑफ दि चमार पिजेंट्स फॉर दि रिमुवल ऑफ सोशल डिसएबिलिटीज इन ए यूडल ऐस्टेट (उनीआरा ठिकाना) इन राजस्थान, 1946-47' (लेख), 1984, ओम प्रकाश किराड, 'बीसवीं सदी के राजस्थान में अनुसूचित जाति के प्रमुख सतों द्वारा सामाजिक परिवर्तन', (एम.फिल. डिजिटेशन), इत्यादि अनेकों शोध राजस्थान में दलित इतिहास लेखन पर हुए हैं। इसी कड़ी में कमलकान्त प्रसाद एवं प्रकाश लुईस (एडिटिड) सामन्ती जाति व्यवस्था के विरुद्ध राजस्थान के दलितों का मुक्ति संघर्ष, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, 2001, राजस्थान के सामाजिक इतिहास लेखन के एक अनछुए पहलु पर जानकारी उपलब्ध कराती है। पुनः कुछ अतिशयोक्तियाँ हैं। परन्तु इतिहास में दलित वर्ग की भूमिका का अच्छा वर्णन है।

राजस्थान की जनजातियों पर, विजय कुमार वशिष्ठ, भगत भील मुवमेंट : ए स्टडी ऑफ कल्चरल ट्रांसफोरमेशन ऑफ दि भीलस ऑफ सदरन राजस्थान, श्रुति पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1997, में 20 वीं शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान में स्वामी गुरु गोविन्दगिरी के नेतृत्व में उठे भील आन्दोलन, उसके पीछे भीलों की समस्याएं, भीलों के बासवाड़ा में, स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान भूमिका, भीलों द्वारा दी गई कुर्बानियां, आदि के साथ-साथ भीलों में प्रचलित बुराईयों से गुरु गोविन्द गिरी जी द्वारा उन्हें बाहर निकालकर एक नई दिशा देने के सम्बन्ध में उच्चकोटि का शोध ग्रन्थ है। इस क्रम में सी.एस.के. सिंह ने दि साऊंड ऑफ ड्रम्स: ट्राईबल मूवमेंट इन राजस्थान, 1881-1947, दिल्ली 1995, में राजस्थान के सिरोही वह आस-पास के क्षेत्र में भीलों की समस्याओं, सामंतीय औपनिवेशिकीय शोषण के खिलाफ उठने वाली आवाज, भील किसानों की सामंतों द्वारा आर्थिक व सामाजिक लूट, तथा संगठित किसान आन्दोलन का जीवंत उल्लेख किया है।

20वीं सदी में राजस्थान में किसान संघर्ष पर शंकर सहाय सक्सेना की पुस्तक बिजोलिया किसान आन्दोलन का इतिहास, राजस्थान राज्य अभिलेखागार (बीकानेर मद्रणालय, बीकानेर), 1972, में तत्कालीन परिस्थितियों में विजय सिंह पथिक के नेतृत्व में किसानों की अभूतपूर्व जाग्रति, संगठन शक्ति का उल्लेख है। साथ ही पुस्तक इस विषय पर प्रकाश डालती है कि किस प्रकार में महात्मा गाँधी द्वारा अहसयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व मेवाड़ में किसान जो ब्रिटिश मेवाड़ रियासत और बिजोलिया राव की तिहरी दासता में पिस रहे थे उस भयंकर शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध उठ खड़े हुए। पेमाराम रचित, एग्रेरियन मुवमेंट इन राजस्थान, 1913-1947 ए. डी., पंचशील प्रकाशन, जयपुर 1986, सम्पूर्ण राजस्थान में बिजोलिया के किसान संघर्ष से, मेवाड़ के अन्य क्षेत्रों, भील आन्दोलनों, सिरोही किसान आन्दोलन, जयपुर के जाट-किसानों का संघर्ष, मारवाड़, अलवर, बीकानेर में किसान संघर्ष का विस्तृत अन्वेषण किया गया है।

इसी प्रकार सामाजिक इतिहास लेखन के अन्य विषयों-स्वतन्त्रता संघर्ष में आम लोगों की भागीदारी आदि पर भी राजस्थान के इतिहासकारों ने काम किया है। यद्यपि यहां राजस्थान के इतिहास की सामाजिक इतिहास लेखन की धारा के सभी विषयों पर हुए लेखन का अन्वेषण नहीं दिया जा सका है, तथापि, सामाजिक इतिहासलेखन के उपर्युक्त कार्यों से यह सामने आया है कि इस दिशा में राजस्थान के सभी इतिहासकारों वाम, दक्षिण व मध्यपंथियों ने काम किया है।

उक्त शोध पत्र को निष्कर्ष तक ले जाते हुए यह बताना होगा कि राजस्थान में सामाजिक इतिहास लेखन के तहत 'लोगों का इतिहास', 'महिलाओं व दलितों का इतिहास' लिखा जाना महज इतिहास लिखने की विभिन्न धाराओं में एक धारा को जोड़ना नहीं रहा है। या यूँ कहें कि इस प्रकार के इतिहास लेखन का ध्येय सिर्फ इतिहास लेखन में कुछ नए विषय शामिल करना ही नहीं रहा है। बल्कि इससे देश की आजादी से पूर्व व यहां तक कि देश की आजादी के बाद के कुछ दशकों तक इतिहास लेखन की जो परम्परा रही उसको तोड़ते हुए लोगों का इतिहास लेखन को नीचे तक पहुँचाया गया है। अर्थात् इतिहास के नायक आम लोग बने हैं। परन्तु, इतिहास लेखन की यह परम्परा भी इस बात की माँग करती है कि हमें इतिहास लेखन के अपने तरीकों की तरफ और अधिक ध्यान देना होगा, अन्यथा हम आज के इतिहास के शिल्प के मार्ग से भटक जाएंगे और इसके लिए हमें इतिहास लिखते समय यह भी ध्यान में रखना होगा कि 'गरीबों का इतिहास', 'गरीब इतिहास' नहीं होना चाहिए। सामाजिक इतिहास लेखन में चूँकि 'आम लोग' शामिल हैं अतः उन लोगों का इतिहास लिखने के लिए यह इंतजार नहीं होना चाहिए कि एक इतिहासकार को उनके (लोगों के) विषय में कोई विशेष निबंध साहित्य (monographic literature) मिलेगा तभी आम लोगों (किसानों, श्रमिकों, महिलाओं, दलितों इत्यादि) का इतिहास लिखना आरम्भ करेंगे। तब तो यह कार्य मुश्किल है। इसमें मेरा विनम्र प्रयास है कि स्थानीय स्तर पर मौखिक ऐतिहासिक स्रोतों यथा-बातों, लोकगीतों, कहावतों, परम्परागत रीति-रिवाजों का उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के साथ उनकी सत्यता का परीक्षण करके उन्हें सामाजिक इतिहास लेखन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. सब्यासाची भट्टाचार्य, 'हिस्ट्री फ़ोरम बिलो', सोशल साईनस्टिस्ट, वॉल्यूम 11, नं. 4 (अप्रैल 1983) पृ. 5
2. एंजेल क्यूनटरो रिबरा, वर्कर्स सटर्गल इन रिकों, ए डाक्यूमेंट्री स्टडी, न्यूयॉर्क, 1976, पृ. 6-7
3. ईसा जी. शिवाजी, क्लास सटर्गल इन तंजानिया, न्यूयॉर्क, 1976, पृ. 55

4. सब्यसाची भट्टाचार्य, पूर्व उद्धरित, पृ. 5
5. पीटर बर्क, 'पीपल्स हिस्ट्री एंड टोटल हिस्ट्री, इन राफेल समयूल (एडिटिड) पीपल्स हिस्ट्री एंड सोसलिस्ट थियरी, लंदन, 1981, पृ. 4
6. फबियन सोसलिस्ट - 4 जनवरी 1884 को लंदन, इंग्लैण्ड में स्थापित फबियन सोसायटी के सदस्य। इस सोसायटी के उद्देश्य गैर-क्रान्तिकारी (non-revolutionary) तरीकों से समाजवाद के सिद्धान्तों-आर्थिक समानता व राजनैतिक समानता लाना; सामूहिक प्रयासों की महत्ता; सहिष्णुता, सक्रिय लोकतन्त्र; स्वतन्त्रता; मानव अधिकार, इत्यादि को स्थापित करना था।
7. सुमित सरकार, राईटिंग सोशल हिस्ट्री, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, नई दिल्ली 1997, पृ. 53
8. वही, पृ. 53-54
9. ई. श्रीधरन, ए टेक्स्ट बुक ऑफ हिस्टोरियोग्राफी 500 बी.सी. टु ए.डी. 2000, ओरियन्ट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 2000 (रिप्रिन्टीज इन 2005-2006), पृ. 204-05
10. वही, पृ. 208
11. ईडवर्ड थॉम्पसन के पुत्र थे, जिन्होंने आजीवन भारतीय उदारवादी राष्ट्रवादियों के साथ सम्बन्ध बनाकर रखे। साथ ही उन्होंने 1857 के महासंग्राम के दौरान अंग्रेजों के अत्याचारों को उजागर करने हेतु एक पुस्तक लिखी थी। ई.पी. थॉम्पसन भारतीय मामलों में अत्यधिक रुचि रखते थे।
12. ई.पी. थॉम्पसन, 'फॉकलोर, एनथरोपोलोजी एंड सोशल हिस्ट्री', इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू (आई.एच.आर.) III, 2, 1977
13. सब्यसाची भट्टाचार्य, पूर्व उद्धरित, पृ. 5

झुन्झुनू जिले के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र व हवेलियाँ

डॉ. सजीव कुमार

सांस्कृतिक समृद्धता की दृष्टि से झुन्झुनू जिला अति सौभाग्यशाली है, इस जिले में थोड़े-थोड़े अन्तराल पर लोकतीर्थ, सांस्कृतिक केन्द्र एवं धार्मिक स्थल अवस्थित हैं जो बरबस ही पर्यटकों तथा स्थानीय लोगो को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इन स्थलों का विकास कर पर्यटन उद्योग को बढ़ावा दिया जा सकता है। झुन्झुनू जिले में लोकतीर्थ लोहार्गल, किरोड़ी तीर्थ, मनसा माता का शक्तिपीठ, षिमला गाँव के पास लोकतीर्थ ढोसी, नरहड़ के पीरजी की दरगाह, नवलगढ़ में स्थित रामदेव का मन्दिर, टीबाबसई गाँव (खेतड़ी) में स्थित बाबा रामेश्वरदास का आश्रम, रामकृष्ण मिशन मन्दिर खेतड़ी, झुन्झुनू स्थित रानी सती मंदिर, अलसीसर, नवलगढ़, मण्डावा की कलात्मक हवेलियाँ, महनसर की पोद्दारो की हवेली, मण्डावा की ऑपन आर्ट गैलरी, गांगियासर स्थित राय माता का मंदिर, सिंघाना स्थित गोपीनाथ जी का मंदिर, खेतड़ी महल, खेतड़ी का पन्नालाल शाह का तालाब, ढोसी का च्यवन ऋषि का आश्रम व शिवकुण्ड, शिमला में स्थित शेरशाह सूरी के खुदवाये हुऐ कुऐ, अजीतसागर बांध, भोड़की में जमवाय माता का मन्दिर व शिलालेख, माखर का महामाया मन्दिर, इसके अलावा अनेक ठीकानो में स्थित छोटे बड़े किलो से झुन्झुनू जिला भरा पड़ा है अगर इनका जिर्णोद्धार करवाया जाये तथा अच्छी सड़कों से इनको जोड़ दिया जाये तो झुन्झुनू जिला एक पर्यटन नगरी के रूप में विकसित हो सकता है। यहाँ की हवेलियाँ व किलों की स्थापना नये शोध के मार्ग खोल सकती है तथा शोधार्थियों को एक नये कलेवर में शोध के नये विकल्प मिल सकते हैं। यहाँ झुन्झुनू जिले के सभी किले, हवेलियों एवं तीर्थ स्थलो का वर्णन तो नहीं किया जा सकता परन्तु कुछ महत्वपूर्ण तीर्थ स्थलों का विवरण दिया जाता है।

लोहार्गल शेखावाटी का लोकतीर्थ है यह नवलगढ़ तहसील के गोल्याणा नामक एक छोटे से गांव में पहाड़ों के मध्य स्थित है। स्कन्दपुराण और वराहपुराण में लोहार्गल के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। बताया जाता है, कि महर्षि परशुराम ने यहाँ एक वैष्णव यज्ञ करवाया था, किंवदंती है कि महाभारत के युद्ध के बाद पाण्डव इस स्थान पर आये थे जहाँ उनके लोहे के अस्त्र गल गये थे अतः इस स्थान का नाम 'लोहार्गल पड़ा' लोहार्गल में जाने वाले यात्री ब्रह्म कुण्ड नामक पवित्र स्थान पर स्नान करते हैं, इसकी महिमा 'लोहार्गल महात्म्य' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ में गायी गयी है, इस कुण्ड के ऊपर एक बहुत प्राचीन वृक्ष है यहाँ मालकेतु मंदिर एवं बनखण्डी आश्रम ऊँची पहाड़ी

पर स्थित है यहाँ चार सम्प्रदायों के मंदिर व कुण्ड स्थित है जैसे खारवीजी का मंदिर, सूर्य मंदिर, सूर्य कुण्ड और वशिष्ठ कुण्ड आदि प्राचीन स्थान है।³

प्रतिवर्ष भादवा बदी अमावस्या को यहाँ विशाल मेला लगता है। यहाँ मेलाथी मालखेत व वनखण्डी की पर्वत शृंखलाओं को अपने जयघोष से गुंजा देते हैं भाद्रपद बदी ग्यारस से अमावस्या तक 24 कोस की फेरी लगती है जिसमें शाकंभरी, किरोड़ी धाम, खोह कुण्ड, नाग कुण्ड, रघुनाथ गढ, नीमड़ी की घाटी, कालाचारी, कोट व शोभावती के मंदिर व स्थल आते हैं।⁴ लोहार्गल को तीर्थराज की उपाधि मिली हुयी है। यह मंदिरों का संगम स्थल है विभिन्न जातियो एवं समुदायो के मंदिर है। सूर्य कुण्ड प्रसिद्ध कुण्ड है, जिसमें यात्री स्नान करते है, इसके जल में पूर्वजो की अस्थियाँ गल जाती है।⁵ लोहार्गल में साठ मंदिर है तथा पांच गंगाये बहती है। जिन्हें पंचगंगा कहते हैं चारों ओर आम्रकुंजों की यहाँ बहार है।⁶ यहाँ की कैरिया बड़ी प्रसिद्ध है, ये कोलकता, मुम्बई तक जाती है यहां बिड़लो की प्रसिद्ध धर्मशाला है।

किरोड़ी का रम्य तीर्थ स्थान झुन्झुनू से 70 किमी दूर चिराना गांव के पास पहाड़ों में स्थित है यहा पर गिरधारी जी का कलात्मक मंदिर है, जिसे राव टोमरमल के मन्त्री मोहनशाह जी ने बनवाया था। किरोड़ी गर्म व शीतल जल कुण्डों के लिए प्रसिद्ध है जहाँ लोग स्नान करने आते है।⁷

उदयपुरवाटी के पास अरावली की पहाड़ियों के मध्य स्थित भगवती मनसा माता का 250 वर्ष पुराना पीठ स्थापित है यह देवी का कलात्मक मंदिर एक चट्टान के सहारे बना हुआ है। इसमें मनसा माता की स्तनाकार मूर्ति है माता के मंदिर के पास भैरव की मूर्ति प्रतिष्ठित है, मन्दिर के सामने तीन जलकुण्ड है।⁸

लोकतीर्थ ढोसी शिमला से 2 किलोमीटर दूर ढोसी की मनोहर पहाड़ियों में स्थित है यह तीर्थ द्वापर युग से सम्बन्धित माना जाता है। यहाँ सोमोवती अमावस्या को मेला भरता है, यहाँ भगवान शिव व गोपाल जी के भव्य एवं कलात्मक मंदिर है सर्वाधिक ऊँची चोटी पर मनसा देवी का मंदिर है, च्वयन ऋषि का मन्दिर शिल्पकला की उत्कृष्टता का प्रतिनिधि है यहाँ पाण्डव भी कुछ समय रहे थे।⁹

ढोसी का पहाड़ व गांव ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित है। यहाँ पठानों का शासन था। बीकानेर का राव बीका पठानों से यहाँ पराजित हुआ। इस पर उसके पुत्र लुणकरण ने पठानों पर पुनः चढाई की जिसमें लुणकरण अपने दो पुत्रों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ, पठानों की विजय हुई।¹⁰

नरहड शेखावाटी का प्राचीन स्थल है यहाँ पीरजी की दरगाह बनी हुई है। जिसमें पूजा इबादत करने सभी जातियों के लोग आते हैं। जयपुर-पिलानी मार्ग पर स्थित नरहड भारत का एक गौरवशाली स्थान है। यहाँ हर वर्ष श्री कृष्ण जन्माष्टमी पर शक्कर पीर

बाबा का मेला लगता है। यहाँ पीर बाबा की भव्य एवं स्थापत्य कला की उत्कृष्ट शैली में निर्मित दरगाह है। यहाँ हिन्दू व मुसलमान दोनों पीर जी को श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। यहाँ पर अनेक मनोरोगी आते हैं तथा स्वस्थ होकर जाते हैं।¹¹ 1318 ई. में जिनचन्द्रसूरि के नेतृत्व में जो दल हस्तिनापुर जा रहा था वह नरहड़ तीर्थ में ठहरा था और उसने पार्श्वनाथ की पूजा की थी।¹² युनुसखाँ नागड पठान नरहड़ के चौहानों से हार गये थे, तो रात को पीर जी स्वप्न में आये तथा दक्षिण से नरहड़ पर आक्रमण करने को कहा, युनुस खाँ ने ऐसा ही किया तथा नरहड़ पर पठानों का अधिकार हो गया।¹³ पठानों ने ही पीरजी की दरगाह बनवाई।¹⁴ दरगाह के तीन दरवाजे हैं जो क्रमशः बुलन्द दरवाजा, बंसती दरवाजा तथा बगांली दरवाजा कहलाते हैं। इनके बाद मजार शरीफ एवं मस्जिद आती है। मजार का गुम्बद चिकनी मिट्टी से बना है इनमें पत्थर का प्रयोग नहीं किया गया है।¹⁵ नरहड़ के पीर शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के दीवान थे। फरीदुद्दीन शक्करगंज उनका नाम था। हजरत शक्करवार यहाँ 13वीं सदी में आये थे।¹⁶ शक्करवार के पुत्र हमजा भी यहाँ पीर हुये। आज भी स्त्रियाँ मेले के अवसर पर यह गीत गाती है। 'आप हो बागड़ के राजा पीर शक्करवार हो'। नरहड़ की दरगाह साम्प्रदायिक सौमनस्य का प्रतीक है। कहते हैं कि पीरजी की दरगाह के बुलन्द दरवाजे के किवाड़ नवलसिंह शेखावत ने बनवाये थे।

नवलगढ़ में लोक देवता रामदेवजी का भव्य मंदिर है लोकदेवता का मंदिर नवलगढ़ के ठाकुर नवलसिंह ने बनवाया था। इसके पीछे दिलचस्प कहानी है कि एक बार बादशाह ने नवलसिंह को दिल्ली में कैद कर लिया था, तो मारवाड़ की उसकी ठकुराईन ने बाबा रामदेव से मुक्ति की प्रार्थना की, बाबा के प्रभाव से कारागार के द्वार खुल गये और वह तैयार खड़े घोड़े पर चढ़कर सकुशल नवलगढ़ चले आये यह घटना विक्रम संवत् 1831 के माघ मास की है।¹⁷ यहाँ प्रतिवर्ष भादवा शुक्ल दशमी को विशाल मेला भरता है। मंदिर के पास केसरिया परिवार की विशाल हवेली है।

टीबा बसई गांव (खेतड़ी से 30 किमी दूर) में हरियाणा राजस्थान सीमा पर बाबा रामेश्वरदास का मंदिर आज एक लोक तीर्थ बन गया है। यहाँ की संगमर की विशाल आदमकद मूर्तियाँ सजीव प्रतीत होती हैं। बाबा रामेश्वरदास ने ढोसी की गद्दी को त्यागकर स्वतन्त्र जीवन जीया और इस सुन्दर आश्रम का निर्माण करवाया। आज यह पर्यटकों का आकर्षण स्थल बना हुआ है।¹⁸

खेतड़ी में श्री रामकृष्ण मिशन का विशाल मंदिर बना हुआ है। खेतड़ी के तत्कालीन राजा अजीतसिंह एवं स्वामी विवेकानन्द में प्रगाढ़ मित्रता थी। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कहा था कि भारत की उन्नति के लिए आज मैंने जो कुछ किया है यदि मुझे अजीतसिंह नहीं मिले होते तो शायद नही कर पाता।¹⁹ जब विवेकानन्दजी

खेतड़ी में दूसरी बार आये तो खेतड़ी महाराज के पुत्र जन्मोत्सव पर राजनर्तकी मैना बाई नृत्य कर रही थी, जब विवेकानन्दजी वहाँ से उठकर जाने लगे तो मैनाबाई ने विवेकानन्द को हाथ पकड़ कर रोका तथा एक सुरदास जी का भजन “प्रभुजी मारे अवगुण चित न धरो” बड़ी तन्मयता से गाया कि विवेकानन्द जी ने आकर मैनाबाई के चरणों में नमन कर कहा माता मुझसे भूल हुई, मुझे आज ज्ञान हुआ है।²⁰

विवेकानन्द जी को नाम व पोशाक खेतड़ी महाराज अजीतसिंह ने ही दिया, इससे पहले विवेकानन्द जी का नाम विविदिशानंद था। जो बोलचाल में थोड़ा कठिन था। स्वामी विवेकानन्द की शिकागो धर्म सम्मेलन की सम्पूर्ण यात्रा व्यय की व्यवस्था खेतड़ी महाराज ने ही की थी। अजीतसिंह स्वामीजी की माता भूवन मोहिनी को प्रतिमाह खर्च के लिए एक सौ रुपये भिजवाते थे।²¹ आज खेतड़ी में प्रतिवर्ष 12 दिसम्बर को विरासत दिवस समारोह के रूप में मनाया जाता है।

झुन्झुनू में नवलगढ़ के पास मुकुन्दगढ़ की स्थापना 1869 में रावल मुकुन्दसिंह से चौथे पाने के रूप में की थी। पहले इस गांव का नाम साहबसर था। यहाँ मुकुन्दसिंह ने शेखावाटी के 12वें गढ़ का निर्माण किया था। यह किला शेखावाटी की सांस्कृतिक विरासत का जीता जागता नमूना है।²² यहाँ का गोपीनाथ जी का मंदिर कस्बे का मुख्य आकर्षण है। मुकुन्दगढ़ की हवेलियां शेखावाटी के अतीतकालीन वास्तुकला की गाथा कह रही है। कई हवेलियों में जर्मनी और इंग्लैण्ड से आयातित सिंबेटिक रंग के स्थान पर फ्रेस्को रंग का उपयोग किया गया है, फ्रेस्को पेंटिंग प्राचीन भारतीय कला है शेखावाटी के फ्रेस्को की कही भी बराबरी नहीं है। कस्बे में जोखीराम सर्राफ की हवेली, गनेडीवालो, नांगलिया, कानोडियो व शाह आदि परिवारों द्वारा निर्मित प्राचीन हवेलिया विदेशी पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है यहाँ का चार मीनारी कुआ भी भव्य है।²³

रेतीले धोरों सी बंजर जमीन से धिरे संत फकीरों की तपो भूमि मलसीसर झुन्झुनू से 27 किमी उत्तर में स्थित है। यहाँ का कई एकड़ में फैला मलसीसर फोर्ट, कलात्मक जोहडबावड़ी, पुरानी हवेलियों के भित्ति चित्र, सर्व समाज की आस्था का प्रतीक बाबा प्रेमगिरी महाराज का मठ, हजरत खान पीर बाबा की दरगाह, शहीद कुवंर गजराज सिंह निर्वाण स्मारक स्थल की छतरिया पर्यटकों को आकर्षित कर रही है।²⁴

झुन्झुनू जिले का मण्डावा शहर ऐतिहासिक व पुरातात्विक महत्व के भवन एवं स्थलों से भरा पड़ा है। यहाँ स्थित राजस्थान हैण्डीक्राट में पौराणिक मूर्तियाँ एवं कलात्मक घरेलू उपयोग की वस्तुओं का संग्रह है। मण्डावा का किला, रेत के धोरे, पारदर्शी शिवलिंग, बहुत से महाजनों द्वारा निर्मित अनेकों हवेलियाँ, रघुनाथ का मंदिर, गोयनका छतरी यहाँ के पर्यटकों की मन्त्रमुग्ध करने वाले स्थल है। नगर की हवेलियाँ व

उसके सुन्दर भित्तिचित्र प्रसिद्ध है। गोयनका सेटों की तीन, चौखनियों की दो, लडियों व सर्राफों की दो-दो हरलालका की एक व मुसदियों की एक, खेमनियों की दो, भागचन्दकों की दो तथा मण्डावा के दरवाजे पर सौथलियों की भव्य एवं सुन्दर हवेलियां प्रसिद्ध है। मण्डावा में कई विशाल एवं कलात्मक छतरियाँ खड़ी है। अलखियों का जोहाड़ा नगर का मुख्य तालाब है। टीले पर बना हनुमान जी मंदिर बड़ा प्रसिद्ध है।²⁵ शेखावाटी में मण्डावा सर्वाधिक विदेशी पर्यटकों का आकर्षित करने वाला स्थल है।

नवलगढ़ का दुर्ग, रूपनिवास पैलेस, आठ हवेली, पौदार, पाटोदियो, चोखानी, सेकसरिया व अन्य परिवारों की हवेलियाँ में भित्तिचित्रों का आकर्षण तो है ही साथ ही लकड़ी के दरवाजों की बारीक जालियाँ भी जादुई काष्ठ कला का दिग्दर्शन कराती है।²⁶ शहर का गोपीनाथ जी मंदिर व रघुनाथ जी के मंदिर 200 वर्ष पुराने हैं, कल्याण जी के मंदिर में आकर्षक भित्ति चित्र है।

झुन्झुनू से 45 किमी दूर महनसर कस्बा पर्यटन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है यहाँ का किला, रघुनाथ मंदिर, तोलाराम मस्करा का महफिल खाना, पौदार हवेली, सहजराम पौदार की छतरी व पौदार तालाब मुख्य आकर्षण है। यहाँ के पौदारों की सोने की दूकान पर्यटकों के प्रमुख आकर्षण का केन्द्र है। दूकान के भित्ति चित्रों पर स्वर्णपॉलिश होने के कारण यह सोने की दूकान कहलाती है। दूकान में राम व कृष्ण की लीलाओं का सुन्दर चित्रण है। इसी तरह तुलाराम का कमरा अपने स्वर्णजड़ित भित्तिचित्रों के लिए विख्यात था। शिवदत्त राय मस्करा की हवेली के एक कक्ष में अंग्रेजी समय के 36 दुर्लभ चित्र और चार परम्परागत दर्पण हैं। झरोखों वाले इस कक्ष के छः द्वार हैं। सारा परिवेश बड़ा आकर्षक एवं रम्य है।²⁷

इस प्रकार झुन्झुनू के नगर व कस्बे कला एवं साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पर्यटकों के लिए इन नगर कस्बों में विपूल सम्भावनाएं हैं। इनको पर्यटन की दृष्टि से विकसित किया जा सकता है। इतिहास के छात्रों के लिए नवीन शोध के लिए अनेक विकल्प खुलते हैं।

संदर्भ

1. लोकतीर्थ लोहार्गल, जयनारायण सोनी पृ. 03
2. शेखावाटी वैभव, शेखावाटी इतिहास शोध संस्थान, शिमला, झुन्झुनू 1993 प्रकाश टी.सी. पृ. 118
3. वही
4. शेखावाटी प्रकाश,पं. रामचन्द्र भगवतीदत्त शास्त्री, अध्याय-5, पृ. 149
5. लोकतीर्थ लोहार्गल पृ. 42
6. शेखावाटी कला और समाज, कुटीर प्रकाशन मण्डावा, झुन्झुनू 1982 ई रतनलाल

- मिश्र, पृ. 14
7. प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर।
 8. शेखावाटी वैभव, शेखावाटी इतिहास शोध संस्थान, शिमला, झुन्झुनू 1993 प्रकाश टी.सी. पृ.124
 9. प्रत्यक्ष दर्शन एवं वहाँ के साधुओं से सुनकर
 10. क्यामखाँ रासो, राजस्थान पुरातत्व मंदिर जयपुर 1973 ई.मुनि, जिनविजय, पद्य पृ. 499 पृ. 22
 11. बीकानेर राज्य का इतिहास-गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, पृ. 118 प्रथम खण्ड
 12. राजस्थान जिला दर्शन, झुन्झुनू पृ. 6
 13. खरतरगच्छ पट्टावली, पृ. 68
 14. शेखावाटी का राजनीतिक इतिहास, ठाकुर मल्लुसिंह स्मृति ग्रन्थाकार कालीपहाड़ी झुन्झुनू, 1988, शेखावत रघुनाथसिंह, पृ. 42
 15. एन्सियन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान पृ. 325
 16. शेखावाटी, जयपुर, राजस्थान टयूरिज्म पृ 159
 17. एन्सियन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान दिल्ली 1991 मोती लाल बनारसी दास, जैन कैलाशचन्द्र, पृ. 325
 18. नवलगढ का संक्षिप्त इतिहास पंचपाना कमेटी झुन्झुनू 1984 शेखावत सूरजनसिंह, पृ. 106
 19. प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर।
 20. रामकृष्ण मिशन आश्रम के एक अभिलेख।
 21. राजस्थान पत्रिका अंक, रविवार, 30 अक्टूबर 2016
 22. वही
 23. वही
 24. प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर।
 25. वही
 26. मण्डावा नगर का इतिहास कला समाज और संस्कृति नगर विकास संस्थान मण्डावा 1990, रतनलाल मिश्र पृ. 35-37
 27. प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर

जयपुर में राजपूत ठिकानेदारों की हवेलियाँ

प्रो. दिग्विजय भटनागर

जयपुर नगर ढूँढ़ाड़ क्षेत्र के राजपूताना के एक बड़े कछवाहा राज्य की राजधानी थी, जिसमें जयपुर, सीकर, झुन्झुनु, दौसा, सवाई-माधोपुर, मालपुरा, निबाई, करौली जिले के टोडाभीम, हिण्डौन नदीती के क्षेत्र शामिल थे। कछवाहा वंश के दूल्हाराय द्वारा 966-67 ई. में दौसा पर अधिकार करने के पश्चात् उनके पुत्र काकिल देव ने आमेर के विणा शासक को अपदस्थ करके आमेर में कच्छवा राज्य की स्थापना की।¹ 1727 ई. में सवाई जयसिंह द्वितीय ने जयनगर की स्थापना की और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। कालान्तर में यह जयपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ।² जयपुर राज्य राजपूताना के उत्तर-पूर्व एवं पूर्व में अक्षांश 25°41' कला से 28°34' कला उत्तर के बीच में तथा देशान्तर 74°41' कला से 77°13' कला पूर्व के मध्य स्थित था।³ इसका क्षेत्रफल 15,579 वर्ग मील था जो राजपूताना का चौथा बड़ा राज्य था।⁴ जयपुर राज्य की उत्तरी सीमा पर बीकानेर, लोहरू एवं पटियाला; पश्चिमी सीमा पर बीकानेर, जोधपुर, किशनगढ़ व अजमेर; दक्षिणी सीमा पर उदयपुर, बूंदी, टोंक, कोटा और ग्वालियर तथा पूर्वी सीमा पर करौली, भरतपुर और अलवर राज्य स्थित थे।⁵

राजपूत स्थापत्य कला का उद्भव भारत में सातवीं सदी के प्रारम्भ में ही हो गया था और यह 19वीं सदी के मध्य तक भारत में विकसित या पल्लवित होती रही।⁶ राजपूत शासकों द्वारा शासित प्रदेशों में राजपूत कला का विकास राजपूताना, मालवा और गुजरात में हुआ। नगर, दुर्ग, मंदिर, राजप्रसाद, हवेली राजपूत स्थापत्य कला के बेजोड़ विरासत के रूप में आज भी विद्यमान है। नगर की स्थापना के समय उसकी बसावट में एक रूपता का विशेष ध्यान रखा गया, समतल और चौरस भूखण्ड पर शतरंज की चौपड़ के आधार पर निर्मित कराया गया। एक चौपड़ पर जहाँ राजमहल और उससे सम्बन्धित भवनों का निर्माण कराया गया वहीं शेष चौपड़ो पर नगरवासियों को भूमि आवंटित की गई।⁷ साथ ही बाहर से बड़े-बड़े व्यापारियों को आमंत्रित कर उनके लिए भव्य हवेलियों का निर्माण करवाया गया तथा अग्रिम राशि की प्रदान की गई। परकोटे⁸ के भीतर धर्म और जाति को ध्यान में रखते हुए नौ चौकड़ियों की रचना की गई। इन चौकड़ियों के प्रमुख मार्गों पर जैन व्यापारियों एवं ब्राह्मण धर्म के लोगों को विशेष स्थान दिया गया तथा उनके साथ राजा के प्रमुख सलाहकारों एवं मंत्रियों को भी बसाया गया। किन्तु इन मंत्रियों में हमें शेखावत राजपूत वर्ग के प्रमुख जागीरदारों की हवेलियाँ कोटे के भीतर

दिखाई नहीं पड़ती है। उन्हें परकोटे के बाहर उनके निवास स्थान हेतु भूमियाँ प्रदान की गईं और इन जमींदारों द्वारा भव्य हवेलियों का निर्माण करवाया गया।

‘हवेली’⁹ से तात्पर्य पक्का बड़ा मकान अथवा भवन जिसमें सुविधायुक्त कई कमरे, उनसे जुड़े बरामदा, दरीखाना, बैठक, गवाक्ष, एक अथवा अधिक मंजिलों से युक्त इमारत हैं। मध्यकालीन राजपूताने में राजा के रहने का बड़ा भवन राजमहल होता तथा उसके दरबारी सामन्ती सरदारों, सेठ-साहुकारों एवं विशिष्ट जनों के निजी आवास हवेली कहलाते थे।¹⁰ हवेली का अर्थ अस्थायी निवास भी होता है अर्थात् मुख्य निवास या मुख्यालय से अन्यत्र अस्थायी निवास हेतु बनी इमारत ‘हवेली’ कहलाती थी। सामन्त, सरदार अथवा ठिकानेदारों के अपने-अपने ठिकानों में बने भवन को हवेली न कहकर ‘रावला’ या ‘महल’ या ‘राजमहल’ कहा जाता था। परन्तु इन्हीं ठिकानेदारों, समान्त सरदारों के भवन राज्य की राजधानी में बने होते थे, इन्हें हवेली ही कहा जाता था। यहाँ सम्बन्धित सामन्त सरदार, महाराजा या महाराणा की चाकरी, हाजरी अथवा नौकरी देने के समय आकर ठहरते थे। पुरा अभिलेखीय साक्ष्यों में सरदारों के आवास की जगह को ‘हवेली’ कहा जाता था। केवल विशिष्ट जनों के आवास की द्योतक हवेली जनसामान्य का कोई भी व्यक्ति अपने निजी आवास को हवेली नाम से सम्बन्धित नहीं कर सकता था। मध्यकालीन हवेलियों का स्वरूप मात्र आवासीय भवन ना होकर सम्बन्धित ठिकाने एवं विभाग के राजकीय कार्यालय हुआ करते थे जहाँ ठिकाने से सम्बन्धित समस्त परवानों, पट्टों एवं आदेशों की प्रतिलिपियाँ एवं अधिकारीगण उपस्थित रहते थे। प्रायः राज्य के सभी ठिकानों से सम्बन्धित हवेलियाँ राजधानी में स्थापित की जाती थी किन्तु जयपुर राज्य में राजपूत जागीरदारों की हवेलियाँ जयपुर नगर की चारदीवारी से बाहर स्थापित की गईं। गीजगढ़ हाऊस, अलसीसर हाऊस, लेन्सर हाऊस, खासा कोठी के ठिकानेदारों को जयपुर की चारदीवारी में हवेली या आवास बनाने की अनुमति जयसिंह ने प्रदान नहीं की। इन हवेलियों का आकार, स्वरूप एवं महत्व ठिकानेदारों की दरबार में स्थिति के आधार पर होता था। जयपुर नगर में जयपुर राज्य के जागीरदारों में चौमू के नाथावतों की हवेली, उनियारा हाऊस और डिग्गी पैलेस की हवेलियाँ और बाग, चारदीवारी के अन्दर बनाने की स्वीकृति थी। हवेलियों के निर्माण से पूर्व, जागीरदारों के जयपुर स्थित आवास स्थलों को ‘डेरे’ कहते थे। राज्य द्वारा आमंत्रित होने पर ठिकानेदार अपने हाथी, घोड़े और पैदल सेना, जिसे जमीयत कहते थे, लेकर जयपुर आते और निश्चित स्थानों पर तम्बू लगातार रहते थे। तम्बूओं को ‘डेरे’ कहते थे। वर्तमान में जो सीकर हाऊस, खेतड़ी हाऊस तथा खंडेला हाऊस के नाम से जाने जाते हैं पूर्व में वे सीकर, खेतड़ी, खंडेला के डेरे ही कहलाते थे। डेरा स्थलों पर मकान बन जाने पर हवेली, बंगले और हाऊस आदि नाम पड़ गए।¹¹

जयपुर राज्य के मुगल दरबार से घनिष्ठ सम्बन्धों के फलस्वरूप विशिष्ट दरबारी संस्कृति का प्रार्दुभाव हुआ। जयपुर रियासत के ठिकानेदारों की श्रेणियां बारह कोटड़ी पर आधारित थी।¹² हवेली स्थापत्य कला का विकास 16वीं शताब्दी में मुगलों के आगमन के बाद भारत में तेजी से हुआ विशेषकर राजस्थान में। राजस्थान के 'मारवाड़ी' व्यापारियों ने 18वीं-19वीं शताब्दी में आलीशान और खुबसूरत हवेलियों का निर्माण मारवाड़ और शेखावाटी प्रदेशों में करवाया। राजस्थान के अलावा उत्तर भारत में लगभग पांच शताब्दियों तक (1550 से 1950 ई. तक) गुजरात, दिल्ली, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, सिन्ध (पाक) और लाहौर में हवेली स्थापत्य का विकास हुआ।¹³

'हवेली' शब्द की उत्पत्ति अरबी शब्द 'हवाला' से हुई है जिसका अर्थ है कमरों को अधिक हिस्सों में विभाजित करने वाली पतली दीवार जो कि ईरानी शब्द 'हवले' से मिलता-जुलता है जिसका शाब्दिक अर्थ है, 'किसी स्थान के आस-पास'।¹⁴

मुगलकाल में हवेली से तात्पर्य ऐसे बड़े घर से था जिसमें बड़े खुले आंगन के साथ कमरों तथा अन्य कक्षों का निर्माण किया गया हो। हवेली को परिभाषित करते हुए इले कॉपर तथा परमार जैसे विद्वानों ने लिखा है कि हवेली के भीतर एक आंगन तथा कई बड़े-बड़े कक्ष ही पर्याप्त थे। आंगन चाहे बड़ा हो या छोटा हो, एक हो या दो तीन हों, भवन सादा हो या सुसज्जित, इससे कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता था। यहाँ तक कि आंगन विहीन विशाल भवनों को भी 'हवेली' की संज्ञा दी गई थी। जैसे सराफ हवेली (जयपुर), अलसीसर हवेली, गोलछा हवेली (खींचन)। हवेली की एक उपयुक्त परिभाषा मुम्बई में 1989 ई. में प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम में हवेलियों पर अयोजित प्रदर्शनी में दी गई-

By the way, a Haveli generally means a mansion, But, in totality, it symbolizes generation who articulated their lifestyle that includes, architecture, customs and maners, of course arts, crafts and music. The Haveli's however are the officials residence of Umras princes, thakurs and others such as dhabhai, purohit and sethiji who were given a special status by the Rana. Haveli has official recognition.¹⁵

राजस्थान में हवेली निर्माण का कार्य राजपूत शासकों एवं उनके अधीनस्थ ठाकुरों व जागीरदारों के द्वारा प्रारम्भ किया गया। 16वीं शताब्दी में हवेलियों का निर्माण सामान्य जनों के भवनों से भिन्न दिखाने के उद्देश्य से प्रारम्भ किया। इनके ये भवन सादा और चारों ओर से दुर्गिकृत चार दीवारी से आवृत होते थे। हवेलियों का आकार और उनकी सजावट उसके स्वामियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को इंगित करती थी। समय के साथ ये हवेलियाँ नगरों में सामाजिक-प्रतिष्ठा का एक सूचक बन गयी थी।

राजस्थान में हवेलियों का वर्गीकरण¹⁶ जातियों, व्यवसाय और बनावट के आधार

पर किया जा सकता है :-

1. राजपूतों की हवेली, 2. मारवाड़ी (व्यापारी) की हवेली, 3. ब्राह्मण जाति की हवेली

राजपूत हवेलियों का निर्माण समान, योजनाबद्ध रूप से लम्बे, चौड़े परिसर में बेतरतीव तरीके से फैला कर किया जाता है। इनमें सजावट का अभाव होता है और सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। राजपूत जाति की हवेलियाँ में राजपूत ठाकुरों की हवेली और राजपूत सेना के अधिकारियों की हवेलियाँ अलग-अलग होती थी। राजस्थान में मारवाड़ियों की हवेलियाँ सबसे अधिक हैं, इनमें अलंकरण को विशेष महत्व दिया गया है। विशेषतया शेखावटी क्षेत्र की हवेलियों के भित्ति चित्र प्रसिद्ध हैं। हवेलियों को केवल निवास स्थल (आवास) के रूप में ही नहीं जाना जाता बल्कि इनका विकास उद्यान और मंदिरों के रूप में भी हुआ है। जयपुर के परकोटे में जौहरियों की हवेली तथा घाट की गूणी में स्थित हवेलियाँ इनके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

ठिकाना खाचरियावास¹⁷ की हवेली को छोड़कर शेखावटी के ठाकुरों के हवेली जयपुर नगर परकोटे के चांदपोल दरवाजे के बाहर हैं। शेखावटी लोग शहर पनाह में रहना पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि वे अपने आप को जयपुर के कछवाहा शासकों के बराबर मानते थे तथा साथ ही जयपुर दरबार में अन्य ताजीमी सरदारों के साथ उनकी गद्दी भी नहीं लगायी जाती थी। जयपुर राज्य शेखावटी को 'इलाका गैर' मानता था। शेखावतों की राजनीति स्थिति जयपुर राज्य के राजावत, नाथावत, खंगोरोत और नरूका जागीरदारों से भिन्न थी। जयपुर ही नहीं, राजस्थान के अन्य रियासतों में भी सीकर सबसे बड़ा ठिकाना था। सीकर के स्वामी रावराजा कहलाते थे। शेखावटी क्षेत्र के रायसल के जागीरदार को कछवाहा शासकों के बराबर मुगल दरबार में स्थान प्राप्त था, साथ ही यह अकबर के विश्वासपात्र में से एक था। सीकर के अधिकार क्षेत्र में 555 गांव थे। राव शिवसिंह के शासन काल (वि.स. 1778-1805) के समय में 1748 ई. में राव मल्हारराव होल्कर के सेनापति गंगाधर ने जयपुर नगर पर आक्रमण किया तब ईश्वर सिंह की ओर से लड़ते हुए राव शिवसिंह घायल होकर वीरगति को प्राप्त हुए। राव शिवसिंह के प्रपौत्र रावराजा लक्ष्मणसिंह, सीकर में वि.स. 1869 में जयपुर के महाराजा सवाई जगतसिंह से विनय कर 100 (एक सौ) बीघा भूमि प्राप्त की।¹⁸ चांदपोल दरवाजे से बाहर पश्चिमी में वर्तमान 'सीकर हाऊस' रावराजा लक्ष्मण सिंह और उनसे उत्तराधिकारियों द्वारा बनवाया गया। सीकर हाऊस की भूमि एक सौ बीघा क्षेत्र में थी। यह भूमि जयपुर राज्य की ओर से निःशुल्क पुरस्कार स्वरूप, प्राप्त किया था। चांदपोल के बाहर जहाँ शेखावतवाटी के जागीरदारों सीकर, खेतड़ी, विसाऊ, दांता, केड़, कुहाड़ू, परसरापुरा, खड़, खंडेला, श्यामगढ़, मंडाव, (दोनों हाऊस) नवलगढ़, अलसीसर,

खंडेला आदि के हाऊस निर्मित है। वहां पहले बड़ोलिया नामक गांव आबाद था। सीकर हाऊस के क्षेत्र में तीन बड़ी और एक छोटी छत्री है। ये चारों छत्रियां अलग-अलग स्थानों पर है। ये चारों छत्रियाँ बालानंद जी के प्रसिद्ध मंदिर के महंतों की है। राव शिवसिंह की छत्री जोरावरसिंह के दरवाजे के बाहर वर्तमान चौमू हाऊस के पार्श्व में है। इससे प्रतीत होता है कि रावशिवसिंह की छत्री का निर्माण रावराजा लक्ष्मण सिंह ने नहीं करवाया था बल्कि राव चांदसिंह या राव समर्थ सिंह के जीवन काल में ही बनी होगी।

चौमू हाऊस - ठाकुर लक्ष्मण सिंह सामोद के रूपावत ठिकाने के थे, जो ताजीमी सरदार और जयपुर राज्य का प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त ही हुए थे। चौमू हाऊस का निर्माण करवाया गया यह 300 साल पुराना हैं। इनके चौमू हाऊस के साथ-साथ परकोटे के भीतर चौकड़ी में भी हवेली थी। यह महाराजा के विश्वस्त प्रिय ताजीमी सरदारों में से एक थे।

नायला हाऊस - यह मोतीडूंगरी रोड़ पर स्थित है। जयपुर के भूतपूर्व प्रधानमंत्री फतेहसिंह के द्वारा इसे बनवाया गया है। इनकी जागीर जयपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित थी, जहाँ इनके द्वारा नायला नामक एक छोटा सा कस्बा भी बसाया गया था, जो आज 'किलंटन सिटी' के नाम से प्रसिद्ध है। जयपुर राज्य के प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् जयपुर दरबार के द्वारा इन्हें परकोटे के बाहर सांगानेरी गेट से बाहर निकलते ही जमीन दी गयी है, जहाँ इनके द्वारा जयपुर शहर में निवास के दौरान आवास की व्यवस्था की गयी। यहाँ स्थित उनका निवास एक बड़े बाग के बीचों-बीच स्थित है, जिसे वर्तमान में नायला हाऊस के नाम से जाना जाता है।¹⁹ वर्तमान में यह एक हैरिटेज होटल एवं रिसॉर्ट के रूप में संचालित है।

गीजगढ़ हाऊस - यह जयपुर मे हवा सडक, सामुदायिक भवन से सोडाला की ओर जाने वाली रोड़ पर स्थित है। जोधपुर रिसायत के ठाकुर श्यामसिंह ने 1774 ई. में गीजगढ़ में अपना आधिपत्य स्थापित किया ये जोधपुर की चम्पावत राठौड़ शाखा से सम्बन्धित थे और इसके पश्चात यह जयपुर के दरबार में नियुक्त हुए और यह भी एक बहुत बड़ी राजपूत हवेली थी, जो कि उद्यान के बीचों-बीच स्थित थी, परंतु लगभग 2007-8 में इसे ध्वस्त कर इसके स्थान पर यहाँ बहुमंजिला इमारतों का निर्माण कर दिया गया है। इसे ताजीमी सरदार ठाकुर कानसिंह (1878-1901) के द्वारा बनवाया गया था।

अलसीसर हाऊस - यह संसारा चन्द्र रोड़, चांदपोल से एम.आई रोड़ की तरफ आने पर स्थित है। इसका निर्माण 1892 ई. में किया है, यह अलसीसर राज परिवार के लोगों द्वारा जयपुर आने पर उनके छुट्टियाँ बिताने का स्थान था।

उनियारा हाऊस - राव दलपतसिंह उनियारा के द्वारा बनवाया गया। यह मुगलों का सामन्तीराज था। जिसे 1727 ई. में जयपुर राज्य के अधीन होना पड़ा। 1865-1866-

1867 तक यह जयपुर के सीकर, खेतड़ी अधीन नहीं था।

रावराजा साहेब ने जनता के लिए खोला क्योंकि यह अति सुन्दर जगह है जहाँ बड़ा तालाब के बीचो-बीच महल स्थित हैं, इस हवेली क्षेत्र में अनेक मन्दिर और यह जयपुर शहर के बीच में मोती डूंगरी के पास स्थित है।²⁰

डिगगी पैलेस- यह शिवाजी मार्ग, सी-स्कीम, सवाई रामसिंह हाइवे पर स्थित है। यह जयपुर में त्रिमूर्ति क्रॉसिंग, जवाहर लाल नेहरू मार्ग पर स्थित है। राव चन्द्र भान उनियारा का प्रथम राव था, जिसे 1638 ई. में शाहजहाँ के द्वारा जागीर प्रदान की गई। उसके उत्तराधिकारी रावराजा गुमानसिंह ने इसे बनवाया। वर्तमान में यह हैरिटेज होटल के रूप में लोगों को शाही अन्दाज का अनुभव करवाता है।

इस प्रकार जयपुर में राजपूत ठिकानेदारों की हवेलियों का स्थापत्य एक समान प्रतीत होता है चाहे वे नाथावत राजपूत हो, शेखावत राजपूत हो या फिर जोधपुर के चम्पावत शाखा के राजपूत हो। ठिकानेदारों को जो जमीने दी गई वहाँ प्रारम्भ में डेरे लगाकर अपनी सेवाएँ महाराजा को देते थे। कालान्तर में इन ठिकानेदारों ने व्यक्तिगत रूप से इन हवेलियों का निर्माण करवाया जो उनकी मान प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गई। इन हवेलियों में कई कोटयार्ड (आंगन) बने होते थे। हवेली के बाहर की ओर पोड़ी और दीवाने-आम बनाते थे। उसके बाद जनाना भवन होता था। जनाना में केवल स्त्रियाँ ही रहती थी वहाँ पुरुषों को जाने की अनुमति नहीं होती थी। हवेली के दरवाजे पर गोखडे बने होते थे। हवेली दो-तीन चौक की हो सकती थी जो ठिकानेदार के ओहदे व प्रतिष्ठा पर निर्भर करता था। पोड़ी को पार करने के पश्चात् जनाना में जाया जा सकता था। पुरुष लोग बाहर की तरफ मिलने के लिए पोड़ी से पहले, कमरा बना होता था जिसे दीवाने-खास कहते थे। पोड़ी से होकर ही जनाना में जाया जा सकता है अर्थात् जनाना और मर्दाना दोनों के रहने की अलग-अलग व्यवस्थाएँ होती थी। अस्तबल और रसोई घर हवेली के सबसे आखिर में होते थे।

निष्कर्षतः वर्तमान में उपलब्ध इन स्मारकों की स्थापत्य कला 17वीं-18वीं सदी की देन है जिसके अन्तर्गत ठिकानेदार, अमीर आदि अपने लिए भव्य और बड़े आवासीय भवनों का निर्माण करने लगे थे। इन राजपूत ठिकानेदारों द्वारा निर्माण के रूप में मुगल शैली को पसन्द किया, जो कि मुगल दरबारियों की पसंद थी।

संदर्भ

1. गोपाल नारायण वदुरा, लिटरेरी हेरीटेज ऑफ दी रूलर्स ऑफ आमेर एण्ड जयपुर, पृ. 102; बी.एस. भार्गव, दी राइज ऑफ कछवाहज इन दूढ़ 13, पृ. 1,5
2. कर्नल जेम्स टॉड, एनाल्स एण्ड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान, पृ. 1331
3. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया प्रोविन्स सीरिज ऑफ राजपूताना, पृ. 234

4. क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान में मारवाड़, बीकानेर, और मेवाड़ क्रमशः बड़े राज्य थे।
5. जगदीश सिंह गहलोत, कछवाहों का इतिहास, पृ. 1,2.
6. जी.एल. घूर्ये, राजपूत आर्किटेक्चर, पृ. 1
7. दामोदर लाल गर्ग, जयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 143
8. परकोटे के अहाले में आबाद शहर की लम्बाई 3 किमी के लगभग है, और चौड़ाई लगभग 2 किमी. थी। सम्पूर्ण नगर बुर्जों और प्राचीर वाले दरवाजों से सुरक्षित था।
9. राजस्थानी हिन्दी शब्द कोस (स. बद्रीप्रसाद साकरिया, भूपति साकरिया) खण्ड 3, पृ. 1557 हवेली-बड़ा पक्का और सुन्दर भवन या पुष्टिमार्गीय मंदिर, बैठक या अन्तःपुर, जनाना खाना; नालन्दा विशाल शब्द सागर (सं. नवलजी), पृ. 1536, हवेली (संज्ञा स्त्री); उर्दू हिन्दी शब्द कोष (सं. मोहम्मद मुस्ताफा खॉँ) पृ. 732 (फारसी स्त्री) 'हवाली' काइमाल पक्का और बड़ा मकान, भवन, भू-दर्शन, वर्ष-14, अंक, 1981, पृ. 86-87
10. डॉ. मनोहर सिंह राणावत उदयपुर नगर का अतीत और वर्तमान
11. विश्वभरा, हिन्दी विश्व भारती अनुसंधान परिषद, बीकानेर, वर्ष 21, अंक 1-2 जनवरी-जून 1989, पृ. 65 (सीकर के डेरे का पट्टा)
12. कोटड़ी बंध - कच्छवाह नरेश पृथ्वीराज ने अपने बारह पुत्रों को अपने राज्य के बाहर भाग देकर राज्य के ठिकानेदार बनाये उन्हें बारह कोटड़ी या कोटड़ी बंध कहा जाता है। जयपुर रियासत में ठिकानेदारों की दो श्रेणियाँ थी :-
i. ताजीमी ठिकानेदार
ii. खास चौकी। (सुख सम्पति राय भण्डारी, भारत के देशी राज्य, 1927, इंदौर सिटी, पृ. 25-55)
13. शिखा जैन, हवेली, एलिविंग ट्रेडिशन ऑफ राजस्थान, पृ. 15
14. शिखा जैन, हवेली, एलिविंग ट्रेडिशन ऑफ राजस्थान, पृ.20
15. स्मारिका, प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम, मुम्बई, 1989 (धाबाई हवेली उदयपुर से प्राप्त)
16. शिखा जैन, हवेली, उपरिवत् पृ. 22-32।
17. द जयपुर एलबम, सिटी पैलेस पुस्तकालय, जयपुर, पृ. 38।
18. रावशिवसिंह के स्मारक और बाग की भूमि का पट्टा (सीकर के डेरे का पट्टा), (विश्वभरा, बीकानेर, वही) पृ. 66-68।
19. द जयपुर एलबम, सिटी पैलेस पुस्तकालय, जयपुर, पृ. 44।
20. वही, पृ. 54

औद्योगिक नगरी नागौर (जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 25 के संदर्भ में)

डॉ. विमलेश राठौड़

राजस्थान के लोगों के आर्थिक जीवन में सबसे महत्वपूर्ण स्थान कृषि का था।¹ इसके उपरान्त स्थानीय निवासियों की अर्थ व्यवस्था में उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान था। राजस्थान में सामान्यतः खनिज सम्पदा, कच्चामाल, सस्ताश्रम और पूंजी उपलब्ध थी अतः 18वीं सदी के अन्त तक उद्योग-धंधे सुचारु रूप से चलते रहे।² सम्पूर्ण राजपूताना की भाँति मारवाड़ में भी छोटे-बड़े अनेकानेक उद्योग-धंधों के द्वारा सभी वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति तो होती ही थी, साथ ही असंख्य लोगों के रोजगार का साधन भी ये उद्योग-धंधे ही थे। मारवाड़ के पाली, सांभर, जोधपुर, नागौर, मेड़ता, सोजत, जैतारण बालोतरा, कुचामन आदि व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर थे।³

नागौर मारवाड़ का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। नागौर ने विभिन्न उद्योग-धंधों के क्षेत्र में बहुत प्रगति की। इनमें मुख्यतः लोहे, तांबे व पीतल के बर्तन, हाथी दांत के खिलौने, ऊँट की काठिया और सूती व ऊनी कपड़ों के उद्योग मुख्य थे।⁴ मुगलकाल में तो नागौर में ऊनी कपड़ों का व्यापार अत्यधिक समृद्ध दशा में था क्योंकि नागौर ऊनी कपड़ों के उद्योग का प्रमुख नगर था।⁵ यहाँ सूती उद्योग भी प्रायः पूर्व मध्य काल से ही अपने चरम पर था। इसका विकास ग्रामीण क्षेत्रों में फैला हुआ था। वस्त्र के अतिरिक्त अन्य उद्योग भी नागौर में अच्छी स्थिति में थे। यहाँ के कारीगरों में विभिन्न प्रकार के लोहे तथा पीतल के काम करने वाले, सोने व चाँदी के आभूषण निर्माता, हाथी दाँत पर सुन्दर व कलात्मक खुदाई करने वाले, सुनहरी वार्निश चढ़ाने वाले और रेशमी व मखमली कपड़ों पर कसीदे व जरदोज़ी की कढ़ाई का काम करने वाले प्रमुख थे।⁶ नागौर में तीन तार के सितार के लिए तार तथा लोहे के छल्ले भी अच्छे बनाए जाते थे। ये छल्ले ऐसे बारीक बनाए जाते थे कि ये पानी के ऊपर तैरा करते थे।⁷ नागौर से विभिन्न धातुओं के बर्तन व रास, हाथी दांत व काठ के खिलौने, सूती-वस्त्र, ऊनी कम्बलें, पालकी के हौदे, बड़ियां, पापड़, खड्डी, कली, चन्दन, बलद आदि असंख्य सामान मंगवाने के विवरण हमें सनद परवाना बहियों के अध्ययन से ज्ञात होते हैं।⁸

प्रस्तुत शोधपत्र जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 259 के अध्ययन पर आधारित है। इसके अध्ययन से हमें मारवाड़ के व्यापारिक केन्द्र नागौर से मंगवाई जाने वाली

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समय में नागौर मारवाड़ का एक प्रमुख औद्योगिक नगर था और इसलिए ही नागौर उत्तम किस्म की विभिन्न वस्तुओं के निर्यात का केन्द्र बन चुका था। इस बही में जोधपुर से नागौर कचेड़ी को भेजे गए विभिन्न परवानों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि नागौर से हाथी दाँत के खिलौने, धातु के बर्तन, विभिन्न कार्यों हेतु उपयोग में लाए जाने वाले धातु के रास व औजार, खड्डी, कली, चन्दन, ऊनी कम्बलें, सूती पागों इत्यादि सामग्री नागौर से जोधपुर हेतु निरन्तर मंगवाई जा रही है जिसका संक्षिप्त अध्ययन इस प्रकार है-

हाथीदांत के खिलौने -

नागौर से बड़ी तादाद में हाथीदांत के खिलौने मंगवाने के उल्लेख इस बही से प्राप्त होते हैं। यथा-मिति सावण वद 13 गुरुवार के परवाने¹⁰ के अनुसार कीलीखाना¹¹ तालकै हाथीदांत के 66 खिलौने मंगवाए गए जिनकी विगत इस प्रकार है-

10 हाथी मकना ¹² दस	10 घोडा नग दस
6 गऊवां नग छव	20 मोर नग वीस
20 सुआ (तोता) नग वीस	

66 अखरै नग छसट

ऐसे ही 66 खिलौने वाग तालकै¹³ भी मंगवाए गए। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ बत्तीस खिलौने नागौर से मंगवाए गए। इसी प्रकार मिति भादवा सुद 9 सोमवार के परवाने¹⁴ से हाथी दांत के 136 खिलौने मंगवाने का उल्लेख इस प्रकार है-तथा दांत रा खिलौणा इण माफक नवा करायनै अठै कीलीखानै मेलजो-विगत-

4 जोड़ी च्यार हाथीयां री लड़ता रंग हाथी रै।
20 कोयल वीस रंग कोयल रै
20 बांदरा वीस रंग बांदरा रै
20 लंगूर वीस रंग लंगूर रै
20 चिड़िया वीस रंग चिड़िया रै
8 पपिया आठ रंग पपीया रै
20 बतकां वीस रंग बतकां रै
20 हंजा वीस रंग हंजा रै

इसी तरह मिति चेत सुद 12 सोमवार के परवाने¹⁵ से ज्ञात होता है कि 66

खिलौने तो उपर्युक्त सावण सुद 13 के परवाने के अनुसार मंगवाए और 36 खिलौने नए मंगवाए।

धातु निर्मित बर्तन

18वीं सदी में नागौर में धातु के बर्तन निर्माण का उद्योग विकसित अवस्था में था। नागौर के लौहारों द्वारा दैनिक उपयोग में लाए जाने वाले धातु के बर्तन कड़ाई, लोठा, कुड़छा, तवा, तालै, जरर, कुड़छी, ताईता द्धचिमटाऋ, सण्डासी जार, हमामदस्ता, डोल आदि उम्दा श्रेणी के बनाए जाते थे।¹⁶ नागौर से लोहे, पीतल व तांबे के धातु से निर्मित बर्तनों के आयात की विस्तृत और रोचक जानकारी इस बही से इस प्रकार मिलती है-मिति भाद्रवा सुद 2 सोमवार के परवाने¹⁷ से भण्डारी रूपा हस्ते दो नई कड़ाई जोधपुर गढ़ हेतु मंगवाई गई। मिति मंगसर वद अमावस गुरुवार के परवाने¹⁸ से पुरोहित रूपचंद हस्ते लोहे की 4 कड़ाया व 2 जररा मंगवाए गए। मिति पोस वद दूज प्रथम, रववार के परवाने¹⁹ से नागौर से अलग-अलग धातु व नाप के बर्तन इस प्रकार मंगवाए गए -

‘तथा अठे वाग तालकै इतरा वासण पीतल रा तथा लोह रा ताकीद सु मेलजो-विगत-

19 पीतल रा

10 देगचा दस जिणां में पाणी इण माफक मावे तोल पके-

6 देगचा छव तो इण मांफक तिणां रा मुंडा आंगल छव-छव चौड़ा करावणा-

3 देगचा तीन तिणां में पांणी प्रत सेर तीन मावै जिसा

3 देगचा तीन तिणां में प्राणी प्रत सेर अढ़ाई-अढ़ाई मावै जिसा

4 देगचा चार तिणां रा मुंडा आंगल पांच-पांच चौड़ा करावणा-

2 देगचा दोय तिणां में पांणी प्रत सेर दोय दोय मावै जिसा

2 देगचा दोय तिणां में पांणी सेर दोढ़-दोढ़ मावै जिसा

मुंडा रा में यांरी डंकोली मेली है जिण माफक करावणा अर्थात् देगचों के मुँह की चौड़ाई के नाप हेतु साथ में नाप के सरकण्डे भेजे गए हैं उसी अनुसार करवाएँ।

3 थालीयां

2 कटोरदान-एक में पाणी सेर तीन मावै जिसो न कटोरदान एक में पाणी सेर दोय मावै जिसो।

2 चरी दोय - चरी एक तिण में घ्रीत (घी) सेर च्यार पको मावै जिसी चरी एक तिण में घ्रीत सेर दोय पको मावै जिसी।

2 कुड़छिया दोय प्रत कुड़छी एक रा झाबा (आगे का गोल हिस्सा) में घ्रीत अध पाव पको मावै नै डांडी हाथ एक लांबी

10 लोह रा वासण-

4 कढ़ायला च्यार प्रत कढायला एक में पाणी सेर तीन मावै जिसा

1 कड़ाई एक तिण में सीरो दोग पको रो हुवै जिसी

1 सण्डासी एक

1 ताइतो एक

2 जरर (झारा) एक दाणा काढ़ण री

2 तवा दोग प्रत तवो एक आंगल सतरै सतरै रो

इस प्रकार 19 बर्तन पीतल और 10 बर्तन लोहे के अर्थात् कुल मिलाकर 29 बर्तन बनवाए गए। इसी प्रकार मिति फागुण सुद पांचम रविवार के परवाने²⁰ के अनुसार अधिकारी प्रेमजी के साथ नागौर से इतने नए बर्तन मंगवाए गए-35 या 40 किलो दूध समाए जैसी एक मोटी कड़ाई, सिहाड़ तालकै²¹ वैष्णवों की मण्डली हेतु एक कड़ाई अधमण (20 किलो) व दूसरी कड़ाई 15 किलो दूध के लिए, एक जरर दाणा (बूंदी) बनाने हेतु व एक अन्य जरर जीनस निकालने हेतु तथा एक तावीतो मोटा कड़ाई जैसा। तांबे की मोटी सवा हाथ चौड़ी परात तथा दो सेर जल समाए जैसा तांबे का लोटा मंगवाया गया अर्थात् कुल मिलाकर लोहे व तांबे के 12 बर्तन सिहाड़ तालकै मंगवाए गए। जोधपुर से जयपुर भेजने के लिए भी नागौर से बर्तन मंगवाने के सूत्र इस बही से प्राप्त होते हैं-मिति प्रथम जेठ वद एकम् मंगलवार के परवाने²² के अनुसार अधिकारी रामकिसनजी के हसते जयपुर भेजने हेतु नागौर से पृथक-पृथक नाप तोल की छः कड़ाई व दो लोरडा मंगवाए गए।

नागौर में न केवल धातु से नए बर्तन ही बनाए जाते थे, वरन् पुराने बर्तनों को गलाकर उस धातु से नए बर्तन भी बनाए जाते थे मिति काति सुद छठ सोमवार के परवाने²³ से ऐसी जानकारी मिलती है जिसके अनुसार जोधपुर से पीतल के दो हांडे व एक परात नागौर भेजी व निर्देश दिया गया कि इनको भंगा कर (तुड़वाकर) नए दो घड़े व एक परात यहाँ भेजी जाए। इसी प्रकार के एक दूसरे परवाने मिति चैत सुद चौदस गुरुवार²⁴ से ज्ञात होता है कि जोधपुर से अन्न का कोठार तालकै 17 पुराने बर्तन नागौर भेजकर वैसे ही नए 17 बर्तन मंगवाए गए जिनका ववरण इस प्रकार है-

7 बर्तन पीतल के - 3 झाबा, 2 चालणी, 1 डोल चाणी और 1 थाली दो किलो की।

3 बर्तन तांबे के - 1 चालणी, 2 चेला।

7 बर्तन लोहे के- 1 चालणी, 2 डोल चालणी, एक ताला व 3 टिपरिया।²⁵ इन

17 पुराने बर्तनों के साथ पाँच बर्तन पीतल के नए भी मंगवाए गए। नागौर से अच्छी किस्म का ताँबा भी मंगवाया जाता था-मिति मंगसर सुद दसम रववार²⁶- 'तथा तांबो दोय मण तोल पके अठै जरगर खाना²⁷ तालकै मेलण रो हुकम हुवौ है।'

धातु की अन्य सामग्री -

नागौर से लोहे के बने अनेकानेक रास व औजार विभिन्न कार्यो हेतु मंगवाए जाते थे जो कि कीलीखाना, कमठा, बारुदखाना आदि विभागों के निमित्त होते थे, जिनके बारे में इस बही से विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

कीलीखाना तालकै -

इस विभाग हेतु नागौर से लोहे की अनगिनत सामग्री मंगवाने के परवाने नागौर कचेड़ी को भेजे गए। यथा-मिति भाद्रवा वद ग्यारस बुधवार के परवाने²⁸ द्वारा नागौर से जोधपुर हेतु इतना रास मंगवाया गया-फोफलिया खीला सवा दो मण, दरवाजों की चूलियां²⁹ अधमण, तीन सेर गुली कूटा, दो मण सुत खिलो, दो मण पाऊ³⁰, एक मण कड़ा सायवाना रा, एक मण कलीदार कड़ियां, अधमण सरेस, 300 नालां री चोबंधी मेखां सुधी मजबूत, 200 खुर रा। इसी तरह इमेज 68 के अनुसार जोधपुर हेतु छः मण लोहे की जीनस मंगवाई गई जिसमें एक मण खीला फोफलिया पतला, 2 मण सुत खीलो, 2 मण जोती पाती, 1 मण छत की चूंका तथा 40 पोथी के चाँद वीरानपुरी मंगवाए गए। मिति पोस सुद बारस गुरुवार के परवाने³¹ से लोहे के 150 कलीदार कड़े, मिति महासुद 14 सोमवार के परवाने से³² एक मण सरेस, मिति फागण बद 12 सनवार के परवाने³³ से छत के लिए 300 कड़े, 1000 छोटे पाऊ और 1000 बड़े पाऊ भेजने के निर्देश दिए गए। इसी प्रकार अन्य परवानों से³⁴ कीलीखाना तालकै 3 मण खीलासरी, 2 मण जोतीपाती, 1 मण चुला चटली, 2 मण छत री चूंका, 2 मण गुली कूटा, 2 डोरबा, एक हाथ लंबी, डांडी के दो कुड़छे, 3 चालणियां, 2 मण पाऊ, 4 करवत (आरी) आदि अनन्त रास नागौर से निरन्तर मंगवाए जाते थे। जालौर भेजने हेतु भी लोह की जीनस नागौर से जोधपुर मंगवाई जाती थी। विभिन्न परवानों³⁵ से प्राप्त जानकारी के अनुसार जालौर तालकै नागौर से 400 परवानों के साज आंकड़ियां, 400 कांटा, छः आंगल लंबी 100 सांकलियां, 100 सांकलियों के कूटे, पोणे (विशाल दरवाजे) के दरवाजों के साज, 25 मादलिया तालै, छोटे दरवाजों के साज इत्यादि मंगवाए गए। साथ ही कमठा तालकै लोहे के चार रभा, चार सांबला और दो झूंबरा आदि मंगवाए गए।

कमठा तालकै -

कमठा अर्थात् किसी भी तरह के निर्माण कार्य हेतु उपयोग में लाई जाने वाली सामग्री भी नागौर से बहुतायत मंगवाई जाती थी। यथा-मिति सावण सुद दूज सोवार के

परवाने³⁶ से नागौर से जोधपुर में कमठा तालकै 6 मण लौहे की हथोड़े की गोलियां व सिण काटने के लिए दो बंसोला मंगवाए गए। मिति सावण सुद आठम के परवाने³⁷ से अग्रांकित रास मंगवाने की जानकारी प्राप्त होती है--तथा अठै कमठा रा कांम सारू लौह रा राछ इण माफक नवा कराय नै ताकीद सुं मेलजो-विगत-8 घण³⁸ आठ, 400 आडू³⁹ चोड़ा मूढारा, 40 करण्यां, 8 सांबला, 200 गुला, 30 तवा कड़ाई जिसा खढी करण रा-अखरै छव सौ छियासी नग। काति सुद ग्यारस के परवाने⁴⁰ से 800 पाऊ कमठा तालकै मंगवाए गए। कुआं खोदने के रास भी नागौर से मंगवाने की जानकारी सावण सुद एकम रववार के परवाने⁴¹ से इस प्रकार ज्ञात होती है--'तथा अठै वाग सूरसागर बेरो एक नवो खुदीजसी जिण तालकै लौह रा राछ इण माफक नवा कराय नै मेलजो-12 कुदाल नग बारै, 8 पांवड़ीया, 1 झूमरो⁴², 5 पावड़ा, 10 आडु, 1 विलाई, 37 अखरै सैंतीस नग। इस प्रकार कमठा तालकै नागौर से धातु की उपर्युक्त सामग्री मंगवाई जाती थी।

बारुदखाना तालकै -

राजकीय फौज के लिए युद्धयोगी लोह सामग्री भी नागौर में बनवाई जाती थी, जिनके सूत्र बही में इस प्रकार मिलते हैं--मिति सावण सुद पांचम बुधवार के परवाने⁴³ के अनुसार--तथा जुजरबा⁴⁴ रा तीर नग 5000 लौह रा अठै बारुदखाना तालकै नागौर सुं मंगावण रौ हुकम हुवौ है सु पांच हजार तीर अठा सुं अंदाजा रा तीन नग 3 मेलिया है जिण माफक उठै हाजर हुवै तो विण मांय सुं मेलजो नै हाजर न हुवै तो नवा घड़ाय नै सीताब मेलजो अै तीर फौज में मेलणा है सु जेज कीजो मती। इसी प्रकार काति सुद 5 रविवार के परवाने⁴⁵ से दो सफेद तीरों के दस्ते व दो स्याह (काले) तीरों के दस्ते मंगवाए गए।

खड्डी व कळी -

नागौर से खड्डी व कळी भी बहुतायत मंगवाई जाती थी, जिसके उल्लेख इस बही में मिलते हैं--मिति सावण सुद दूज सोमवार के परवाने⁴⁶ के अनुसार--'कळी मेलण रौ आगै लिखियो है जिण माफक ताकीद (जल्दी) सुं मेलजो। 'मिति काती सुद 3 व 4 सनवार के परवाने⁴⁷ से निर्देश भेजा गया कि --'खड्डी पाकी पकाई गाडा पचास मेलण रो आगै थांनु लिखाणो है जिण मै मेली सु तो आई ने बाकी री ताकीद सुं मेलजो।' इसी प्रकार मिति काति सुद चौदस बुधवार के परवाने⁴⁸ से नागौर से कळी व खड्डी मंगवाई गई। मिति फागुण वद चौदस सोमवार के परवाने से⁴⁹ जालोर के कमठा तालकै 50 मण कळी मंगवाने की जानकारी प्राप्त होती है।

ऊनी कम्बल -

ऊन के कार्य हेतु भी नागौर प्रसिद्ध था। इस बही के अनुसार नागौर से 600 कम्बल मंगवाए गए जिनमें से 125 कम्बल तो पूर्णतः ऊन के व अन्य 475 कम्बल ऊन

के साथ सूत के तार वाली कम्बल भेजने के निर्देश इस प्रकार भेजे गए-मिति मिंगसर वद 3 रववार⁵⁰-‘ तथा कांबला 600 अखरे छव सो ऊन रा खरीद कर मेलण रो हुकम हुवौ है जिण में कांबला सवा सो तो इसा मेलणां तिण में सूत रो तार न हुवै निरी ऊंन रा हुवै सु निधै करने (पता करके) लेणा नै बाकी रा पूणां पांच सो कांबळा मै सूत रो तार हुवै जिण रो क्युंइ कारण नही इण माफक छव सो कांबला प्रत एक रा रुपिया 10) दस रै आसरै रा अवल रवायत सुं खरीद करनै सिताब अठै खेमा रै कारखाने⁵¹ मेलजौ।’

सूती पागों -

इस बही से प्राप्त जानकारी के अनुसार जोधपुर से कपड़ा भेजकर नागौर में पागों रंगवाई जाती थी और बनी हुई पागों भी मंगवाई जाती थी। मिति चैत वद तीज के परवाने⁵² से पागों रंगवाने का निर्देश मिलता है। इसी प्रकार फागुण वद चौथ-पांचम के परवाने⁵³ से नागौर से विभिन्न प्रकार की 120 पागों मंगवाई गई जिसमें 40 पागे 1 से 1) रुपये मूल्य की, 40 पागे मोमनी 2 से 2) रुपया मूल्य की तथा 40 पागे सेला पूण रुपये से 1 रुपये तक के मूल्य की मंगवाई गई।

चन्दन की लकड़ी -

चन्दन की लकड़ी भी नागौर से मंगवाने के सूत्र इस बही से प्राप्त होते हैं-मिति पोस वद आठम सुकरवार के परवाने के अनुसार⁵⁴-‘तथा चंदण मण 1) तथा सवामण तौल पके खरीद कर मेलण रो हुकम हुवौ है।’

दैनिक उपयोग की वस्तुएँ -

दैनिक उपयोग में काम आने वाली अनेकानेक वस्तुओं ताले, कैंची, सुई, चालणी इत्यादि का आयात भी नागौर से किया जाता था जिसकी जानकारी इस प्रकार मिलती है- मिति मंगसर सुद 10 रववार⁵⁵ -‘ओर ताळा 50 अखरे पचास मादळीया छोटा खरीद करनै अठै वाग तालकै सिताब मेलजो-विगत-

25 ताला पचीस तो प्रत आना दोय दोय अढाई अढाई वाला

25 ताला पचीस प्रत आना -ऋ।। दोढ दोढ वाला।’

मिति प्रथम जेठ वद 10 भोमवार⁵⁶ - 3 वाग तालकै चालणी तीन नवी करावंगी सुं आगली चालंगी तीन पुरांगी मेली है तिण माफक मोटी छोटी करावजो।’

जयपुर भेजने के लिए सुइयां व कैंची मिति जेठ वदी ग्यारस के परवाने से मंगवाई गई⁵⁷-

सूयां दोय सौ बैत बैत री लांबी फूल पोवण सारू

कतरणीया 10 अखरै दस

निष्कर्षतः कहा जाता सकता है कि जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 25 के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जोधपुर से नागौर की कचैड़ी को भेजे गए विभिन्न परवानों द्वारा नागौर से अनेकानेक वस्तुओं का निरन्तर आयात किया जाता रहा है जिससे प्रथम दृष्ट्या स्पष्ट हो जाता है कि नागौर में प्रत्येक क्षेत्र के प्रवीण शिल्पियों द्वारा उत्तम किस्म का विभिन्न सामान तैयार किया जाता था जिसकी मांग जोधपुर के राजकारखानों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सदैव बनी ही रहती थी। हाथी दांत के खिलौने मंगवाए जाने वाले परवानों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नागौर में न केवल हाथीदांत के खिलौने बनाए ही जाते थे वरन् उन पर सुन्दर रंग व सोना चढ़ाने का कार्य भी किया जाता था।

नागौर में पीतल, तांबा व लोह धातु से भांति-भांति के छोटे, बड़े, सुन्दर और मजबूत बर्तन बनाए जाते थे जो कि विभिन्न आकार-प्रकार के होते थे। इनको बनाने के निर्देशों के अध्ययन से हमें तत्कालीन समय के अंगुल, हाथ, पाव अधपाव, सेर, अधमण व मण इत्यादि नाप तौल की इकाईयों की जानकारी तो प्राप्त होती ही है साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि बर्तनों के मुंह की चौड़ाई के नाप हेतु परवाने के साथ ही इच्छित नाप के सरकण्डे (डंकोली) भेजे जाते थे ताकि कारीगर बिल्कुल सही नाप का बर्तन बना सके। इन परवानों से यह भी सूत्र मिलते हैं कि नागौर में पुराने बर्तनों को भंगा कर (तोड़कर या गलाकर) नए बर्तन बनाने का कार्य भी किया जाता था। उत्तम किस्म के तांबे के पुराने बर्तन खरीदकर, उनके पतरे बनाकर उन पर सोना चढ़ाने का काम भी किया जाता था। उत्तम किस्म का तांबा नागौर से मंगवाया जाता व न मिलने पर मूण्डवा मेले से मंगाने के निर्देश दिए जाते थे।

बर्तनों के अतिरिक्त लोहे का हल्का व भारी असंख्य सामान भी नागौर से ही मंगवाने की जानकारी ये परवाने देते हैं। यथा-फोफलिया खिला, दरवाजों की चूलियां, गुला, कूटा, सुतखिला, पाऊ, कड़ा, कड़ियां, सरेस, नारा री चोबंधी, खुररा, दरवाजों से संबंधित सामान में आंकड़ियां, सांकलिया, कांटा, कुंटा आदि बड़ी पोळी (विशाल दरवाजों) के लिए चोमुखी, तिमुखी, दुमुखी पातीयां, खूणियां, दुबकिया, अहरण, छीण, वैण, ताला, चूका, कुआं खोदने के रास, कुदाल, फावड़े, फावड़ियां, झूमर, आडु, विलाई और कमठा तालकै हथौड़े की गोलियां, बंसोला, घण, आडू, करण्यां, सांबला, गुला, कनी घोलने के बड़े तवे, छोटे बड़े पाऊ आदि अनन्त भारी सामग्री मंगवाई जाती थी। न केवल भारी सामान ही वरन् दैनिक उपयोग में काम आने वाली सामग्री चालणी, तालें, सुई, कैंची आदि की मांग भी नागौर से पूर्ण होती थी। तात्पर्य यह है कि इतनी विशाल मात्रा में धातु सामग्री के निर्यात से यह तो पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समय में नागौर में धातु उद्योग अपने चरम पर था और न केवल मारवाड़ वरन् अन्य राज्यों

की मांग की आपूर्ति भी नागौर से ही होती थी।

उपर्युक्त सनद परवानों से अन्य महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय जानकारी इस प्रकार मिलती है-संवत् 1838 (1781 ई.) में नागौर में बनने वाले छोटे तालों का मूल्य एक आना दो पैसा, दो आना व ढाई आना होता था एवम् कैम्पूल आकार के इन तालों को 'मादळिया' ताले कहा जाता था। उस समय नागौर के ऊनी कम्बलों का मूल्य 10) रुपये प्रति नग था। नागौर में 28 नग पागों की रंगाई हेतु 60) रुपये मूल्य दिया गया। छीपे गुलाम महमद का मुल्तान से आकर नागौर में बसने का महत्त्वपूर्ण सूत्र इस बही से प्राप्त होता है। राजकारखाने (किलीखाना) में काम करने वाले खाती खाजबगस गजधर की मृत्यु होने पर उसके गोद लिए हुए पुत्र लाला को पिता के स्थान पर नौकरी दी गई जिसे 7) रुपया प्रतिमाह रोजगार व पेटिया (कच्ची खाद्य सामग्री) दिया गया⁵⁸ जिससे शिल्पी वर्ग के प्रति राज्य की संवेदनशीलता का ज्ञान होता है तथा वेतन भत्तों पर प्रकाश पड़ता है। इन परवानों में जो भी सामान बनाने या भेजने का आदेश होता था उसमें उत्तम किस्म का भेजने के निर्देश भी होते थे तथा कभी कोई वस्तु कमजोर आ जाती तो उसकी भी सूचना दी जाती थी कि फलां वस्तु कमजोर थी और टूट गई सो आगे से मजबूत बनाकर भेजना।⁵⁹

इस जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 25 के परवानों से यह भी ज्ञात होता है कि नागौर से न केवल वस्तुएँ ही मंगवाई जाती थी वरन् विशेषज्ञ शिल्पियों की मांग भी की जाती थी। यथा-मिति भाद्रवा वद 13 सुकरवार के परवाने⁶⁰ से नागौर कचैड़ी को यह निर्देश भेजा गया कि 'खाटू रा सिलावट जणा पच्चीस जुड़ाई-घड़ाई रा अक्वल कारीगर (विशेषज्ञ कारीगर) हुवै जिणां नु बुलाय एक-एक महिना री खरची दे नै मेलजो।' इसी तरह मिति वैसाख वद दूज व तीन रविवार के परवाने⁶¹ के अनुसार 'तथा अठै वाग तालकै हिंडोरो (झूला) नवो बणसी तीण रै पुतलियां लागसी सु खाती रैहमांन रा बेटा दोय फरजुलौ नै बुलो नै बुला रो बेटो ईणी तीनु जणां नु महीना महीनां री खरची देने ताकीद (जल्दी) सुं अठै मैल देजो।' सिलावटों, खातियों को जोधपुर बुलाए जाने पर उन्हें एक महीने का वेतन पेशगी देने की जानकारी से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में भी पेशगी वेतन देने का प्रचलन था। उस समय कार्यरत खातियों के नामों पर भी इन परवानों से प्रकाश पड़ा है। यथा-खाती रैहमांन, फरजुलौ, बुलो, खाजबगस, लालो आदि। इसी प्रकार नागौर के कदो (बैलों) की मांग भी जोधपुर से की जाती रहती थी-'कधां री जोड़ी पचास काम काज रै वास्तै नागौर राखजो सुं नैड़ी रहै (नजदीक रहै) तो काम काज मंगाया तुरन्त आवै।'⁶²

इस प्रकार स्पष्ट है कि जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 25 में जोधपुर राज्य से नागौर कचैड़ी को भेजे गए सनद परवानों के अध्ययन से हमें 18वीं सदी में नागौर में

उद्योग-धंधों की विकसित अवस्था का ज्ञान होता है और स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समय में नागौर विभिन्न वस्तुओं का निर्यातक होने के नाते मारवाड़ का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था।

संदर्भ

1. शर्मा, डॉ. गोपीनाथ, सोशियल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 288
2. व्यास, डॉ. आर.पी., राजस्थान का वृहत् इतिहास, खण्ड प्रथम, पृ. 436
3. जब्बरसिंह, दी ईस्ट इण्डिया कम्पनी एण्ड दी मारवाड़, पृ. 171
4. प्रोसिडिंग ऑफ राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस, वोल्यूम-27, पृ. 399, जनवरी 2012
5. सिद्दीकी, मोहम्मद हलीम, मध्यकालीन नागौर का इतिहास, पृ. 255-56,
6. वही।
7. हरदयालसिंह कृत मजमुए हालात राजमारवाड़, पृ. 18, म.मा.पु.प्र. जोधपुर
8. सनद परवाना बही संख्या 1, 13, 20, 21, 25 व 30 में अनेकानेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि नागौर से कितनी प्रकार की वस्तुओं का आयात किया जाता था।
9. जोधपुर सनद परवाना बही संख्या 25 की सॉट कॉपी महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश जोधपुर में उपलब्ध है जिसमें 510 पृष्ठ व 1019 इमेजेज हैं। यह महाराजा विजयसिंहजी के काल संवत् 1838 (1781 ई.) की बही है।
10. स.प.ब., संख्या-25, इमेज - 23
11. कीलीखाना-लोहे के उपकरण और अस्त्र-शस्त्र बनाने का कारखाना अथवा औजारों की खरीद व उनके मरम्मत आदि की व्यवस्था का विभाग-भाटी, डॉ. जितेन्द्रसिंह -राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, परिशिष्ट-1
12. मकना हाथी या मुकनौ हाथी-वह हाथी जिसके दांत न हो अथवा बहुत छोटे-छोटे हो-सीताराम लालस, राजस्थानी सबद कोस, खण्ड-7, पृ. 4838
13. वाग तालकै-गुलाब सागर पर स्थित मायला बाग जहाँ महाराजा विजयसिंहजी की पासवान गुलाबराय रहती थी जिसे आजकल महिला बाग के नाम से जाना जाता है।
14. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 36
15. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 100
16. स.प.ब., संख्या 13, इमेज - 30, 31, 33, इमेज, 60, 62, 66, संवत्-1830
द्वि. 1773 ई.ऋ, म.मा.पु.प., जोधपुर
17. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 33
18. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 64
19. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 72

20. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 87
21. सिहाड़ तालकै - नाथद्वारा का ठाकुर द्वारा
22. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 109
23. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 88
24. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 101
25. टिपरिया - घी रखने के पात्र 'घिलोड़ी' में रखा जाने वाला चम्मच जिससे चपाती पर घी लगाया जाता है।
26. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 68
27. जरगरखाना-सुनारों का विभाग-भाटी, डॉ. जितेन्द्रसिंह, पूर्वोक्त, परिशिष्ट-1
28. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 32
29. चूलियां - देशी या सादे कपाट के नीचे व ऊपर लगाया जाने वाला वह नुकीला भाग जिस पर आधारित रहकर कपाट बंद हो सकता है व खुल सकता है - सीताराम लालस, राजस्थानी सबद कोस, खण्ड - 3, पृ. 1291
30. पाऊ - लोहे का मोटा कीला जो ऊपर से कुछ मुड़ा हुआ होता है और दीवार में विशेषकर पानी के नल को रोकने के काम आता है-सीताराम लालस, पूर्वोक्त, खण्ड-5, पृ. 3243
31. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 79
32. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 83
33. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 85
34. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 102, 109
35. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 52, 68, 86
36. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 24
37. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 25
38. घण - मोटा भारी हथौड़ा जिससे गर्म लोहा पीटकर दूसरे रूप में बदला जाता है-सीताराम लालस, पूर्वोक्त, खण्ड 3, पृ. 1084
39. आडू - लोहे का बना बड़ा औजार जो कि लकड़ी व पत्थर को चीरने के काम आता है-सीताराम लालस, पूर्वोक्त खण्ड - प्रथम, पृ. 250
40. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 55
41. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 24
42. झूमरो - बहुत बड़ा व भारी लोहे का हथौड़ा। सड़क या फर्श आदि जमाने के लिए कंकड़ आदि कूटने का लोहे का बना उपकरण जिसके प्रायः बांस का लंबा दस्ता लगा रहता है-सीताराम लालस, पूर्वोक्त, खण्ड-3, पृ. 1730
43. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 25
44. जुजरबा-तोपनुमा एक अस्त्र जो तोप से छोटा होता है। इसे प्रायः ऊंट की पीठ पर

बांध कर छोड़ा जाता है-सीताराम लालस, पूर्वोक्त, खण्ड-3, पृ. 1562

45. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 53
46. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 24
47. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 53
48. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 55
49. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 86
50. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 56
51. खेमा का कारखाना - इसमें शिविर लगाने संबंधी तंबू, शामियाना, दरी, गलीचे आदि वस्तुओं का निर्माण होता था-भाटी, जितेन्द्रसिंह, पूर्वोक्त, परिशिष्ट 1
52. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 90, पृ. 49
53. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 143, पृ. 75 ब
54. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 75
55. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 69
56. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 109
57. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 111, पृ. 59 ब
58. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 36
59. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 109, मिति प्रथम जेठ वद 1, भोमवार (मंगलवार)
60. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 32
61. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 102
62. स.प.ब., संख्या 25, इमेज - 52

राजस्थान के स्वतंत्रता आन्दोलन में वैचारिक क्रांति की भूमिका

डॉ. चेतना मुद्गल

मैं जब अपने शोध प्रबंध 'बीकानेर के जन आन्दोलन' पर अपना शोध कार्य कर रही थी तब मुझे राजस्थान राज्य अभिलेखागार, राष्ट्रीय अभिलेखागार व नेहरू मेमोरियल लाईब्रेरी में संग्रहित अखबारी कतरनों के संग्रहों का व्यापक अध्ययन का अवसर मिला। उन्हें देखकर स्वतः ही भान हो जाता है कि जन आन्दोलनों को गति देने में तत्कालीन वैचारिक क्रांति की कितनी अहम भूमिका रही थी। महात्मा गांधी के द्वारा देश के विभिन्न अंचलों में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को अधिक से अधिक रचनात्मक कार्यों को अपनाने का आह्वान किया तब राज्यों में स्थान स्थान पर निवास करने वाले विशेष रूप से ग्रामीण स्तर के साथ शहरी क्षेत्र के अनेक बुद्धिजीवियों में वैचारिक क्रांति का एक भूचाल सा आ गया था। राज्यों में उक्त माध्यमों से फैली व्यापक वैचारिक क्रांति पर अनेक अध्येताओं ने अपने शोध ग्रंथों में काफी विस्तार से टिप्पणियां दी हैं, मैंने उनका भी यथा संभव इस आलेख में उपयोग किया है¹ राज्यों में बुद्धिजीवियों के साथ देशभर में फैले इन राज्यों से धनाढ्य मारवाड़ी बन्धुओं ने भी अहम भूमिका निभाई थी। विभिन्न राज्यों में राजकीय स्तर पर संग्रहित प्रेस कटिंग ब्यूरो की पत्रावलियों में वैचारिक क्रांति के प्रमुख माध्यम तत्कालीन समाचार पत्रों पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि वैचारिक पृष्ठभूमि के बीसवीं सदी के माध्यमों की पृष्ठभूमि में सामाजिक सुधारों से जुड़े संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उन्नीसवीं सदी के सत्तर के दशक से ही राजपूताना के कुछ प्रमुख राज्यों में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज ने यहां के प्रमुख देशी रियासतों में सदियों से समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों की बुराइयों को लेकर यहां के काफी बड़े जनमत को शिक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्द स्वयं ने इसके लिये उन राज्यों के शासकों और सामन्तों को उनके प्राचीन गौरव की याद दिलाकर वहां प्रचलित सामाजिक दोषों से जन सामान्य को जागरूक करने की ओर दिलाया। उन्होंने समय-समय पर अपने द्वारा व्याख्यानों में स्वदेशी, स्वधर्म, स्वभाषा एवं समाज सुधार के कार्यों, स्त्री शिक्षा, विवाह में प्रचलित दोषों आदि के प्रति जनमानस को सजग करने का प्रयत्न किया। 27 फरवरी 1883 को उन्होंने उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह की अध्यक्षता में परोपकारिणी सभा की स्थापना की और सन् 1891 में राजपूताना के मध्य अंग्रेज सरकार द्वारा शासित अजमेर

नगर को इस सभा का मुख्य केन्द्र बना लिया। वहां उनके अनुयायियों ने प्रचार-प्रसार को गति देने के लिये आधुनिक ढंग से छापेखाने की स्थापना की। बीसवीं सदी के आते-आते राजस्थान के विभिन्न राज्यों में विभिन्न माध्यमों से जनजागृति पैदा कर जन आन्दोलन की पृष्ठभूमि बनाने का महती कार्य किया।

अंग्रेजी भारत के अजमेर क्षेत्र में प्रेस की स्वतंत्रता का लाभ उठाते हुए उनके अनुयायियों ने राज्यों में राष्ट्रवाद का प्रचार-प्रसार करने हेतु समाचार पत्रों, पेम्पलेटों और जन मंचों के माध्यम से वैचारिक क्रांति के माध्यम राज्यों में जनमानस होने वाले राज्यों के शासकों, सामन्तों और भारत की अंग्रेज सरकार की अत्याचारी नीतियों के विरोध में जन आन्दोलनों को ऊर्जा भरने का काम किया। कुल मिलाकर स्वामी दयानन्द के उक्त प्रचारात्मक गतिविधियों से राजस्थान के विभिन्न वर्ग के निवासियों में राजनीतिक दृष्टि से जागृति के साथ उन्हें अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का भान होना प्रारम्भ हो गया। यह तत्कालीन वैचारिक क्रांति का ही प्रतिफल था। यह सर्व विदित ही है कि उस समय तक राजपूताने के राज्यों में प्रेस की स्वतंत्रता पर पूर्ण प्रतिबंध था। राज्यों के शासकों अथवा उनके सामन्तों के जागीरी क्षेत्रों में निवास करने वाले वहां के निवासियों को अशिक्षा के चलते किसी प्रकार के मूल अधिकार प्राप्त न होने के कारण उनके अधिकारों का हनन एक सामान्य बात थी। किन्तु इन घटनाओं की जानकारी राज्य के बाहर के लोगों को नहीं हो पाती थी। धीरे-धीरे बीसवीं सदी के आरम्भ में राज्यों की राजनीतिक स्थिति में एक बदलाव प्रारम्भ हुआ और भारत की अंग्रेज सरकार के व्यापक हस्तक्षेप के फलस्वरूप राज्यों में अंग्रेजी ढंग के कानून लागू करने की एक प्रक्रिया चल पड़ी और राज्यों को अपने सभी प्रकार के प्रशासनिक और सार्वजनिक कार्य को सम्पन्न करवाने के लिये राज्यों के बाहर से कुछ शिक्षित लोगों को सहारा लेने को बाध्य होना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप राज्यों के बाहर, विशेष रूप से राज्यों से सटे अंग्रेजी भारत के जरूरतमंद शिक्षित लोग रोजगार की तलाश में राज्यों के प्रशासनिक और सामाजिक तंत्र के कामों में लगाये जाने लगे। इनमें से अधिकांश लोग अंग्रेजी भारत में रहते हुए भारत की अंग्रेज सरकार द्वारा प्रदत्त सामान्य मूल अधिकारों से न केवल परिचित थे, अपितु उनका उपभोग वे कर चुके थे। किन्तु राज्यों में जहां वे रोजगार के लिये लगे हुए थे, वहां उन्हें इसके विपरीत स्थिति में से गुजरना पड़ा जहां मूल अधिकारों का हनन एक सामान्य बात थी। बस यहीं से इन राज्यों में वैचारिक क्रांति के पंख लगने शुरू हो गये।³ यह बात भी नहीं थी कि 19वीं सदी तक राजपूत राज्यों में वैचारिक क्रांति का अस्तित्व ही नहीं था। किन्तु सामन्ती व्यवस्था में उसका बीजारोपण होने के बाद भी विभिन्न प्रकार के उत्पीड़न के सम्मुख वह अंकुरित नहीं हो सकी थी।

बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों तक राज्यों में सदियों से निवास करने वाले मारवाड़ी व्यापारी लोग अपने प्रचलित व्यापार कार्य में अधिक नफा कमाने हेतु अंग्रेजी भारत में निष्क्रमण करते चले गये। धीरे-धीरे इसी क्रम में राज्यों के सैकड़ों व्यापारी

परिवार अंग्रेजी भारत में अपना व्यापार जमा चुके थे। वहां उन्हें अंग्रेजी कानून कायदों के चलते काफी अधिकारों का उपभोग करने का अवसर मिला था। किन्तु वे जब अपने मूल राज्यों में आते तब वहां सामन्ती व्यवस्था में मूलभूत अधिकारों से भी वंचित रहना पड़ता था। यह स्थिति उन्हें भी गंवारा नहीं थी। ऐसे में राज्यों से बाहर से आये हुए विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में कार्यरत लोगों और मारवाड़ी व्यापारियों के मध्य राज्यों में हुए आपसी सम्पर्कों से राज्यों में वैचारिक क्रांति की सोच और व्यापक होती चली गई। यहां यह उल्लेखनीय है कि राजपूताने के लगभग सभी राज्यों में निवास करने वाले, वहां के स्थानीय लोगों के दुख दर्द को भारत के अन्य भागों की अपेक्षा इन राज्यों के मध्य में स्थित अंग्रेजी भारत के एक मुख्य केन्द्र अजमेर क्षेत्र में निवास करने वाले लोग काफी नजदीक से देख व समझ सकते थे। इसी का परिणाम था कि राजस्थान के किसी भी अंचल में 19वीं सदी के अन्तिम दशक से लेकर बीसवीं सदी के प्रथम पांच दशकों के मध्य यहां के सभी राज्यों में होने वाले वहां के सामन्ती व्यवस्था में किसानों अथवा अन्य कामगारों पर होने वाले आर्थिक व सामाजिक उत्पीड़न विशेष रूप से अंग्रेजी भारत के स्थानीय समाचार पत्रों में उजागर करने में पीछे नहीं रहते थे। उत्पीड़न के कई मामलों में तो ये बुद्धिजीवी राजपूताने में जनमानस के उत्पीड़न स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होकर उत्पीड़ित करते नजर आते थे। मेवाड़ क्षेत्र का बिजौलिया किसान आन्दोलन से संबंधित राजस्थान व राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध दस्तावेज इसकी पुष्टि करते हैं। ठीक इसी तरह की पुष्टि राज्यों में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने के लिए हुए जन आन्दोलनों से जुड़े राजकीय दस्तावेजों से होती है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि राजस्थान के लगभग सभी जन आन्दोलनों में राज्य के बाहर से विशेष रूप से अंग्रेजी भारत के विभिन्न अंचलों से आये लोगों का सक्रिय सहयोग रहता था।

सन् 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना और उसके विभिन्न वार्षिक अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों का यहां के राज्यों के युवकों में भी राजनीतिक चेतना का संचार करने में काफी सहयोग मिला। इसी दौरान प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजी भारत में प्रेस और समाचार-पत्रों का प्रकाशन पर से प्रतिबंध हटाने के बाद से अजमेर-मेरवाड़ा क्षेत्र में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ इनमें सन् 1920 में विजयसिंह पथिक ने पहले वर्धा से तत्पश्चात् अजमेर से 'राजस्थान केसरी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। सन् 1922 में अजमेर से ही 'राजस्थान सेवा संघ' ने 'नवीन राजस्थान' का प्रकाशन आरम्भ किया। बाद में इसका नाम बदलकर 'तरुण राजस्थान' रख दिया। 1923 में ऋषिदत्त मेहता ने ब्यावर से 'राजस्थान' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। 1927 में 'त्याग भूमि' आदि पत्रों का प्रकाशन हुआ। 1930 के बाद तो अनेक पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इनमें 1932 में 'प्रभात', 1935 में जयपुर समाचार का प्रकाशन हुआ। 1936 में 'नवज्योति', 1939 में 'नवजीवन' उल्लेखनीय थे। उपरोक्त पत्रों में अधिकांश का नाम राजस्थान से जुड़ा होने के कारण यह स्पष्ट है कि इन पत्रों का

मुख्य उद्देश्य राजस्थान में तिहरी गुलामी के अधीन यहां के विभिन्न राज्यों के आमजन पर होने वाले शोषण और अत्याचारों के मामले प्रकाशित कर जनमानस में वैचारिक क्रांति को और अधिक प्रोत्साहित करना था।

ये समाचार पत्र राजस्थान के राज्यों में आमजन पर होने वाले राजनीतिक उत्पीड़न को तो वे निरन्तर उजागर करते रहते थे। साथ ही विभिन्न राज्यों में होने वाले किसान आन्दोलनों यथा मेवाड़ में बिजौलिया किसान आन्दोलन, भील आन्दोलन शेखावाटी के जाटों और मीणों (किसानों) का आन्दोलन आदि के संचालन में स्थानीय लोगों के साथ सक्रिय भागीदारी निभाने लगे। इन्होंने इन आन्दोलनों में शासकों व जागीरदारों के निरंकुश शासन को चुनौती देते हुए जन साधारण में राजनीतिक चेतना जागृत करने और वैचारिक क्रांति का विस्तार करने में काफी महती भूमिका निभाई।⁵

राज्यों में उत्तरदायी शासन के लिये होने वाले जन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में राजस्थान से बाहर अंग्रेजी भारत में अपना कारोबार करने वाले व्यापारी वर्ग, विशेष रूप से मारवाड़ी व्यापारियों की अपने मूल राज्यों में वैचारिक क्रांति को पनपाने में दिया गया योगदान कम नहीं था। उन्होंने इसके लिए न केवल अपने मूल राज्यों में जगह-जगह पुस्तकालय-वाचनालय, सेवा समितियां, हितकारिणी सभाओं, रात्रि पाठशालाओं आदि की स्थापना कर राज्यों के निरंकुश शासन पर अप्रत्यक्ष चोट की वरन् राज्यों में जन आन्दोलनों को चलाने में भी आर्थिक सहायता देने में भी संकोच नहीं किया। साथ ही राज्यों के निरंकुश शासन के अन्तर्गत वहां के जन साधारण पर होने वाले उत्पीड़न की खबरों को राष्ट्रीय मंच पर उठाने के लिये अपने निजी खर्च पर देश के विभिन्न अंचलों से पत्र-पत्रिकाएं एवं समाचार पत्रों का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। इनमें राज्यों में होने वाली प्रत्येक राजनीतिक घटनाओं को प्रमुखता से प्रकाशित किया जाता था। इन पत्र-पत्रिकाओं में से अधिकांश का प्रवेश राज्य सरकारों ने निषेध कर दिया था। किन्तु इनमें प्रकाशित राज्यों में होने वाले राजनीतिक उत्पीड़न की जानकारी राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हो जाने के फलस्वरूप राष्ट्रीय स्तर के बुद्धिजीवी तथा राजनीतिक नेता व पत्रकार उत्पीड़न को समाप्त करने हेतु राज्यों के शासकों पर भारी दबाव बना दिया करते थे। इन मारवाड़ी व्यापारियों के आर्थिक सहयोग से अथवा स्वयं द्वारा देश के विभिन्न अंचलों में जो पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती थीं, उनमें 'मारवाड़ी गजट', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'मारवाड़ी बन्धु', 'लोकमत', 'श्री स्वदेश', 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'हरिजन', 'कर्णवीर', 'प्रताप', 'त्यागभूमि', 'लीडर', 'भारत मित्र' आदि प्रमुख थे।

ऐसे में राज्यों में वैचारिक क्रांति के परिदृश्य को विस्तार देने के लिये न केवल इन प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं का काफी सहारा मिला अपितु राज्यों में अपने मूल अधिकारों के प्रति सजग सक्रिय करने में राज्य व राज्य से बाहर के प्रबुद्ध लोगों के सहयोग से अनेक राजनीतिक संस्थाएँ स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसी

क्रम में उन्होंने 1919 में 'राजपूताना-मध्यभारत सभा' स्थापित कर राज्यों में वैचारिक क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी वहीं 1927 में उन्हीं के सहयोग से राष्ट्रीय स्तर के नेताओं ने राज्यों के निवासियों को भी अंग्रेजी भारत में प्राप्त जैसे राजनीतिक अधिकारों को दिये जाने के राज्यों में आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने के लिए 'ऑल इण्डिया स्टेट्स पिपुल्स कान्फ्रेंस' जैसी राजनीतिक संस्था की स्थापना कर डाली।⁶ बाद में धीरे-धीरे जब राज्य के निवासियों में उपरोक्त संस्थाओं के दिशा निर्देशन में अपने राज्यों में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने की ओर झुकाव प्रारम्भ हुआ उन्हीं के सहयोग से राज्यों में प्रजामण्डल व प्रजापरिषदों की स्थापना का क्रम प्रारम्भ हो गया। इन संस्थाओं के सहयोग से राज्यों में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने के लिए वैचारिक स्तर पर सोच प्रभावी होता चला गया। इसके परिणामस्वरूप राज्यों के शासकों, सामन्तों को जनता पर उनके द्वारा हर प्रकार के उत्पीड़न को बन्द करने को बाध्य होना पड़ता था। इस तथ्य को पुष्ट करने के लिये राज्यों के प्रत्येक जन आन्दोलनों की घटनाक्रमों से जुड़े उक्त समाचारों की कतरनों में व्यापक जानकारी उपलब्ध है।⁷

यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त राजनीतिक संस्थाओं, समाचार पत्रों के माध्यम से राज्यों के शहरों व कस्बों में निवास करने वाले लोगों में तो व्यापक जागरूकता आती चली गई। किन्तु ग्रामीण अंचल के निरक्षर लोग अभी तक इससे अधिक प्रभावित नहीं हो सके। किन्तु जब उक्त संस्थाओं ने व्यापक स्तर पर रचनात्मक कार्यक्रमों को हाथ में लिया तब से राज्यों के ग्रामीण अंचलों में भी वैचारिक क्रांति चरम पर पहुंच गई। इन रचनात्मक कार्यों में अकाल व बाढ़ के समय सार्वजनिक कार्य, हरिजन उद्धार, हरिजन सेवा संघ के माध्यम से शिक्षा प्रसार व मन्दिर प्रवेश, भीलों में सामाजिक सुधार कार्य, बलेठ-बेगार उन्मूलन कार्यक्रम, खादी प्रचार कार्य के साथ प्रौढ़ शिक्षा, स्त्री शिक्षा व हिन्दी भाषा का प्रचार आदि ने राज्यों के ग्रामीण अंचलों में सदियों से व्याप्त सामाजिक और आर्थिक कुरीतियों को दूर करने में ग्रामीण अंचलों में भी खूब मंथन हुआ और उसकी अन्तिम परिणिति सामन्ती व्यवस्था को समाप्त करते हुए बृहद राजस्थान का निर्माण संभव हो सका।⁸

अन्त में इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगी कि राजस्थान में भी देश के अन्य भागों की भांति वैचारिक क्रांति के अन्य अनेक माध्यम रहे थे, जिन पर अध्येता वर्ग अपने-अपने ढंग से प्रकाश डालते रहे हैं और डालते रहेंगे।

सन्दर्भ

1. राजस्थान में स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़े विषयों को लेकर शोध ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, उनमें किसी न किसी रूप में तत्कालीन वैचारिक क्रांति का भी उल्लेख हुआ है। ऐसे ग्रंथों में गोविन्द अग्रवाल का जन सेवक स्वामी गोपालदास जी का व्यक्तित्व व कृतित्व (प्रकाशक नगर श्री चूरू (1968), पृ. 35-45 व 208)

- डॉ. के.एस. सक्सेना का पोलिटिकल मूवमेन्ट एण्ड अवेकनिंग इन राजस्थान (1857-1947), आर.एल. लण्डा का हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम स्ट्रगल इन प्रिंसली स्टेट्स पृ. 111-114, डॉ. सोभाग माथुर का स्ट्रगल फोन रेसपोन्सिबल गर्वनमेंट इन राजस्थान पृ. 33-44, डॉ. चेतना मुद्गल का 'बीकानेर में जन आन्दोलन' पृ. 95-98, डॉ. विनीता परिहार का राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन पृ. 6-10, डॉ. देव कोठारी का 'स्वतंत्रता आन्दोलन में मेवाड़ का योगदान, डॉ. नलिनी शर्मा का मेवाड़ में जन आन्दोलन पृ. 15-28 आदि के साथ वैचारिक क्रांति से जुड़े अभिलेखीय स्रोतों के लिए डॉ. विजयकुमार वशिष्ठ की राजस्थान इतिहास के अभिलेखागारीय एवं निजी स्रोत पुस्तक भी उल्लेखनीय कही जा सकती है।
2. डॉ. विनीता परिहार, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन (प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2008), पृ. 9-10 व 17
 3. डॉ. चेतना मुद्गल, बीकानेर में जन आन्दोलन, रचना प्रकाशन, जयपुर, 1996, पृ. 95-96
 4. इस तथ्य की पुष्टि में मेवाड़ क्षेत्र में बिजौलिया किसान आन्दोलन के संचालन में राज्य से बाहर से आये बुद्धिजीवियों की सम्बद्धता से भी होती है-डॉ. पेमराम, बिजौलिया किसान आन्दोलन के इतिहास नामक ग्रंथ अच्छी सूचनाएं देता है।
 5. डॉ. विजय कुमार वशिष्ठ, राजस्थान इतिहास के अभिलेखागारीय एवं निजी स्रोत पुस्तक में राजस्थान के लगभग सभी प्रमुख राज्यों के स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़ी समाचार पत्रों की कतरनों के संग्रहों के राष्ट्रीय अभिलेखागार व राजस्थान राज्य अभिलेखागार सहित महत्वपूर्ण निजी संग्रहों में उपलब्ध होने की व्यापक जानकारी मिलती है। इसी संदर्भ में तत्कालीन अजमेर से प्रकाशित होने वाले उर्दू साप्ताहिक 'मोइन-उल-हिन्द', हिन्दी साप्ताहिक 'राजस्थान समाचार', उर्दू-हिन्दी साप्ताहिक 'राजपूताना गजट' व अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित 'राजपूताना मालवा टाइम्स' आदि के समाचार वैचारिक क्रांति में काफी सहायक रहे।
 6. डॉ. गिरिजा शंकर शर्मा, मारवाड़ी व्यापारी, एक आर्थिक व सामाजिक विश्लेषण में बीकानेर राज्य के प्रवासी मारवाड़ी व्यापारियों द्वारा स्थापित संस्थाओं की पुस्तक के परिशिष्टों में देखें। साथ ही उन्हीं की एक अन्य पुस्तक मारवाड़ी (दृष्टि-प्रतिदृष्टि) भी इस विषय पर आलोचनात्मक जानकारी द्रष्टव्य है।
 7. राज्यों में प्रजामण्डलों के जितने भी राजनीतिक आन्दोलन हुए उनमें अधिक से अधिक वैचारिक क्रांति का फैलाव होने की जानकारी राज्यों के सभी समाचार कतरनों से जुड़े ब्यूरो की पत्रावलियों में व्यापक रूप से उपलब्ध है। हर राजनीतिक घटनाओं से जुड़ी अलग-अलग पत्रावलियां हैं।
 8. डॉ. देव कोठारी ने अपनी पुस्तक स्वतंत्रता आन्दोलन में मेवाड़ का योगदान में मेवाड़ के रचनात्मक कार्यक्रम सम्बन्धी अध्याय देखें।

राजस्थान का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम-1857 की क्रान्ति

प्रो. मीना गौड़

ब्रिटिश इतिहासकारों ने 1857 ई. में भारत में जो कुछ हुआ उसे म्युटिनी अर्थात् सिपाही विद्रोह की संज्ञा दी है। इसे सिपाही विद्रोह की संज्ञा सर्वप्रथम तत्कालीन भारत सरकार के 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' अर्ल स्टेनले ने दी थी। उन्होंने ब्रिटिश संसद में 1857 ई. में भारत में होने वाली घटनाओं को म्युटिनी अर्थात्: सिपाही विद्रोह कहकर सम्बोधित किया था। उसके बाद तो प्रायः सभी अंग्रेज इतिहासकारों जैसे चार्ल्स बॉल, जी.डब्ल्यू फोरेस्ट, टी.आर.होम्स, एम.एन. जे.डब्ल्यू केय, जी.एफ. मैकमन, जी.वी. मैलेसन, सी.टी. मैटकॉफ, अर्ब राबर्टस में एक होड़ सी मच गई अर्ल स्टेनले का अनुकरण करते हुए इस घटना को म्युटिनी की संज्ञा देने की।¹ 27 जुलाई 1857 को हाऊस ऑफ कॉमन्स में अपने वक्तव्य में विपक्ष के नेता डिजैरैली ने सर्वप्रथम 1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा दी।² इंग्लैण्ड के चार्टिस्ट नेता तथा कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रभावित अर्नेस्ट जोन्स ने भी इसे भारतीय स्वाधीनता संग्राम की संज्ञा दी। वीर सावरकर ने तो इसे बहुत बाद में 1910 ई. में भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा।

1857 को विद्रोह केवल मात्र सैनिक विद्रोह नहीं था तथा चर्बी वाले कारतूस की घटना एक तात्कालिक बहाना या कारण भर था। यह ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय जन-जीवन का विरोध था, जिसमें भारत के प्रायः सभी स्तर के लोगों ने अपना-अपना योगदान दिया। अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीयों में राष्ट्रीय नफरत व असंतोष की भावना इसका मूल कारण था। अतः 1857 ई. के इस विद्रोह को सैनिक बगावत की संज्ञा नहीं दी जा सकती। भारत के स्वतंत्रता की यह पहली लड़ाई थी, जिसमें भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का बीजारोपण हुआ।

1857 के विद्रोह के संबंध में यह भी स्पष्ट है कि इस विद्रोह का स्वरूप कुछ भी रहा हो, किन्तु इस विद्रोह के मुख्य पात्र देशी सैनिक ही थे। उन्होंने ही संघर्ष को प्रारम्भ किया और विरोध में प्रबल भूमिका निभाई। उन्हें कठोर यातनाएँ दी गईं। फांसी के तख्तों पर उन्हें झूलना पड़ा, नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। अपने घर, वतन, पत्नी, और बच्चे छोड़ने पड़े, उन्हें अमानवीय यातनाएं दी गईं, किन्तु इन सैनिकों का साथ अन्य भारतीयों ने भी दिया। सैनिकों की तरह वे भी मारे गए। जिस गति से यह विद्रोह फैला उसने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया कि विद्रोह में जनता का प्रबल समर्थन प्राप्त था। बहुत से स्थानों पर जनसाधारण एवं नागरिकों ने सैनिकों का पूर्ण सहयोग दिया,

विद्रोह की यह आग 1860 तक सुलगती रही। इस सम्बन्ध में विपिन चन्द्र के शब्दों का उद्धृत करना उचित होगा। उन्होंने लिखा है “वास्तव में ये सिपाही सैनिक वर्दी में किसान थे, जो अब तक गाँव की मिट्टी से जुड़े थे। एक सैनिक अधिकारी ने डलहौजी को संभावित खतरे के बारे में चेतावनी दे दी थी कि हमारी सेना देश के किसानों के बीच से बनी है। यदि आप भारतीय जनता की संस्थाओं पर कुठारघात करेंगे तो सेना भारतीय जनता की हमदर्द हो जायेगी, क्योंकि वह इसी के बीच से बनी है। किसी भी व्यक्ति के अधिकारों का हनन, का मतलब है, किसी न किसी सैनिक के अधिकारों का हनन, क्योंकि हर सैनिक किसी न किसी का या तो पिता है या बेटा है या भाई है या दूर का रिश्तेदार।³

सन् 1857 में राजस्थान प्रदेश में 18 देशी रिसायतें अजमेर का ब्रिटिश जिला और नीमच की छावनी शामिल थी। यह गर्वनर जनरल के एजेन्ट पी.लॉरेन्स के राजनीतिक शासक के अधीन था। उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, भरतपुर और कोटा इन पांच प्रमुख देशी राज्यों में पोलिटिकल एजेन्ट थे, जो ए.जी.जी के अधीन सर्वोच्च सरकार का प्रतिनिधित्व करते थे। उस समय राजस्थान में 6 सैनिक छावनियां थी, नीमच, नसीराबाद, देवली, खेरवाड़ा, एरनपुरा तथा अजमेर। इन सभी छावनियों में अंग्रेजी पलटनें थीं परन्तु इनमें अधिकांश सैनिक भारतीय थे। उनसे यह आशा नहीं की जाती थी कि वे विद्रोह के व्यापक प्रभाव से अछूत रह सकेंगे। यही कारण है कि राजस्थान में भी जब 1857 के विद्रोह की आग फैली तो ब्रिटिश सरकार चिंतित हो उठी।

राजस्थान में क्रान्ति का सूत्रपात नसीराबाद में हुआ था। यहां पर क्रान्ति का विस्फोट होने के बाद यहाँ के ब्रिटिश अधिकारी जब भाग कर ब्यावर की ओर गये तब रास्ते में ग्रामवासी शस्त्र लिये उन पर आक्रमण करने को तैयार खड़े थे। कप्तान प्रिचार्ड ने स्वीकार किया है कि यदि बम्बई लॉन्सर के सैनिक उनके साथ न होते तो उनको वही कत्ल कर दिया जाता।⁴ इतना ही नहीं रास्ते में जितने भी गाँव मिले, ग्रामवासियों को ऐसी ही तैयारी में पाया गया। जब वे ब्रिटिश अधिकारी भूखे-प्यासे अजमेर के कमिश्नर की कोठी के परिसर में पहुँचे तो कोठी के भारतीय नौकरों ने उन्हें बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा तथा किसी ने उनकी दयनीय स्थिति के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की। अपनी भूख शान्त करने के लिए जब उन्होंने बाजार से ब्रेड मँगवाई तो दुकानदार ने उन्हें ब्रेड देने से इन्कार कर दिया। ऐसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कप्तान प्रिचार्ड ने लिखा है कि चौबीस घण्टे पहले कोई भी भारतीय यूरोपियन के प्रति ऐसा व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकता था, लेकिन इस समय यूरोपियनों के प्रति वह आदरभाव समाप्त हो चुका था।⁵ नसीराबाद से क्रान्तिकारियों के चले जाने के बाद ये ब्रिटिश अधिकारी लौट कर नसीराबाद आये तो इन अधिकारियों के घरेलू भारतीय नौकरों ने उनके साथ बड़ा

उपेक्षापूर्ण एवं अपमानजनक ढंग से व्यवहार किया⁶ स्पष्ट है कि उनमें भी 'फिरंगियों' से घोर घृणा थी, जिन्होंने उनके धर्म और जाति का नष्ट करने का प्रयत्न किया था, जब ये ब्रिटिश अधिकारी, क्रान्तिकारियों द्वारा लूटी हुई सम्पत्ति को ढूँढने पास के गाँव में गये तो गाँव वालों ने उन पर पत्थर फेंके और ब्रिटिश अधिकारी ठेकवेल पर तो उसके स्वयं के नौकर ने लोहे की छड़ से प्रहार किया था जिससे वह बेहोश हो गया।⁷ इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी सत्ता के प्रति जन-सामान्य में भी तीव्र आक्रोश व्याप्त था।

राजस्थान में क्रान्ति का सूत्रपात हो जाने के बाद मेवाड़ को पोलिटिकल एजेन्ट उदयपुर के महाराणा से विचार-विमर्श करने हेतु उदयपुर आया। मेरठ व दिल्ली में आरम्भ हुई क्रान्ति की सूचना उदयपुर पहुंच चुकी थी, तथा नसीराबाद में हुई क्रान्ति की सूचना भी उदयपुर पहुंच चुकी थी। अतः यहां फिरंगियों के विरुद्ध सर्वत्र विरोधी भावना फैली हुई थी। मेवाड़ का पोलिटिकल एजेन्ट कप्तान शॉवर्स जब उदयपुर शहर के मार्ग से गुजरात होता हुआ राजमहल की ओर जा रहा था तब रास्ते में जनता की भीड़ ने उसे कर्कश शब्दों में धिक्कारा।⁸ कप्तान हार्डकेसल क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए जिस मार्ग से भी गुजरा, लोगों ने उसे गालियाँ दीं।⁹ इसके विपरीत क्रान्तिकारी जिस मार्ग से भी गुजरे, लोगों ने उनका हार्दिक स्वागत किया और उन्हें सहायता प्रदान की। मध्य भारत का क्रान्तिकारी नेता तात्या टोपे जहां भी गया जनता ने उसका हार्दिक स्वागत किया तथा उसे रसद, आदि प्रदान की।¹⁰ यह जनता का क्रान्तिकारियों को प्रत्यक्ष समर्थन था, वस्तुतः इस जन-भावना के दबाव के कारण ही बीकानेर के महाराजा ने नाना साहब को सहायता दी थी।¹¹ यदि यह मान लिया जाय कि राजस्थान के जागीरदारों ने अपने निजी स्वार्थों से प्रेरित होकर ब्रिटिश सत्ता से टक्कर ली थी, लेकिन उन जागीरदारों ने अपने निजी स्वार्थों से प्रेरित होकर ब्रिटिश सत्ता से टक्कर ली थी, लेकिन उन जागीरदारों को उनके क्षेत्र के आस-पास की जनता का जो सहयोग और समर्थन मिला वह स्पष्टः जनता की ब्रिटिश विरोधी भावना प्रदर्शित करता है।¹² यदि उन जागीरदारों को जन समर्थन प्राप्त नहीं होता तो मुट्ठी भर जागीरदारों के लिए शक्तिशाली ब्रिटिश सेना से टक्कर लेना प्रायः असम्भव हो जाता। जोधपुर के दस्तकारी रिकार्ड में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जब ए.ए.जी. जार्ज लॉरेन्स ने आउवा पर चढ़ाई की तब पहली बार गाँव वालों की तरफ से आक्रमण हुआ था।¹³ मारवाड़ में ऐसी परम्परा थी कि जब किसी बड़े अधिकारी की मृत्यु होती थी। तब राजकीय शोक मनाते हुए किले में नौबत बजाना भी बन्द रखा जाता था। लेकिन जब जोधपुर के पोलिटिकल एजेन्ट मॉक मेसन की आउवा में हत्या कर दी गई तब राज्य में जन-भावना का देखते हुए महाराजा तख्तसिंह ने राजकीय शोक न मानते हुए नौबत बजाना भी बन्द नहीं किया।¹⁴ जबकि क्रान्तिकारियों ने संघर्ष करते हुए जब किलेदार अनाइसिंह मारा गया तब किले में नौबत बजाना बन्द रखा गया था।¹⁵ यह जन-भावना का दबाव था आउवा ठाकुर कुशालसिंह द्वारा ब्रिटिश सेनाओं से टक्कर लेने

की घटना को तत्कालीन साहित्य में सर्वोच्च स्थान दिया गया, जिसमें आउवा ठाकुर कुशालसिंह की प्रशंसा इसलिये की गई क्योंकि उसने फिरंगियों से युद्ध किया था। इस युद्ध को गोरों और कालों के बीच संघर्ष बताया गया।¹⁶

10 अगस्त, 1857 ई. रात में जोधपुर के किले की गोपाल पोल के पास बारूद के भण्डार पर बिजली गिर जाने के परिणामस्वरूप भयंकर विस्फोट से किले की दीवारों के पत्थर उड़ कर तीन-तीन मील की दूरी पर जा गिरे। इस दुर्घटना से किले के आसपास का शहर नष्ट हो गया और लगभग 400 आदमी दब कर मर गये अथवा घायल हुए।¹⁷ लोगों ने इस दुर्घटना को ईश्वरीय कोप बताया जो महारजा तख्तसिंह द्वारा विधर्मी अंग्रेजों से सन्धि करने तथा उनके प्रति वफादारी प्रदर्शित करने के कारण हुआ था।¹⁸ अंग्रेज विरोधी भावना से भली-भांति परिचित था। इसलिये क्रान्तिकाल में उसने अंग्रेजों की सहायता, जहां तक हो सका, गुप्त रूप से की।¹⁹ आउवा के संघर्ष में कप्तान मेसन की हत्या कर उसके शव को वृक्ष की टहनी पर उलटा लटका दिया गया, किन्तु ऐसा अभद्र व्यवहार किलेदार अनाड़सिंह के शव के साथ नहीं किया। स्पष्ट है कि जन-आक्रोश मात्र अंग्रेजों के प्रति था।²⁰

राजस्थान में हुई 1857 ई. की क्रान्ति का अध्ययन और विश्लेषण करने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि राजस्थान में यह क्रान्ति किसी संयोग का परिणाम नहीं थी और न ही एरिनपुरा, डीसा और देवली के क्रान्तिकारियों के आगमन के फलस्वरूप हुई थी, बल्कि यह तो ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध सर्वव्यापी रोष का परिणाम था।²¹ यही कारण है कि आउवा से जोधपुर लीजियन के सैनिकों व ठाकुर कुशालसिंह के चले जाने के बाद भी आउवा के लोग 1861 ई. तक अंग्रेजों से संघर्ष करते रहे।²² वस्तुतः क्रान्तिकारी, राजस्थानी समाज के सामन्ती ढाँचे को बनाये रखने तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे थे।²³ नसीराबाद, नीमच और एरिनपुरा की क्रान्ति निःसन्देह भारतव्यापी क्रान्ति का एक अंग थी, लेकिन कोटा और आउवा में क्रान्ति स्थानीय परिस्थितियों के कारण हुई थी और उनमें ब्रिटिश विरोधी भावना निर्विवाद रूप से विद्यमान थी।²⁴ टोंक और कोटा की तो साधारण जनता ने क्रान्तिकारियों से मिलकर संघर्ष में भाग लिया था। इसलिये क्रान्तिकाल में मरने वालों में जनसाधारण की संख्या अधिक थी।

तात्कालिक कवियों ने उन लोगों की प्रशंसा में गीतों की रचना की जिन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया या क्रान्तिकारियों को शरण व सहायता दी थी।²⁵ इसके विपरित जिन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया उन्हें कायर और गुलाम कहा गया। इन भावनाओं को स्पष्ट है कि राजस्थान राष्ट्रीय भावनाओं से ओत प्रोत था।

कुछ विद्वानों का कहना है कि क्रान्ति को राष्ट्रीय स्वरूप इसलिये प्रदान नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रथम तो अधिकांश देशी नरेशों ने क्रान्ति को दबाने में अंग्रेजों

का साथ दिया था और दूसरा यह कि क्रान्तिकाल में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि लोगों ने स्वयं का जीवन खतरे में डालकर अंग्रेज स्त्रियों, पुरुषों व बच्चों की रक्षा की थी।²⁶ हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन काल में देशी रियासतों के शासकों ने ब्रिटिश सत्ता के प्रति अपनी वफादारी प्रदर्शित की थी, किन्तु मूल बात तो यह है कि क्रान्तिकारियों का दृष्टिकोण क्या था और जन-भावना क्या थी? निःसन्देह क्रान्तिकारियों का दृष्टिकोण और जन-भावना ब्रिटिश विरोधी थी। ब्रिटिश जनविरोधी भावना संबंधी अनेक अभिलेख बीकानेर राज्य अभिलेखागार में उपलब्ध हैं, उनसे ज्ञात होता है कि जयपुर के कुछ राजकीय कर्मचारी, जो ब्रिटिश सरकार में चपरासी थे, उन्होंने अंग्रेज ऑफिसरों की कोठियों में लूटमार एजेन्ट को आदेश दिया कि लूटमार करने वाले चपरासियों की सम्पत्ति जब्त करके नीलाम करने और उससे प्राप्त राशि उक्त न्यायालय में भेजा जाए ताकि वह राशि उन कोठियों के अफसरों को चुकाई जा सके।²⁷

ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं कि बागियों को पकड़ने के लिए अंग्रेजी सिपाही पहुंचते तो उस स्थान के निवासी सिपाहियों का विरोध करते और विद्रोहियों को शरण देते। अलवर वकील की ओर से जयपुर एजेन्ट को भेजे गए एक पत्र से ज्ञात होता है कि दिल्ली से भागकर आए विद्रोहियों को पकड़ने हेतु अंग्रेजी सरकार के सिपाही जब असताली गांव पहुंचे तो विद्रोहियों को पकड़ने नहीं दिया।

यद्यपि विद्रोह को बर्बरतापूर्ण कार्यवाही द्वारा दबा दिया गया किन्तु भारतवासियों के लिए यह विद्रोह प्रेरणा का स्रोत रहा। भारतीयों को यह अनुभव हो गया कि राजा-महाराजाओं और नवाबों को छोड़कर, क्योंकि उनके निजी स्वार्थ अंग्रेजों से जुड़े थे अन्य भारतीय विशेषकर देशी सैनिक, अन्य कर्मचारी की मध्यम तथा निम्नश्रेणी के लोग ब्रिटिश सरकार के प्रति घोर विरोध की भावना रखते हैं। इसी धारण और विश्वास के साथ भारतीयों ने अंग्रेजों को बाहर निकालने की योजना बनाई इस विद्रोह का एक अन्य महत्वपूर्ण एवं शुभ लक्षण था हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द और दोनों समुदायों का ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध समान विरोधी आक्रोश की भावना जिसने राष्ट्रीयता का रूप ले लिया। विवश होकर अंग्रेजों को इस हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द को तोड़ने के लिए, 'फूट डालो और शासन करो' की नीति धारण करनी पड़ी। अन्ततः 190 वर्ष का सफर तय करने के बाद 1947 ई. में भारतवासियों को ब्रिटिश सरकार से भारत को स्वतंत्र करवाने में सफलता प्राप्त हुई।

संदर्भ

1. तारा चन्द, हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, खण्ड 2, पृ. 4
2. हाऊस ऑफ कॉमन्स में दिया गया डिजरेली का भाषण, जुलाई 27, 1857
इंसार्डस पार्लियामेन्टरी डिबेटस CXLVII कॉलम 440-41

3. विपिन चन्द्रा भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ. 05, दिल्ली विश्वविद्यालय- 1990।
4. के. एस. सक्सेना, साहित्य अकादमी जयपुर, द्वितीय संस्करण, 1992, पृ. 19।
5. आई. टी. प्रिचार्ड, द म्यूटिनीज इन राजपूताना, पृ. 72 और 104
6. उपरोक्त पृ. 76-77
7. उपरोक्त पृ. 90
8. उपरोक्त पृ. 95 और 97
9. सी.एल. शॉवर्स से ए मिसिंग चैप्टर ऑफ द इण्डियन म्यूटिनी पृ. 10-11।
10. नाथूराम खड़गावत, राजस्थान रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857, पृ. 88।
11. एजेन्सी रेकार्ड फाईल नं. 1 म्यूटिनी 1857, खण्ड IV
12. नाथूराम खड़गावत, राजस्थान रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857, पृ. 37
13. एजेन्सी रेकार्ड फाईल नं. 1 म्यूटिनी 1857, खण्ड III
14. हकीकत बही, फाईल नं. 18, पृ. 372
15. उपरोक्त, पृ. 387
16. परम्परा, गोरहट जा, वर्ष 1, अंक 2, पृ. 64
17. बी.एन.रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग-2, पृ. 449
18. मुंशी ज्वाला सहाय, लॉयल राजपूताना पृ. 287-279
19. हकीकत बही, फाईल नं. 18, पृ. 372-387
20. सी.एल. शॉवर्स से ए मिसिंग चैप्टर ऑफ द इण्डियन म्यूटिनी, पृ. 108
21. प्रकाश व्यास, राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम, पृ. 210-211
22. हकीकत बही, फाईल नं. 21, पृ. 401
23. नाथूराम खड़गावत, राजस्थान रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857, पृ. 90
24. प्रकाश व्यास, राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम, पृ. 210
25. परम्परा, गोर हट जा, वर्ष 1 अंक 2, पृ. 72
26. एस.एन.सेन, एटीनफिफ्टी सेवन
27. राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, इंडियन म्यूटिनी 1857, फाईल नं. 9, पत्र-24 नवम्बर 1858

नाम मुलाजिम	वल्दियत	कोमियत	ओहदा	परगना
हिम्मत सिंह	धीरसिंह	अहीर	चपरासी	साकन्या इलाका जयपुर
इलाह यार खाँ	हिम्मत खाँ	पठान	चपरासी	सींघनार अकबर जयपुर
रामसिंह	गोपालसिंह	राजपूत	चपरासी	मंदोली इलाका जयपुर
इमाम खाँ	बख्तावरसिंह	राजगीर	चपरासी	झुन्झुनु इलाका जयपुर
बलदेवसिंह	प्रतापसिंह	राजपूत	चपरासी	पगली इलाका जयपुर

पूर्व-आधुनिक कालीन राज्य व्यवस्था और पर्यावरणीय सरोकार : 18वीं शताब्दी राजस्थान के विशेष संदर्भ में

डॉ. मयंक कुमार

भारत में पर्यावरणीय इतिहास लेखन की शुरुआत ब्रिटिश उपनिवेश काल के दौरान हुए प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की ऐतिहासिक विवेचना से हुई। चूंकि तत्कालीन इतिहासकार उपनिवेशीय राज्य व्यवस्था के दुष्परिणामों को उजागर करना चाहते थे इसलिए उन्होंने उपनिवेशीय पूर्व राज्य व्यवस्था को आदर्श माना और वैसा ही चित्रण कर दिया। ज्यादातर प्रारम्भिक पर्यावरणीय इतिहास लेखक आधुनिक युग पर लेखन कर रहे थे, इनमें मुख्य है, माधव गाड्गल¹, रामचन्द्र गुहा², महेश रंगारजन³, सुमित गुहा⁴, आदि।

राजस्थान के विशेष संदर्भ में यह बात भी ध्यान रखने वाली है कि यहाँ की पर्यावरणीय परिस्थितियाँ काफी दुष्कर और जटिल रही हैं, जिसकी वजह से संसाधनों पर अधिकार को लेकर काफी जद्दोजहद रही है। शशि देवड़ा जी ने श्रम की कमी और उस पर अधिकार को लेकर उत्पन्न हुये विवादों की करफी चर्चा की है, जो कि विरल जनसंख्या को इंगित करता है। जनसंख्या की विरलता का सीधा संबंध पर्यावरणीय विषमताओं और जटिलताओं से रहा है। मुझे इसकी मुख्य वजह इस इलाके का शुष्क पर्यावरण नजर आता है, जो कि इस इलाके की वनस्पति और जीव जगत की विरलता में भी नजर आता है।

अपनी बात आगे बढ़ाने से पहले मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि जैसे तो समग्र भारत मानसूनी बारिश से प्रभावित होता है, परंतु राजस्थान में सतत प्रवाही नदियों की कमी की वजह से इस इलाके की मानसूनी बारिश पर निर्भरता काफी ज्यादा रही है। जहाँ एक ओर जयपुर राज्य के अड्सट्रों के उपविभाग हासिल फरोही में लिखित शिकायतों और राज्य के आदेशों तथा अर्जदाशत का अध्ययन इस विषय को समझने में हमारी काफी सहायता करता है। वहीं दूसरी तरफ मरवाड़-जोधपुर राज्य की सनद परवाना बही भी पर्यावरणीय इतिहास लेखन के महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में नजर आती है। उदाहरण के लिए, ईस्वी सन 1717 में, यह बताया गया था कि कसबा आवेरी में, दस अंगुल बारिश सावन सुदी '11' पर हुई, इसलिए जुताई केवल चार-पांच दिनों के लिए हो सकी है।⁵ इसी प्रकार, 1705 ईस्वी में परगना अंबर के लिए, पुरोहित हरसुराम ने सूचना दी थी कि सावन वदि '7' से सावन सुदी '1' तक परगना में बहुत कम वर्षा हुई

और तेज हवाओं की वजह से, जुताई नहीं हुई और फसलों के उत्पादन में काफी कमी आई।⁶

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि मानसूनी बारिश की अनियमता और कमी का असर वहाँ की वनस्पति की विरलता और खेती की सीमित उपज पर नजर आता है जिसको हम निम्नलिखित उदाहरणों से समझ सकते हैं। शासकों ने न केवल सिंचाई के साधनों के स्वामित्व के मुद्दे पर मध्यस्थता की, बल्कि वितरित होने वाले पानी की मात्रा पर भी हस्तक्षेप किया।⁷ कभी-कभी राज्य को एक सिंचाई उपकरण से विभिन्न दावेदारों के मध्य पानी की मात्रा तय करने में हस्तक्षेप करना पड़ता था।⁸ यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि राज्य गांवों में नए कुओं की खुदाई को प्रोत्साहित करके ज्यादा भूमि पर खेती में वृद्धि करने के लिए निरंतर सजग रहता था।⁹ सिंचाई सुविधाओं के अधिकतम उपयोग के लिए राज्य की चिंता भी इन दस्तावेजों में स्पष्ट है। आमेर राज्य के लिए लिखे गए राजकीय दस्तावेजों के अनुसार पौस वदि 5, 1773 विक्रमी संवत्, पर फतेह चन्द रामजी द्वारा लिखित एक अर्जदाशत के माध्यम से राजा सवाई जयसिंह को सूचित करता है कि निर्देश के अनुसार सिंचाई के लिए कुओं के पानी का उपयोग किया जा रहा है।¹⁰

सीमित कृषि और विरल वनस्पति किन अर्थों में राज्य के पर्यावरणीय सरोकारों को प्रभावित करती है, उसको निम्नलिखित उदाहरणों से समझ सकते हैं। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को राज्य द्वारा सीमित रखने के प्रयासों को उनकी राजस्व को अधिकतम करने के चिंताओं से अलग नहीं किया जा सकता है। हरे पेड़ों को काटने के पर सजा देने के हमारे पास कई सबूत हैं। सजा हमेशा नकदी में वसूल हुई और राज्य के राजस्व का एक हिस्सा बन गयी। गांव सैथल के परगना बहात्री में एक व्यक्ति को एक नीम के पेड़ काटने के लिए दंडित किया गया था।¹¹ नीम में जबरदस्त औषधीय गुण हैं और एक औषधीय पौधे होने के नाते नीम को काटने को अशुभ भी माना जाता था। इसी प्रकार की सजा पीपल¹² और बड़¹³ के पेड़ों का काटने पर भी दी जाती थी। इसकी एक वजह शायद इन पेड़ों के काटने को अशुभ माना जाता था। यहाँ यह कहना भी जरूरी है कि पीपल और बड़ की पूजा भी की जाती थी, शायद इस प्रकार के धार्मिक विचारों ने भी सजा को जन्म दिया। गौरतलब है कि सजा का स्वरूप आमतौर पर नकद भुगतान द्वारा ही किया जाता था। सजा की रकम राज्य के राजस्व का हिस्सा बन गया और इस राशि के संग्रह या व्यय में धर्म में कोई भूमिका नहीं थी।

इसके साथ साथ हमारे पास जामुन¹⁴ आदि के पेड़ों को काटने के लिए राज्य द्वारा सजा का प्रमाण है। बबूल के पेड़ों को काटने पर भी दंडित किया गया था।¹⁵ बबूल राजस्थान की प्राकृतिक वनस्पति का हिस्सा थे और इन्हे ज्यादा रख-रखाव की भी जरूरत नहीं पड़ती है। शुष्क भाग में, बबूल प्रमुख पेड़ था और ऊंटों के लिए भोजन भी

प्रदान करता रहा है। बबूल के आर्थिक और पारिस्थितिक मूल्य को देखते हुए, उन लोगों को दंडित करना जरूरी था जिन्होंने इसे काटने की कोशिश की। यह दर्शाता है कि राज्य किसी विशेष पेड़ की रक्षा नहीं कर रहा था, बल्कि यह अधिकतम राजस्व निकालने और इसके आर्थिक हितों की रक्षा करने में रूचि रखता था। इस संदर्भ में, यह कहना महत्वपूर्ण है कि वनों या पहाड़ों से घास काटने को भी दंडित किया जाता था।¹⁶ इसके अलावा, यह कहना कि केवल आर्थिक वजहों के लिए संरक्षण किया जाता था केवल एक आंशिक स्पष्टीकरण होगा। पेड़ों का संरक्षण बहुत पुराने समय से समाज और संस्कृति का हिस्सा रहा है।

आमेर रियासत के सबूतों से पता चलता है कि राज्य ने जानवरों को मार डालने वालों को भी सजा दी थी। मवेशियों की हत्या को दंडित किया गया था।¹⁷ हमें राजस्थान के अर्द्ध शुष्क और शुष्क क्षेत्रों में मवेशियों के आर्थिक महत्व को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए जिनका उल्लेख कई दस्तावेजों में देखने को मिलता है। एक अर्जदाशत दिनांक जेट सुदी 14, 1854 विक्रमी संवत् से पता चलता है कि जब एक गाय की हत्या हो जाती है, अपराधी से गाय के मालिक को सोने की गाय वापस मिलने की उम्मीद होती थी।¹⁸ समकालीन समाज में गायों का महत्व इस सबूत से प्राप्त किया जा सकता है।

अंत में मैं यह कहना चाहूँगा कि पूर्व-आधुनिक कालीन राज्य व्यवस्था के पर्यावरणीय सरोकारों को तत्कालीन सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में समझना जरूरी है और 18वीं शताब्दी राजस्थान के लिए उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री पर्यावरणीय इतिहास लेखन को और समग्र करने में गहरी भूमिका निभा रही है, और मुझे उम्मीद है कि यहाँ उपलब्ध सामग्री का गहन अध्ययन राज्य व्यवस्था और समाज के पर्यावरणीय सरोकारों को समझने में काफी महत्वपूर्ण साबित होगा।

सन्दर्भ

1. गाडगील माधव और रामचंद्र गुहा, दिस फिशर्ड लैंड, एन एकोलोगिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1992
2. गुहा रामचंद्र, द अन क्वाइट वुड्स, एकोलोगिकल चेंग एंड पेसंट रेसिस्टेंस इन द हिमालय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1989
3. रंगाराजन महेश और के शिवरामकृष्णन, संपादित, इंडियाज एनवायरनमेंटल हिस्ट्री, भाग- I एवं II, पेरमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2012
4. गुहा सुमित, एनवायरनमेंट एंड एथनिसिटी, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1999, 'क्लेम्स ऑन द कॉमन्स, पॉलिटिकल पावर एंड नैचुरल रिसोर्सेस इन प्री-कोलोनियल इंडिया, इंडियन इकनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, अंक 39, संख्या 2 और 3, 2002, पृष्ठ, 181-96
5. अर्जदाशत, सावन सुदी 11, 1659 विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर

6. अर्जदाशत, सावन सुदी 1, 1647, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
7. सनद परवाना बही, आसाढ़ सुदी, 8, 1708, विक्रमी संवत्, जोधपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
8. सनद परवाना बही, सावन सुदी, 8, 1708, विक्रमी संवत्, जोधपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
9. सनद परवाना बही, भादवा वदि, 8, 1708, विक्रमी संवत्, जोधपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
10. अर्जदाशत, पौस वदि 5, 1706, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
11. अड्सट्टा, ग्राम, कुंडला, परगना भरतरी, 1745, विक्रमी संवत्, गांव बिल्हाता, परगण भरतरी, 1774, विक्रमी संवत्, कस्बा जयपुर, परगना जयपुर, 1798, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
12. अड्सट्टा, गाँव चाँदपुर, परगना भरतरी, 1775, विक्रमी संवत्, गाँव माहिन नाला खुर्द, परगना भरतरी, 1781, विक्रमी संवत्, गाँव ब्राह्मणवस, परगना गाजी का थाना, 1807, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर।
13. अड्सट्टा, ग्राम चौरोती, परगना हिंडोन, 1785, विक्रमी संवत्, गाँव शिवपुर परगना टोंक, 1777, विक्रमी संवत्, गाँव नुका की वास परगना लालसोट, 1820, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर
14. अड्सट्टा, ग्राम नाडू परगना भरतरी, 1774, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर।
15. अड्सट्टा, ग्राम पलासोली, परगना नारायणा, 17 9 1, विक्रमी संवत्, कस्बा बसवा परगण भरतरी, 1745, विक्रमी संवत्; गाँव जयसिंगपुरा, परगना भरतरी, 1775, विक्रमी संवत्; गाँव कलौता, परगना भरतरी, 1774, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर।
16. अड्सट्टा, परगना भरतरी, 1777, बनाम, परगना, नारायणा, 1791, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर।
17. अड्सट्टा, कस्बा नारायणा, परगना नारायणा, 1812, विक्रमी संवत्; गाँव किराटपुरा, परगना भरतरी, 1774, विक्रमी संवत्; परगना नारायणा, 1812, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर।
18. अर्जदाशत, जेठ सुदी 15, 1854, विक्रमी संवत्, इतिहास विभाग, जयपुर दस्तावेज, राजस्थान राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर

ब्रिटिश कालीन भारत में हस्तक्षेप की नीति (राजपूताना राज्यों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. अन्जु सुथार

राजस्थान का इतिहास और स्वतंत्रता संग्राम इसी पृष्ठभूमि में फला-फूला जहाँ प्रत्येक रियासत ने इसकी अस्मिता को बनाए रखने के लिए विभिन्न प्रकार से योगदान दिया। महाराणा प्रताप तथा वीर दुर्गादास जैसे नायकों ने कष्ट सहकर भी इस नवचेतना को जागृत करने का भरसक प्रयत्न किया।¹

साम्राज्यवादी विचारधारा

सोलहवीं सदी में आयरलैंड की विजय के बाद अंग्रेज धीरे-धीरे आयरलैंड से अमेरिका तक तथा भारत से अफ्रीका तक दुनिया भर में पिछड़े जनगणों को सभ्य बनाने के लिए जिम्मेदारों की भूमिका में उभरकर सामने आए। ब्रिटेन के इस साम्राज्यिक इतिहास के दो चरण थे- पहले चरण में 'पहला साम्राज्य' बना जो अटलांटिक पर अमेरिका तथा वेस्टइंडीज तक फैला हुआ था। 'दूसरे साम्राज्य' का प्रसार पूरब अर्थात् एशिया और अफ्रीका की ओर हो रहा था। 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन में बढ़ रही देशभक्ति की भावना का प्रभाव इसके समुद्र पार स्थित साम्राज्यों पर भी पड़ा। प्रबोधकाल के बाद ब्रिटेन की साम्राज्यवादी धारणा इस धारणा पर मजबूत होती गयी कि अब तथाकथित 'सुधारों का युग' प्रारम्भ हुआ है, जब अंग्रेजों ने अपने आप को पूरब वालों के मुकाबले आधुनिक और सभ्य बताना शुरू किया।

किन्तु व्यवहार में यह प्राच्यवाद ब्रिटेन की साम्राज्यवादी मानसिकता का आरम्भिक हथियार था। भारत में अनेक सोसायटी, कॉलेज तथा मदरसों की स्थापना एक राजनैतिक सोच के अन्तर्गत किया गया प्रयास था। धीरे-धीरे यह प्राच्यवाद, प्राच्य निरंकुशता में परिवर्तित होता गया।² सर विलियम ली वार्नर की पुस्तक 'भारत की देशी रियासतें' 1919 ई. के मांटफोर्ड सुधारों तक भारत में इस तथाकथित प्राच्यवाद तथा प्राच्य निरंकुशता के तीन युगों को उल्लेखित करती है जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर ब्रिटिश साम्राज्य तक भिन्न-भिन्न नीतियों के अधीन भारत में साम्राज्यवाद के विभिन्न दौर चले। रिंग फेंस नीति (1757 से 1813), आधीन अलगाव नीति (1813-1857), आधीन संघ नीति (1818 से 1819) इत्यादि कुनीतियों के अधीन भारत उतार-चढ़ावों के दौर का मूक-संवादी दर्शक बना रहा।³

राजस्थान तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद

उदयपुर के महाराणा राजसिंह और जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु के पश्चात् 18वीं शताब्दी के मध्य में राजपूत-राजनीति नेतृत्व विहीन हो गयी। राजस्थान के राजाओं में ऐसा कोई नहीं था जो यहाँ की वीर परंपराओं की रक्षा कर सकें। शासकों की आपसी फूट और वैमनस्य ने जहाँ मराठों और पिंडारियों को लूटपाट का मौका दिया, वहीं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए अपनी जड़ें पसारने का यह सुअवसर भी था। परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि स्वयं शासक ब्रिटिश साम्राज्यवाद का संरक्षण प्राप्त करने के लिए आकर्षित हुए। ब्रिटेन यही चाहता था क्योंकि यह स्पष्ट था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा उस समय तक नहीं हो सकती थी जब तक कि भारत के देशी राजे और रजवाड़े इसका समर्थन ना करें।⁴

राजपूताना के राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति (1803-1815 ई.)

दिसम्बर 1802 ई. की बसीन की संधि के पश्चात् लॉर्ड डलहौजी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रभाव क्षेत्र को विस्तृत करना चाहता था। राजस्थान की रियासतें इस समय बड़े नाजुक दौर में थी। उत्तरोत्तर खराब होती परिस्थितियों में ब्रिटिश सहायता जहाँ उनके लिए तात्कालिक संबल था, वहीं ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने मान लिया था कि मराठों के आक्रमण को समाप्त करने तथा ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करने के लिए देशी रियासतों की सहायता आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य है। ऐसे में लॉर्ड डलहौजी के सहायता प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। 1803 ई. से 1805 ई. तक राजस्थान की रियासतों के साथ अनके प्रकार की संधियाँ की गई जिसमें व्यावहारिक दृष्टि से ब्रिटिश प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया था।

राजस्थान में सर्वप्रथम जयपुर में 1803 ई. की संधि पर हस्ताक्षर हुए जब 12 दिसम्बर 1803 को जयपुर महाराजा तथा जनरल लेक के मध्य समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसे जनवरी 1804 में तात्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने अनुमोदित किया। इसी प्रकार महाराजा भीमसिंह की असामयिक मृत्यु के बाद 22 दिसम्बर 1803 को महाराजा मानसिंह ने ब्रिटेन के साथ संधि पत्र पर हस्ताक्षर किए। अलवर तथा भरतपुर रियासतों के साथ भी इसी प्रकार के संधि पत्र हस्ताक्षरित किए गए। उपर्युक्त संधि पत्रों में उपबंध लगभग समान थे, जिसमें रियासतों के आंतरिक मसलों में हस्तक्षेप नहीं करने, एक-दूसरे के मित्र तथा शत्रु को क्रमशः मित्र तथा शत्रु समझने तथा बिना ब्रिटिश अनुमति के किसी भी विदेशी व्यक्ति को राज्य में सेवा का अवसर प्रदान नहीं करने जैसी शर्तें सम्मिलित थी।

उपर्युक्त संधियाँ इस बात का प्रमाण थी कि राजस्थान के राजा अपने राज्यों की शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए बाह्य शक्तियों पर निर्भर होने लगे थे। इसी बीच 1805 ई. में लार्ड कार्नवालिस ने भारत आकर राजस्थान के राजाओं के प्रति नयी नीति

को लागू किया जिसके अनुसार ब्रिटेन के विरुद्ध किसी भी प्रकार की जनभावना बलवती ना हो इसलिए देशी राजाओं के विवादों में हस्तक्षेप ना किया जाए किंतु कार्नवालिस के उत्तराधिकारियों ने इस हस्तक्षेप की नीति को परिवर्तित कर दिया। 1815 ई. में लार्ड हेस्टिंग्स ने लार्ड वेलेजली की नीति को पुनर्जीवित किया और इस प्रकार 'हस्तक्षेप' की नीति का पुनर्जन्म हुआ।⁵

ब्रिटिश हस्तक्षेप की नीति

लार्ड हेस्टिंग्स ने ना केवल लार्ड वेलेजली के कार्य को पूर्ण किया अपितु उसे संगठित किया। भारत में अंग्रेजी सर्वश्रेष्ठता निःसंदेह स्थापित हो गयी तथा कम्पनी ने भारतीय लोगों की शांति तथा सुरक्षा के लिए राज्यों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप के अधिकार का दावा किया।⁶ राजस्थान के राज्यों को मराठों तथा पिण्डारियों की लूट से सुरक्षित रखने तथा आंतरिक शांति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए तदनुसार सन् 1818 में लार्ड हेस्टिंग्स ने जयपुर, जोधपुर, बीकानेर तथा उदयपुर के साथ संधि पत्र पर हस्ताक्षर किए। 1817 ई. में लार्ड हेस्टिंग्स ने दिल्ली के रेजिडेण्ट चार्ल्स मेटकॉफ को राजपूताना के शासकों के साथ समझौता सम्पन्न करने के निर्देश दिये। मेटकॉफ ने राजपूताना के शासकों के प्रतिनिधियों को दिल्ली आमंत्रित किया। मराठा तथा पिण्डारियों के आक्रमणों तथा सामंतों के स्वच्छन्द व्यवहार से त्रस्त राजपूताना के शासकों के समक्ष अंग्रेजों का संरक्षण प्राप्त करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।⁷ अंग्रेजों द्वारा नेपाल, पिंडारी, तृतीय मराठा युद्धों से निपटने के पश्चात राजपूत राज्यों से की गयी संधियों में यह प्रावधान रखा गया कि कंपनी की सत्ता सर्वोपरि है और यदि संधियों का उल्लंघन किया जाता है तो कंपनी उनको रद्द कर सकती है।⁸ संक्षेप में राजस्थान के राजाओं ने अपने आपको ब्रिटिश सत्ता के अधीन करके उसकी प्रभूता को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। जागीरदारों तथा राजाओं के मतभेदों ने स्थिति को अधिक विकट बना दिया था। जयपुर तथा जोधपुर जैसे राज्यों के घोर विरोध के बावजूद भी ब्रिटेन की ओर से हस्तक्षेप के यह प्रयास चलते रहे।⁹ इधर राजस्थान में जनसंघर्ष की आवाजें आ रही थी, उधर अंग्रेज अपनी सत्ता का दबदबा कायम करने में लगे थे। राजा-महाराजा सिर्फ कठपुतली शासक बनते जा रहे थे।¹⁰ 19वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक भारत के लगभग सभी राज्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नियंत्रण में आ चुके थे।¹¹ जिन राज्यों ने कम्पनी द्वारा प्रस्तावित संधियों को मानने से इंकार किया, उन्हें राजनीतिक अथवा सैनिक बल से नियंत्रित करने का प्रयास किया गया।¹²

विभिन्न राजपूत राज्यों में हस्तक्षेप

बीकानेर में हस्तक्षेप – आपसी कलह में डूबे जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की तरह बीकानेर की हालत भी दिन-ब-दिन खराब होती जा रही थी। पिण्डारियों और मराठों की लूट से असुरक्षा बढ़ती जा रही थी। ऐसे में अंग्रेजों के संधि प्रस्ताव को तुरंत स्वीकार कर

लिया गया। महाराजा सूरतसिंह ने काशीनाथ ओझा को ई. 1817 में अंग्रेजों की सेवा में भेजा था तथा 9 मार्च 1818 को दोनों पक्षों में संधि पर हस्ताक्षर हुए। बीकानेर के साथ की गयी संधि 11 सूत्रीय थी जिसमें से प्रथम दोनों पक्षों की मित्रता संबंधी, दूसरी बीकानेर की सुरक्षा संबंधी, तीसरी महाराजा और उनके उतराधिकारियों के ब्रिटिश सत्ता के मातहतों की भाँति कार्य करने संबंधी, चौथी तथा पांचवीं बिना अनुमति अन्य किसी विदेशी सत्ता से किसी भी प्रकार का युद्ध तथा संधि नहीं करने संबंधी थी। यह तथा अन्य शेष बीकानेर राज्य की सार्वभौमिकता तथा स्वायत्तता के लिए खतरा थी।¹³

अंग्रेजों की ओर से चार्ल्स थियोफिलिस मेटकॉफ ने हस्ताक्षर किए। अपने विद्रोही जागीरदारों के विद्रोह को दबाने के लिए बीकानेर महाराजा ने ब्रिटेन से सशस्त्र सहायता का अनुरोध किया। अंग्रेज सरकार भी बीकानेर में रुचि रखता था क्योंकि बीकानेर और भटनेर का मार्ग काबुल-खुरासान से व्यापार के लिए सुरक्षित और सीधा मार्ग था।¹⁴ अतः ब्रिटिश रेजीडेण्ट की घुड़सेना ने नीमा, नाहान, सातुन और बैरोड़ क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। इसी बीच फतेहाबाद तथा सिरसा में हुए भाटियों के विद्रोह में ब्रिटिश सेना ने हस्तक्षेप कर बीकानेर के प्रमुख इलाको जैसे ददरेवा, सिदमोह, सिरसिला, चुरू, झरिया, सुलुकना तथा गंदेली पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। महाराणा की सेना की सहायता से की गयी इस ब्रिटिश कार्यवाही का असंतुष्ट जागीरदारों के नेता ठाकुर पृथ्वीसिंह ने घोर विरोध किया किंतु अंततः ठाकुर पृथ्वीसिंह को बीकानेर महाराजा से क्षमा याचना करनी पड़ी। ददरेवा, गंदेली, झरिया, सिरसीला और चुरू के ठाकुरों ने भी समर्पण किया और ब्रिटिश सैनिक सहायता के परिणामस्वरूप बीकानेर में शांति और व्यवस्था स्थापित हो गयी।

जोधपुर में हस्तक्षेप-16 जनवरी 1818 को जोधपुर राज्य के साथ की गयी संधि की प्रथम पांच शर्तें सामान्य थी किंतु शेष अन्य राज्य के सैनिक, राजनैतिक, आर्थिक अधिकारों के लिए चुनौतीपूर्ण थी।¹⁵ जोधपुर रियासत द्वारा ई. 1818 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संधि कर लेने से उसे मरहटों से तो मुक्ति तो मिल गई थी किंतु रियासत की आंतरिक कलहों ने ब्रिटिश सरकार को जोधपुर के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर प्रदान किया। मार्च 1818 में महाराजा धनसिंह की मृत्यु हो चुकी थी। उनके समर्थकों ने जहाँ कुछ समय के लिए उनकी मृत्यु को गुप्त बनाए रखा, वहीं महारानी के गर्भवती होने की अफवाह भी फैलायी। 04 नवम्बर, 1818 को मानसिंह ने शासन अपने हाथ में ले लिया। महाराजा मानसिंह ने अपने विरुद्ध उठ खड़े हुए सामन्तों और जागीरदारों का निर्दयतापूर्वक सफाया करना शुरू किया। रियासत में आतंक का वातावरण छाया हुआ था। महाराजा ने बिना आंतरिक मसलों में हस्तक्षेप के ब्रिटिश सहायता की माँग की किंतु अंग्रेजों की तरफ से ओक्टर लोनी ने अपने प्रधान मुंशी बरकत अली को जोधपुर की वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिए जोधपुर

भेजा।¹⁶ इसी बीच जोधपुर में विद्रोह की परिस्थितियाँ काफी घातक हो गयी और वास्तव में महाराजा का शासन सिर्फ किले तक ही सीमित रह गया था। बरकत अली की जोधपुर यात्रा और राज्य की स्थिति के विवरण देने के बाद ब्रिटिश रेजीडेण्ट ने जोधपुर को सशस्त्र सहायता देने का आश्वासन दिया, किंतु महाराज मानसिंह को संदेह था कि मित्रता और सहायता के नाम पर अंग्रेज उनकी स्वतंत्रता तथा आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहते हैं अतः उन्होंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

सन् 1921 में पुनः जोधपुर के असंतुष्ट ठाकुरों तथा जागीरदारों ने विद्रोह के स्वर मुखर किए। इन्होंने महाराजा के विरुद्ध शिकायतों का एक मेमोरेण्डम भी ब्रिटिश एजेन्ट कैप्टन टॉड को प्रस्तुत किया। ओक्टर लोनी महाराजा से काफी नाखुश था, तब भी महाराजा ने ओक्टर लोनी द्वारा जोधपुर की स्थिति का जायजा लेने हेतु भेजे गए एफ. विल्डर से इस बात का आश्वासन प्राप्त कर लिया कि ब्रिटिश सरकार जोधपुर के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।¹⁷

सन् 1924 में महाराजा और उनके जागीरदारों के मध्य पुनः विवाद उत्पन्न हो गया। महाराजा ने ब्रिटिश सहायता की माँग की किंतु ब्रिटिश सरकार इन विवादों में स्वयं को पंच निर्णायक बनाने से पूर्व किसी भी प्रकार की सहायता देने को तैयार नहीं थी। विद्रोह की स्थिति की भयंकरता को भाँप महाराजा को अंग्रेजों को विवाद के निर्णयों में पंच निर्णायक बनाने की बात स्वीकार करनी पड़ी। अंग्रेजों की ओर से असंतुष्ट ठाकुर धोंकलसिंह पर अपनी सेनाएं जोधपुर से हटाने का दबाव डाला गया और इस प्रकार जोधपुर में कुछ समय के लिए शांति स्थापित हो गई।¹⁸

जयपुर में हस्तक्षेप – मराठों तथा पिंडारियों के जुल्मों से पीड़ित जयपुर के महाराजा जगतसिंह ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संधि कर इस परेशानी को कुछ कम कर लिया था। किंतु आने वाले समय की आंतरिक कलह ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की कि राज्य में ब्रिटिश हस्तक्षेप बढ़ता ही चला गया। 21 दिसम्बर, 1818 को महाराजा जगतसिंह की निःसंतान मृत्यु हो गयी। आर्थिक कठिनाइयों से जूझ रहे राज्य में महाराजा जगतसिंह की निःसंतान मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का प्रश्न अत्यन्त गंभीर बन उठा। राज्य के सामन्तों के एक वर्ग तथा कतिपय कारकूनों ने मिलकर राज परिवार के निकटस्थ झिलाय, ईसरदा एवं बरवाड़ा के घरानों की अनदेखी करते हुए एक दूर के कछवा परिवार के मोहनसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। उधर कुछ विरोधी, जागीरदार ठाकुर बहादुरसिंह के दावे को अधिक न्यायोचित मान रहे थे। ऐसे में ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप किया तथा तत्कालीन ब्रिटिश एजेन्ट ऑक्टर लोनी ने जयपुर के जागीरदारों की सभा बुलाकर अपना-अपना पक्ष रखने को कहा। इसी बीच जगतसिंह की विधवा रानी भटियाणी ने एक बालक को जन्म दिया। ए.जी.जी. ऑक्टर लोनी ने मोहनसिंह को पदच्युत कर इस बालक को जयसिंह तृतीय के नाम से गद्दी पर बिठा दिया। चूँकि

जयसिंह तृतीय नाबालिग थे, अतः शासन चलाने को लिए ए.जी.जी. ने राणी भटियाणी की अध्यक्षता में एक रिजेंसी कौंसिल स्थापित कर सामोद के राव बैरीसाल को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। किंतु बैरीसाल शासन चलाने में असमर्थ रहा अतः ए.जी.जी. को झूथाराम सिंह जो बैरीसाल के विरोध में खड़ा था, को बुलाकर प्रधानमंत्री बनाना पड़ा।¹⁹ इन सभी घटनाओं ने जयपुर महारानी तथा ब्रिटिश सत्ता के मध्य संघर्ष को जन्म दिया। ब्रिटिश सरकार द्वारा नसीराबाद से सेनाओं को जयपुर बुलवा लिया गया। इसके बावजूद भी मुख्य राजस्व अधिकारी के पद पर नियुक्ति को लेकर राजमाता ने झुकने से इंकार कर दिया। अंततः ए.जी.जी. को झुकना पड़ा तथा राजमाता की इच्छानुसार डिग्गी के ठाकुर मेघसिंह, गणेश नारायण तथा गोविन्द नारायण को मुख्य राजस्व अधिकारी नियुक्त किया गया। तत्पश्चात् राजमाता तथा ब्रिटिश अधिकारियों के बीच समझौता सम्पन्न हुआ। उपर्युक्त घटनाएं इस बात का प्रमाण थी कि 1803 तथा 1818 ई. की संधियों के उपरान्त भी रियासत तथा जागीरदार अपने आंतरिक मामलों में ब्रिटिश हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे।²⁰

उदयपुर में हस्तक्षेप – सन् 1818 की संधि के द्वारा देशी रियासतों ने ब्रिटिश प्रभुत्व को स्वीकार अवश्य किया था किंतु अंदरूनी रूप से वे अपनी स्वायत्तता के प्रति सचेत थे। रियासतों के जागीरदारों तथा सामंतों में ब्रिटिश विरोधी भावना तथा स्वर दोनों ही दिखाई देने लगे थे। उदयपुर इस समय राजनैतिक, आर्थिक तथा आन्तरिक दृष्टि से दयनीय स्थिति में था। उदयपुर महाराणा के प्रभुत्व को रियासत के जागीरदारों, नीमड़ी के ठाकुर तथा शाहपुरा राजा की ओर से चुनौती मिल रही थी। ऐसे में ब्रिटिश पॉलिटिकल एजेन्ट कर्नल टॉड ने महाराणा की सत्ता पुनः स्थापित करने हेतु जागीरदार तथा महाराणा के मध्य एक समझौता करवाना चाहा जिसे 'टॉड कोलनामा' कहा जाता है। इसमें उदयपुर महाराणा को विरोधात्मक परिस्थितियों में सशस्त्र सहायता का आश्वासन दिया गया। 1821 ई. में महाराणा ने शाह शिवलाल को प्रधान नियुक्त किया तथा 1823 ई. में भ्रष्टाचार तथा अनुशासनहीनता के आरोप में उसे बर्खास्त कर दिया। ब्रिटिश पॉलिटिकल एजेन्ट इस आदेश का अनुमोदन करने को तैयार नहीं थे, क्योंकि शाह शिवलाल को ब्रिटिश समर्थन प्राप्त था किंतु उदयपुर महाराणा ने इसे आंतरिक मामला बताकर ब्रिटिश हस्तक्षेप को रोका। अंततः ब्रिटिश सत्ता को पीछे हटना पड़ा और महाराणा के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया पड़ा।²¹

भरतपुर में हस्तक्षेप – भरतपुर में भी उत्तराधिकार का प्रश्न ही ब्रिटिश हस्तक्षेप का कारण बना। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रति वफादार रहे महाराजा रणधीर सिंह की 1823 ई. में निःसंतान मृत्यु हो गयी। उन्होंने अपने चचेरे भाई दुर्जनसाल को गोद लिया था। परन्तु महाराजा की मृत्यु के बाद उसके भाई बलदेव सिंह ने गद्दी हथिया ली किंतु 1825 में बलदेव सिंह की भी मृत्यु हो गयी। अब उत्तराधिकार के दो दावेदार थे- एक

दुर्जनसाल तथा दूसरा बलदेव सिंह का पुत्र बलवंतसिंह। ब्रिटिश सरकार ने बलवंतसिंह को 06 फरवरी 1825 को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया परंतु दुर्जनसाल ने उसे गिरतार करके अपने जाट समर्थकों के सहयोग से विद्रोह खड़ा कर दिया तथा भरतपुर के किले पर आक्रमण करके उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। ओक्टर लोनी ने दुर्जनसाल की इस कार्यवाही को 'दिन दहाड़े डाके' की संज्ञा दी। कम्पनी की सेना ने दुर्जनसाल को गिरतार किया और बलवंतसिंह को पुनः गद्दी पर बैठाया। चूंकि वह नाबालिग था अतः उसकी माँ इमरत कँवर को रीजेन्ट नियुक्त किया किंतु कुछ समय बाद ही इमरत कँवर को हटाकर पोलिटिकल एजेन्ट के नेतृत्व में रिजेंसी कौंसिल स्थापित की।²² इसी बीच गवर्नर जनरल ने इसे राज्य का अन्दरूनी मामला बताकर ओक्टर लोनी को आदेश दिया कि वह ना तो सशस्त्र हस्तक्षेप करे ना ही बलवंतसिंह का समर्थन। इसी समय दुर्जनसाल के छोटे भाई माधोसाल ने सत्ता हथियाने का प्रयत्न करते हुये डीग पर आधिपत्य जमा लिया। बदली हुयी परिस्थितियों में मैटकोफ, जो नये ब्रिटिश रेजिडेण्ट तथा ए.जी.जी. नियुक्त किये गये थे, ने विचार रखा कि राज्य में शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी अंततः ब्रिटिश सरकार की है। अतः 10 अक्टूबर 1825 को ब्रिटिश सेना ने भरतपुर के किले पर आक्रमण किया। किले की दीवार को डायनामाइट से उड़ा दिया गया। भरतपुर शहर पर ब्रिटिश सेना का आधिपत्य हो गया। दुर्जनसाल को गिरफ्तार करके अहमदाबाद भेज दिया गया।²³

अलवर में हस्तक्षेप - सन् 1811 में अलवर रियासत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संरक्षण में आ चुकी थी। 1815 ई.में राज्य का शासक बख्तावरसिंह बिना किसी जायज संतान के मर गया। उत्तराधिकार के दो दावेदारों में से एक था उसका अनोरस पुत्र बलवंतसिंह जो उसकी मुस्लिम रखैल मूसी से उत्पन्न हुआ था तथा दूसरा था महाराजा का भतीजा बन्नेसिंह। दोनों पक्षों के समर्थकों का विवाद बढ़ते देख ब्रिटिश कम्पनी ने दोनों को संयुक्त रूप से शासक घोषित कर दिया। राजा का पिताब (नामधारी शासक) बन्नेसिंह को तथा बलवंतसिंह को वास्तविक शासक स्वीकार किया गया। चूंकि दोनों नाबालिग थे अतः 1824 तक अलवर का शासन पॉलिटिकल एजेन्ट की देखरेख में रिजेंसी कौंसिल द्वारा चलाया जाने लगा, जिसका अध्यक्ष नवाब अहमदबक्श था।²⁴ दोनों शासकों के बालिग होने पर विवाद बढ़ने लगा तथा राज्य में दो गुट बन गए। नवाब अहमदबक्श बलवंतसिंह गुट के पक्ष में था। बन्नेसिंह गुट के समर्थकों ने नवाब के गुट पर हमला कर दिया जिसमें नवाब अपने गुट के कई सदस्यों सहित मारा गया। ओक्टर लोनी ने यद्यपि जाँच के आदेश दे दिए थे फिर भी बलवंत सिंह तथा बन्नेसिंह के दलों में वैमनस्य और क्रूरता बढ़ती गयी। तदुपरांत ओक्टर लोनी की मध्यस्थता से दोनों पक्षों के बीच समझौता हुआ जिसमें दोनों पक्षों को कुछ अधिकार दिए गए। 21 फरवरी 1826 का अनुमोदित हुआ यह समझौता इस बात का प्रमाण था कि ब्रिटिश सरकार राज्यों के

आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर थी और वह ऐसा कोई अवसर खोजना नहीं चाहती थी जिसके द्वारा वह अपनी सत्ता को मजबूत बना सके।²⁵

कोटा में हस्तक्षेप - 21 नवम्बर 1819 को कोटा महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु हो गई। उनके उत्तराधिकारी किशोरसिंह तथा तात्कालिक कोटा राज्यधिकारी जालिमसिंह के पुत्र माधोसिंह के मध्य संबंध अच्छे नहीं थे। 6-7 अप्रैल 1819 को दोनों पक्षों के समर्थकों ने अपनी-अपनी सेना बुला ली। संघर्ष की इस स्थिति में ब्रिटेन के लिए हस्तक्षेप का सुअवसर था। कर्नल टॉड ने एक 11 सूत्रीय समझौता तैयार किया जिसे दोनों ही पक्षों ने स्वीकार किया। समझौते के अनुसार दोनों पक्षों को 250 सैनिकों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया किन्तु रावराजा किशोरसिंह ने कुछ अधिक सैनिक बुलाकर स्थिति को गंभीर बना दिया। कर्नल टॉड की ओर से रावराजा को समझौते को स्वीकारने हेतु अल्टीमेटम दिया गया किंतु महाराव समझौता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अंततः महाराव किशोरसिंह तथा राजराणा माधोसिंह समर्थित ब्रिटिश सेना ने नगरौल के पास सशस्त्र संघर्ष हुआ जिसमें किशोरसिंह के छोटे भाई बुरी तरह घायल हुए। महाराव को जयपुर सीमा में जाकर शरण लेनी पड़ी। ब्रिटेन के इस आचरण से अन्य राजपूत राज्य अर्चभित तथा सशंकित थे। अंततः 18 नवम्बर 1821 को महाराव को समझौते पर हस्ताक्षर करने पड़े। एक प्रकार से यह कोटा महाराव का ब्रिटिश सत्ता के समक्ष पूर्ण समर्पण था। कोटा के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करके ब्रिटिश हुकूमत ने यह सिद्ध कर दिया था कि ब्रिटेन का एकमात्र उद्देश्य राजस्थान में अपने साम्राज्यवाद को पूरी तरह से मजबूत बनाना था। साथ ही यह देशी राजाओं के लिए आँखें खोल देने के लिए भी पर्याप्त था।²⁶

सन्दर्भ

1. डॉ. के. एस. सक्सेना, राजस्थान में राजनैतिक जन जागरण, पृ. 1-2, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1992
2. शेखर बंधोपाध्याय, प्लासी से विभाजन तक (आधुनिक भारत का इतिहास) पृ. स.- 72-74, ओरियंट लॉन्गमैन, 2007
3. उर्मिला फड़निस, टुवर्ड द इण्टिग्रेसन ऑव इण्डियन स्टेट्स (1919-1947), पृ. स.- 2-5, एशिया पब्लिक हाऊस, 1968
4. सक्सेना, उपर्यक्त, पृ. स.- 2
5. सक्सेना, उपर्यक्त, पृ. स. 2-5
6. बी. एल. ग्रोवर/यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 114, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नयी दिल्ली, 1981
7. डॉ. विनिता परिहार, राजस्थान में उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष, विषय प्रवेश, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002

8. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 224, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2010
9. बी. एल. पानगड़िया, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, पृ. 8, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007
10. रतनलाल मिश्र, राजस्थान का स्वतंत्रता संग्राम, दुर्लभ दस्तावेज, पृ. 2, सुरभि पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1997
11. रघुवीर सिंह, इण्डियन स्टेट्स एण्ड न्यू रेजीम, पृ. 22
12. एफ.के. कपिल, राजपूताना स्टेट्स (1817-1950) पृ. 11, बुक ट्रेजर, जोधपुर, 1999
13. सी. टी. मैटकों, -दिल्ली रेजीडेन्ट टू जॉन एडम, से. गर्वनमेन्ट 20 मार्च, 1818, एफ. डी. एस. सी., 10 अप्रैल 1818; न. 23
14. डॉ. मोहनलाल गुप्ता, बीकानेर संभाग का जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 21-22, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2009
15. एस. भट्टाचार्य, राजपूत स्टेट्स एण्ड ईस्ट इण्डिया कम्पनी. पृ. 39-41
16. बी. एल. पानगड़िया, राजस्थान का इतिहास, पृ.स. 98.-99, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 1996
17. एफ. विल्डर टू डी. आक्टरलोनी, 23 जनवरी 1819, एफ.डी.पी.सी., फरवरी 1819 न. 19
18. सक्सेना, पूर्वोक्त, पृ. 12-13
19. बी.एल. पानगड़िया, राजस्थान का इतिहास, पृ. 111-112, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 1996
20. सक्सेना, पूर्वोक्त, पृ. 7
21. उपर्युक्त, पृ. 6
22. बी. एल. पानगड़िया, राजस्थान का इतिहास, पृ. 123
23. सक्सेना, पूर्वोक्त, पृ. 10-11
24. बी. एल. पानगड़िया, राजस्थान का इतिहास, पृ. 115
25. सक्सेना, पूर्वोक्त, पृ. 9-10
26. सक्सेना, पूर्वोक्त, पृ. 7-8
27. वी. पी. मेनन, द स्टोरी ऑव इन्टिग्रेशन ऑव इण्डियन स्टेट्स, पृ. 238, ओरियंट लॉगमैन, बोम्बे, 1956
28. कपिल, पूर्वोक्त, प्राकथन, पृ. ii
29. आर. सी. मजूमदार-ब्रिटिश पारामाउण्टसी एण्ड इण्डियन रेनेसा, पृ. 27
30. वी.के. वशिष्ठ, ए स्टडी..... स्टेट्स ऑव राजपूताना, राजस्थान इतिहास कांग्रेस, प्रोसिडिंग्स जोधपुर सत्र, 1967 पृ. 134

राजस्थान के भील आदिवासी एवं गोविन्द गिरि

बाबूलाल धनदे

आदिवासी जनजाति का ही पर्याय है। आदिवासियों के संबंध में डी. एन. मजूमदार कहते हैं “कोई भी जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है जिनका एक सामान्य नाम है, जिनके सदस्य एक निश्चित भूभाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, तथा विवाह, पेशा संबंधी कुछ निषेधों का पालन करते हैं, जिन्होंने एक आदान-प्रदान संबंधी तथा पारस्परिक कर्तव्य विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है। साधारणतः जनजाति अंतर्विवाही नियमों का समर्थन करती है।”¹

डॉ. श्रवणकुमार मीणा के अनुसार – “आदिवासी लोगों की संस्कृति, साहित्य, मूल्य आधारित मानवता की एक ऐसी धरोहर है जो एक नयी राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था के सृजन के लिए प्रासंगिक है। एक ऐसी व्यवस्था जो समानता, सामंजस्य, करुणा व शान्ति के सिद्धांतों पर आधारित है।”²

वर्तमान परिदृश्य में देखा जाए तो कई ऐसी जनजातियां हैं जो आदिवासी श्रेणी से बाहर हो गई हैं लेकिन भील जनजाति अभी भी अपनी आदिम संस्कृति को बचाए हुए हैं। भीलों का इतिहास हजारों साल पुराना है। ये भारत भूमि के प्राचीनतम मूल निवासी हैं। ये मध्य भारत के विस्तृत क्षेत्र में बसे हुए हैं। टालेमी ने भीलों को फिलाइट के नाम से संबोधित किया है। कुछ भी हो यह एक तथ्य है कि भील आर्यों के आगमन के पूर्व इस समुचित क्षेत्र में फैल चुके थे। राजपूत भीलों को क्षेत्र के पहले से सबसे पुराने निवासी मानते हैं एवं राजपूतों के राज्याभिषेक तब तक संपन्न नहीं होते थे जब तक भील सरदार राजा का अभिषेक न कर देते।³

भीलों का मुख्य निवास स्थल मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा गुजरात का मिश्रित क्षेत्र है। कर्नाटक व आंध्रप्रदेश में भी यह जनजाति कहीं-कहीं सीमावर्ती क्षेत्रों में निवास करती है। भील द्रविड़ भाषा के बील शब्द से उद्भूत है जिसका अर्थ है धनुष। अतः धनुष धारण करने वाली जनजाति को भील कहा जाता है। ये आपस में मिलती जुलती अनेक बोलियां बोलते हैं जिन्हें सामूहिक रूप से भीली कहा जाता है।⁴ भील शब्द का प्रयोग जातिगत रूप से व्यवहार में था परंतु इसी का रूढ़ रूप भीली बनकर भाषागत रूप में भी प्रयुक्त होने लगा। भीली शब्द का प्रयोग 1835 में पादरी थामसन ने

किया था। इसके बाद ग्रियर्सन ने भाषा सर्वेक्षण में इसका उल्लेख किया है।⁵

भील जनजाति अनेक समूहों में विभक्त है। जिन्हें अटक, ओदाख, गोत्र या कुल कहते हैं। इनमें सगोत्रीय विवाह निषेध है। गोत्र किसी पूर्वज या पशु-पक्षी के नाम पर रखा जाता है। वेंकटाचार्य ने मध्य भारत में 122 गोत्रों के नाम संकलित किए हैं। सामाजिक दृष्टि से सभी गोत्र समान हैं और किसी एक गोत्र के व्यक्ति दूसरे गोत्र में विवाह कर सकते हैं।⁶

कृषि, पशुपालन पर निर्भर नगरीय विकास से कोसों दूर ग्रामीण संस्कृति का आवरण ओढ़े हुए भील मुख्यतया गाँवों में निवास करते हैं इनके छोटे-छोटे गाँव फाला कहलाते हैं, जिनके मुखिया को 'गमेती' कहते हैं। गाँव मिलकर पाल कहलाते हैं। भीलों के सामाजिक संगठन की इकाई गाँव होती है। वे कई प्रकार के गाँवों में निवास करते हैं जैसे बहुजातीय गाँव, सघनशील गाँव और बीरबरा गाँव। राजपूतों के शासन से पूर्व राजस्थान में अनेक स्थानों पर भीलों का शासन था।⁷

समय के अंतराल के साथ भील गाँवों में चौकीदारी का भी काम करते रहे। इन्हें 'धनुषधारी' और 'वनपुत्र' भी कहा गया है। भील स्वाभिमान से भरा हुआ जीवन जीते हैं। यह साहसी एवं निडर जनजाति है। महाराणा प्रताप की सेना भीलों की थी। भील सदैव प्रकृति में स्वच्छंद रहना पसंद करते हैं। अपनी इस भावना को भीलों ने अपने लोकगीतों तक में प्रकट किया है, जिसे ये बड़े उत्साह और चाव से गाते हैं-

म्हारूँ देश ते रूपालूँ रे सकूँ सरवर ।
 म्हारूँ देश केवाए भील देश सकूँ सरवर ।।
 म्हारा देश मां ते डूंगरा रे मोटा मोटा रे ।
 अणी डूंगरा मां उजाड़े रे मोटी मोटी रे ।।
 अणी अजाडु में पांखेरू डाले डाले रे ।
 यां ते पांखेरू पंखवाए रे बड़ी मोज्यां रे ।।
 अणी उजाडू मां जंगली जनांवरा पण रे ।
 म्हारूँ देश ते रूपालूँ रे सकूँ सरवर ।।⁸

भील स्वाभिमान का जीवन जीने के साथ-साथ राष्ट्रप्रेम का भाव भी रखते हैं। भीलों में राष्ट्र के प्रति असीम प्रेम अतीत से अब तक अबाध गति से रहा है और सदैव ही रहेगा। भीलों में भारत भूमि के प्रति असीम राष्ट्र प्रेम क्यों नहीं होगा? आखिर अति प्राचीनकाल से भील और भीलों के पुरखे भारत भूमि के मालिक रहे हैं।⁹

भील को भगवान शिव का डील कहा जाता है। वास्तव में धरती पर सर्वप्रथम शिव शक्ति और तीसरा इस धरती का मालिक भील ही उत्पन्न हुए हैं।

वैसे जोधपुर के चोमूँ गाँव के संत भोमदास ने कहा है-

गिरनार हूँ गड़ो गुड़कियो टुकड़ा होया तीन।

*एक शिव, दूजी षक्ति, तीजो भोमधणी भील।।*¹⁰

भील जनजाति के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्थान में गोविंद गुरु का अन्यतम स्थान है। वास्तव में राजस्थान में भक्ति या धार्मिक आंदोलन के माध्यम से राजनैतिक जागृति लाने का श्रेय आदिवासी संत गोविंदगिरि को ही जाता है।¹¹

मूल रूप से इनके परिजन (पिता-दादा) गुजरात से राजस्थान आकर रहने लगे थे। गोविंदगिरि का जन्म 20 दिसंबर 1858 में डूंगरपूर के बांसिया (बेडसा) गांव में नायक बंजारा परिवार में पिता बेसर और माता लाटकी के घर पर हुआ, जो मूल रूप से भील प्रजाति में आता है।

आदिवासियों के उद्धार के लिए उन्होंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया। उन्हीं दिनों अपने पिता की जान पहचान के गृहस्थी साधु राजगिरि के शिष्य बन गए। तब से गोविंद गिरि कहलाने लगे। फिर शुरू हुआ गोविंद गिरि का धार्मिक आंदोलन। आदिवासी भीलों के शुद्ध आचरण पर बल, समाज सुधार एवं धार्मिक चेतना जाग्रत करने लगे। अपने शिष्यों को उपदेश देते थे- घर के ऊपर सफेद ध्वजा बांधना, मदिरा-माँस का सेवन नहीं करना, रूद्राक्ष धारण करना, चोरी नहीं करना, मेहनत करके कमाकर खाना, पानी छानकर पीना, घर में सफाई रखना, स्नान करना, स्वच्छ रहना, जहां तक संभव हो भगवा पहनना।¹²

धार्मिक आंदोलन के दौरान गोविंद गिरि स्वामी दयानंद सरस्वती के संपर्क में आए। 1881 ई में उदयपुर में स्वामी दयानंद सरस्वती से उनकी भेंट हुई। उनसे मिलने के बाद गोविंद गिरि में राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गई।¹³ यहीं से प्रेरणा लेकर गोविंद गिरि मारवाड़, गोड़वाड़, मेरवाड़ा, मालवा, हाड़ौती, मध्यप्रदेश, गुजरात के गांवों में आदिवासियों में राष्ट्रप्रेम की भावना जगाते रहे।

सन् 1903 ई में मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा के दिन गोविंद गिरि ने बांसवाड़ा में मानगढ़ पहाड़ी पर पहुँचकर यज्ञ कुंड-धूणी की स्थापना की और सात नेजे ध्वजाएं चढाईं। इसी स्थायी धूणी व धाम पर उपदेश देने लगे। धार्मिक आंदोलन के रास्ते आगे बढ़ते हुए उन्हें महसूस हुआ कि आदिवासियों को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए उन्हें एकता के सूत्र में बांधना होगा। अतः उन्होंने गुजरात के पंचमहल जिले के डूंगर गांव में पूजा धीरात के घर अपने भरोसेमंद शिष्यों-पारगी, रंगजी मछार, परथेंग मनात, कालू पंडोर आदि से मिल कर 'संप सभा' की स्थापना की।¹⁴

अपने सभी शिष्यों को संगठन की सफलता की जिम्मेदारी सौंपी गई। 'संप सभा' के कार्यों पर विचार विमर्श हेतु व आदिवासियों में जनजागृति के लिए प्रति वर्ष मिगसर पूर्णिमा को मानगढ़ पहाड़ी के यज्ञकुंडों पर संप सभा के सभी सदस्यों का

एकत्रित होना तय किया गया ताकि संगठन के उद्देश्यों और निर्णयों का प्रचार प्रसार अधिक से अधिक हो सके।

इस प्रकार मानगढ़ पहाड़ी आदिवासी भील जनजाति की तीर्थस्थली व राजनैतिक जागृति का केन्द्र बन गई। गोविंद गिरि व उनके आदिवासी भील शिष्यों की संगठित शक्ति को देखकर स्थानीय राजा व अंग्रेज सत्ता का सिंहासन डोलने लगा था। संत रामपुर, कुशलगढ़, बाँसवाड़ा, डूंगरपूर, सिरोही, मेवाड़ के राजाओं ने पोलिटिकल एजेंट को खबर भेजी कि लाखों की संख्या में आदिवासी गोविंद गिरि के नेतृत्व में संगठित हो चुके हैं और धार्मिक मेले की आड़ में कुछ भी कर सकते हैं। ऐसी शिकायत पर ए. जी. जी. अहमदाबाद ने अंग्रेज अधिकारियों को गोविंद गिरि के आंदोलन को सदा के लिए नष्ट करने के आदेश प्रदान किए।

इसका नतीजा था कर्नल शटन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने मानगढ़ पहाड़ी को छावनी में तब्दील कर दिया और गोविंद गिरि व उनके हजारों-लाखों शिष्यों को तोपों बंदूकों से घेर लिया। जिसमें लगभग 1500 आदिवासी मारे गए और 5000 घायल हुए। गोविंद गिरि के पैर के पंजे में गोली लगी। यह संसार के किसी भी स्वतंत्रता संग्राम का सबसे बड़ा नरसंहार था।¹⁵

कवि रेवंतदान की इन पंक्तियों -

मांग्या खेत मिले नी करसा मोल चुकाणो पड़सी ।

मोत्या मूंगी इण धरती रो कोल निभाणो पड़सी ।।

को साकार करते हुए गोविंद गिरि ने मातृभूमि के प्रति अपना पवित्र कर्तव्य निभाया। फिर अंग्रेजों ने गोविंद गिरि, उनकी पत्नी व उनके परम भक्त पूँजा पारगी को बंदी बना लिया और झूठे मुकदमे में फाँसी की सजा सुनाई। किंतु संत रामपुर की महारानी की अपील पर फाँसी की सजा को आजीवन कारावास में बदल दिया गया। फिर नेक चलनी के कारण उनकी सजा 10 वर्ष कर दी गई और 1923 में गोविंद गिरि कारावास से बाहर आए तो डूंगरपूर, बाँसवाड़ा, कुशलगढ़ रियासतों की सीमाओं में प्रवेश पर पाबंदी लगा दी गई। फिर गुजरात के पँचमहल से होते हुए कंबाई गांव में आकर रहने लगे। वहीं अपने शिष्यों को उपदेश देते थे। 30 अक्टूबर 1931 ई. में सदा के लिए आँखें मूंद ली। कंबाई में ही उनकी समाधि बनी हुई है।

अंग्रेजों ने गोविंद गिरि को सीमाओं में बांधने का प्रयास किया लेकिन वे उन्हें सीमाओं में बांध नहीं सके। हजारों लाखों की संख्या में आज भी उनके शिष्य हैं जो जनमानस की रक्षा के लिए इस धरती पर आया हो, जन मानस भला उसे कैसे भुला सकता है? ऐसे महापुरुष थे गोविंद गिरि जिन्होंने राजस्थान के आदिवासी भीलों को

संगठित करते हुए उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना जगाई। वे आदिवासी भीलों के ही नहीं बल्कि प्रत्येक स्वाभिमानी राष्ट्रप्रेमी के लिए वंदनीय रहेंगे।

संदर्भ

1. श्रीवास्तव डॉ. ए. आर. एन., जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, पहला संस्करण-2002 पृ. 4
2. मीणा डॉ. श्रवण कुमार, आदिवासी विमर्श की अवधारणा एवं अभिव्यक्ति, आदिवासी विमर्श, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 2013, पृ. 39-41
3. त्रिपाठी माधवी एवं शर्मा दिनेश : आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति, वाईकिंग बुक्स, जयपुर, संस्करण 2016 पृ. 235
4. नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, छठा संस्करण-2003 पृ. 121-122
5. नायडू पी.आर., भारत के आदिवासी, राधा प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 1997 पृ. 57
6. त्रिपाठी माधवी एवं शर्मा दिनेश, आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति, वाईकिंग बुक्स, जयपुर, संस्करण 2016, पृ. 236
7. गुप्ता एम. एल. एवं शर्मा डी. डी., सामाजिक मानवशास्त्र, प्रकाशन-साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, संस्करण 2003 पृ. 317
8. देवीलाल, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की आदिजनक भील प्रजाति, एकलव्य प्रकाशन जोधपुर, पहला संस्करण 2003, पृ. 2
9. पाठक डॉ शोभनाथ : भीलों के बीच बीस वर्ष
10. देवीलाल, पूर्वोक्त, पृ. 2
11. वही, पृ. 107
12. वही, पृ. 109
13. वही, पृ. 110
14. वही, पृ. 113
15. वही, पृ. 116

जयपुर प्रजामण्डल आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका

डॉ. रश्मि मीना

मराठों, पिण्डारियों के अनवरत आक्रमणों तथा अपने सामन्तों/जागीरदारों की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों से त्रस्त होकर राजपूताना की अन्य रियासतों की भाँति ही जयपुर रियासत ने भी अप्रैल, 1818 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ मैत्री सन्धि कर ली जिसके अनुसार अब जयपुर रियासत की आन्तरिक एवं बाहरी सुरक्षा का उत्तरदायित्व कम्पनी ने अपने ऊपर ले लिया जिसके बदले में जयपुर रियासत ने कम्पनी का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया तथा वार्षिक खिराज देना स्वीकार कर लिया।¹ इसके उपरान्त जयपुर रियासत में अंग्रेजी हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता गया तथा अब यहाँ की जनता शासक, ठिकानेदारों तथा कम्पनी के तिहरे शासन के अन्तर्गत आ गई जिससे उनकी स्थिति अत्यधिक दयनीय होती चली गई।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजपूताना में राजनैतिक चेतना जाग्रत होने लगी थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, साधु निश्चयदास सन्यासी, आत्माराम, गोविन्द गिरी आदि समाज सुधारकों ने सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों का विरोध कर सामूहिक चेतना जाग्रत करने हेतु अथक प्रयास किये। 1862 ई. से 1882 ई. के मध्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राजपूताना की विभिन्न रियासतों की यात्रा की तथा जनता में आत्मविश्वास की भावना तथा गौरवशाली अतीत के प्रति गर्व की भावना जाग्रत करने का प्रयास किया। समाज में नए मध्यम वर्ग का उद्भव भी हो रहा था जिनमें वकील, अध्यापक, पत्रकार, प्रशासक इत्यादि सम्मिलित थे। देसी रियासतों की असन्तुष्ट जनता के आक्रोश को इस वर्ग ने अपने आन्दोलनों के माध्यम से अभिव्यक्त किया।²

1880 ई. में जयपुर में जन्में अर्जुनलाल सेठी चौमू ठिकाने में कामदार पद पर नियुक्त थे। उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र देकर 1906 ई. में जैन शिक्षा प्रचारक समिति की स्थाना की, जिसके तत्वाधान में जैन वर्धमान पाठशाला की स्थापना की गई। 1907 ई. में अजमेर में जैन शिक्षा सोसाइटी की स्थापना की गई, जिसे 1908 ई. में जयपुर स्थानान्तरित कर दिया गया। धीरे-धीरे वर्धमान विद्यालय क्रान्तिकारियों का प्रशिक्षण केन्द्र बन गया।³ यहीं से जयपुर रियासत में राजनीतिक चेतना का शुभारम्भ हुआ। तदुपरान्त जयपुर के जागरूक लोगों ने सनातन धर्म मण्डल, समाज सुधार मण्डल, जयपुर हितकारिणी सभा आदि की स्थापना की तथा खादी का प्रचार, हरिजनों का उत्थान, शिक्षा का प्रसार आदि सामाजिक गतिविधियों के माध्यम से भावी राजनीतिक संघर्ष के लिए

जनता को तैयार करना प्रारम्भ किया। पंडित हीरालाल शास्त्री ने 1929 ई. में 'जीवन कुटीर' नामक एक संस्था की स्थापना की।⁴ जिसे 'वनस्थली विद्यापीठ' के नाम से भी जाना जाता है। इस शिक्षण संस्थान ने यहाँ अध्ययनरत छात्राओं में राष्ट्रीय चेतना की भावना का प्रसार किया, जिन्होंने भविष्य में जयपुर रियासत में हुए जन आन्दोलनों, मुख्यतः प्रजामण्डल आन्दोलनों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जीवन कुटीर की स्थापना एवं संचालन में श्रीमती रतन शास्त्री ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस संस्था में छात्राओं को भारतीय संस्कृति के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। इसकी द्वितीय वर्षगांठ जयपुर शहर में मनाई गई तथा छात्राओं ने जयपुर शहर में जुलूस निकाला। जिससे इस शिक्षा संस्थान को प्रतिष्ठा मिली।

सन् 1920 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया तथा जब 1921 ई. में उन्होंने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया तो राजपूताना पर भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। जयपुर रियासत में श्री जमनालाल बजाज ने अपनी 'रायबहादुर' की उपाधि लौटा दी तथा 'तिलक स्वराज कोष' में एक लाख रुपये दिये। उन्होंने ग्यारह हजार रुपये मुस्लिम लीग को भी दिये।⁵ इनसे प्रेरित होकर राजपूताना के दूसरे व्यापारियों ने भी कांग्रेस को इस आन्दोलन के लिए आर्थिक सहयोग दिया। सेठ जमना लाल बजाज ने 1927 ई. में चरखा संघ की स्थापना की। 1931 ई. में कपूर चन्द पाटनी, जमनालाल बजाज आदि ने 'जयपुर प्रजामण्डल' की स्थापना की, जो राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली नहीं रहा। नवम्बर, 1936 ई. में जयपुर प्रजामण्डल को पुनः संगठित करने की आवश्यकता महसूस की गई। 9 नवम्बर, 1936 ई. को जयपुर प्रजामण्डल के संविधान में संशोधन किया गया। फरवरी, 1937 ई. से इसने विधिवत रूप से कार्य करना प्रारम्भ किया।⁶ इसका मुख्यालय जयपुर रखा गया तथा इसका उद्देश्य 'महाराजा की छत्रछाया में संवैधानिक उपायों से उत्तरदायी शासन की स्थापना करना' घोषित किया गया। पंडित हीरालाल शास्त्री, चिरंजीलाल मिश्रा, माल चन्द्र शर्मा, कपूर चन्द पाटनी, हरलाल सिंह, चिरंजीलाल अग्रवाल, हंस दे राय, हरीश चन्द्र शर्मा इसके सक्रिय कार्यकर्ता थे।⁷

1938 ई. में जयपुर राज्य प्रजामण्डल का प्रथम अधिवेशन जयपुर में आयोजित किया गया, जिसमें वनस्थली विद्यापीठ की छात्राओं ने स्वयंसेविकाओं के रूप में उत्साहपूर्वक भाग लिया। जयपुर सत्याग्रह प्रारम्भ होने से पूर्व वनस्थली की छात्राएं श्री जमनालाल बजाज का स्वागत करने सांगानेर स्टेशन पहुंची तथा 1939 ई. में सत्याग्रह की समाप्ति पर जब प्रजामण्डल के नेता जेल से रिहा किए गए तब उनका स्वागत एवं अभिनन्दन करने के लिए भी वनस्थली की छात्राएं जाती थीं तथा राष्ट्रीय गान एवं सार्वजनिक जुलूसों में भाग लेती थीं। इस प्रकार वनस्थली विद्यापीठ राष्ट्रीय चेतना का जीवन्त प्रतीक बन गया था। श्रीमती रतन शास्त्री सत्याग्रहियों को जेल तक विदा करने तथा जेल से छूटकर आने पर उनका स्वागत करने हेतु छात्राओं के साथ सदैव उपस्थित

रहती थीं तथा प्रजामण्डल के अधिवेशनों में छात्राओं के साथ पहुंचकर तन्मयता से सेवा करती थीं।⁸

वस्तुतः महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक जीवन में पदार्पण एवं कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करने के उपरान्त भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में महिला सहभागिता की आवश्यकता एवं महत्व को समझा गया। गांधी जी को महिलाओं की कार्यकुशलता, नेतृत्व क्षमता एवं सहनशील प्रवृत्ति पर अत्यधिक विश्वास था। राष्ट्रीय स्तर पर कस्तूरबा गांधी, कमला नेहरू, विजय लक्ष्मी पंडित, मणिबेन पटेल, बसन्तीदेवी, सरला देवी, सारा भाई, मृदुबाई देशमुख, मनमोहिनी सहगल, उषा मेहता, सुभद्रा जोशी, डॉ. सुशीला नैय्यर, रघुनाथ कुमारी अमन आदि कुछ प्रमुख महिलाएं गांधीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रभावशाली भूमिका अदा कर रही थीं तथा इन्होंने भारत के विभिन्न अंचलों में निवास करने वाली महिलाओं को भी प्रेरित किया कि वे राष्ट्रवादी आन्दोलनों का हिस्सा बनें।

जयपुर प्रजामण्डल का प्रथम अधिवेशन 8-9 मई 1938 ई. को सेठ जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में आयोजित किया गया। इस अवसर पर श्रीमती कस्तूरबा गांधी जयपुर आई तथा उन्होंने प्रजामण्डल अधिवेशन के उपरान्त 10 मई, 1938 ई. को नथमल जी के कटले में स्त्रियों की एक विशेष सभा को सम्बोधित किया।⁹ एक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया जिसका उद्घाटन कस्तूरबा गांधी द्वारा किया गया। इस प्रदर्शनी में ग्रामीण हस्तशिल्प कला, हाथकर्घा, कारीगरी तथा हस्तशिल्प के उत्कृष्ट नमूने रखे गए थे। इस सभा में श्रीमती गांधी ने महिलाओं का आव्हान करते हुए कहा कि सभी स्त्री एवं पुरुष विदेशी वस्त्रों का उपयोग न कर खादी का उपयोग करें तथा दूसरों को भी इसके लिए प्रेरित करें। व्यापारी वर्ग से भी उन्होंने विदेशी वस्तुओं का व्यापार छोड़ने की अपील की। उन्होंने जनता से कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों को अपनाने तथा शराब का परित्याग करने हेतु भी प्रोत्साहित किया। प्रजामण्डल के प्रथम अधिवेशन को अभूतपूर्व सफलता मिली तथा इसका प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। राज्य सरकार के लिए ये परिस्थितियां असहनीय थीं। अतः 30 मई, 1938 ई. को एक असाधारण गजट प्रकाशित कर यह घोषणा की गई कि कोई भी संस्था सरकार से पंजीकरण कराए बिना कार्य नहीं कर सकती थी। जयपुर राज्य प्रजामण्डल ने इस कानून का विरोध किया।¹⁰ प्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा सरकारी कर्मचारियों को यह आदेश दिया गया कि वे अपने आश्रितों को राजनैतिक गतिविधियों में भाग लेने से रोकें। जुलुसों पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया।

शेखावटी क्षेत्र की महिलाओं ने भी सरकारी एवं जर्मीदारों के अत्याचारों के विरोध प्रदर्शनों में भाग लिया। 11 मार्च, 1938 ई. को विद्यार्थी भवन झुन्झुनु में एक वृहद् महिला सम्मेलन बुलाया गया जिसमें हजारों की संख्या में महिलाओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कुं. नेतरासिंह गौरीर की पुत्री कुमारी शीतल बाई ने

महिलाओं को शिक्षित होने, राष्ट्र की उन्नति में भागीदार बनने तथा सामाजिक कुरीतियों का परित्याग कर आगे बढ़ने हेतु आव्हान किया। इस सम्मेलन के उपरान्त इस इलाके की ग्यारह छात्राएँ 1938 ई. में वनस्थली अध्ययन करने हेतु गईं, जिनमें सुमित्रा कुमारी, मनोरमा कुमारी, कमला कुमारी, देवी और सुभीरा, सुधा कुमारी, कु. सुवीरा व कु. सरस्वती, कु. शांति और कु. सरस्वती तथा पार्वती कुमारी जैसी प्रतिभाशाली महिलाएं शामिल थीं, जिन्होंने शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त न केवल समाज को नई दिशा प्रदान की अपितु समाज को सुदृढ़ नेतृत्व भी प्रदान किया। इन छात्राओं में से कालान्तर में श्रीमती सुमित्रा सिंह तथा श्रीमती कमला ने राजस्थान सरकार मंत्रिमण्डल में रहकर अपनी महती भूमिका अदा की।¹¹

1938 ई. के अन्तिम दिनों में जयपुर रियासत के कुछ भागों में अकाल पड़ गया। प्रजामण्डल द्वारा अकाल राहत कार्य आरम्भ किए गए। दिसम्बर, 1938 ई. में जयपुर प्रजामण्डल के अध्यक्ष सेठ जमनालाल बजाज के जयपुर आने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। उनके द्वारा पुनः प्रयास करने पर उन्हें तथा हीरालाल शास्त्री जी को गिरफ्तार कर लिया गया। 5 फरवरी, 1939 ई. को चौड़ा रास्ता में सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया तथा प्रतिदिन पांच सत्याग्रहियों द्वारा गिरफ्तारी देने का निर्णय लिया गया। 5 फरवरी, 1939 ई. को चिरंजीलाल मिश्रा के साथ रमादेवी देशपाण्डे, सुमित्रा देवी, इन्द्रा देवी, विद्या देवी, शारदा देवी तथा सुशीला गोयल ने भी सत्याग्रह किया तथा अपने छोटे-छोटे बच्चों के साथ गिरफ्तारियां दीं। सुमित्रा देवी खेतान ने भी 1939 के सत्याग्रह में केसरिया साड़ी पहने एवं कंधे पर हरा थैला तथा हाथों में तिरंगा झण्डा लेकर अपने 1½-2 वर्षीय बच्चे के साथ गिरफ्तारी दी तथा बच्चे के साथ ही जेल में रहीं।¹² 4 मार्च, 1939 को जयपुर सत्याग्रह किसान दिवस पर झुन्झुनु प्रजामण्डल आन्दोलन के नेता हरलालसिंह की पत्नी रमाकोरी देवी, उनकी मां फूला देवी, कृष्णा शर्मा जयपुर आई, जिन्हें पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। उसी दिन महिलाओं का एक जत्था केसरिया साड़ी पहने हुए जौहरी बाजार पहुंचा, जिसका नेतृत्व जयपुर के प्रतिष्ठित नेता मूलचन्द जी की पत्नी जमनादेवी ने किया। इनके साथ सरस्वती देवी, भारतीय देवी, कमला देवी, धापादेवी, दुर्गादेवी, सुशीला देवी तथा शिवा देवी अग्रवाल आदि कर्मठ महिलाएं थीं, जिन्हें पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। महिला सत्याग्रहियों की गिरफ्तारी से आन्दोलन को प्रबल जन समर्थन मिला।

5 मार्च, 1939 ई. को श्रीमती रतन शास्त्री के नेतृत्व में 6 महिलाओं का जत्था गिरफ्तार हुआ। यह आन्दोलन लम्बे समय तक चला परन्तु गांधी जी के आदेश पर इसे स्थगित कर दिया गया। सरकार ने सभी सत्याग्रहियों को रिहा कर दिया तथा जुलूस व सभाओं पर से प्रतिबंध हटा दिए गए। 2 अप्रैल 1940 को जयपुर राज्य सरकार व प्रजामण्डल के बीच समझौता हो गया तथा प्रजामण्डल को पंजीकृत कर लिया गया। इसके उद्देश्य 'महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना' घोषित

क्रिया गया। तदुपरान्त इसका वार्षिक अधिवेशन जयपुर के नथमल जी के कटले में मई, 1940 ई. को आयोजित किया गया जिसमें वनस्थली विद्यापीठ की छात्राओं ने केसरिया बाना पहनकर तथा घोड़ों पर सवार होकर जुलूस में भाग लिया। इनके साथ जानकी देवी बजाज तथा उनकी बहन गुलाब देवी भी थीं।¹³

गांधी जी ने अगस्त, 1942 ई. में भारत छोड़ो आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसमें जयपुर में नवगठित संगठन 'आजाद मोर्चा' ने बढ़ चढ़कर भाग लिया। वनस्थली विद्यापीठ की छात्रा शांति देवी ने 1942 ई. में आन्दोलन की एक सभा में जनता को सम्बोधित किया। श्रीमती नारंगी देवी को भी एक जुलूस में पुलिस बर्बरता का सामना करना पड़ा। फिर भी उन्होंने अपना झण्डा गिरने नहीं दिया। उनके साथ तारा शर्मा, सुशीला सचदेव, रमाबाई देशपाण्डे तथा सीता धवन भी थीं।¹⁴ उन्होंने आर्य समाज के बाल मण्डल की सदस्यता ग्रहण की थी तथा वानर सेना में भाग लिया था। इसमें उन्हें तीन मूर्तियां मिली थीं। एक झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, दूसरी अंग्रेज गुरिल्ला तथा तीसरी लाचार नागरिक की। इनके माध्यम से वे बच्चों का बताती थीं कि झांसी की रानी ने देश के लिए प्राण न्यौछावर कर दिये। अंग्रेजी शासन की निरंकुश व अत्याचार पूर्ण कृत्यों तथा इसके परिणामस्वरूप बेबस, लाचार भारतीय नागरिक की स्थिति का बखान कर उन्हें आजादी के आन्दोलन में भाग लेने की प्रेरणा देती थीं।¹⁵

राजस्थान के सीकर जिले में नीम का थाना निवासी गीता बजाज एक सामाजिक कार्यकर्ता थीं, जिन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लिया। ये पुरुष वेश में बारूद सप्लाई करते हुए पकड़ी गई थीं तथा इन्हें लाहौर जेल की काल कोठरी में बन्द कर दिया गया।¹⁶ 24 फरवरी, 1943 ई. को प्रजामण्डल ने 'गांधी उपवास दिवस' मनाया। जनवरी, 1944 ई. को जयपुर महाराजा ने एक घोषणा कर भावी संवैधानिक सुधारों की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसके अनुसार जून, 1944 ई. में 'जयपुर राज्य सरकार अधिनियम' पारित किया गया।¹⁷ अक्टूबर, 1944 ई. में गांधी जयन्ती सप्ताह भर मनायी गयी, जिसके अन्तर्गत हिन्दू-मुस्लिम एकता और खादी का प्रचार-प्रसार किया गया तथा हरिजन स्कूलों की स्थापना के प्रस्ताव रखे गए। मार्च, 1946 ई. में जयपुर धारा सभा में स्वीकृत उत्तरदायी सरकार सम्बंधी प्रस्ताव के अनुरूप विधान तैयार करने के लिए 14 मई, 1947 ई. को एक समिति नियुक्त की गई। राज्य के प्रधानमंत्री वी.टी. कृष्णामाचार्य ने महाराजा की ओर से 1 मार्च, 1948 ई. को संवैधानिक सुधारों की घोषणा की। 27 मार्च, 1948 ई. को उत्तरदायी सरकार का गठन किया गया। महाराजा ने वी.टी. कृष्णामाचार्य को दीवान नियुक्त किया तथा हीरालाल शास्त्री को मुख्य सचिव बनाया गया। वृहद् राजस्थान के निर्माण होने तक यही लोकप्रिय मंत्रिमण्डल बना रहा। स्पष्ट है कि जयपुर रियासत के जन आन्दोलनों में यहां की महिलाओं ने साहसिक भूमिका निभाई।

संदर्भ

1. ब्रुक, जे.सी., पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ दी स्टेट ऑफ जयपुर, कलकत्ता, 1968, पृ. 32
2. माथुर, के.सी., स्ट्रगल फॉर रेस्पॉन्सिबल गवर्नमेंट इन जयपुर स्टेट, बुक ट्रेजर पब्लिकेशन, जोधपुर, 1997, पृ. 34
3. गुप्ता, सावित्री, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर - जयपुर, गवर्नमेंट ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1987 पृ. 54
4. वही, पृ. 55
5. परिहार, विनीता, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2008, पृ. 12
6. वही, पृ. 38
7. पूर्वोक्त, गुप्ता, सावित्री, पृ. 55
8. व्यास, आर.पी., आधुनिक राजस्थान का वृहत् इतिहास, खण्ड 2, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 485
9. गुप्त, शोभालाल, गांधी जी और राजस्थान, राज्य गांधी स्मारक निधि, भीलवाड़ा, 1969, पृ. 70
10. वही, पृ. 41
11. सिंह, मोहन, शेखावटी में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, रविन्द्र प्रकाशन, झुन्झुनु, 1990, पृ. 153
12. जोशी, सुमनेश, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, ग्रंथागार नारनोली भवन, जोधपुर, 1973, पृ. 636
13. प्रजामण्डल बुलेटिन, मई, 1940, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 1
14. जैतली, ममता एवं शर्मा, शिवप्रकाश, आधी आबादी का संघर्ष, राजकमल पैपरबैक्स, नई दिल्ली, 2011, पृ. 52
15. पूर्वोक्त, जोशी, सुमनेश, पृ. 581
16. पूर्वोक्त, जैतली, ममता एवं शर्मा, शिवप्रकाश, पृ. 63
17. परिहार, विनीता, राजस्थान में उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 2008, पृ. 150
18. गुप्ता, सावित्री, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर - जयपुर, गवर्नमेंट ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1987 पृ. 59-98

जोधपुर में क्रान्तिकारी गतिविधियाँ (प्रथम व द्वितीय बम षड्यंत्र काण्ड के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. ज्योत्सना व्यास

क्रान्तिकारियों का आंतकवादी कार्य 1907 ई. से प्रारम्भ हुआ।¹ उन्होंने एक रेलगाड़ी में बम फेंका जिसमें बंगाल का गर्वनर यात्रा कर रहा था। दूसरी घटना 23 दिसम्बर 1907 ई. में हुई जब क्रान्तिकारियों ने ढाका के एक भूतपूर्व जिलाधीश को गोली मारने का असफल प्रयास किया था। इसी क्रमवार क्रान्तिकारियों ने 30 अप्रैल 1908 ई. को मुजफ्फरपुर के जज किंग्सफोर्ड की हत्या करने का प्रयास किया। मगर किंग्सफोर्ड की जगह गाड़ी में दो अंग्रेज महिलाएं थी जो कि मारी गईं।² बंगाल के अलावा भारत के अन्य राज्य भी क्रान्तिकारी कार्यों से अछूते नहीं रह सके। क्रान्तिकारियों ने 19वीं शताब्दी में अनेक अंग्रेजी अधिकारियों पर हमले किए और उन्हें गोली से उड़ा दिया गया। उदाहरणतः मदनलाल ढींगरा ने सर विलियम कर्जन वाइली की हत्या कर दी थी।³ नवम्बर 1909 ई. में अहमदाबाद में लार्ड और लेडी मिण्टो की गाड़ी को उड़ाने का असफल प्रयास किया था। इस प्रकार समस्त देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया।⁴ इनका संदेश 'तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो' इनकी कार्यप्रणाली का स्पष्ट विवरण है। इनकी कार्यप्रणाली के अंतर्गत निम्नलिखित बातें शामिल थीं।⁵

1. पत्रों की सहायता से प्रचार द्वारा शिक्षित लोगों के मस्तिष्क में दासता के प्रति घृणा उत्पन्न करना।
2. संगीत, नाट्य एवं साहित्य के द्वारा बेकारी और भूख से त्रस्त लोगों को निडर बनाकर उनमें मातृभूमि और स्वतंत्रता का प्रेम भरना।
3. शत्रु को प्रदर्शनों एवं आंदोलनों में व्यस्त रखना।
4. बम बनाना, बंदूक आदि चोरी से उपलब्ध करना तथा विदेशों से आग्नेयशास्त्रों को प्राप्त करना।
5. चन्दा, दान तथा क्रान्तिकारी डकैतियों द्वारा व्यय के लिए धन का प्रबन्ध करना।

इन क्रान्तिकारियों की मुख्य विचारधारा यह थी कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया ही नहीं जा सकता, उसका तो किसी भी तरह अन्त किया जाना चाहिए।⁶ ये लोग पूर्ण

स्वराज्य के भरसक समर्थक थे। राजस्थान में क्रान्तिकारी गतिविधियाँ जो कि केसरीसिंह बारहठ के समय हुई थी उसकी आग की चिंगारी अभी भी मंद मंद सुलग रही थी। मगर जैसे ही देश में क्रान्तिकारी विचारधारा प्रचलित हुई वह दबी चिंगारी फिर से भड़क उठी। कहीं पर भी मौका मिलते ही क्रान्तिकारी अपना काम करने में नहीं चूकते थे। ये किसी भी तरह अंग्रेजों को व उनसे सम्बन्धित वस्तुओं को नुकसान पहुँचाते थे।

मारवाड़ में भी जोशीले नवयुवकों को क्रान्ति की लहर ने प्रभावित कर दिया था। देशभर में क्रान्ति किस आधार पर चल रही है इसका पता करने के लिए इन जोशीले नवयुवकों ने बाहर से इस क्रान्ति का प्रचार साहित्य मंगवाया और उसी आधार पर यहाँ भी वैसी ही जनक्रान्ति प्रारंभ करने का निश्चय किया।⁷ पुष्करणा समाज के लोग अत्यन्त जोशीले होते हैं इसलिए उन्होंने भी इस क्रान्ति में अपना सहयोग प्रदान किया। पश्चिमी राजस्थान का केन्द्र जोधपुर होने के कारण यहीं पर दो मुख्य क्रान्तिकारी घटनाओं ने जन्म लिया।

जोधपुर में प्रथम और द्वितीय बम षडयंत्र काण्ड :

वीर और उत्साही नवयुवकों को संगठित करने के लिए लालचंद जैन ने एक गुप्त संगठन 'मारवाड़ क्रान्ति संघ' की स्थापना की।⁸ जल्दी ही इस संघ के काफी सदस्य बन गए। यह संघ 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के आठ सूत्रीय कार्यक्रम के अनुसार काम करता था। इसके लिए इन्होंने बड़े-बड़े पोस्टर छपवाए जिसमें लिखा था। महात्मा गाँधी का संदेश करो या मरो। अंग्रेजों भारत छोड़ो। इसके नीचे जनता को क्या करना है, वह कार्यक्रम लिखा है।

1. रेल, तार और फोन को नष्ट कर दो।
2. अंग्रेजों द्वारा युद्ध के लिए एकत्रित सामान को आग लगा दो।
3. सैनिकों में क्रान्ति का शंख फूँको।
4. सरकार जिन विभागों द्वारा जनता पर शासन का है, जला दो।
5. सभी प्रमुख स्थानों पर तिरंगा झंडा फहराओ।
6. सरकार का बहिष्कार करे, जेल न जाए, भूमिगत होकर आजादी का काम करते रहे।

इन क्रान्तिकारियों की यह विचारधारा थी कि इससे आन्दोलन से देश को कुछ माली नुकसान तो होने वाला था किन्तु ध्वंस के बिना नव निर्माण नहीं हो सकता और सरकारी मशीनरी को भंग करना कोई हिंसा नहीं है, इस भावना के साथ ही यह जन आन्दोलन चल रहा था। सरकार जिन साधनों से जनता पर शासन करती है उन साधनों को

ही समाप्त कर दिया जाए तो सरकार अपने आप ही समाप्त हो जाएगी, यही इस आंदोलन का उद्देश्य था।⁹

युवकों ने मारवाड़ में कई तोड़-फोड़ के कार्य किए। यूरोपीय अधिकारियों को युवकों ने भारत छोड़ने की सलाह देते हुए पत्र लिखे और भारतीय अधिकारियों से इसकी सहायता मांगी। 18 अगस्त 1942 ई. को क्रान्तिकारियों ने पुलिस की एक लॉरी को जलाने का प्रयास किया। मगर यह प्रयास असफल रहा।

जोधपुर-फलौदी मार्ग के बीच के तार काट दिए गए। ऐसी स्थिति में पुलिस ने राज्य सेना को सहायता के लिए बुलाया। इस सिलसिले में कई लोगों को बेतें मारी गई।¹⁰ क्रान्तिकारियों ने सुभाषचन्द्र बोस के बर्लिन रेडियो पर दिए गए भाषण की नकल के पर्चे जनता में बाँटे।¹¹ यह सिलसिला आगे बढ़ता गया। 16 अक्टूबर 1942 से आरम्भ होने वाले सप्ताह के दौरान, बी. आर. सिंघवी, अध्यक्ष अखिल भारतीय ब्लैक लिस्ट पार्टी, मारवाड़ शाखा ने उग्र राज्य अधिकारियों को पत्र लिखकर चेतावनी दी कि यदि उन्होंने तीन दिन के भीतर इस्तीफा नहीं दिया, तो उनकी हत्या कर दी जाएगी।¹²

क्रान्तिकारियों ने हेडपोस्ट आफिस के पत्रों को पत्र पेटी से बाहर निकालकर फासफोरस में डुबो दिया गया। जसवन्त कॉलेज के पुस्तकालय में भी कई किताबों पर फासफोरस डाल दिया गया। 16 अक्टूबर 1942 ई. को ही आडरली सारजेंट के दफ्तर में आग लगा दी गई, जिसमें कई दस्तावेज जल गए। इसी दिन रेलवे स्टेशन के बाहर खड़ी सरकारी कार को भी आग लगा दी गई।¹³ इस तरह क्रान्तिकारी अपने पूरे जोश से 'भारत छोड़ो' नारे को सार्थक कर रहे थे।

अब क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चरम सीमा पर पहुँचने लग गई थी। 17 अक्टूबर 1942 ई. को दशहरे के दिन स्टेडियम सिनेमा में बम विस्फोट किया गया। उस दिन दशहरा व शनिवार होने के कारण हाउसफुल था।¹⁴ उससे पहले रात को भी करोड़ीमल और श्री हरमलसिंह ने नगर के सभी मुख्य स्थानों पर पोस्टर चिपकाए। हैंडप्रेस से छपे हुए कार्यक्रम के पम्पलेट स्कूलों, कॉलेज दफ्तरों पुलिस और सेना में पहुँचाए गए। दशहरे के दिन स्टेडियम सिनेमागृह में जो उस समय नगर का एक मात्र वातानुकूलित हाल था और जिसमें उस दिन अंग्रेजी रंगीन फिल्म 'ल्यू बर्ड' लगी थी।¹⁵ वहाँ पर लालचंद जैन एवं री प्रेमराज बोड़ा ने टाइम बम रखा, जो मध्यवकाश के बाद जोरदार फूटा। जिससे हाल डगमगा उठा, धुआँ भर गया, कुछ कुर्सियाँ टूटी कुछ लोगों को छर्रे भी लगे, पर अधिक जख्मी कोई नहीं हुआ। यहाँ सिर्फ पाँच लोगों को चोटे आई और 150 रूपए के फर्नीचर का नुकसान हुआ।¹⁶ यह लोग सिर्फ अंग्रेजों को भयभीत करना चाहते थे।¹⁷

आश्चर्य की बात उस घटना में यह थी कि इतनी छोटी उम्र के युवकों ने इतना दिमाग लगाया कि जैसे ही फिल्म में तोप से गोला छूटने का सीन आया क्रान्तिकारियों ने बम विस्फोट कर दिया, जिसे एक बार तो अंग्रेजों को पता ही नहीं चला कि यह असली विस्फोट है या नकली।¹⁸ जो क्रान्तिकारी इस घटना के जिम्मेदार थे उन्हें उसी रात गिरफ्तार कर लिया गया था, वे लालचन्द जैन, देवराज, सोहनलाल, हरमलसिंह, किरोड़ीमल, प्रेमराज बोड़ा, उगमराज, मनोहरलाल और बालकिशन थे। इन्हें गिरफ्तार कर इन पर केस चलाया गया और यही प्रथम बम केस कहलाया गया। इनके केस को जासोल के कंवर अमरसिंह, जो कि उस समय जिला न्यायाधीश थे, को सौंपा गया।¹⁹ अब तक दमन नीति के चलते काफी आन्दोलनकारियों को जेल में ढूँस दिया गया था। मगर इन आन्दोलनकारियों का हौंसला अभी भी पस्त नहीं हुआ था बल्कि यह तो जेल में जाना और अपने राजनेताओं से मिलना गौरवपूर्ण मानते थे। जेल में भी इन लोगों को बिना कारण मारा जाता था। 14 नवम्बर 1942 ई. को दीवान बहादुर ने दूसरे अपने सहयोगियों के साथ मिलकर सत्याग्रहियों के दमन की योजना बनाई। उसी शाम को छह राजनीतिक बदियों सुमनेश जोशी, मन मोहन माथुर, भाई लाल, पुरुषोत्तम, श्यामलाल और बंशीधर को बिना कारण काल कोठरी की सजा सुना दी गई।²⁰ उन्हें अगले दिन खाना नहीं दिया गया।²¹ उनके हाथों के साथ-साथ पाँव में भी बेड़ियाँ पहना दी गई।

सरकार चाहे कितना भी दबाने की कोशिश करती, जनता उतनी ही उग्र होती जाती। 21 नवम्बर 1942 ई. को 'भयंकर कांड' नामक पर्चा निकाला गया। उसमें जेल में बन्दियों पर रात को हुए लाठीचार्ज का वर्णन था। इसमें काफी राजबन्दी घायल हुए थे।²² सुमनेश जोशी की पसली टूट गई, छगनराज जी का हाथ टूट गया और मीठालाल जी को छाती में चोट पहुँची। जयनारायण व्यास जी का भी पाँव टूट गया और भी करीब 60 लोगों को चोटे आईं। जयनारायण जी की तो हालत भी गंभीर हो गई थी उन्हें चुपचाप किसी दूसरी जगह ले जाया गया जिसकी खबर किसी को नहीं दी गई। यह एक आमधारणा थी कि इनके पीछे आई.पी.जी. त्रिवेदी का हाथ है।

जोधपुर सरकार ने राज्य के सारे समाचार पत्रों पर सेन्सर लगा दिया। सरकार ने जनता के सामने लोक परिषद् के नेताओं की छवि धूमिल करने के लिए मदनलाल जोशी से जबरदस्ती एक पुस्तक लिखवाई जिसका शीर्षक था- 'नेता की तस्वीर'। इसमें लोक परिषद् के नेताओं पर गलत आरोप लगाए गए। इस पुस्तक के जवाब में 'मारवाड़ लोक परिषद्' के प्रचार द्वारा अपने बयान से इस पुस्तक का खण्डन किया।²³ 3 फरवरी 1942 ई. को पुलिस ने लोक परिषद् के कार्यालय की तलाशी ली और पन्द्रहवें डिक्टेटर विष्णुदत्त पुरोहित को गिरफ्तार कर लिया गया।²⁴ 8 फरवरी को जयपुर में मुरलीमनोहर व्यास को

भी झूठे आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया।²⁵

इस तरह सरकार की दमननीति जोरों पर थी फिर भी क्रान्तिकारी गतिविधियों बंद नहीं हुई थी। जोधपुर में नवयुवकों का एक भूमिगत दल क्रान्तिकारी गतिविधियों को अन्जाम देने में प्रयासरत था। इन क्रान्तिकारियों ने पोटेशियम सल्फेट, सल्फुरिक एसिड, शक्कर, बारूद, कांच के टुकड़ों और लोहे के छरों से आइल कप्स, पीतल के लोटे तथा सिगरेट टिन में बमों का निर्माण किया था।

इस क्रम में 14 अप्रैल 1943 ई. को सिवांची गेट के पास एक बम विस्फोट हुआ जो कि लोटा बम था। इसमें सीताराम और सूरजप्रकाश को गिरफ्तार किया गया। सूरजप्रकाश 'पापा साहब' को गिरफ्तार करते समय उन्हें खूब मारा। इसी सप्ताह तीन और बम विस्फोट हुए। प्रथम रेजीडेन्सी कार्यालय में, दूसरा म्यूनिसिपल बोर्ड में और तीसरा खांडा फलसा पुलिस चौकी में। इस सिलसिले में ग्यारह लोगों को गिरफ्तार किया गया। वे क्रान्तिकारी थे- जोरावरमल, पारसमल, रामचन्द्र, सूरजप्रकाश, सिताराम, किस्तुरचन्द, श्यामसुन्दर, श्यामलाल, विजयप्रकाश, हरीश तथा मुरली मनोहर। इनमें से सात तो पुष्करणा ब्राह्मण ही थे।

सारणी : बम विस्फोट (द्वितीय) 1943 ई.²⁶

क्र.सं.	दिनांक	समय	स्थान
1.	20 मार्च	8.45 रात्रि	स्टेडियम सिनेमा
2.	21 मार्च	8.15 रात्रि	रोमन कैथोलिक चर्च
3.	9 अप्रैल	11.30 प्रातः	खांडा फलसा
4.	9 अप्रैल	2.30 दोपहर	रेजीडेन्सी भवन
5.	9 अप्रैल	2.30 दोपहर	नगरपालिका भवन
6.	13 अप्रैल	11.00 रात्रि	सिवांची गेट के बाहर

इन सब पर पुलिस ने बहुत अत्याचार किए। 'पापा साहब' के तो दोनों पाँव तोड़ दिए थे इसलिए उन्हें अस्पताल में भी भर्ती करवाया था।²⁷ सूरजप्रकाश 'पापा' और जोरावरमल बोड़ा को सिटी पुलिस थाने में पलंग पर लिटाकर हण्टरो से पिटाई की। सभी बंदियों को जेल के पागलखाने की कालकोठारियों में महीनों तक बन्द रखा। वहाँ इन्हें तीन रोटी व बदबूदार दाल दी जाती थी।

इन बन्दियों के लिए जेल में ही स्पेशल कोर्ट लगता था, जिसके हाकिम हंसराज सिंघवी थे। सूरजप्रकाश 'पापा', जोरावरमल बोड़ा, रामचन्द्र व पारसमल को 8 वर्ष की

कड़ी कैद व 400 रू. जुर्माना देने की सजा दी गई। श्यामसुन्दर व्यास व किस्तूरचन्द को ढाई साल की कैद व 400 रू. जुर्माना देने की सजा सुनाई गई। इस केस को द्वितीय बम केस का नाम दिया गया। सभी बन्दियों को डण्डा बेड़ी में रखा जाता था।²⁸ मुरलीमनोहर व्यास व हरीश को पुलिस के द्वारा मुखबिर बनाए गये जिससे इन्हें छोड़ दिया गया। यूँ तो मारवाड़ लोक परिषद् के आन्दोलन से बम केस वालो का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, न ही लोक परिषद् के नेता (उदारवादी) क्रान्तिकारी आन्दोलनो का अपनी कार्यप्रणाली का अंग मानते थे परन्तु व्यास जी के दिल में बम केस के अभियुक्तो के प्रति स्नेह व सहानुभूति थी। तभी तो व्यास जी ने 'पापा साहब' को एक पत्र भेजा। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है- "जोश रोष के साथ काम करना अगर होश खो बैठे तो जान गँवा बैठोगे... परिषद् का कार्य शान्तिपूर्ण है... खूनी क्रान्ति का पथ विकट है.... यही मेरी सीख है।"²⁹

इस शोध पत्र में दी गई जानकारीयाँ स्वतंत्रता सेनानी स्व. श्री श्यामसुन्दरजी व्यास के व्यक्तिगत साक्षात्कार तथा समाचार पत्र 'लोकजीवन' में प्रकाशित समाचारों पर आधारित है।

संदर्भ :

1. डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 139
2. वही, पृ. 140
3. डब्ल्यू. राय स्मिथ, नेशनलिज्म एंड रिफार्म इन इण्डिया, 1938, पृ. 80
4. सत्या राय, पूर्वोक्त, पृ. 39
5. डॉ. इकबाल नारायण, पूर्वोक्त, पृ. 87
6. बालशास्त्री हरदास, आर्मड्ड, स्ट्रगल फॉर फ्रीडम, पृ. 243; रामचन्द्र बोड़ा से लिए निजी साक्षात्कार में प्राप्त जानकारी।
7. लालचन्द्र जैन (क्रान्तिकारी) का लेख, लोकजीवन, 19 मार्च 1993
8. डॉ. विनिता परिहार, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन, जयपुर 2008, पृ. 69
9. आठ सूत्रीय कार्यक्रम में रेलवे, पोस्ट ऑफिस, तार कार्यालय स्कूल, कॉलेज, न्यायालय सरकारी दफ्तर और पुलिस पर नियंत्रण
10. सी.बी. बस्ता नं. 01, क्रमांक 2, पृ. 184-185 (अ.बी.)
11. सौभाग माथुर, स्ट्रगल फॉर रेस्पॉन्सिबल गवर्नमेंट इन मारवाड़, जोधपुर 1982, पृ. 120
12. पत्र संख्या एस.बी./3128 दिनांक 24/10/42, आई.जी. पुलिस, प्रधानमंत्री को (ज.ग.शो.सं.)
13. पूर्वोक्त; पृ. 63
14. सौभाग माथुर, पूर्वोक्त, पृ. 120

15. डॉ. विनीता परिहार, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन, जयपुर 2008, पृ. 69
16. स्व. जगदीश सिंह गहलोत का लेख, जयनारायण व्यास स्मृति विशेषांक, लोकजीवन 2000
17. लालचन्द जैन, पूर्वोक्त, 19 मार्च 1993
18. श्यामसुन्दर व्यास जी (क्रान्तिकारी) के निजी साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी (11 दिसम्बर 2008)
19. सौभाग माथुर, वही, पृ. 120
20. वही, पृ. 12
21. विश्वामित्र, 20 नवम्बर 1942
22. जोरावरमल बोडा जी के निजी साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी (21 अक्टूबर 2008)
23. जोधपुर की जनता, आई.जी. पुलिस की हरकतों से सावधान, प्रचार अधिकारी लोक परिषद द्वारा जारी 18/2/143 (ज.जा.शो.सं.)
24. विश्वामित्र, 9/2/1943
25. सौभाग माथुर, वही, पृ. 122; श्यामसुन्दर व्यास, मेरी आत्मकथा (लेख) 50 वी वर्षगांठ स्मारिका, लोकजीवन, 1994, पृ. 103
26. लोकजीवन, श्याम सुन्दर व्यास स्मारिका, 2010, पृ. 25
27. विश्वामित्र, 11 मई 1943; श्रीमति कृष्णा देवी ('पापा' साहब की बहन) के निजी साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी (1 अगस्त 2008)
28. सूरजप्रकाश 'पापा साहब', स्वतंत्रता संग्राम में मारवाड़, जयपुर 2001, पृ. 38
29. वही

उनीसवीं सदी में मारवाड़ रियासत की मुद्राएं एवं मुद्रा बंदी

डॉ. सुखाराम एवं डॉ. उषा लामरोर

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के संचालन व विकास के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है और मुद्रा का सीधा सम्बन्ध व्यापार-वाणिज्य व आर्थिक समृद्धि से होता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु भारतीय शासकों ने अपने-अपने शासनकाल में विभिन्न प्रकार की मुद्राओं को चलाया।

जोधपुर के शासकों द्वारा चलाए गए सिक्कों के बारे में अब तक मिले प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जोधपुर के शासक महाराजा विजयसिंह ने ही सर्वप्रथम अपने राज्य में अपने नाम का सिक्का चलाया था।¹ महाराजा ने 1761 ई. में जोधपुर में टकसाल की स्थापना की और मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय से अनुमति प्राप्त कर वि. सं. 1837/1780 ई. में अपने नाम से यह सिक्का चलाया था।² इस सिक्के पर फारसी-लिपि में एक तरफ बादशाह शाहआलम का नाम तथा दूसरी ओर जोधपुर की टकसाल का नाम लिखा होता था। 1869 ई. में दीवान मर्दान अली खान ने इस सिक्के में कुछ परिवर्तन किए गए। यहाँ पर बने सिक्कों पर फारसी लेख के अलावा एक तरफ दरोगा का निशान व दूसरी तरफ 'श्रीमाताजी'³ लिखा होता था और उसी के नीचे तलवार बनी होती थी। यह सिक्का महाराजा विजयसिंह द्वारा चलाया होने से 'विजयशाही' तथा इस पर बादशाह शाहआलम द्वितीय का सनेजलूस (राज्यवर्ष) 22 लिखा होने के कारण 'बाइसंदा' भी कहलाता था।⁴

वि. सं. 1863/1806 ई. में बादशाह शाहआलम द्वितीय की मृत्यु के बाद इस सिक्के पर मुगल बादशाह अकबर द्वितीय का नाम लिखा जाने लगा और वि. सं. 1894/1837 ई. में अकबर द्वितीय की मृत्यु के बाद मुगल बादशाह बहादुरशाह का नाम लिखा गया।⁵ 1859 ई. में मुगल बादशाह के नाम के स्थान पर महारानी विक्टोरिया का नाम तथा सिक्के के दूसरी तरफ जोधपुर महाराजा तख्तसिंहजी का नाम लिखा जाने लगा।⁶ इसी प्रकार राज्य की अन्य टकसालों-नागौर, पाली, सोजत, मेड़ता में भी यथा समय यही परिवर्तन किए गए। इन टकसालों के सिक्कों पर जोधपुर के स्थान पर अपने-अपने नगरों के नाम जहाँ ये स्थापित थी, लिखे जाते थे।⁷

1869 ई. से जोधपुर राज्य की सभी टकसालों में ढलने वाले सिक्कों पर नागरी लिपि में “श्रीमाताजी” शब्द को जो जोधपुर नरेशों की इष्टदेवी का सूचक था और जोड़ दिया गया। इसके बाद जोधपुर के शासकों जसवंतसिंह (1873 ई. में), सरदारसिंह (1895 ई. में) आदि के नाम जोड़े गए तथा सन् 1901 ई. में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के बाद क्रमशः एडवर्ड सप्तम, जॉर्ज पंचम, एडवर्ड अष्टम व जॉर्ज षष्ठ के नाम के नाम के सिक्के चलाए गए थे।⁸ जोधपुर के अतिरिक्त राज्य में कुल पांच टकसालें और थीं जो नागौर, मेड़ता, पाली, सोजत व कुचामन में स्थित थीं।

सन् 1780 ई. के बाद नागौर की टकसाल में विजयशाही सिक्का बनना प्रारम्भ हुआ लेकिन 1888 ई. में यह टकसाल बंद कर दी गई।⁹ पाली में टकसाल की स्थापना 1788 ई. में की गई थी। यहाँ के सिक्कों पर एक तरफ टकसाल के दरोगा का निशान और दूसरी तरफ ‘श्रीमाताजी’ लिखा होता था। इन पर तलवार, झाड़ व भाले के निशान थे।¹⁰ सोजत में टकसाल 1806 ई. में खोली गई थी। इस टकसाल से ‘लुलूलिया’ नामक सिक्के चलाए थे।¹¹ मेड़ता की टकसाल में बने सिक्कों पर हिजरी सन् 1188 का निशान होने के कारण इसे ‘अट्यासिया’ सिक्का कहा जाता था। 1864 ई. के सिक्कों पर चाँद का चिह्न होने के कारण ये सिक्के ‘चाँदशाही’ के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कुचामन के ठाकुर शिवनाथसिंह ने 1838 ई. में महाराजा मानसिंह से अनुमति प्राप्त करके कुचामन में टकसाल की स्थापना की। चाँदी का सिक्का कुचामन की टकसाल में बना होने के कारण ‘कुचामनियां’ तथा इस पर मुगल बादशाह शाहआलम का 31 वां राज्य वर्ष (वि. सं. 1846/1789 ई.) लिखा होने के कारण इसे ‘इकतीसदा’ (इकतीस सनहा) कहा जाता था।¹²

जोधपुर राज्य की टकसालों में ढाले गए सिक्कों की संख्या¹³

वर्ष	सोने के सिक्के	चाँदी के सिक्के	तांबे के सिक्के
1884-1885	18,753	99,196	425,802
1885-1886	12,831	233,369	4,886
1886-1887	-----	-----	-----
1887-1888	13,363	380,525	11,147
1888-1889	18,005	352,663	418,725
1889-1890	26,403	505,131	-----
1890-1891	28,183	82,919	16,714

जोधपुर राज्य की टकसालों के दरोगे व उनके द्वारा बनाए गए सिक्कों के विशिष्ट चिह्न¹⁴

जोधपुर	नागरी लिपि का उलटा 'ग' अक्षर	कानिराम	1849-1862 ई.
जोधपुर	नागरी लिपि का उलटा 'रा' अक्षर	अनाड़सिंह	1866 ई.
जोधपुर	'अली'	मुंमताज अली	1884-1886 ई.
पाली	'स्वस्तिक'	जोशी हरकरण	महाराजा जसवंतसिंह के समय
पाली	'मह'	लाला सेढमल	प्रारम्भ से 1886 ई.
पाली	'बा'	मंगलचंद	1886 ई.
सोजत	'ला'	नाजर हरकरण	1859 ई.
सोजत	'ट'	बोहरा गोकुलचंद	1878-1881 ई.
सोजत	'कि'	व्यास किशनचंद	1888 ई.

जोधपुर राज्य की जन सामान्य में प्रचलित छोटी मुद्राएँ व उनके मूल्य¹⁵ -

क्रम संख्या	मुद्रा	मूल्य
1.	4 कौड़ी	एक गण्डा
2.	2.5 गण्डे	एक दमड़ी
3.	2 दमड़ी	एक छदाम
4.	2 छदाम	एक अधेला
5.	2 अधेला	एक ढब्बूशाही पैसा
6.	3.5 ढब्बूशाही पैसा	एक आना
7.	16 आना	एक विजयशाही रूपया
8.	2 फदिया	एक पिरोजी
9.	4 पिरोजी	एक रूपया
10.	8 फदिया	एक रूपया
11.	5 दुगुणी	एक फदिया

ब्रिटिश भारत में इस समय कलदार रूपया प्रचलन में था। कलदार रूपये व जोधपुर के विजयशाही रूपये का मूल्य लगभग बराबर ही था और इकतीसदा का मूल्य 11 या 12 ब्रिटिश आना में बराबर था लेकिन 1893 ई. के बाद राज्य की टकसालों के बंद होने तथा विजयशाही रूपये की अनियंत्रित ढलाई के कारण जोधपुर के रूपये का मूल्य दिनों दिन घटता चला जा रहा था। इस स्थिति को रोकने व राज्य के व्यापार एवं वाणिज्य के विस्तार के लिए यह आवश्यक था कि ब्रिटिश भारत व जोधपुर राज्य के मध्य मुद्रा-विनिमय की दरों को तय किया जाए। इस हेतु सन् 1893 ई. में जोधपुर राज्य की

ओर से प्रयास कर मुद्रा-विनिमय की दरें तय की गईं जिसमें विनिमय की दर 10 प्रतिशत तय की गई। अर्थात् 110 चांदी के विजयशाही रूपयों के बदले 100 अंग्रेजी कलदार रूपये दिए जाने निश्चित किए गए। यह दर बाजार की दर से कम थी। इसी के साथ इकतीसदा रूपये की कीमत भी कम हो गई क्योंकि अब इसका मूल्य शुद्ध चांदी के आधार पर ही तय किया गया। अब 150 इकतीसदा रूपये का मूल्य 100 कलदार रूपयों के बराबर ही हो गया था।¹⁶

जोधपुर राज्य मुद्रा-विनिमय से लगातार हो रही हानि से परेशान था और इसका कोई समाधान खोजना चाहता था। वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजी सरकार देशी रियासतों के सिक्कों के स्थान पर अपने कलदार सिक्कों को ही सभी रियासतों में विनिमय का एक मात्र कानूनी मुद्रा बनाना चाहती थी क्योंकि-

1. विभिन्न रियासतों में प्रचलित स्थानीय मुद्रा की विनिमय दरों में प्रायः उतार-चढ़ाव आने से दूकानदारों व साहूकारों को अपने हिसाब किताब रखने में काफी कठिनाई होती थी।

2. सिक्कों की विनिमय दर के घटने-बढ़ने से सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता था।

3. साहूकारों द्वारा निर्धन किसानों का शोषण करना। वे लोग रूपया देते समय विनिमय की दर कम और वापस लेते समय अधिक लगाते थे।

4. जो कलदार सिक्के रियासतों में जाते उन्हें साहूकार खरीदकर टकसाल में भेजकर घटिया सिक्के बनवा लेते थे, जिससे इन रूपयों की विनिमय दर बढ़ जाती थी।

5. कम्पनी सरकार देशी राज्यों के सिक्कों को विनिमय की वैध मुद्रा के रूप में मान्यता देकर रियासतों को अनुचित महत्त्व नहीं देना चाहती थी।

6. देशी राज्यों की टकसालों में कलदार सिक्कों को गलाकर उससे स्थानीय सिक्के ढालना एक प्रकार से कम्पनी सरकार की अवमानना ही थी।

7. अंग्रेजी सरकार देशी राज्यों में कलदार मुद्रा को ही एकमात्र वैध विनिमय का साधन बनाकर रियासतों की अर्थव्यवस्था पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना चाहती थी।

उपर्युक्त कारणों से कम्पनी सरकार ने जोधपुर राज्य में भी स्थानीय मुद्रा के स्थान पर अपने कलदार सिक्कों को चलाने का निर्णय लिया।¹⁷ जोधपुर दरबार की ओर से राज्य में सन् 1900 ई. में विजयशाही रूपये का चलन बंद¹⁸ करके उसके स्थान पर अंग्रेजी कलदार रूपये को उसके स्थान पर चलाने के आदेश जारी किए। इसी बीच जोधपुर दरबार व अंग्रेजी सरकार के मध्य मुद्रा विनिमय की नई दरें¹⁹ भी तय कर ली

गई।²⁰ स्थानीय मुद्रा को ब्रिटिश कलदार रूपये में बदलने के लिए राज्य में चार कोषागार- जोधपुर, नागौर, पाली व नावां में स्थापित किए गए। अंग्रेजी सरकार की सलाह पर राज्य सरकार ने एक परिपत्र 1 मई, 1900 को जारी किया जिसमें-

1. जनता को अपने स्थानीय रूपयों को कलदार में बदलने के लिए छह माह का समय दिया गया।
2. जनता को चेतावनी दी गई कि 1 नवम्बर, 1900 के बाद राज्य में केवल ब्रिटिश मुद्रा ही मान्य होगी और राज्य में स्थानीय मुद्रा से किसी भी प्रकार का लेनदेन नहीं होगा।
3. हिदायत दी गई कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास विजयशाही या इकतीसदा रूपये हैं यह कानून बनने के बाद इन रूपयों को कलदार रूपयों में बदलवा लें तथा भविष्य में होने वाले सभी प्रकार के भुगतानों व निजी लेनदेन में कलदार रूपयों का ही उपयोग करें।²¹

जोधपुर दरबार द्वारा मुद्रा विनिमय का कार्य शुरू करवाया जिसमें लोगों की भारी भीड़ उमड़ी और दरबार द्वारा कलदार रूपयों की जो व्यवस्था की गई वे कम पड़ गई। नगर के बैंकर्स ने इस कमी का फायदा उठाया और विनिमय की दर को और बढ़ा दिया और मुद्रा विनिमय पर 2 प्रतिशत की दर से हुंडवाना वसूली शुरू कर दी। जोधपुर दरबार ने इन बैंकर्स के लाभ व अव्यवस्था को रोकने के लिए कई उपाय किए जिसके तहत²²-

1. जोधपुर-बीकानेर रेलवे स्टेशनों पर भाड़ा-किराया का केवल कलदार रूपयों में ही भुगतान होता था, के स्थान पर अब स्थानीय मुद्रा को तय दरों पर स्वीकार किया जाने लगा।
2. दरबार की ओर से बंबई व कलकत्ता को हुंडवाना की निम्न दरों पर चेक जारी किए तथा
3. दरबार द्वारा जनता द्वारा प्राप्त स्थानीय मुद्रा के बदले उन्हें वादा-पत्र जारी किए कि अगली खेप में कलदार रूपये प्राप्त होते ही उनको भुगतान कर दिया जाएगा।

जोधपुर राज्य की टकसालें भी अन्य रियासती राज्यों की तरह साधारण प्रकार की ही थी और उनमें बनने वाले सिक्के प्राथमिक प्रकार के व साधारण थे। सिक्के ढालने की प्रक्रिया बहुत ही सरल थी जिसकी नकल आसानी से की जा सकती थी और जाली सिक्के भी बनाए जा सकते थे। अतः जाली सिक्कों की पहचान करने के लिए राज्य की ओर से संग्रहण केन्द्रों पर सर्राफ नियुक्त किए गए जो सिक्कों को छूकर या उसकी आवाज से ही उनके असली-नकली होने की पहचान कर सकते थे। संग्रहण केन्द्रों पर विनिमय के लिए कुल 10,227,134 रूपये (9,273,628 विजयशाही व 953,506

इकतीसदा) आए जिनमें केवल पांच रूपये ही खराब पाए गए। ये सभी सिक्कों को दुबारा ढालने के लिए रेल द्वारा कलकत्ता भेजा गया।²³ राज्य में सिक्को के विनिमय, परिवहन कर व सुरक्षा कार्य में 34,506 रूपये का खर्चा आया अर्थात् यह खर्च प्रति 100 रूपये पर 5.5 आने से भी कुछ कम था।²⁴

इस प्रक्रिया में जोधपुर राज्य तो एक निवेदक था जिसकी हर मुश्किल, ब्रिटिश सरकार के लिए एक सुनहरा अवसर थीं। ब्रिटिश सरकार ने मुद्रा-विनिमय की दर बाजार भाव से कम रखी। जिससे वित्तीय अंतरण (Financial transaction) में जोधपुर राज्य को हानि उठानी पड़ी। लम्बे समय में जोधपुर राज्य में ब्रिटिश मुद्रा के चलन से यह मुद्रा वित्तीय लेन देन का एकमात्र वैध साधन बन गई।

सन्दर्भ

1. विलियम विल्फ्रेड वेब भारतीय चिकित्सा सेवा के अन्तर्गत बंगाल आर्मी में सर्जन केप्टेन के पद पर कार्यरत थे जिन्होंने “दा करेन्सीज ऑफ दा हिन्दू स्टेट्स ऑफ राजपूताना” नामक पुस्तक की रचना की और यह पुस्तक पहली बार सन् 1893 ई. में प्रकाशित की गई।
2. वेब के अनुसार महाराजा विजयसिंह ने सन् 1761 ई. में जोधपुर में टकसाल की स्थापना की और मुगल बादशाह शाहआलम से अनुमति प्राप्त कर सन् 1781 ई. में चांदी का विजयशाही सिक्का चलाया था।
3. वि. सं. 1926/1869 ई. में नवाब मर्दान अली खान ने जो रियासत का दीवान था ने जोधपुर टकसाल के इस सिक्के में कई बदलाव किए जिसमें सिक्के के एक तरफ हिन्दी में ‘श्रीमाताजी’ (जोधपुर नरेशों की कुल देवी) व फारसी में जरब दारूल मनसूर जोधपुर (जोधपुर में बना हुआ) खुदवाया था।
4. रेऊ, उपर्युक्त, पृ. 637.
5. विश्वेश्वर नाथ रेऊ ने अपनी पुस्तक ‘कॉइन्स ऑफ मारवार’ में उल्लेख किया है कि यह नाम अब तक केवल तांबे के सिक्कों पर ही मिला है लेकिन इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार के परिवर्तन चांदी के सिक्कों पर भी हुए होंगे। लेकिन बहादुरशाह के नाम का अभी तक कोई भी सिक्का प्राप्त नहीं हुआ है, पृ. 05; लेकिन विलियम विल्फ्रेड वेब ने लिखा है कि सन् 1858 ई. तक शाहआलम का ही नाम लिखा जाता था, पृ. 40
6. वेब के अनुसार यह परिवर्तन सन् 1859 ई. में किया गया था, पृ. 40
7. सोजत की टकसाल का सिक्का ‘लुलुलिया’ पर सन् 1859 ई. तक भी मुगल बादशाह का नाम चल रहा था क्योंकि पाली व सोजत की टकसालों में यह परिवर्तन 1860 ई. में प्रभावी हुआ था।
8. बि. एन. रेऊ, उपर्युक्त, पृ. 05

9. वेब, उपर्युक्त, पृ. 41
10. मुंशी हरदयालसिंह, मजमूई हालात व इतिजाम राज मारवाड़ 1884, दफा-214, पृ. 586
11. वेब, उपर्युक्त, पृ. 45.
12. वि. एन. रेऊ, उपर्युक्त, पृ. 647
13. विलियम विल्फ्रेड वेब, उपर्युक्त, पृ. 49
14. मुंशी हरदयालसिंह, उपर्युक्त, पृ. 589-590
15. ले. कर्नल आर्चीबाल्ड एडम्स, दा वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स, ए मेडिको-टोपोग्राफिकल एण्ड जनरल एकाउंट ऑफ मारवार, सिरोही व जैसलमर, पृ. 112
16. पारस राज शाह, इन्ट्रोडेक्सन ऑफ ब्रिटिश इंडियन करेन्सी इन जोधपुर स्टेट, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग्स, भाग-6, ब्यावर सत्र- 1973. पृ. 105.
17. विलियम वेब, उपर्युक्त, पृ. 9-10.
18. विजयशाही सिक्को को बंद करके उनके स्थान पर ब्रिटिश कलदार सिक्कों का प्रचलन जोधपुर राज्य में शुरू किया गया लेकिन सोन के सिक्के (मोहरें) जोधपुर की टकसाल में अब भी बनाए जाते थे।
19. राजपूताना गजेटियर्स, भाग-3 अ, के पृ. 144 के अनुसार विजयशाही के लिए विनिमय दर 10 प्रतिशत तथा इकतीसदा के लिए 50 प्रतिशत तय की गई। लेकिन हकीकत बही सं. 38 के पृ. 31 ब पर 102 रूपये, 5 आना व 1 पैसा के बदले 100 कलदार रूपये वापिस देने का उल्लेख मिलता है।
20. हकीकत बही सं. 38, वि. सं. 1956, जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 31 ब
21. हकीकत बही सं. 38, वि. सं. 1956, जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 56 ब
22. सुखदेव प्रसाद, मारवाड़ करेन्सी रिफॉर्म रिपोर्ट
23. हकीकत बही सं. 38, वि. सं. 1956, जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 69 ब, 73 ब एवं 76 अ
24. के. डी. अर्सकिन, राजपूताना गजेटियर्स, भाग-3 अ, दा वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजिडेन्सी एण्ड दा बीकानेर एजेन्सी, पृ. 144

मारवाड़ में उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष एवं खादी का प्रचार-प्रसार

डॉ. भरत देवड़ा

दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के पश्चात् गांधीजी ने प्रथम विश्व युद्ध में अंग्रेजी सरकार की बढ़-चढ़कर सहायता की। लेकिन ब्रिटिश सरकार द्वारा 1919 में भारतीयों के दमन के लिए लाये गये रौलट एक्ट के परिणामस्वरूप गांधीजी की ब्रिटिश सत्ता के प्रति सहानुभूति अब विरोध में बदल गयी थी। गांधी जी के नेतृत्व में 6 अप्रैल, 1919 को राष्ट्रव्यापी हड़ताल रखी गयी। ब्रिटिश दमन चक्र द्वारा 13 अप्रैल, 1919 को जालियांवाला बाग हत्याकाण्ड से विद्वेलित होकर गांधीजी ने अब ब्रिटिश सत्ता के प्रति सहयोग के स्थान पर असहयोग की नीति अपनाने पर बल दिया। इस अहिंसात्मक असहयोग को बल देने के लिए राष्ट्रीय विद्यालयों एवं पंच-पंचायतों की स्थापना, अस्पृश्यता का अन्त, हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल, स्वदेशी वस्तुओं तथा हाथ से कताई बुनाई को प्रोत्साहित करने वाले रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाया गया। इस प्रकार गांधीजी के इस नैतिक आंदोलन में सत्य एवं अहिंसा की नीति वास्तव में प्रेरणादायक थी।¹

राष्ट्रीय स्तर पर महात्मा गांधी द्वारा चलाये गये राजनीतिक आन्दोलनों के साथ रचनात्मक कार्यक्रमों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। गांधीजी ने 1922 में असहयोग आंदोलन के स्थगन के समय कांग्रेसजनों से आग्रह किया कि वे चरखे को लोकप्रिय बनाये, छुआछूत मिटाने जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों को जारी रखे। मार्च 1921 कांग्रेस के विजयवाड़ा सम्मेलन में 'तिलक स्वराज फंड' के लिए एक करोड़ रुपये का चंदा इकट्ठा करने का लक्ष्य रखा गया। जिसके तहत चरखे को प्रसिद्ध करने एवं खादी को राष्ट्रीय आन्दोलन की वेशभूषा बनाने पर बल दिया गया। दिसम्बर, 1923 में कांग्रेस के काकीनाड़ा सम्मेलन में 'अखिल भारतीय खादी बोर्ड' की स्थापना का निर्णय लिया गया। एक बार मदुरै में किसी कार्यकर्ता ने गांधीजी से खादी के महंगी होनी की शिकायत की तो गांधीजी ने कम वस्त्र पहनने की सलाह दी तथा खुद भी जीवन भर मात्र लंगोटी में ही रहे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय गांधीजी ने हर घर में चरखा कातने व सूत बनाने पर बल दिया। इस समय महिलाओं ने भी इस कार्य में बढ़-चढ़कर भाग लिया।²

गांधीजी से प्रभावित होकर देशी रियासतों के कार्यकर्त्ताओं ने रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाया। गांधीजी ने अपने कार्यकर्त्ताओं को सलाह दी कि वह असहयोग तथा सविनय अवज्ञा जैसे आंदोलनों के मौकों की तलाश में रहे, लेकिन रचनात्मक कार्यों में अपनी शक्ति हमेशा लगाये रखे। गांधीजी का मानना था कि रचनात्मक कार्यक्रम ब्रिटिश भारत के साथ-साथ देशी राज्यों की जनता इसे समान रूप से अपना सकती है। 1938 के हरिपुरा अधिवेशन से पहले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य केवल ब्रिटिश भारत में आंदोलन चलाना ही रहा था।³ गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों को राजपूताना की रियासतों में जन-जागृति फैलाने वाले कार्यकर्त्ताओं ने भी अपनाया। इस समय देशी रियासतों में चलाये गये प्रजामण्डल आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना करवाना था, फिर भी यहां के कार्यकर्त्ताओं ने राजनीतिक कार्यक्रमों के साथ-साथ सामाजिक उत्थान एवं जनजागृति के लिए रचनात्मक कार्य अपना कर राष्ट्रीय जागरण की अलख जगायी। मारवाड़ रियासत के कार्यकर्त्ता भी पीछे नहीं रहे तथा उन्होंने खादी प्रसार, स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग, मद्य निषेध, राष्ट्रीय शिक्षा के विकास आदि पर बल दिया। देशी रियासतों में इस समय खादी पहनना व खादी का प्रचार-प्रसार राजद्रोह का कार्य माना जाता था। सर्वप्रथम विजयसिंह पथिक, रामनारायण चौधरी तथा हरिभाई किंकर ने गांधीजी के सत्याग्रहों से प्रेरित होकर 1919 में वर्धा में 'राजस्थान सेवा संघ' की स्थापना की। 1920 में इसका कार्यालय अजमेर स्थानान्तरित कर दिया गया तथा जमनालाल बजाज को अध्यक्ष बनाया गया। इस संघ का उद्देश्य देशी रियासतों की जनता में राजनीतिक जागृति फैलाना था। जोधपुर, जयपुर, कोटा, बूंदी आदि स्थानों पर भी इस सेवा संघ की शाखाएं खोली गईं।⁴ इस प्रकार मारवाड़ रियासत में 1920 में 'मारवाड़ सेवा संघ' नाम से पहली राजनीतिक संस्था स्थापित की गई। इस संस्था के अध्यक्ष दुर्गाशंकर, मंत्री प्रयागराज भंडारी तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं में जयनारायण व्यास, कानमल, भंवरलाल सराफ, गिरधरलाल जैसलमेरिया आदि प्रमुख थे। इन कार्यकर्त्ताओं ने दिसम्बर, 1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में भाग लिया।⁵ इस अधिवेशन से लौटने के पश्चात् मारवाड़ के इन कार्यकर्त्ताओं ने खादी का प्रचार आरम्भ किया। तत्कालीन रियासती शासन वर्ग व पुलिस इन्हें शंका की दृष्टि से देखने लगी। अन्ततः 'मारवाड़ सेवा संघ' को पर्याप्त जन सहयोग नहीं मिलने के अभाव में यह संस्था निष्क्रिय हो गयी।⁶ इस प्रकार गांधीजी के असहयोग आंदोलन के रचनात्मक कार्यों से प्रभावित होकर मारवाड़ के कार्यकर्त्ताओं ने भी इन कार्यों को जन जागृति विकसित करने के लिए अपनाया। 'मारवाड़ सेवा संघ' के स्थान पर 1921 में 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' का गठन किया गया। असहयोग आंदोलन के स्थगन के साथ ही अब मारवाड़ में खादी प्रचार का कार्य भी धीमा पड़ गया।⁷ 1927 में जब 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्'

का पहला अधिवेशन बम्बई में हुआ, तो जयनारायण व्यास और कन्हैयालाल को लोक परिषद की कार्यकारिणी का सदस्य बनाया गया। मारवाड़ के नेताओं ने अक्टूबर, 1929 को 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' का प्रथम अधिवेशन जोधपुर में बुलाने का निश्चय किया लेकिन जोधपुर शासक ने जागीरदारों के दबाव में आकर इस सम्मेलन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मारवाड़ के प्रमुख नेताओं जयनारायण व्यास, आनन्दराज सुराणा और भंवरलाल सर्राफा को गिरफ्तार कर लिया गया।⁸ अन्ततः मारवाड़ हितकारिणी सभा का अधिवेशन नवम्बर, 1931 में पुष्कर में आयोजित हुआ। इस अधिवेशन की अध्यक्षता चाँदकरया शारदा ने की। इस सम्मेलन में कस्तूरबा गाँधी, काका कालेलकर आदि राष्ट्रीय स्तर के नेताओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन सम्बन्धी 22 प्रस्ताव पारित किये गये। जिनमें उत्तरदायी सरकार की स्थापना, नागरिक अधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य, खादी के प्रचार संबंधित प्रस्ताव सम्मिलित थे।⁹

गांधीजी द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन में खादी का प्रयोग व प्रचार-प्रसार पर बल देने के बाद मारवाड़ में भी खादी का प्रचार अधिक बढ़ गया। 05 अप्रैल, 1930 को गांधीजी ने नमक कानून तोड़कर जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इससे प्रभावित होकर स्कूल के विद्यार्थियों ने हड़ताल की, जुलूस निकाला और आम सभा का आयोजन किया। गांधी इरविन समझौते के फलस्वरूप जयनारायण व्यास एवं उनके सहयोगियों को जेल से रिहा कर दिया गया।¹⁰ जयनारायण व्यास ने 10 मई 1931 को जोधपुर में 'मारवाड़ यूथ लीग' नामक संस्था की स्थापना की। मानमल जैन को लीग का मंत्री बनाया गया। इस संस्था के माध्यम से न केवल जोधपुर शहर बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी खादी के प्रचार के लिये कार्य किये गये हैं। 'मारवाड़ यूथ लीग' को अवैध घोषित करने से पहले ही कार्यकर्ताओं ने 'बाल भारत सभा' नामक एक अन्य संस्था का गठन कर लिया था। छगलराज चौपासनी वाला को इसका मंत्री बनाया गया।¹¹ इस समय मारवाड़ के कार्यकर्ताओं ने 'चरखा संघ' और 'खादी भंडार' का 30 मई, 1931 को उद्घाटन किया। उसी समय छगनराज चौपासनीवाला ने प्रभात फेरियों के माध्यम से खादी के प्रचार के संदेश दिये। जिसके लिए चौपासनीवाला को अनेक यातनाएं सहनी पड़ी तथा जयनारायण व्यास, मानमल जैन, हंसराज जैन, गणेशलाल व्यास, अभयमल मेहता को गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। 26 जनवरी, 1931 को आन्दोलनकारियों ने सर्राफा बाजार में तिरंगा झण्डा फहराया।¹² 1932 में जब गांधीजी ने साम्प्रदायिक पंचाट के विरोध में अनशन आरम्भ किया तो इसका प्रभाव जोधपुर में भी देख गया। अचलेश्वर और छगनराज चौपासनीवाला ने हरिजन आन्दोलन का संचालन और खदर बेचने का कार्य अपने हाथ में लिया। तत्कालीन जोधपुर सरकार के मुख्यमंत्री चैनसिंह ने यह आदेश दिया कि खादी बेचने से साम्प्रदायिक द्वेष बढ़ने की संभावना है। इसलिए

खादी बेचने का काम न किया जाये। परिणामस्वरूप अचलेश्वर एवं छगनराज चौपासनीवाला को गिरफ्तार कर लिया गया।¹³ 1933 तक सरकार द्वारा 'मारवाड़ यूथ लीग' तथा 'बाल भारत सभा' को प्रतिबंधित कर दिया गया एवं आंदोलनों को दबाने के लिए दमन चक्र चलाया गया। इस समय गांधी टोपी पहनना तथा खादी का प्रयोग करना अपराध माने जाने लगा। बालमुकुन्द बिस्सा ने 1934 में जोधपुर में गांधीजी से प्रेरित होकर खादी भंडार खोला और तब से वह राष्ट्रीय कार्यक्रमों में भाग लेने लगे। उनका यह 'जवाहर खादी भंडार' शीघ्र ही राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया।¹⁴ 1934 में मारवाड़ में 'प्रजामण्डल' नामक संस्था का गठन किया गया जिसका उद्देश्य राज्य में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा करना था। 02 मई, 1935 को सर डोनाल्ड फील्ड नामक निरंकुश और प्रतिक्रियावादी व्यक्ति मारवाड़ राज्य के मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। वह न केवल अंग्रेजी शासन बल्कि जागीरदारों से भी प्रभावित था।¹⁵ 1938 में मारवाड़ में राजनीतिक तनाव के वातावरण में सुभाषचन्द्र बोस जोधपुर पहुंचे। उन्होंने 23 जनवरी, 1938 को गिरदीकोट की आम सभा में नवयुवकों को स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ने का आह्वान किया।¹⁶ इस समय 'उद्योग मण्डल' नामक संस्था खादी का काम करती थी। इस संस्था की तरफ से सुभाषचन्द्र बोस को हाथ की बनी खादी का थान भेंट किया गया। सुभाष चन्द्र बोस ने उसे सार्वजनिक रूप से नीलाम किया। जिसकी कीमत 501 रुपये आयी। इसे स्थानीय व्यापारी सेठ माधव लाल सिंघवी ने खरीदा था।¹⁷

फरवरी 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेस ने देशी रियासतों के प्रति अपनी नीति व्यापक बदलाव करते हुए देशी रियासतों को भारत का अभिन्न अंग घोषित किया। साथ ही अब कांग्रेस ने देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन और नागरिक अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा के सम्बन्ध में अपने लक्ष्य की घोषणा की थी। इससे देशी रियासतों के कार्यकर्ताओं के उत्साह में तीव्र वृद्धि हुई।¹⁸ इसी समय 16 मई, 1938 को जोधपुर में 'मारवाड़ लोक परिषद्' की स्थापना की गई। इसका मुख्य उद्देश्य मारवाड़ में महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना था। लेकिन इस परिषद् के कार्यकर्ताओं ने गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों को भी निरंतर जारी रखा।¹⁹ 1940 के 'व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन' तथा 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के समय एक बार पुनः मारवाड़ में खादी प्रचार के कार्य में वृद्धि देखी गई। संत लाडाराम जी मूलतः जोधपुर के निवासी थे, उन्होंने गांधीजी के साथ दांडी यात्रा तथा नमक सत्याग्रह में भाग लिया था। गांधीजी के कहने पर वह 1940 में जोधपुर आकर रचनात्मक कार्यों के विकास में लग गये। उन्होंने जोधपुर में एक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की तथा खादी के प्रचार पर बल दिया। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय उन्हें बिस्साजी जी

खादी भंडार (बूढ़ा बाजार स्थित) से गिरफ्तार कर लिया गया।²⁰ जोधपुर निवासी अक्षय कुमार कछवाहा ने सेवाग्राम (वर्धा) जाकर खादी के बारे में प्रशिक्षण लिया तथा जोधपुर आकर खादी के प्रचार-प्रसार के लिए कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। बालमुकुन्द बिस्सा के सम्पर्क में आकर उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की तथा वह स्वयं सूत कातते थे। उन्होंने इन्दुबाला, पूनम चन्द आदि के सहयोग से मथानिया, ओसिया, मगरा-पूजला, नवलगेट के बाहरी क्षेत्र में खादी का खुब प्रचार किया। मण्डोर में उन्होंने अपना खादी भंडार स्थापित किया। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय जोधपुर के अधिकांश कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था। जोधपुर में खादी पहनने वाले, चरखा कातने वाले, खादी भंडारों में काम करने वालों को सरकार ने जेल में बंद करना प्रारम्भ कर दिया। इस समय तीन माह के लिए अक्षय कुमार कछवाहा को भी गिरफ्तार कर जेल में रखा गया।²¹ 1940 में जोधपुर जेल में बंद इन्द्रमल फोफलिया तथा हुक्मराज मेहता ने राजनैतिक बंदी की हैसियत से हाथ की बनी प्रामाणिक खादी वर्दी पहनने की मांग की। इन दोनों की इस मांग को जेल सुपरिण्टेण्डेंट हैवर्ड ने जेल अनुशासन तोड़ना मानकर उन्हें जेल की काल कोठरी में भेज दिया पर वे दोनों नहीं माने उन्होंने कहा कि, “जब तक खद्दर के कपड़े नहीं मिलेंगे हम भोजन नहीं करेंगे।” अन्ततः सरकार को झुकना पड़ा तथा उन्हें खादी भंडार में खादी की वर्दियां मंगवा कर दी गई।²²

1941 में रणछोड़दास गट्टाणी, बालकृष्ण थानवी, गुलाम मुहम्मद, मोहनलाल आदि कार्यकर्त्ताओं ने मिलकर राष्ट्रीय सप्ताह का आयोजन किया। इस सप्ताह के दौरान जोधपुर, फलौदी आदि क्षेत्रों में बापू की शिक्षाओं जैसे खादी प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, हरिजन उद्धार, ग्रामोद्योग आदि को नाटकों के माध्यम से जनता में प्रचार करना प्रारम्भ किया। इस समय महिला कार्यकर्त्ताओं ने भी इन रचनात्मक कार्यों में बढ़-चढ़कर भाग लिया। जिनमें रमादेवी आचार्य, सावित्री माथुर, राजकौर, सावित्री देवी आदि प्रमुख थीं।²³

1942 में ‘जवाहर खादी भंडारी’ के अध्यक्ष बालमुकुन्द बिस्सा को भी पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया था क्योंकि उनका खादी भंडार मारवाड़ की सरकार विरोधी राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। ‘मारवाड़ लोक परिषद्’ के राजनीतिक बंदियों के साथ जेलों में उचित व्यवहार नहीं किया जा रहा था। अतः बिस्सा ने 11 जून, 1942 को जेल में भूख हड़ताल आरम्भ कर दी। बिस्सा पुलिस की मार और गर्मी सहन नहीं कर पाये और 19 जून, 1942 को अस्पताल में मृत्यु हो गई। जोधपुर राज्य पुलिस ने उनकी शवयात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया।²⁴ बिस्सा के बलिदान के बाद मारवाड़ में पैदा हुई राजनीतिक स्थिति का जायजा लेने के लिए जुलाई, 1942 के प्रथम सप्ताह में सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने श्रीप्रकाश को कांग्रेस की तरफ से तथा ‘अखिल भारतीय देशी

राज्य लोक परिषद्' के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू ने इस परिषद् के महामंत्री द्वारकानाथ काचरू को जोधपुर भेजा। इन दोनों ने मारवाड़ में चल रहे दमनचक्र के बारे में महात्मा गांधी व नेहरू को अवगत कराया। उक्त घटना की गांधीजी व नेहरू जी ने तीव्र आलोचना की।²⁵ महात्मा गांधी ने जोधपुर की घटनाओं पर 'हरिजन' में एक पूरा सम्पादकीय अग्रलेख लिखा। उन्होंने जोधपुर रियासती सरकार को चेतावनी दी कि यदि भूख हड़ताल के दौरान जेल में बंद अन्य राजनैतिक बंदियों की मृत्यु हुई तो समूचा दायित्व रियासती सरकार का होगा। अन्ततः श्रीप्रकाश की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप जेल में राजनैतिक बंदियों के प्रति उचित व्यवहार किया जाने लगा।²⁶ इस प्रकार खादी प्रचार का कार्य देश की स्वतंत्रता तक चलता रहा।

खादी का प्रचार-प्रसार से संबंधित उस समय मारवाड़ में अनेक गीत भी प्रचलित थे। इन गीतों में लोगों ने खादी के महत्व को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़कर देखा, जिसके परिणामस्वरूप खादी का खूब प्रचार-प्रसार हुआ। हंसराज जैन का प्रचलित गीत 'खद्दर रो परचार' बहुत लोकप्रिय हुआ।

*अहो प्रीतमजी! म्हाँनै आज खद्दर मंगवा दो।
मेरी अरज सुणो सरताज! खद्दर मंगवा दो।।...
खद्दर सूं मन लाग्यो, मनै दूजो दाय न आय।
वस्त्र विदेशी कारणै, गऊ-मात कटै दिन-रात।।...*

इसमें एक प्रियतमा अपने प्रिय से खादी मंगवाने की बात कह रही है साथ ही वह कह रही है कि मुझे खादी ही अच्छी लगती है क्योंकि विदेशी वस्त्र के कारण गौ हत्या हो रही है।²⁷

1932 में गणेशलाल व्यास ने 'गरीबो की आवाज' नाम से कुछ गीतों को संकलन किया। इसमें महिलाओं को खादी अपनाने का संदेश दिया तथा दीन-दुखियों के लिए ही सही खादी के प्रति प्रेम बढ़ाने के लिए कहा गया है। उनका लोकप्रिय गीत निम्नलिखित है-

*प्यार बहनों! चर्खा चलाओ, दीन-दुखियों का हाथ बटाओ।
गांधी बाबा की आज्ञा बजाओ, दुःख-दर्द से देश बचाओ।।...
कैसे मखमल से चैन पड़ेगा। भारत अन्न जो बिना मरेगा।
अब तो खद्दर से प्रेम बढ़ाओ।।²⁸...*

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह बता सही है कि देशी रियासतों में स्थापित विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं तथा प्रजामण्डल आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना करवाना तथा जनता के लिए नागरिक अधिकारों की मांग करना था लेकिन साथ ही उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये चलाये जाने वाले

आंदोलनों पर गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रभाव साफ दिखायी देता है। प्रारम्भ में इसका प्रभाव कम था लेकिन 'सविनय अवज्ञा आंदोलन', 'व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन' तथा 'भारम छोड़ो आंदोलन' के समय इसका व्यापक प्रभाव देखा गया। मारवाड़ में खादी के प्रचार ने स्वतंत्रता की भावना को लोकप्रिय तथा व्यापक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा लोगों को इस आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। अन्ततः खादी के प्रचार-प्रसार के प्रयासों ने जन-जागृति द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ही सही मारवाड़ में उत्तरदायी शासन की स्थापना तथा देश की स्वतंत्रता में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

संदर्भ

1. रिपोर्ट ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, लाहौर, 1920 पार्लियामेन्टरी डिबेट्स, सिरीज-5, जि. 531
2. पट्टामि सीमारमैया, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, जि. 2, पृ. 46-54 व 70-79
3. रचनात्मक कार्यक्रम पर एक लेख, नवजीवन, दिनांक 6 नवम्बर, 1944 ई.
4. जैन, एम.एस., आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2010 पृ. 298
5. परिहार, विनीता, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 2010, पृ. 17
6. प्रिंसली इंडिया, 30 मई 1925
7. शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1987, पृ. 260
8. जोधपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट 1929-30, पृ. 15
9. जोधपुर गजट, न. 09, 1929
10. हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 अप्रैल, 1930
11. व्यास, आर.पी., आधुनिक राजस्थान का वृहद् इतिहास, भाग-2, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2010, पृ. 319।
12. मारवाड़ स्टेट गजेटियर, 7 मई 1931; हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 अप्रैल 1931
13. मारवाड़ स्टेट गजट फा.नं. 18/5/32, पो. 7 मार्च, 1932, हो.पो., राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
14. कोठारी, मनोहर, भारत के स्वातंत्र्य संग्राम में राजस्थान, राजस्थान स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन समिति, जयपुर, 2003, पृ. 220-25
15. व्यास, आर.पी., पूर्वोक्त, पृ. 321
16. हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 जनवरी 1938

17. गोस्वामी, उषा (सम्पादक), राजस्थान स्वाधीनता संग्राम के साक्षी, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 2009, पृ. 100
18. जैन, एम. एस. : पूर्वोक्त, पृ. 307-308
19. पनगड़िया, बी.एल., राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2006, पृ. 49
20. गोस्वामी, उषा (सम्पादक), पूर्वोक्त, पृ. 75
21. वही, पृ. 85-96
22. थानवी, बालकृष्ण, मारवाड़ लोक परिषद के जन आंदोलन, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1993, पृ. 13।
23. गोस्वामी, उषा (सम्पादक), पूर्वोक्त, पृ. 63
24. परिहार, विनीता, पूर्वोक्त, पृ. 66
25. थानवी, बालकृष्ण, पूर्वोक्त, पृ. 39-40
26. कोठारी, मनोहर, पूर्वोक्त, पृ. 226, हरिजन-14 जून 1942
27. जैन, जे.के., स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1987, पृ. 91
28. वही, पृ. 92
29. वही, 89
30. वही, 82
31. वही, 81

गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय में मारवाड़ी समुदाय का योगदान

डॉ. योगवती पारीक

गांधीजी इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि देश का उद्धार केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से होने वाला नहीं है, बल्कि उसके लिए आर्थिक व सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करना भी अत्यावश्यक है। इसी दृष्टि के अन्तर्गत उन्होंने देश के सम्मुख अपना रचनात्मक कार्यक्रम उपस्थित किया। रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत उन्होंने एक बहुसूत्री कार्यक्रम बनाया और स्पष्ट किया कि इस कार्यक्रम का अमल ही पूर्ण स्वराज्य है। उनके रचनात्मक कार्यों का प्रमुख उद्देश्य था, 'प्राणवान सर्वोदयी नवसमाज का निर्माण' करना। इसके अन्तर्गत उन्होंने खादी का प्रचार-प्रसार, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन, ग्राम-स्वच्छता तथा स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, नारी उद्धार, समग्र ग्राम सेवा (जिसके अन्तर्गत खादी, कुटीर उद्योग, स्वच्छता के साथ कृषि-पशुधन सुधार, आर्थिक समानता आदि कार्यक्रम भी लागू करना है) राष्ट्रभाषा प्रचार, मातृभाषा प्रेम, आर्थिक समानता को प्रोत्साहन, साम्प्रदायिक एकता, अछूतोंद्वारा, नशाबन्दी, आदिवासी सेवा, मजदूर-किसान एवं विद्यार्थी संगठन बनाना आदि कार्यक्रम तय किए। जिस 'सर्वोदय' की कल्पना गांधीजी ने की, वह एक सहज व्यापकता थी, जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था, न दलगत राजनीति थी और न ही शोषण। इसके अन्तर्गत वर्गविहीन, जातिविहीन व शोषणविहीन समाज के निर्माण का उद्देश्य था जो सत्य व अहिंसा के द्वारा निर्मित किया जाना था व जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वांगीण विकास के लिए साधन व अवसर उपलब्ध कराया जाना था।¹

जो 'स्वराज्य' गांधीजी की कल्पना में था, उसमें जाति या धर्म का कोई भेद नहीं, जो सबके कल्याणार्थ, जिसमें सभी को मर्यादित स्वतंत्रता, जिससे अन्य किसी का अहित न हो तथा वह प्रत्येक भारतवासी के लिए था। उस स्वराज्य की नींव अहिंसा पर आधारित थी तथा जिसमें व्यक्ति को अपने अधिकारों का पूरा ध्यान भले ही न रहे, किन्तु कर्तव्यों का भान भीलीभांति रहे, यह उनकी अपेक्षा थी। उस स्वराज्य में भारत का प्रत्येक ग्राम व ग्रामवासी आत्मनिर्भर हो यह कल्पना की गई थी।²

ब्रिटिश पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने भारत के ग्राम आधारित आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था पर आक्रमण कर उसे नष्ट करते हुए विजय प्राप्त की तथा भारतीय समाज को छिन्न-भिन्न करते हुए अपनी आवश्यकतानुसार उसका अपर्याप्त नवनिर्माण व विकास कर जिस

नवीन समाज का निर्माण किया, वह भारतीय दृष्टि से अनुपर्युक्त था। इस तथ्य को गांधीजी ने भलीभांती समझ लिया था अतः उन्होंने 'राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्ति' को अपना एकमात्र लक्ष्य नहीं बनाया बल्कि भारतीय राष्ट्रीय आवश्यकतानुसार 'प्राणवान सर्वोदयी नवसमाज के सृजन' को भी अपना लक्ष्य बनाया जिसमें राष्ट्रवाद का प्रवाह हो और किसी प्रकार का विभेद भी न हो, जिससे ब्रिटिश शक्ति द्वारा भारतीय समाज पर किए गए आक्रमण का प्रतिकार करते हुए उस पर प्रत्याक्रमण किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रमुख आधार रचनात्मक कार्यक्रम था।³ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि ब्रिटिश शक्ति द्वारा अर्थव्यवस्था पर आक्रमण कर नवीन अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आय के प्राक्-ब्रिटिशकालीन स्रोतों को नष्ट, परिवर्तित व अप्रभावित कर दिया गया व अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आय के नवीन स्रोत स्थापित किए गए, जिसका सर्वाधिक विनष्टकारी परिणाम ग्राम्य-अर्थव्यवस्था व ग्रामीणों पर ही पड़ा। गांधीजी ने इस तथ्य को समझकर ही अपने रचनात्मक कार्यक्रम का निर्माण किया, जिससे भारत को 'पूर्ण स्वराज्य' का चरम लक्ष्य प्राप्त हो सके। उनके मस्तिष्क में यह स्पष्ट था कि भारत की समस्त व्याधियों की जड़ 'परतंत्रता' है, जिसने भारतीय राज-व्यवस्था पर अपनी अर्थव्यवस्था व उसकी नीतियों से प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष निरंकुश एकाधिकार प्राप्त किया एवं इनकी सहायता से धर्म व समाज पर आक्रमण करते हुए उन व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न किया है। अतः परतंत्रता की व्याधि से केवल उसी स्थिति में मुक्त हुआ जा सकता है, जबकि आत्मनिर्भर भारतीय समुदाय का निर्माण हो, जो ब्रिटिश शक्ति की विनाशकारी नीतियों का सामना करने में सक्षम हो व साथ ही ब्रिटिश शक्ति की 'प्रीतितोल नीति' (जिसमें वर्ग, जाति, समुदाय, संप्रदाय आदि की शक्ति के विरुद्ध वर्ग, जाति, समुदाय, संप्रदाय को तैयार कर उनकी शक्ति को प्रभावहीन बनाया जा सकता था) से अप्रभावित रहते हुए न केवल राजनीतिक स्वातंत्र्य बल्कि उसके साथ-साथ 'पूर्ण स्वराज्य' को प्राप्त करे। उनका अभिकल्पित रचनात्मक कार्यक्रम इसी दृष्टि के अन्तर्गत राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक लक्ष्य व उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सक्षम अस्त्र था।

रचनात्मक कार्यों के माध्यम से देहाती जनता में यह विश्वास भी उत्पन्न हुआ कि लड़ाई में स्वयं भाग ले रही है, उसका फल भोगने अर्थात् शासन के अधिकारों में भी उसकी सहभागिता निश्चिततः होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि गांधीजी द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक कार्यक्रम वह माध्यम था, जिससे संपूर्ण देश की जनता को जागृत करते हुए आत्मनिर्भर प्राणवान सर्वोदयी नवसमाज का निर्माण संभव था। यह भी स्थापित तथ्य है कि गांधीजी के विचारों में किसी अन्य को क्षति पहुंचाने जैसे तत्व का कोई स्थान नहीं था बल्कि आत्मत्याग, आत्मसंयम, आत्म-बलिदानल, जैसे तत्वों से भरपूर होने के कारण ही तथा साथ ही, विपक्षी के हृदय-परिवर्तन जैसी अभिकल्पना के परिणामस्वरूप उन्हें सभी का सहयोग प्राप्त हुआ। गांधी युग में ही राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापक जनाधार मिला, जिसकी प्राप्ति का साधन रचनात्मक कार्यक्रम था क्योंकि इसी के माध्यम से गांधी व

उनके विचार सामान्य जनजीवन में प्रभावी रूप से प्रतिष्ठित हो गए, अतः यह भी स्पष्ट है कि गांधीजी के समस्त कार्यक्रमों, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन व स्वतंत्रता तथा राष्ट्रवादी भारतीय समाज-इन सभी की नींव में रचनात्मक कार्य रहे हैं।⁴ गांधीजी ने गोपालकृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते हुए भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में प्रवेश किया तथा 1920 ई. से प्रभावी स्थिति प्राप्त करते गए। इस अवधि में उन्होंने भारतीय परिदृश्य का अध्ययन तथा दक्षिण अफ्रीका में स्वयं द्वारा प्रयोग किए गए शस्त्रों को यहां प्रारंभिक तौर पर क्रियान्वित करके देखा। कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन (1920 ई.) में उन्होंने अपनी परिकल्पना को उद्घाटित करना प्रारंभ किया, जो निरंतर विकसित होती गयी व साथ ही, कांग्रेस ने भी शनैः शनैः विकसित होने वाले इस कार्यक्रम में निहित क्रान्तिकारी संभावनाओं को पहचान कर उसे निरन्तर अपने विभिन्न निर्णायक मंचों (महासमिति, कार्यसमिति आदि) पर निर्णय के माध्यम से नीतिगत संबल प्रदान किया व अपनाया। सही अर्थों में तो गांधीजी सत्य के शोधक थे। सत्य व अहिंसा की उनकी नीति ही उनकी साधना, धर्म व राजनीति थे। सत्याग्रह व रचनात्मक कार्यक्रम 'प्रचलित अर्थ वाली राजनीति के शुद्धिकरण' हेतु चलाए गए क्योंकि वे जानते थे कि देश का उद्धार केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से होने वाला नहीं है, बल्कि उसके लिए आर्थिक व सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करना भी अत्यावश्यक है। इसी दृष्टि के अन्तर्गत उन्होंने देश के सम्मुख अपना रचनात्मक कार्यक्रम उपस्थित किया। इस कार्यक्रम में निम्न कार्य शामिल थे-

1. कौमी एकता- कौमी एकता का तात्पर्य केवल राजनीतिक एकता नहीं बल्कि 'अटूट दिली-दोस्ती' था। इसके लिए जरूरी था कि हम 'स्वयं को' सभी कौमों (हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि) का 'प्रतिनिधि' समझें। सभी धर्म वालों से व्यक्तिगत मैत्री बढ़ाएं व सभी धर्मों का वैसा ही आदर करें, जैसा अपने धर्म का करते हैं।

2. अस्पृश्यता निवारण- हर हिन्दू यह समझ ले कि अस्पृश्यता-निवारण तथा अछूतों का कार्य हमारा अपना ही कार्य है। उन्होंने अछूतों का 'हरिजन' का नाम दिया।

3. मद्य-निषेध- व्यसन में फंसे करोड़ों लोगों के भविष्य को शासन की मेहरबानी के लिए मर्जी पर नहीं छोड़ा जा सकता अतः इन व्यसनों से मुक्ति दिलाने के लिए उपाय करना अनिवार्य माना।

4. खादी - इसके लिए गांधीजी का विचार था कि 'हमारे देश में करोड़ों लोगों को एक बार भरपेट भोजन नहीं मिलता, यह मैंने अपनी आंखों से देखा है। खादी उन्हें रोटी देने के लिए भी है। खादी का मतलब है-देश के सभी लोगों की स्वतंत्रता व समानता का श्रीगणेश।

5. ग्रामोद्योग- 'हाथ पिसाई, कुटाई, साबुनसाजी, कागज निर्माण, दियासलाई निर्माण, चमड़ा कमाना, तेल-पिराई तथा ऐसे ही अन्य ग्रामोद्योग सामाजिक जीवन के

लिए जरूरी हैं। इन धंधों के बिना गांवों की आर्थिक रचना संपूर्ण नहीं हो सकती। देहात की बनी चीजों का उपयोग करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है।'

6. ग्राम-स्वच्छता- देश में जगह-जगह सुहावने और मनभावन छोटे-छोटे गांव देखने को मिलते हैं। हमारा फर्ज है कि हम ग्रामों को स्वच्छ रखें।

7. बुनियादी तालीम- 'बुनियादी तालीम हिन्दुस्तान के सारे बच्चों को, फिर वे चाहे गांवों में रहते हों, चाहे शहरों में, हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ तत्वों के साथ जोड़ देती है। यह तालीम बच्चों के तन-मन दोनों का विकास करती है।'

8. प्रौढ़ शिक्षा- 'बड़ी उम्र के अपने देशवासियों को सीधी बातचीत द्वारा सच्ची राजनीतिक शिक्षा दी जाए। उन्हें देश की महत्ता और विशालता समझनी चाहिए, ताकि वे अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हो सकें।'

9. स्त्रियों की उन्नति- 'स्त्री को अपना मित्र या साथी मानने की बजाय पुरुष ने अपने को उसका 'स्वामी' माना है। हिन्दुस्तान की स्त्रियों को इस गिरी हुई हालत से उठाना ही हमारा कर्त्तव्य है।

10. आरोग्य की शिक्षा- देशवासियों को आरोग्य की शिक्षा देना आवश्यक है। शुद्ध विचार, ताजी हवा, शारीरिक और मानसिक श्रम का सन्तुलन, हर काम साफ-सुथरा, अपने भाईयों की सेवा के लिए जीवित रहने के लिए भोजन, पानी और हवा का, त्रिविध स्वच्छता का हम खुद पालन करें, साथ ही दूसरों से भी करावें।'

11. प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान- 'हिन्दुस्तान की महान् भाषाओं की अवगणना से हमारा बेहद नुकसान हुआ है। हम एक-दूसरे की भाषाएं सीखें, जिससे उनके बीच मेल-मिलाप बढ़ाने में सुविधा होगी।

12. राष्ट्रभाषा- 'सारे देश के साथ व्यवहार करने के लिए ज्यादा से ज्यादा लोगों की भाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) हम सबको सीखनी-सीखानी चाहिए।

13. आर्थिक समानता- 'आर्थिक समानता का मतलब है- पूंजी और मजदूरों के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसके लिए यह जरूरी है कि वे मुट्ठी भर धनवान नीचे उतरें, जिनके हाथ में राष्ट्र की संपत्ति का अधिकांश इकट्ठा है और उधर देश के करोड़ों भूखे-नंगों की भूमिका ऊपर उठे। जब तक मालदारों और भूखी जनता के बीच में चौड़ी खाई बनी रहेगी, तब तक अहिंसक राज्य-पद्धति सर्वथा असंभव है।

14. किसानों की उन्नति- 'मेरी राय में हिन्दुस्तान और सारे संसार की अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसमें कोई भी अन्न व वस्त्र से वंचित न रहे। हरेक को अपने गुजारे के लिए पूरा काम मिले। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करने के साधनों पर जनता का अधिकार होना चाहिए। देश में अस्सी फिसदी किसान है। उनके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए।'

15. मजदूरों की उन्नति- 'मजदूर का कौशल ही उसकी पूंजी है। वे ही सही ढंग से अपना संगठन करें, अपनी बुद्धि का विकास करें और एक से अधिक धंधों में निपुणता प्राप्त करें। वे अपना दर्जा बढ़ाएं और आंशिक मालिकों का दर्जा प्राप्त करें। मजदूरों का संगठन शुद्ध अहिंसक बुनियाद पर खड़ा करने का हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

16. आदिवासियों की सेवा- 'देश में दो करोड़ आदिवासी हैं। उनकी सेवा रचनात्मक कार्यक्रम का ही अंग है।'

17. कुष्ठ रोगियों की सेवा- 'कुष्ठरोग एक बदनाम रोग है। कुष्ठ रोगी हमारे ही समाज के अंग हैं। हकीकत तो यह है कि उनकी सार-संभाल की सबसे ज्यादा जरूरत है। खेद है कि हमारे यहां उन्हीं की सबसे अधिक उपेक्षा की जाती है। हमें उनकी सेवा करनी है।

18. विद्यार्थियों की सेवा- 'विद्यार्थी भविष्य की आशा है। उनमें से ही राष्ट्र के भावी नेता तैयार होने वाले हैं। उन्हें दलबंदी वानली राजनीति में कभी शामिल नहीं होना चाहिए। उन्हें राजनीतिक हड़तालें नहीं करनी चाहिए। भिन्न मत रखने वाले विद्यार्थियों या स्कूल कॉलेज के अधिकारियों के साथ उन्हें जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। वे अपने जीवन को निर्मल, संयमी और सेवा-परायण बनाएं। उन्हें खादी धारण करनी चाहिए। वे किसी चीज से न डरें अपने कमजोर साथी लोगों की रक्षा करें। दंगों के अवसर पर अपनी जान की परवाह न करके अहिंसक रीति से उन्हें मिटाने को तैयार रहें।

19. गौ-सेवा- 'गौसेवा मुझे बहुत प्रिय है। हिन्दू धर्म का बड़े से बड़ा बाह्य रूप है- गौसेवा। हम इस धर्म को भूल गए हैं। हिन्दुस्तान में गौवंश की जैसी लावारिश हालत है, वैसी दुनिया में और कहीं नहीं हैं। गौसेवा का अर्थ है- ईश्वर की संपूर्ण मूक सृष्टि की सेवा। गाय एक मूर्तिमयी करुणामयी कविता है। इस प्राणी में करुणा ही करुणा दिखायी देती है।'

20. लोक सेवक संघ- 'गांधीजी का आखिरी वसीयतनामा, जो उन्होंने जनवरी में अपनी शहादत से एक दिन पहले लिखा, उनके रचनात्मक कार्यक्रम का अंतिम और सर्वोच्च कार्यक्रम था। उसमें उन्होंने लिखा था कि 'आजादी मिल जाने से आज की कांग्रेस का काम पूरा होगया। लेकिन सात लाख गांवों की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। इसके लिए कांग्रेस अपना मौजूदा स्वरूप समाप्त करके 'लोक सेवक संघ' के रूप में प्रकट हो।' कांग्रेस अपना राजनीतिक स्वरूप छोड़कर गांव-गांव की सेवा के लिए 'लोक सेवक संघ' के रूप में सारे देश में बिखर जाए- यह था गांधीजी का 'राजनीति का विकल्प'।⁵

गांधीजी की धारणा थी राष्ट्रीय एकता व संयुक्त राष्ट्रीय शक्ति का प्रतिफलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता है एवं राष्ट्रीय एकता तथा ताकत की यह मांग थी कि सब आत्मविकास के लिए स्वतंत्र हो व सबके लिए आत्मविकास के समान साधन व अधिकार हों।⁶ उनकी

दृष्टि में स्वराज्य-साधना के लिए प्रमुख बाधक तत्वों के रूप में वे हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य तथा अस्पृश्यता निवारण यही दो आवश्यक काम हैं।⁷ तो साथ ही, ग्रामोत्थान एवं स्वस्थ प्राणवान समाज स्वराज्य की प्राथमिक आवश्यकता थे। इन्हीं को केन्द्रबिन्दू में जाकर उन्होंने अपने रचनात्मक कार्यक्रम को योजनाबद्ध करते हुए एक स्वरूप प्रदान किया। यद्यपि गांधीजी व कांग्रेस ने रचनात्मक कार्यक्रम शनैः शनैः विकसित व विस्तारित किया। किन्तु यह पूर्णतया स्थापित तथ्य है कि उन्होंने इसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यक्रम के रूप में संचालित किया। गांधीजी ने तो इसके लिए अपने सर्वस्व अर्थात् अपने प्राणों की बाजी भी लगा दी (मैकडॉनल्ड निर्णय के विरुद्ध आमरण उपवास, सांप्रदायिकता उन्मूलन हेतु तथा सांप्रदायिक दंगों के समय किए गए उपवास आदि) इसका अर्थ स्पष्ट था कि गांधीजी की दृष्टि में ये कार्यक्रम अधिक महत्वपूर्ण थे।⁸ गांधीजी के विचारानुसार कांग्रेस की कार्यसमिति ने अपनी 13 फरवरी 1922 ई. को बारडोली में हुई बैठक में एक रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया, जिसमें कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भर्ती करना, चर्खे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों को खोलना और मादक द्रव्यों के निषेध का प्रचार व पंचायत संगठित करना आदि शामिल थे। 23 व 24 फरवरी, 1922 ई. को दिल्ली में महासमिति की बैठक हुई, जिसमें महासमिति ने सत्याग्रह में अपनी आस्था प्रकट की व यह राय कायम की कि यदि कार्यकर्ता रचनात्मक-कार्य में अपनी सारी शक्ति लगा दें, तो जिस अहिंसात्मक वातावरण की आवश्यकता है, वह अवश्य उत्पन्न हो जाएगी।⁹ इस प्रकार गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम एक ऐसा कार्यक्रम था जिसके द्वारा सम्पूर्ण समाज का हित अर्थात् 'सर्वोदय' संभव था।

संदर्भ

1. महात्मा गांधी के पुत्र श्री जमनालाल बजाज, राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान, डॉ. सुषमा शर्मा, पृ. 196-197
2. राजनीति का विकल्प, संपादक शरद कुमार साधक, पृ. 12
3. महात्मा गांधी के पुत्र श्री जमनालाल बजाज, राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान, डॉ. सुषमा शर्मा, पृ. 198
4. वही
5. मारवाड़ी समाज के माहेश्वरी वर्ग का सांस्कृतिक उन्नयन एवं भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान (1900-1950 ई.), संगीता माहेश्वरी, पृ. 286-288
6. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि- ए आर देसाई, पृ. 209-10
7. बापू की प्रेम प्रसादी (खण्ड-एक), घनश्यामदास बिड़ला, पृ. 86
8. डॉ. सुषमा शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 199
9. कांग्रेस का इतिहास (प्रथम-खण्ड), पट्टाभि सीतारामय्या, पृ. 193-194

बीकानेर रियासत में छात्र और आजाद हिन्द फौज

डॉ. महेन्द्र पुरोहित

1945 में जब आजाद हिन्द फौज केस की सुनवाई चल रही थी तब बीकानेर में डूंगर कॉलेज के छात्रों ने आर्थिक मदद हेतु एक समिति बनाकर चंदा एकत्रित करने का कार्य करना चाहा। सरकार को इसका पता चलते ही इस पर प्रतिबंध लगाकर इसे रोक दिया लेकिन हॉस्टल में मारपीट की घटना हो गई।¹ आजाद हिन्द फौज मुकद्दमे का छात्रों पर अच्छा खासा प्रभाव यह पड़ा कि रियासत के विद्यार्थियों ने 'जय हिंद' का नारा अपना लिया। छात्र वर्ग आपस में अभिवादन के लिए जयहिंद का प्रयोग करने लगे। इतना ही नहीं, बीकानेर में रामपुरिया इण्टर कॉलेज छात्र श्री द्वारका प्रसाद कौशिक जो कक्षा छह का छात्र तथा गंगादास कौशिक प्रजा परिषद् के कार्यकर्ता का पुत्र था, ने 21 दिसम्बर, 1945 को अपनी उपस्थिति में भी 'यस सर' न बोलकर 'जय हिन्द' का उद्बोधन किया। इससे अध्यापक चौंक गया और आगे से ऐसा नहीं बोलने की चेतावनी देते हुए कहा कि अगर भविष्य में जयहिन्द कहोगे तो विद्यालय से निकाल दिये जाओ। ऐसी ही घटना रियासत के उत्तरी इलाके के शहर नौहर में भी हुई। जब स्कूल में छात्रों ने 'जयहिन्द' कहा तो अध्यापक ने छात्रों को बेंत से मारकर स्कूल से बाहर निकाल दिये जाने की धमकी दी।² 27 दिसम्बर, 1945 को फिर भी द्वारका प्रसाद कौशिक ने उपस्थिति में जयहिन्द बोला तो कॉलेज प्रशासन ने उसे निष्कासित कर दिया। श्री कौशिक ने इसे लिखित में मांगा तो मौके पर पहुँचे प्रो. घोष ने श्री कौशिक को अपने पिता से लिखवा कर लाने का कहकर मामले को शांत किया। अगले दिन फिर जब श्री कौशिक ने उपस्थिति में जय हिन्द सम्बोधन किया तो बिना किसी लिखित आदेश दिये उसे कॉलेज से निष्कासित कर दिया।³ डूंगर कॉलेज के छात्रों में आजाद हिन्द सैनिक सहायता कोष के लिए रूपया जमा करने का काफी उत्साह था परन्तु इन्हें इसके लिए अवसर नहीं दिया जा रहा था। अधिकारी उनकी इस प्रवृत्ति को सशंक वृत्ति से देखते थे। कप्तान सहगल, शाहनवाज और लेफ्टिनेंट दिल्ली की रिहाई के समाचार पर छात्रों ने 'जयहिन्द' और वन्देमातरम् के नारे लगाये।⁴

इसी प्रकार नापासर के मिडिल स्कूल के भी छात्रों में भी जयहिन्द का काफी बोलबाला हुआ। छात्रों ने न केवल कस्बे में जगह-जगह जयहिन्द जिन्दाबाद लिखकर अपने जोश का परिचय दिया बल्कि स्कूल की चार दीवारी पर भी लिख दिया। ऐसा देखकर प्रधानाध्यापक अपने को खतरे में समझने लगे और छात्रों को जयहिन्द न बोलने

के लिए समझाने लगे पर इससे कोई फायदा न निकला। फिर सब मास्टर्स और छात्रों की एक सभा की जिसमें उन्होंने कहा अगर स्कूल में किसी ने जयहिन्द कहा और लिखा तो उसको बाहर निकाला जायेगा। इस पर कुछ छात्रों ने जयहिन्द से सारा हाल भर दिया। उनको स्कूल से निकालने की धमकी दी गई। यह सब होते हुये भी हैडमास्टर की धमकी का छात्रों पर कोई खास प्रभाव नहीं था। स्कूल की दीवार पर जो जयहिन्द लिख दिये गये थे उन्हें हैडमास्टर ने खतरा समझकर मिटा दिये।⁵ गाँव हमीरवास (राजगढ़) में भी पुलिस हैड कांस्टेबल और चार सिपाहियों ने मिलकर उमरावसिंह नामक 15 वर्षीय छात्र को 'जयहिन्द', महात्मा गांधी की जय और पं.जवाहरलाल नेहरू की जय के नारे लगाने पर थाने में ले जाकर खूब मारा।⁶ राजगढ़ कस्बे में भी घरों की दीवारों पर कोयल अथवा चाक से 'जयहिन्द' के नारे लिखे पाये जा रहे थे। जांच में कोई पकड़ा नहीं जा रहा है।⁷ होम डिपार्टमेंट की गोपनीय पत्रावली की पहली रिपोर्ट रामपुरिया जैन कॉलेज के बारे में है कि वहाँ के विद्यार्थियों ने प्रो. घोष के पास जाकर कहा कि कॉलेज के विद्यार्थियों से सामाजिक समारोह के लिए जो करीब 400/- का कोष जमा हुआ पड़ा है उसे आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के मुकद्दमे में उनके बचाव के लिए बने कोष को प्रेषित कर दिया जाये। प्रो. घोष ने उनकी मांग स्वीकार नहीं की। विद्यार्थीगण अब भी इसके लिए दबाव डालने के लिए प्रत्यनशील हैं। दूसरी रिपोर्ट डूंगर कॉलेज के छात्रों से संबंधित है जिसमें कहा गया है कि इस कॉलेज के छात्रों ने शिवलाल डागा और कंवरसिंह चतुर्थ वर्ष के छात्रों के नेतृत्व में प्रिंसीपल से इजाजत चाही है कि वे कॉलेज के विद्यार्थियों से आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के बचाव कोष के लिए चंदा इकट्ठा करना चाहते हैं जिसकी इजाजत दी जाये। उनकी मांग ठुकरा दी गई पर अगले ही दिन उन्होने लक्ष्मीचन्द गोयल की अध्यक्षता में विद्यार्थियों की सभा बुलाकर उसमें चंदा इकट्ठा करने का निर्णय लेना घोषित कर दिया। सरकार विद्यार्थी समाज की इस प्रवृत्ति से चिंतित है, पर इसे रोकने का कोई मार्ग नहीं मिल रहा है।⁸

सन्दर्भ

1. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर फा.सं. 34 सन् 1945 पृ. 1-3, रा.रा.अ.बी.
2. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर फा.सं. 76 सन् 1945 पृ. 1-3, रा.रा.अ.बी.
3. प्रेस कटिंग दैनिक विश्वामित्र नई दिल्ली 22 दिसम्बर 1945 पृ. 3
4. प्रेस कटिंग दैनिक विश्वामित्र नई दिल्ली 1 जनवरी 1946
5. प्रेस कटिंग दैनिक विश्वामित्र नई दिल्ली 12 जनवरी 1946 पृ.4
6. प्रेस कटिंग दैनिक विश्वामित्र नई दिल्ली 22 मार्च 1946 पृ. 4
7. प्रेस कटिंग दैनिक विश्वामित्र नई दिल्ली 29 अप्रैल 1946 पृ. 3
8. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर फा.सं. 76 सन् 1945 पृ. 11, रा.रा.अ.बी.

भारतीय संवैधानिक सुधार में महाराजा गंगासिंह का योगदान

डॉ. (श्रीमती) अनिला पुरोहित

1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजी शासन को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, तब अंग्रेजों में भय का वातावरण बन गया था। कांग्रेस में अब नरमपंथी नेताओं का स्थान गरम दल ने ले लिया था, जो भविष्य में भारत को स्वराज्य देने की मांग पर अडिग हो गये थे। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों ने देशी राजाओं के सहयोग से अपनी दशा को सुधारने हेतु कुछ कानून बनाने का मानस बनाया।

महाराजा गंगासिंह भी भविष्य दृष्टा थे। उन्होंने इस दशा को देखकर आंग्ल शासन को इस बात से स्पष्ट अवगत कराया कि अब समय आ गया है जब भारत को स्वतंत्रता देने का मानस अंग्रेजी शासन को बना लेना चाहिए।¹ इसके अलावा उन्होंने सामाजिक विधान परिषद् तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में और अधिक सुधार करना तथा भारत शासन तथा प्रान्तीय शासनों में हस्तक्षेप की मात्रा को न्यूनतम करना एवं उन्हें और अधिक स्वायत्तता प्रदान करना² आदि प्रमुख बातों को आंग्ल शासन के सम्मुख स्पष्ट रूप से प्रसारित किया। इस संबंध में अंग्रेजों ने कुछ संवैधानिक सुधारों को भारत में प्रचलित किया, जिनमें मुख्य रूप से 1919 एवं 1935 का विशेष महत्व है।

1919 एवं 1935 अधिनियम की मुख्य बातें

1909 के मॉन्टेग्यू सुधार ने जनता की महत्वकांक्षाओं को पूर्ण नहीं किया अपितु पृथक निर्वाचन जैसी धाराओं से जनता का विरोध और भी उग्र हो गया। पूर्वी भारत में विशेषतया बंगाल में जनता अंग्रेजी शासन के प्रति कड़ा रुख अपनाने लगी इसकी वजह से 1919 एवं 1935 के अधिनियम द्वारा उनकी विध्वंसक भावनाओं को शांत करने का प्रयास किया गया। ये अधिनियम केवल दिखावे के लिए थे जिनमें सुधार के नाम पर आंग्ल शासन अपनी सुरक्षा का प्रावधान करना चाहता था।

1919 का अधिनियम

इस अधिनियम को मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम नाम से भी जाना जाता है भारत सचिव मॉन्टेग्यू वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड ने संवैधानिक सुधार की दिशा में इस अधिनियम को निर्मित किया।

महाराजा गंगासिंह ने इस अधिनियम के प्रारूप के तैयार होने से काफी पूर्व आंग्ल शासन को इस बात हेतु स्पष्ट रूप से परिचित करवा दिया था कि देशी राज्यों एवं नरेशों को विशेष तौर से छोटे राज्यों एवं नरेशों को विशेष तौर से छोटे राज्यों एवं नरेशों हेतु साम्राज्य के सुधार कार्यक्रमों में उनका योगदान होना आवश्यक है यदि इन राज्यों को उचित मौका नहीं दिया गया तो सुधार का नियोजन पूर्ण रूप से सही नहीं हो पायेगा। महाराजा ने 1919 के अधिनियम से पूर्व अंग्रेजी सरकार को इस बात से निरन्तर अवगत कराया कि भारत सरकार तथा देशी राज्यों, नरेशों के संबंध सहयोगी रूप से होने पर यह दोनों पक्ष हेतु हितकारी होंगे। महाराजा ने स्पष्ट रूप से कहा कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो छोटे राज्य पीछे रह जायेंगे और श्रृंखला की अशक्त कड़ियां बन जायेंगे। अतः उन्होंने छोटे राजाओं के समुचित एवं अनुपातनुरूप प्रतिनिधित्व का पक्षपोषण किया।³ महाराजा गंगासिंह ने लार्ड चैम्सफोर्ड एवं मॉन्टेग्यू के संयुक्त प्रतिवेदन के दसवें प्रकरण (जो देशी राज्यों से संबंधित था) पर अपनी टिप्पणी में भारत सरकार एवं राजपूताना एवं नरेशों के संबंध पर अपनी टिप्पणी में इस प्रश्न को पुनः उठाया और कहा कि राजाओं का कम से कम बड़े राजाओं तथा भारत सरकार के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित होना, सामाजिक शासन एवं नरेशों, दोनों के लिए हितकर होगा।⁴

सन् 1918 में प्रकाशित मॉन्टेग्यू चैम्सफोर्ड प्रतिवेदन के प्रस्तावों में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रतिवेदन में कहा गया था कि एक सामान्य नियम के रूप में समस्त महत्वपूर्ण राज्यों के भारत सरकार के साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर दिये जाने चाहिए क्योंकि केन्द्रीय शासन के साथ दो या अधिक मध्यवर्ती अधिकरणों के अन्तरेण सम्पर्क स्थापित करने की कार्यप्रणाली से उचित अवबोधन एवं सफल संचालन में बाधा पड़ती है।⁵ सन् 1919 में लन्दन में आयोजित 'इण्डिया ऑफिस कमेटी' में मॉन्टेग्यू चैम्सफोर्ड प्रतिवेदन पर विचार-विमर्श किया गया, अभिस्ताव किया कि क्योंकि भारत में इस प्रकार के संबंधों को सुगम करने की नीति को अंगीकार कर लिया है अतः उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह राज्य सचिव के अनुमोदनार्थ एक योजना प्रस्तुत करे। किन्तु कमेटी के प्रस्तावों को प्रस्तुत करने के पूर्व नरेशों के विचारों को जानना आवश्यक है।⁶

महाराजा की उक्त विचारणा को 1919 के अधिनियम में स्थान दिया गया और उनके प्रावधानों में देशी राज्यों की स्थिति के संबंध में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। महाराजा द्वारा नरेशों की तरफदारी किये जाने पर राष्ट्रीय नेताओं ने उन पर यह आरोप लगा दिया कि मॉन्टेग्यू चैम्सफोर्ड के प्रतिवेदन के दसवें प्रकरण से संबंधित जिन प्रस्तावों को सम्मिलित किया गया है, वे राजाओं तथा अंग्रेजों के एक षडयंत्र का परिणाम है। महाराजा गंगासिंह ने इस आरोप को दृढ़तापूर्वक खण्डन किया और इस विषय पर स्पष्ट मंत्रणा करने हेतु नरेशों ने अपने पटियाला सम्मेलन में भारत के अनेक प्रमुख नेताओं को

विशेष रूप से आमंत्रित किया और उनसे उनके बहुमूल्य सुझाव भी प्राप्त किये। दिनांक 03 अप्रैल 1919 के 'द बंगाली' तथा 'ए लन्दनर्स नोट बुक, लन्दन मार्च 3' में लिखा कि महाराजा गंगासिंह ने भारत में राजनैतिक एवं प्रशासनिक सुधारोंकी आवश्यकता से इंग्लैण्ड के अभिजातवर्गीय मण्डलों को सुपरिचित कराने का बहुत उपयोगी कार्य किया।⁷

1935 का अधिनियम

भारत में राजनैतिक सुधारों में ब्रिटिश सरकार ने 1935 में एक अधिनियम पारित किया। जो मुख्यतया संघ सरकार व्यवस्था पर कन्द्रित था। 1919 के प्रावधानों में भारतीय जनता की मांगों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारत एवं उसके लोगों में प्रथम विश्व युद्ध समाप्ति के बाद भी अंग्रेजी प्रशासन में लोकतंत्र को समाविष्ट नहीं किया गया तो उनमें भारी असंतोष व्याप्त हो गया। उन्होंने अंग्रेजों पर चालबाजी का आरोप लगाया और अपने आन्दोलनों को और अधिक गतिशक्ति प्रदान की। दूसरी ओर बटलर कमेटी के प्रावधानों में राजाओं की भी शक्ति को कमजोर करने की कोशिश की गई। राजा लोग भी इससे नाराज हो गये और उन्होंने अंग्रेजी सरकार को इस सम्बन्ध में अपनी शिकायत प्रस्तुत की, लेकिन राजाओं की समस्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सन् 1932 की साम्प्रदायिक घोषणा द्वारा भारत की जनता में विभाजन एवं फूट का कार्य किया गया इससे जनता अंग्रेजी सरकार की मनोदशा को पहचान गयी। उनका मानना था कि अंग्रेजी सरकार सुधारों के नाम पर जनता के अधिकारों का हनन कर रही है। सन् 1935 तक आते-आते परिस्थितियां विकट हो चुकी थी। तब आंग्ल शासन ने संघीय व्यवस्था की योजना बनायी और इस हेतु 'फैडरल स्ट्रक्चर' कमेटी का गठन किया गया। जिसकी अध्यक्षता लार्ड सेन्की को सौंपी गयी। महाराजा गंगासिंह को भी इस कमेटी में मनोनीत किया गया। महाराजा ने इस कमेटी में संघीय विधान मंडल में सदस्यता में छोटे राज्यों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग की।

महाराजा ने संघीय विधान के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जिसमें उन्होंने कहा कि संघीय विषयों के कार्य क्षेत्र को इस प्रकार से सीमाबद्ध कर दिया जाये ताकि भविष्य में किसी भी संघीय विधान मंडल को राज्यों की अविमुख सम्मति के बिना इस कार्यक्षेत्र को संविधान में संशोधन करके, बढ़ाने का कोई अधिकार न रहे। भविष्य में किसी भी समय संघ की सदस्यता से पृथक होने के लिए राज्यों के अधिकार को मान्यता दी जाये।⁸ लेकिन संघीय विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर राजा लोगों में फूट पड़ गयी तो दूसरी ओर आंग्ल शासन ने अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया और उन्होंने न केवल कांग्रेस के विरुद्ध अपितु नरेशों से संबंध रखने वाले विषयों में भी अपने रुख को कठोर कर लिया।

लॉर्ड विलिंगटन के इस कथन से उनके रुख का स्पष्ट ज्ञान होता है उन्होंने कहा “संघ के रूप के बारे में यदि ऐसा निर्णय करना है जो सभी पक्षों के लिए उचित एवं न्याययुक्त हों तो हम किसी भी विशिष्ट वर्ग के मतों को स्वीकार नहीं कर सकते और महामान्य सम्राट की सरकार केवल एक निष्पक्ष एवं न्याय संगत समझौता प्राप्त करने में दिलचस्पी रखती है।”⁹⁻¹¹ इसके परिणामस्वरूप ‘गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट 1935’ तथा संविलयन का संशोधित प्रारूप विलेख उत्पन्न हुए। 1935 के अधिनियम में मुख्यतया इन प्रावधानों को रखा गया। अखिल भारत संघ, द्वैध शासन प्रणाली व केन्द्रीय विधान मण्डलों में देशी रियासतों की भागीदारी पर जोर दिया। इस अधिनियम से संबंधित प्रावधानों पर वाययराय ने स्पष्ट रूप से कहा कि इसमें घोषित शर्तों के लिए समझा जाना चाहिए कि राज्यों के मन्तव्यों को तुष्ट करने के लिए यह दूरतक सीमा है जहां तक महामान्य सम्राट की सरकार जा सकती थी।¹²

महाराजा गंगासिंह इस अधिनियम के प्रावधानों से पूर्ण रूप से तुष्ट नहीं थे। महाराजा ने संविलयन के विषय पर ता. 27.01.1939 को लार्ड लिननिथगो के पत्र के प्रत्युत्तर में लिखा कि राज्यों के संबंध में उनकी संधियों तथा समझौतों से उद्भूत होने वाले उनके अधिकारों के संबंध में पर्याप्त संरक्षण नहीं दिया गया है तथा राज्य इन अधिकारों को त्यागने के लिए तैयार नहीं है। संघीय विषयों की सूची को काफी मात्रा में बढ़ा दिया गया है तथा राज्यों द्वारा संघीय कानूनों की व्यवस्था करने के जो अन्तिम प्रस्ताव रखे गये हैं वे न केवल समझौते की वार्ताओं की विभिन्न अवस्थाओं में प्रतिपादित किये गये प्रस्तावों से मूल रूप से भिन्न है, अपितु तत्त्वतः भी भिन्न है।¹³ अपने पत्र में महाराजा गंगासिंह ने आंग्ल भारत में गत वर्ष से प्रवर्तमान विध्वंसक प्रवृत्तियों की ओर निर्देश करते हुए कहा कि एक संघीय राज व्यवस्था में अनिवार्य रूप से इकाइयों के बीच में सामंजस्य होना चाहिए तथा इस अवस्था को, प्रत्येक इकाई द्वारा परस्पर एक दूसरे की पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता को मान्यता देने पर ही केवल आधारित किया जा सकता है।

महाराजा ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि तथापि ऐसा नहीं किया गया प्रत्युत कुछ प्रान्तों के अन्दर विध्वंसक प्रवृत्तियों को इस ढंग से कार्य करने के लिये प्रोत्साहित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप समीपवर्ती राज्यों की सत्ता को अज्ञात क्षति पहुंची। उन्होंने कहा कि इस प्रकार की स्थिति की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि इस बात की भी क्या प्रतीति है कि तत्काल या भविष्य में किसी समय मेरे पर तथा मेरे राज्य पर भी प्रभाव नहीं डालेगी।¹⁴ इन सब बातों से, जबकि भारतीय आस्थाओं में तीव्रगति से एक विषम सीमा तक परिवर्तन हो चुका था, राज्यों के लिए समस्त स्थिति पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया।

इन परिस्थितियों ने महाराजा व सामान्यतया दूसरे राजाओं का भी दृष्टिकोण

बदल दिया। इसकी अभिव्यक्ति वायसराय को लिखे उपर्युक्त पत्र में मिलती है। इसमें महाराजा ने कहा कि यद्यपि संघ के कानूनी ढांचे को ऐसा बनाया गया है कि इकाइयों को पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता रहे लेकिन यह स्पष्ट है कि जिन राजनीतिक दलों के कार्यक्रम में राजाओं और उनकी रियासतों को कोई स्थान नहीं है, उनके दबाव में आकर कुछ प्रान्तीय सरकारों द्वारा यह मूल बात हटाई जा सकती है और बचाव निरर्थक किये जा सकते हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि यह अनुभव किया जा रहा है कि रियासतों के अधिकारों को जानबूझ कर अतिक्रमण करने की इस नीति की जड़ इस बात में है कि राजाओं को डराकर उनको ब्रिटिश भारत के राजनैतिक दलों की नीति के साथ एक कर दिया जाए। अतः उन्होंने तर्क दिया कि ऐसी परिस्थितियों में संघ में सम्मिलित होना उस विनाशकारी आन्दोलन को बढ़ावा देने के समान होगा, जिसका उद्देश्य रियासतों के लोगों को अपने शासकों के प्रति जो राजभक्ति है, उससे विमुख करना है। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि अगर उन्हें संघ में सम्मिलित होने का विकल्प मानना पड़े तो इसका मतलब उनका ऐसे लोगों के साथ काम करना होगा, जिसका उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता है और जो खुले रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के विरोधी है। ऐसा करना उनके दृढ़ विश्वास के विपरीत होगा। अतः उन्होंने कहा कि उनके लिये इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है वे संघ में सम्मिलित होने से अलग रहे।¹⁵ इस पर भी महाराजा का राजनीतिक विकास में विश्वास जरा भी कम नहीं हुआ और दूसरे ही पैरा में उन्होंने भारत के व्यवस्थित राजनीतिक विकास में अपने विश्वास को दोहराया जिसे राजा लोग भी उतना ही चाहते थे, जितना ब्रिटिश भारत के लोग। किसी प्रकार के संघ से ही केवल यह हो सकता है और उन्होंने यह आशा प्रकट की कि भारत के राजनैतिक विकास की समस्या ऐसे तरीके से सुलझायी जायेगी जो सबको ठीक लगे।¹⁶

1935 के सुधार अधिनियम को महाराजा के इन प्रयासों ने काफी प्रभावित किया था वे जानते थे कि प्रतिनिधि शासन युग की मांग है और भारत का भावी संविधान इन्हीं सुधार अधिनियमों की नींव पर बनेगा। गोलमेज सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये थे उनसे भी सिद्ध होता है कि उनके मन मस्तिष्क में संघीय शासन प्रणाली बीज रूप में विद्यमान थी, जिसे विकसित करने में उन्होंने समय-समय पर अपना सक्रिय योगदान दिया। इस सम्मेलन में उन्होंने यह कहा था कि हम भारतीय राज्यों के निवास समस्त भारत की अधिकतम समृद्धि एवं संतुष्टि में भाग लेने तथा उसमें योगदान देने की इच्छा रखते हैं। मुझे विश्वास है कि भारतीय राज्यों तथा आंग्ल भारत में संरक्षित एक संघीय प्रणाली के शासन द्वारा हम यह योगदान सर्वोत्तम ढंग से कर सकते हैं।

रोम नोट

भारत की राजनीति दशा, नरेशों की विचारधारा एवं अंग्रेजी शासन में सुलभता

की भावना से भारत के तत्कालीन राज्य सचिव श्री आस्टिन चेम्बरलेन महाराजा गंगासिंह की विचारधारा से परिचित होना चाहते थे। चेम्बरलेन गंगासिंह की राजनीतिज्ञता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महाराजा से भारत की समस्त महत्वपूर्ण समस्याओं पर ब्यौरेवार विवरण लिखने का अनुरोध किया। चेम्बरलेन अबाधरूप से उनसे परामर्श लेते तथा उन्हें स्पष्ट रूपेण एक सहकारी एवं सह प्रबंधक का स्थान दिया।¹⁷ महाराजा को चेम्बरलेन के अनुरोध के विषय में लिखने का अवकाश उस समय प्राप्त नहीं हो सका था। अतः उन्होंने इंग्लैण्ड से भारत लौटते समय रोम में अपने विश्राम को त्यागकर अविलम्ब इस विषय पर ता. 15 मई 1917 को चेम्बरलेन को एक पत्र भेजा। इसमें उन्होंने लिखा “..... तथापि मैं आशा करता हूँ कि कुछ घटनाओं के परिणामस्वरूप भारत में जो गंभीर परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है उसके बारे में सत्यनिष्ठा से जो मेरे निश्चित विचार हैं उनको आपके समक्ष प्रस्तुत करने का इससे मुझे अधिकार प्राप्त हो गया है मुझे विश्वास है तथा समस्त भारत को आशा है कि आप इन समस्याओं पर एकाग्रता एवं कृपालुता से विचार करेंगे, किन्तु इसके साथ-साथ मैं पुनः आपसे साग्रह अनुरोध करने की अनुमति चाहूँगा कि साम्राज्य व भारत के हितों के लिए आप इस विषय में कोई ऐसी कार्यवाही करे जो वास्तव में मुक्तहस्त, संवेदनिक एवं उदारमना परिणाम में हो तथा इस कार्यवाही को करने का ढंग ऐसा होना चाहिये जो पूर्व के लोगों की कल्पनाओं एवं भावनाओं को विजित कर लें और जो भारत तथा इंग्लैण्ड में एक अधिकतम घनिष्ठ संबंध स्थापित कर दे।”¹⁸

इस प्रकार के निर्भीक शब्दों से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नेता जिन्होंने एक भारतीय राज्यकर्ता नरेश से इतने दृढ़ समर्थन की कदापि आशा नहीं की थी तथा इसी प्रकार साम्राज्य के समर्थनकारी लोग भी जो विश्वास करते थे कि कम से कम भारतीय नरेश भारत में स्वराज्य का इतना प्रबल पक्षपोषण नहीं करेगा। यहां तक कि राष्ट्रवादी समाचार पत्रों ने भी इसको ‘एक नूतन युग का अरुणोदय’ कहकर उचित रूप से इसका अभिवादन किया। महाराजा के इस नोट के पाने के तुरन्त बाद चेम्बरलेन ने इस्तीफा दे दिया। महाराजा ने उनके बाद उस पद पर आये मॉन्टेग्यू को इस संबंध में अपना ध्यान देने का आग्रह किया।

20 अगस्त सन् 1917 की ऐतिहासिक घोषणा में प्रायः सिद्धांतों का अनुशरण किया गया था जिन्हें महाराजा गंगासिंह ने अपने रोम पत्र में विशेष रूप से यथा निम्नलिखित एक चार सूत्री कार्यक्रम पर अधिक बल दिया था प्रथमतः यथा संभव अविलम्ब यह घोषणा करना कि भारत में आंग्ल शासन का मूलभूत उद्देश्य साम्राज्य के अंतर्गत भारत को स्वतंत्रता प्रदान करना है। द्वितीय, संविधान में तथा प्रान्तीय विधान परिषदों की कार्यप्रणाली में और अधिक पर्याप्त सुधार करना। तृतीय, भारत शासन तथा प्रान्तीय परिषदों को और अधिक स्वायत्तता प्रदान करना एवं अन्ततः आंग्ल शासन एवं

देशी राज्यों से संबंध रखने वाले विषयों के संव्यवहार के लिए नरेन्द्र परिषद की स्थापना करना।

सन्दर्भ

1. महाराजा द्वारा ता. 15.05.1917 को रोम से भेजा गया आस्टिन चेम्बरलेन को पत्र जो 'रोम नोट' से विख्यात है, पृ. 4
2. वही
3. वायसराय एवं भारत के राज्य सचिव के संयुक्त प्रतिवेदन के दसवें प्रकरण (देशी राज्यों से संबंधित) पर गंगासिंह की टिप्पणी, पृ. 4-5, परिशिष्ट 25
4. वायसराय एवं भारत के राज्य सचिव के संयुक्त प्रतिवेदन के दसवें प्रकरण (देशी राज्यों से संबंधित) पर गंगासिंह की टिप्पणी, पृ. 9-10
5. आर.ई. हालैण्ड का गोपनीय पत्र ता. 27.03.1920 जो 'सरकार तथा नरेशों के संबंधों के सरलीकरण' के विषय पर गंगासिंह की सन् 1923 की टिप्पणी द्वितीय परिशिष्ट पृ. 116 पर उद्धृत
6. 'इण्डिया आफिस कमेटी' के लिए महाराजा गंगासिंह की टिप्पणी, 1919, पृ. 15-16
7. संबंधित प्रेस कटिंग, शार्दुल म्यूजियम लालगढ़, बीकानेर
8. नरेन्द्र मंडल में वायसराय का भाषण ता. 20.03.1933
9. नरेन्द्र मंडल की कार्यवाहियां, मार्च 1933, पृ. 4
10. नरेन्द्र मंडल द्वारा सूत्रबद्ध की गई शर्तों को तृतीय गोलमेज सम्मेलन में सुसम्पादित की गई संघ की नवीन योजना में प्रतिभूति करने के लिए लन्दन भेजे गये मंत्रियों की गोपनीय रिपोर्ट 06.09.1933, पृ. 2-3
11. नरेन्द्र मंडल में वायसराय का भाषण ता. 20.03.1933, नरेन्द्र मंडल की कार्यवाहियां, मार्च 193, पृ. 4
12. महाराजा गंगासिंह को लार्ड लिनलिथगो का पत्र ता. 27.01.1933
13. लार्ड लिनलिथगो को महाराजा गंगासिंह का पत्र ता. 17.07.1939, पैरा 10
14. वही, पैरा 12-13
15. वही, पैरा 14-16
16. गोलमेज सम्मेलन के पूर्णाधिवेशन में महाराजा गंगासिंह का भाषण ता. 27.11.1930, गोलमेज सम्मेलन की कार्यवाहियां 1930-31, पृ. 31-32
17. द हिन्दुस्तान रिव्यू, 11 अगस्त 1917
18. श्री आस्टिन चेम्बरलेन को महाराजा गंगासिंह का पत्र ता. 15.05.1917 के साथ रोम से एक नोट भेजा गया था, यह नोट बहुत विख्यात हुआ तथा 'रोम नोट' के नाम से जाना गया

बीकानेर रियासत की राजगढ़ निजामत में जन-जागृति

डॉ. अविनाश पारीक एवं राजेन्द्र सिंह

19वीं शताब्दी के विविध सामाजिक एवं धार्मिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने बीकानेर रियासत के जनमानस को किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया। दुरुह भौगोलिक स्थिति के बावजूद बीकानेर रियासत से होकर गुजरने वाले व्यापारिक मार्गों ने बीकानेर राज्य को सम्पर्क-साधन की दृष्टि से कभी पिछड़ने नहीं दिया।¹ इसी का परिणाम था कि यहां के प्रजामण्डल एवं किसान आंदोलन सरीखे प्रतिरोधी आंदोलन अपना एक विशिष्ट महत्व एवं पहचान बना पाने में सफल रहे। राजस्थान में राजनैतिक जागरण के प्रादुर्भाव के पीछे परम्परागत रूप से 19वीं शताब्दी के सामाजिक सुधारों, अंग्रेजी शिक्षा व समाचार पत्रों के योगदान, प्रवासी व्यापारी-वर्ग की भूमिका, कृषक आंदोलन एवं कांग्रेस तथा ऑल इण्डिया स्टेट्स पीपल्स कॉन्फ्रेंस जैसी संस्थाओं के योगदान को मुख्य रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता है। आर्थिक कारणों में विशेष रूप से करों के बोझ, करों की मनमाने ढंग से वसूली करना, उद्योग-धन्धों का पतन एवं अकाल जैसी समस्याओं को प्रशासन द्वारा न सुलझा पाना आदि कारण सुझाए जाते हैं। यहां बीकानेर संभाग से सम्बन्धित राजनैतिक जागरण के कारणों पर दृष्टिपात करें तो इस हेतु उत्तरदायी कतिपय ऐसे कारण जानकारी में आते हैं जिन्होंने भावी प्रतिरोधी आंदोलनों की पृष्ठभूमि निर्मित करने में महती भूमिका निभाई।² शिक्षा एवं समाचार पत्रों ने इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटिश भारत में निवास कर शिक्षा अर्जित करने वाले बीकानेर के प्रवासी नागरिकों ने न केवल अपने राजनैतिक दायित्वों को समझा वरन् बीकानेर रियासत में प्रजामण्डल आन्दोलन के साथ समाजवादी एवं साम्यवादी विचारों को भी यथासंभव पुष्टि प्रदान की।³ महाराजा गंगासिंह के समय रियासत में शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से तो मानो क्रांति ही आ गई थी।⁴

गाँधी जी के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का बीकानेर पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। केवल एक या दो स्कूलों के छात्रों ने कक्षाओं का बहिष्कार किया। 8 अगस्त 1942 को गाँधीजी और अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के बाद चूरू राजकीय हाई स्कूल के सातवीं कक्षा से लेकर दसवीं कक्षा तक के छात्रों ने 10-11 अगस्त 1942 को कक्षाओं का बहिष्कार किया।⁵

इसी समय बीकानेर पुलिस को एक विज्ञप्ति मिली, जिसमें चूरू नवयुवक सभा मण्डल, साहित्य गोष्ठी, साहित्य विद्यापीठ, सर्वहितकारिणी सभा, कांग्रेस दल और

सनातन धर्मसभा की ओर से जनता से कांग्रेस का समर्थन करने का आह्वान किया गया।⁶ इसके अलावा चूरू के तीन छात्र गोविन्दराम, राधेश्याम और रामगोपाल 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लेने दिल्ली गये, परन्तु 18 अगस्त 1942 को वापस आ गये। इसी समय रतनगढ़ से पण्डित माधवजी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लेने बनारस गये। चूरू और देशनोक में 'स्वतंत्रता युद्ध' और 'न्यूसेन्स' अर्थात् उपद्रव लिखे हुए पोस्टर चिपकाये गये।⁷ अजमेर के एक साप्ताहिक पत्र, 'राजस्थान' में बीकानेर राज्य की दमनकारी नीति का विस्तार से प्रकाशन किया गया। सरदार शहर के नेमीचन्द आँचलिया को उपर्युक्त कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। उसे हथकड़ियाँ लगाकर शहर की सड़कों पर घुमाया गया ताकि सत्याग्रहियों में आतंक फैल जाये। नेमीचन्द को आठ वर्ष की कड़ी सजा दी गयी। इसी तरह भादरा निवासी मालचन्द हिसारिया जब अगस्त 1942 के बम्बई की अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की सभा में भाग लेकर बीकानेर पहुँचा तो राज्य के गृहमंत्री ने उसे अपने कार्यालय में बुलाकर कड़े शब्दों में चेतावनी दी। इतना ही नहीं, उसके खिलाफ षडयंत्र रचकर, उस पर अवैध अनाज रखने का आरोप लगा दिया गया।⁸ सरकार की इस कार्यवाही के विरोध में सरदारशहर के छात्रों ने महाराजा गंगासिंह के जन्मदिन समारोह बहिष्कार किया। इसी प्रकार बीकानेर सरकार ने एहतियात के तौर पर खूबराम सर्राफ को भी 8 अगस्त 1942 को गिरतार कर लिया था।⁹ सत्याग्रहियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से खादी भण्डार के नाम पर काम करने वाले 'राजस्थान चरखा संघ' पर सितम्बर 1942 में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। खादी भण्डार ने असंख्य लोगों को रोजगार प्रदान किया और वह उतरदायी शासन के लिए भूमिका तैयार कर रहा था।¹⁰ राजकीय दमन के बावजूद 'बीकानेर प्रजा परिषद्' ने पण्डित मधाराम वैद्य के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन की माँग जारी रखी। 3 फरवरी, 1943 को महाराजा गंगासिंह का देहान्त हो गया। उसके उत्तराधिकारी सादुलसिंह ने भी दमन नीति का अनुसरण किया। उसका यह मानना था कि बीकानेर के लाखों लोगों का बहुमत न केवल खुश और सन्तुष्ट है, बल्कि अपने महाराजा का सम्मान और उनसे प्रेम भी करता है। उसका यह भी मानना था कि केवल कुछ हजार लोग, जो 'प्रजा परिषद्' से प्रभावित हैं, महाराजा की उदार और आधुनिक नीतियों के कारण, जब वे कुछ नहीं कह सकते थे तो उनका कार्य केवल राजा और जागीरदारों को 'अन्नदाता' के स्थान पर 'अन्नखोस' कहना रह गया है। वे भारतीय नेताओं को अमृत दे रहे हैं और राज्य की प्रजा को विष।¹¹ शासक सादुलसिंह ने राज्य में सद्भावना का वातावरण बनाने के लिए रघुवरदयाल, गंगादास सेवक और दाऊदयाल आचार्य को 17 फरवरी, 1943 को रिहा कर दिया। रिहा होते ही गोयल ने सरकार की दमनकारी नीतियों के खिलाफ समाचार पत्रों में लेख लिखना आरम्भ कर दिया। 24 फरवरी, 1943 को दैनिक समाचार पत्र विश्व मित्र में गंगादास का राज्यविरोधी लेख छपा।¹² 25 मई 1943 को रघुवरदयाल,

गंगादास और दाऊदयाल ने मिलकर, बीकानेर की खजांची बिल्डिंग में खादी मन्दिर की स्थापना की। इन्होंने इसी वर्ष गाँधी जयन्ती भी मनाई।

30 मार्च 1946 को बीकानेर सरकार ने किसान नेता स्वामी कर्मानन्द को बिना कोई कारण बताये गिरफ्तार कर किसी अज्ञात स्थान पर नजरबन्द कर दिया।¹³ अब राज्य के किसान नेता चाहते थे कि रघुवरदयाल निर्वासन-आज्ञा तोड़कर बीकानेर आ जाये। अतः उन्होंने बीकानेर राज्य की सीमा के पास स्थित ऐलनाबाद, पंजाब में 07 अप्रैल 1946 को प्रजापरिषद की कार्यकारिणी और जनरल कौंसिल की सभा बुलाई। दयाल ने इस सभा में जाने के लिए नेहरू से अनुमति मांगी। नेहरू का उत्तर न मिलने के कारण वे ऐलनाबाद नहीं पहुँच पाये।

10 मई 1946 को राजगढ़ में किसान राष्ट्रीय झंडे के तले, राज्य की दमन नीति के विरोध में जुलूस निकाल रहे थे। उनके साथ पुलिस अधिकारी ठाकुर बहादुरसिंह ने मारपीट की, जिसमें कई किसान घायल हुए। मारपीट का एक मात्र उद्देश्य किसानों को आतंकित करना था। उपर्युक्त घटनाओं की जानकारी जब सरकार को मिली तो राज्य के गृहमंत्री ठाकुर प्रतापसिंह ने राज्य के समस्त जिला मजिस्ट्रेटों के नाम एक गुप्त सरक्यूलर (आदेश) जारी करके किसे भी तरह प्रजा परिषद के पदाधिकारियों, सदस्यों और उनसे सहानुभूति रखने वाले लोगों को कुचल देने का आदेश दिया। इस सरक्यूलर के कुछ अंश 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित भी हुए।¹⁴ सरकार ने एक विज्ञप्ति निकालकर सरक्यूलर को जारी करने का खण्डन किया।¹⁵ नेहरू को लगा कि बीकानेर के कार्यकर्ताओं ने झूठी खबरें छपवाई हैं। बाद में कार्यकर्ताओं के कहने पर हिन्दुस्तान टाइम्स के विशेष संवाददाता एम. सुभान को राजगढ़ में हुए दमन की जाँच का कार्य सौंपा गया। सुभान ने 6 जून 1946 को बीकानेर पहुँचकर, राज्य के गृहमंत्री से मुलाकात की। गृहमंत्री ने इस सम्बन्ध में जारी की गई सरकारी विज्ञप्तियों का ही समर्थन किया। जून 8-11, 1946 तक दिल्ली में 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्' की साधारण सभा की बैठक में रघुवरदयाल के अतिरिक्त गंगादास सेवक, मूलचंद पारीक, दाऊदयाल आदि ने भाग लिया।¹⁶ यहाँ 11 जून 1946 को 'राजपूताना प्रान्तीय लोक परिषद्' की बैठक में अध्यक्ष पण्डित नेहरू पुनः राजगढ़ की घटनाओं को लेकर बीकानेर के कार्यकर्ताओं पर नाराज हुए। इसी बीच उन्हें बीकानेर के प्रधानमंत्री का पत्र मिला, जिसमें राजगढ़ के किसानों पर की गई दमनात्मक कार्यवाही के लिए खेद प्रकट किया और इस कार्य के लिए उत्तरदायी पुलिस अधीक्षक ठाकुर बहादुरसिंह को मुअत्तल करने की सूचना दी।¹⁷ नेहरूजी की बीकानेर प्रजापरिषद के कार्यकर्ताओं के प्रति नाराजगी समाप्त हो गई। उन्होंने रघुवरदयाल को निर्वासन आज्ञा तोड़ने की अनुमति दे दी। इधर प्रजा परिषद् ने एक आमसभा करके गुप्त सरक्यूलर का भाण्डा फोड़ने का निश्चय किया। दाऊदयाल आचार्य ने 21 जून 1946 को बीकानेर में पहली बार सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना

सार्वजनिक सभा का आयोजन किया। सभा में बीकानेर पब्लिक एक्ट और गृहमंत्री के गुप्त सरक्यूलर की कड़ी आलोचना की गई। घबराई हुई सरकार ने किसी पर कोई कार्यवाही नहीं की।¹⁸ 24 जून, 1946 को ऐलनाबाद में प्रजापरिषद् की कार्यकारी समिति और साधारण सभा की मीटिंग के साथ किसान सम्मेलन का आयोजन किया गया। रघुवरदयाल ऐलनाबाद पहुँच चुके थे। 25 जून, 1946 को उन्होंने अलवर के प्रजामण्डल कार्यकर्ता मास्टर भोलानाथ के साथ बीकानेर राज्य में प्रवेश किया। भूकरका स्टेशन पर ही बीकानेर पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। रघुवरदयाल की गिरफ्तारी के साथ ही स्वामी कर्मानन्द को 'बीकानेर प्रजा परिषद्' का अध्यक्ष मनोनीत कर दिया गया। रघुवरदयाल की गिरफ्तारी के अगले ही दिन समूचे बीकानेर राज्य में विरोध-सभाएँ आयोजित हुईं। बीकानेर के रतनबिहारी पार्क में आगरा से प्रकाशित होने वाले दैनिक समाचारपत्र, 'सैनिक' के संचालक जीवनदास पालीवाल की अध्यक्षता में एक आमसभा हुई। सरकारी गुण्डों ने अव्यवस्था फैलाकर प्रजा परिषद् को भंग कर दिया।¹⁹ 'गंगानगर प्रजापरिषद्' के अध्यक्ष चौधरी ख्यालीसिंह ने 30 जून से 1 जुलाई 1946 तक 'बीकानेर राज्य राजनीतिक सम्मेलन' का प्रथम अधिवेशन रायसिंहनगर में करने का निश्चय किया। अधिवेशन के पहले दिन तिरंगा नहीं फहराया गया, क्योंकि सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। किन्तु दूसरे दिन रायसिंहनगर के आस-पास के किसान और युवक एक जुलूस में तिरंगा लेकर सम्मेलन स्थल की ओर जाने लगे। पुलिस ने उनसे झंड़े छीनकर लाठीचार्ज आरम्भ कर दिया। क्रुद्ध भीड़ ने पुलिस पर पत्थर फेंकने आरम्भ कर दिये। परिणामस्वरूप पुलिस ने बिना चेतावनी दिये गोली चला दी। इससे बीरबल नामक एक व्यक्ति शहीद हुआ और एक दर्जन लोग घायल हुए। नगर में धारा 144 लगा दी गई, परन्तु लोगों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।²⁰

इस गोलीकाण्ड की बीकानेर में और बीकानेर से बाहर भी सर्वत्र भर्त्सना हुई। पंडित नेहरू की अध्यक्षता में हुई 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोकपरिषद्' की स्थायी समिति ने राज्य सरकार से निष्पक्ष जाँच की माँग की। इसी स्थायी समिति ने राजपूताना प्रान्तीय परिषद् के प्रधान गोकुल भाई भट्ट और मंत्री हीरालाल शास्त्री को गोलीकाण्ड की जाँच करने बीकानेर भेजा।²¹ 21 जून, 1946 को देश की बदलती हुई परिस्थितियों तथा राज्य परिषद् की माँग को ध्यान में रखकर बीकानेर शासक सादुलसिंह ने बड़े उत्साह से उत्तरदायी शासन देने की घोषणा की।²² लेकिन दूसरी ओर नित्य लाठीचार्ज, गोलीवर्षा, धारा 144, सभाओं और जुलूसों पर प्रतिबन्ध के समाचार अखबारों में छप रहे थे। 25 जून को रघुवरदयाल को गिरफ्तार करके बीकानेर लाया गया। यहाँ उनके साथ साधारण कैदियों जैसा व्यवहार किया गया। उन्होंने 30 जून 1946 से ही अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल आरम्भ कर दी। अन्ततः 13 दिन बाद सरकार ने उनकी माँगें मान लीं।

एक और राज्य का दमन चक्र चल रहा था, दूसरी ओर देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ शीघ्रता से बदल रही थीं।

कैबिनेट मिशन भारत पहुँच चुका था। बाध्य होकर शासक ने अपना रवैया बदलते हुए 27 जुलाई 1946 को रघुवरदयाल, मधाराम वैद्य, चौधरी कुम्भाराम आदि को रिहा कर दिया।²³ इसी बीच 6 जुलाई 1946 को बीकानेर में कर्मानन्द के नेतृत्व में 'किसान दिवस' मनाया गया। 22 जुलाई 1946 को प्रजापरिषद् का स्थापना दिवस मनाया गया।²⁴ राज्य का दमन अभी भी जारी था। 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्' के अध्यक्ष गोकुल भाई भट्ट और मंत्री हीरालाल शास्त्री बीकानेर की स्थिति जानने के लिए वहाँ पहुँचे। रघुवरदयाल भी दिल्ली से उनके साथ बीकानेर आये। ये लोग पहले रायसिंह नगर गये। उनके बीकानेर लौटने पर एक आमसभा का आयोजन किया गया। उन्होंने अपने भाषण में विस्तार से देश की बदलती हुई स्थितियों की चर्चा की। शास्त्री ने महाराजा सादुलसिंह को उत्तरदायी घोषणा पर बधाई देने के साथ ही, पब्लिक सेटी अधिनियम, कठोर प्रेस अधिनियम तथा अन्य प्रतिबन्ध शीघ्र हटाने की सलाह दी। बीकानेर प्रेस एक्ट के अन्तर्गत प्रकाशन से पहले ही समाचार पत्रों को जमानत देनी पड़ती थी। बीकानेर से बाहर का आदमी सम्पादक नहीं बन सकता था। यदि बीकानेर का आदमी रियासत से बाहर जाकर किसी पत्र का सम्पादक बनता तो वापिस आने पर उस पर बीकानेर का कानून लगा दिया जाता था। इस कानून की उत्तर भारत के पत्रों ने तीव्र आलोचना की।²⁵ शास्त्रीजी और गोकुल भाई भट्ट ने सादुलसिंह जी से कई अन्य राजनीतिक मसलों पर भी विचार-विमर्श किया।²⁶ जुलाई 1946 में प्रजापरिषद् में मतभेद बढ़ गये। जाट नेता अब रघुवरदयाल के स्थान पर परिषद में अपना वर्चस्व बनाना चाहते थे। प्रजा परिषद् ने अपनी चौथी वर्षगाँठ के अवसर पर 22 जुलाई 1946 को निश्चय किया कि 09 अगस्त 1946 को शहीद दिवस मनाया जाये। नेताओं की रिहाई के बाद किसान आन्दोलन को शान्त करने के उद्देश्य से प्रजा-परिषद से सम्बन्धित चौधरी ख्यालीसिंह को राज्य मंत्रिमंडल में ग्रामीण सुधार मंत्री के रूप में मनोनीत किया गया। किन्तु इससे न तो प्रजा परिषद् खुश हुई और न ही कोई किसान।²⁷ 31 अगस्त 1946 को महाराजा सादुलसिंह ने उत्तरदायी शासन की घोषणा प्रकाशित की। इसके अनुसार एक विधान समिति विधानसभा का ढाँचा तैयार करके प्रस्तुत करेगी, दूसरी मताधिकार समिति होगी, जो मताधिकार की शर्तों और निर्वाचन क्षेत्रों का निर्णय करेगी। ये दोनों समितियाँ अपना कार्य 1 मार्च 1947 तक सम्पन्न करेंगी। नवम्बर 1947 से पहले ही अन्तरिम सरकार बना दी जायेगी और नया विधान तैयार हो जाने पर चुनाव से बनी एसेम्बली में बहुमत के आधार पर शासन चलने लगेगा।²⁸ लेकिन मार्च तक न तो इन दोनों समितियों की रिपोर्ट ही तैयार हुई और न ही नवम्बर 1947 तक अन्तरिम सरकार ही बन पाई। बीकानेर प्रजा परिषद् के कार्यकर्ता भी वैधानिक सुधारों की आशा से सरकार से सहयोग

करने का मानस बना चुके थे।²⁹ इसी समय रतनगढ़ तहसील के कांगड़ ठिकाने के ठाकुर गोपसिंह ने अक्टूबर-नवम्बर 1946 में अपनी जागीर के किसानों पर अत्यधिक अत्याचार किये। वर्ष 1945-46 में वर्षा के अभाव में अच्छी फसल नहीं हुई। अतः गाँव के किसानों ने कामदार से प्रार्थना की कि उनसे अनुचित लाग-बाग आदि न ली जाये। जैसे ही यह सूचना कांगड़ के जागीरदार ठाकुर गोपसिंह के पास पहुँची, तो उसने किसानों में आई जागृति को शैशव काल में ही दबा देने का निश्चय किया।³⁰ वह पुलिस और कुछ राजपूतों को लेकर कांगड़ पहुँचा। 28 अक्टूबर 1946 को लगभग 20 किसानों को गढ़ में बुलाकर धमकाया गया। गाँव के लगभग 35 किसान जागीरदार के जुल्म की शिकायत करने रातों रात बीकानेर के लिए निकल पड़े।³¹ महाराजा से सन्तोषजनक उत्तर न मिलने के बाद वे सहायता के लिए प्रजापरिषद् के पास पहुँचे। जैसे ही ठाकुर गोपसिंह को यह सूचना मिली कि गाँव के किसान बीकानेर गये हैं, उसके आदमियों ने गाँव पर आक्रमण कर दिया। जो भी पुरुष मिले उन्हें घसीटते हुए गढ़ में ले जाया गया। वहाँ उन्हें मार-पीट कर एक कोठरी में बन्द कर दिया गया।³² प्रजा परिषद् के सात कार्यकर्ता कांगड़ पहुँचे, उनको भी जबरदस्ती गढ़ में ले जाकर दो दिन तक घोर यातनाएँ दी गईं।³³ डॉक्टरों ने जागीरदार के डर से प्रजा परिषद् के कार्यकर्ताओं की जाँच नहीं की।

अतः कार्यकर्ताओं ने 5 नवम्बर 1946 को दिल्ली जाकर अपनी डॉक्टरी जाँच करवायी। इस काण्ड की समूचे देश में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अप्रैल 1947 में कर्मानन्द ने अपनी पुरानी कार्यकारिणी भंग कर दी। नई कार्यकारिणी में रघुवरदयाल की सदस्यों में भी स्थान नहीं दिया गया। प्रजा परिषद् के मतभेद को समाप्त करने के लिए राजपूताना प्रान्तीय परिषद् को हस्तक्षेप करना पड़ा। राजपूताना प्रान्तीय कौंसिल के प्रान्तीय नेता गोकुलभाई भट्ट और गोकुललाल असावा बीकानेर पहुँचे। उन्होंने कार्यकर्ताओं में सुलह कराने का प्रयास किया परन्तु वे असफल रहे। मतभेदों के कारण जन-आन्दोलन शिथिल पड़ गया। स्वामी कर्मानन्द ने अपनी नई माँगें मनवाने के लिए आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। अन्त में प्रान्तीय लोक परिषद् के अध्यक्ष जयनारायण व्यास ने उनका अनशन तुड़वाया। ये तय किया गया कि भविष्य में बीकानेर के मामले को प्रान्तीय परिषद् स्वयं देखेगी। इस उद्देश्य से प्रान्तीय लोक परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक बीकानेर में आयोजित करने का फैसला किया गया। बैठक की सूचना मिलते ही सरकार ने इसे रोकने का फैसला कर लिया। धारा 144 लगा कर, सभाओं और जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। प्रतिबन्ध के बावजूद सुनारों की पंचायत की विशाल कोठड़ी में हजारों नगरवासियों की उपस्थिति में प्रान्तीय नेताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। 15 अगस्त 1947 को बीकानेर में प्रजापरिषद् ने ईदगाह बस्ती के बाहर तिरंगा फहराया। इस समय सरकार ने यह शर्त रखी थी कि तिरंगे के साथ बीकानेर राज्य का झण्डा भी फहराया जाय।³⁴ लम्बे इन्तजार के बाद दिसम्बर 1947 में बीकानेर संविधान अधिनियम जनता के

लिए प्रकाशित कर दिया गया। शासक ने यह भी घोषणा कर दी कि दो वर्षों के भीतर ही उनके संरक्षण में एक पूर्ण उत्तरदायी सरकार बनाई जायेगी।³⁵ जनवरी 1948 में महाराजा ने सभी राजनीतिक बन्धियों को रिहा कर दिया। प्रजा परिषद् के कार्यकर्ताओं ने एक सभा में घोषणा की कि नया संविधान स्वीकार करने योग्य नहीं है।³⁶ 2 फरवरी 1948 को यह घोषणा की गई कि अप्रैल 1948 तक उत्तरदायी सरकार अस्तित्व में आ जायेगी। 18 मार्च 1948 को सादुलसिंह ने मंत्री परिषद् के स्थान पर एक मिला-जुला अन्तरिम मंत्रिमण्डल बनाने की घोषणा की, जिसका कार्य राज्य में दैनिक शासन को जारी रखना था।³⁷ यह मिलाजुला मंत्रिमण्डल अधिक दिनों तक कार्य नहीं कर सका। प्रजामण्डल चुनाव करवाने के पक्ष में नहीं था।

इसी बीच केबिनेट योजना के अन्तर्गत अन्तरिम सरकार बनी और संविधान निर्मात्री सभा का कार्य आरम्भ हुआ। देशी राज्यों को भी संविधान निर्मात्री सभा में भाग लेने को आमंत्रित किया गया। महाराजा सादुलसिंह ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए इसमें भाग लेने का निर्णय किया। उसने अन्य राज्यों को भी इसमें भाग लेने के लिए प्रेरित किया। 28 अप्रैल 1947 को बीकानेर के प्रतिनिधि के. एम. पणिकर ने विधान-निर्मात्री सभा में अपना स्थान ग्रहण किया।³⁸ 3 जून, 1947 को माउंटबैटन योजना की घोषणा हुई, जिसमें भारत के विभाजन का उल्लेख था। कांग्रेस ने उसे स्वीकार कर लिया। देशी नरेशों के समक्ष अब यह विकल्प था कि वे स्वतंत्र रहें या भारतीय संघ या पाकिस्तान में सम्मिलित हो। महाराजा सादुलसिंह ने बीकानेर राज्य को भारतीय संघ में सम्मिलित करने का निर्णय किया।

सन्दर्भ

1. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर 1945, हिस्ट्री शीट्स ऑफ सम पोलिटिकल परसन्स नं. 101, हिस्ट्री शीट्ट्रम, लक्ष्मीदास स्वामी, पृ. 1-5 (अ.बी.)
2. वही
3. सत्यदेव विद्यालंकार, बीकानेर राज्य का राजनैतिक विकास और पंडित मघाराम वैद्य, पृ. 118
4. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर 1937, नं.सी.4. पृ. 1-8 (अ.बी.)
5. होम डिपार्टमेंट बीकानेर, 1942 नं. पृ. 1-3
6. होम डिपार्टमेंट बीकानेर 1939, नं. 39 पृ. 323 (अ.बी.)
7. होम डिपार्टमेंट बीकानेर नं. 39, पृ. 323, 337 (अ.बी.)
8. सुमनेश जोशी, उपर्युक्त, पृ. 769-770
9. होम डिपार्टमेंट बीकानेर 1945, नं. 65 पृ. 1-5 (अ.बी.)
10. चेतना मुदगल, उपर्युक्त, पृ. 72-73
11. महाराजा बीकानेर का जवाहरलाल नेहरू को पत्र, के. एम. मुंशी पिलग्रिमेज टू

- फ्रीडम, बम्बई 1967, पृ. 497
12. विश्वामित्र, 24 फरवरी 1943
 13. नवज्योति (साप्ताहिक) अजमेर 1946, पृ. 13
 14. विश्वामित्र, नई दिल्ली 30.4.46, पृ. 4
 15. के.एम. मुंशी, इंडियन कान्सटीट्यूशनल डाक्यूमेन्स खंड-1, पृ. 489-93
 16. दाऊदयाल आचार्य, उपर्युक्त पृ. 334
 17. वही
 18. दाऊदयाल आचार्य, उपर्युक्त पृ. 335
 19. चेतना मुद्गल, उपर्युक्त पृ. 141
 20. सत्यदेव विद्यालंकार, बीकानेर का राजनैतिक इतिहास पृ. 186-190
 21. दाऊदयाल संस्मरण टेप (अ.बी.)
 23. होम डिपार्टमेंट बीकानेर (गोपनीय) 1940 नं. 37, पृ. 1-49 (अ.बी.)
 24. होम डिपार्टमेंट बीकानेर (गोपनीय) 1945 नं. 101, हिस्ट्री शीट ऑफ रघुवरदयाल पृ. 5 (अ.बी.)
 25. भगवानदास केला, देशी राज्यों में जन जागृति पृ. 206-7
 26. दाऊदयाल आचार्य, उपर्युक्त पृ. 354
 27. होम डिपार्टमेंट बीकानेर (गोपनीय) 1948 नं. 8 पृ. 30
 28. दी स्टेट्समैन 4 सितम्बर 1946
 29. हिन्दुस्तान टाइम्स, 27 सितम्बर 1946
 30. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर गोपनीय, 1946 पू. 40, कांगड़ काण्ड (एक निरंकुश शासन की झलक) पृ. 1-22 (अ.बी.)
 31. वही, किसानों के बयान द्रष्टव्य हैं।
 32. हिन्दुस्तान (दैनिक) नई दिल्ली, 6 नवम्बर 1946
 33. प्रजापरिषद् कार्यकर्ता केदारनाथ शर्मा और गंगादत्त रंगा, स्वयं कांगड़ गये थे। अतः उनके संस्मरण (टेव) (अ.जी.)
 34. वही
 35. होम डिपार्टमेंट बीकानेर (गोपनीय) 1947 नं. 21, पृ. 6 (अ.बी.)
 36. सादुलसिंह की दिनांक 4 दिसम्बर 1947 की घोषणा, होम डिपार्टमेंट बीकानेर (गोपनीय) 1947, नं. 30 पृ. -55
 37. राजपुताना राज्यों की पाक्षिक इंटेलिजेंस रिपोर्ट फरवरी 1948 के प्रथम भाग की पृ. 203 (अ.बी.)
 72. सादुलसिंह की 18 अप्रैल 1948 की घोषणा (अ.बी.)
 38. लोकवाणी- 27.4.1947 इंडियन न्यूज क्रॉनिकल 27.4.47

जयपुर की मीनाकारी हस्तकला : विकास, परिवर्तन, निरंतरता

डॉ. पूजा सिरोला

मीनाकारी हस्तकला का उदय

प्राचीनता की दृष्टि से सजावट में रंगीन काँच का प्रयोग संभवतः आरंभिक समय से होता रहा है। मीनाकारी के प्राचीन उदाहरणों में हरे एवं नीले रंग की आकृतियाँ पाई गई हैं जिनका उपयोग मिस्त्र की मीनारों में किया गया।¹ सेल्ट्स (Celts) तथा गोथस (Goths) भी मीनाकारी कला से भलीभाँति परिचित थे जिसे इन्होंने संभवतः बाइजेंटाइन वासियों से सीखा होगा। अलंकरण के लिए प्राथमिक एवं व्यापक रूप से मीनाकारी का प्रयोग उत्तर ग्रीसवासियों ने किया जो कि कुस्तुनतुनिया के आस-पास रहते थे, जब वह नगर बाइजेंटाइन के अन्तर्गत आता था एवं जो कि कालान्तर में पश्चिमी रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया था।² बाइजेंटाइन मीनाकारी एक वैज्ञानिक तकनीक के तौर पर कोलोजिन के नाम से जानी गई।

अतः स्पष्ट है कि मीनाकारी कला अति प्राचीन है एवं यूरोप के देशों से अज्ञात नहीं थी।³ यूरोपीय देशों में 6वीं एवं 7वीं सदी के दौरान मीनाकारी अत्यंत आकर्षक रूप में की जाती थी तथा 11वीं सदी में यूरोपीय कलाकारों ने चम्पलेवी पद्धति का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था।⁴ 12वीं तथा 13वीं सदी में यह पद्धति काफी लोकप्रिय हुई। यूरोप में मीनाकारी कला का प्रसार क्षेत्र इंग्लैण्ड, ऑस्ट्रिया, फ्रांस, आयरलैण्ड, इटली, इत्यादि राष्ट्र रहें। यूरोपीय मीनाकार अधिकांशतः धातुयी माध्यम अर्थात् रजत और ताम्र पर मीनाकारी का कार्य करते थे तथा कलात्मक वस्तुओं को निर्मित करते थे।⁵

भारत में मीनाकारी हस्तशिल्प की उत्पत्ति

भारत में मीनाकारी हस्तकला कब से प्रचलित हुई? यह प्रश्न काफी विवादास्पद रहा है। धातु पर मीनाकारी हस्तकला प्राचीन भारत से ही की जाती थी; ऐसे साक्ष्य तीसरी सदी ईसा पूर्व के तक्षशिला से प्राप्त होते हैं।⁶ परन्तु प्राचीन संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में मीनाकृत आभूषण के विषय में उल्लेख नहीं किया गया था।⁷ हालांकि आनंद कॅटिश कुमारस्वामी की मान्यता अनुसार मीनाकारी सम्पूर्ण भारत में एक समान रूप से की जाती थी तथा भारत में इसे सिन्धु सभ्यता के समय से ही किया जा रहा था।⁸

जयपुर की मीनाकारी हस्तकला की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जयपुर में मीनाकारी का कार्य मुगल काल से ही प्रचलन में रहा। आमेर के राजा मानसिंह प्रथम के शासनकाल में भारत का इस कला से परिचय हुआ।⁹ मीनाकारी का कार्य फाइनीशिया में हुआ करता था, तदन्तर चौसठों के काल में यह कला फारस में लाई गई।¹⁰ फारस से मीनाकारी की कला लाहौर पहुँची। यहीं से इस कला का भारतीय प्रसार हुआ।

ज्ञात जानकारी के अनुसार मुगल बादशाह अकबर के सेनापति और आमेर के शासक मानसिंह प्रथम द्वारा जब काबुल विजय करके लाहौर में पड़ाव डाला गया तब वे मीनाकारी के कलाकारों के सम्पर्क में आए। उस समय की राजशाही परम्परा के अनुसार मानसिंह प्रथम को भेंट दी गई। इस भेंट में मूल्यवान रत्नों के साथ एक तलवार भी थी जिसकी मुँठ पर मीनाकारी की कला से सुन्दर कार्य किया हुआ था।¹¹ मीनाकृत कलाकृति से मानसिंह इतना अधिक प्रभावित हुए कि उनके द्वारा स्वदेश वापसी के समय मीनाकारी के इन कलाकारों को साथ लाकर दरबार में स्थापित किया गया। इन मीनाकारों में जोरावर सिंह, जवाहर सिंह, सुखसिंह और बिशनसिंह, हरसुख सिंह प्रमुख थे।¹² अतः स्पष्ट है कि सर्वप्रथम मानसिंह के द्वारा आमेर में इस कला को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। आमेर नरेश द्वारा ही मुगल बादशाह अकबर को भी इस कला से परिचित करवाया गया। तत्पश्चात् अकबर ने मीनाकारों को अपने दरबार में आमंत्रित किया। वहाँ मीनाकारों ने बादशाह तथा राजकुमारों के लिए हाथों और पैरों के कड़े, बाजूबंद आदि बनाने के अतिरिक्त अकबर को जड़ाऊ सरपेंच एवं कलगी भेंट की।¹³ मीनाकारों द्वारा आमेर राज्य में राजा मानसिंह प्रथम के राजघराने के लिए कलगी, कण्ठहार, कंगन, चूड़ी, इत्यादि आभूषणों के अलावा मुँठ, म्यान और सर्वाधिक उत्कृष्ट ऐसी छड़ी बनाई गई थी जिसका उपयोग मानसिंह प्रथम स्वयं के सहारे के लिए करते थे।¹⁴ कालान्तर में आमेर से जयपुर राज्य में मीनाकारी का सर्वाधिक विकास हुआ। मानसिंह प्रथम के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों द्वारा इस कला को निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा लेकिन जयसिंह द्वितीय (1700-1743 ई.) ने मीनाकारी को संरक्षण प्रदान कर नवीन आयाम दिए।

जयसिंह द्वितीय द्वारा जब 1727 ई. में कछवाहों की नवीन राजधानी जयपुर की स्थापना की गई तब से जयपुर के साथ-साथ शिल्प एवं कला की एक समृद्ध गौरवशाली परम्परा भी जयपुर के साथ विकसित हुई। इनके द्वारा जयपुर में कलाकारों के मौहल्ले बसाए गए जैसे-मूर्तिशिल्प के लिए सिलावटों का मौहल्ला, बर्तन बनाने वालों के लिए ठठेरों का मौहल्ला, आभूषण बनाने वालों के लिए जड़ियों का मौहल्ला, इत्यादि।¹⁵ सवाई जयसिंह द्वितीय द्वारा मीनाकारों को कछवाहों की पूर्व राजधानी आमेर से लाकर जयपुर में स्थापित किया गया। तात्कालिक शासक ने जयपुर में ही जड़ियों का रास्ता नामक स्थान

पर आभूषण बनाने वाले (जौहरी जो मीनाकारी से भी अवगत थे) को बसाया।¹⁶ इस प्रकार इनके संरक्षण एवं प्रोत्साहन से मीनाकारी जयपुर में अपने व्यवस्थित तथा नियोजित विकास की ओर अग्रसर हो सकी।

जयसिंह द्वितीय के परवर्ती जयपुर के शासकों यथा माधोसिंह प्रथम के शासनकाल में मीनाकारी हस्तकला के प्रचलित एवं विकसित होने के प्रमाण मिलते हैं। दस्तूर कौमवार के एक विवरण से ज्ञात होता है कि संवत् 1822 (1765 ई.) में मौजाजेराम नामक एक मीनाकार ने एक बेलबूटे अलंकृत सामग्री को अपने ग्राहक को चौदह कौड़ी में बेचा।¹⁷ महाराजा प्रतापसिंह (1778-1803ई.) के शासनकाल में मीनाकार अपनी कला परम्परा की निरन्तरता जारी रखे हुए थे। प्रतापसिंह के शासनकाल में मीनाकार गुमानीमल का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁸ प्रतापसिंह के उत्तराधिकारी जगतसिंह (1803-1819 ई.) द्वारा भी इस कला का प्रोत्साहन जारी रहा।

महाराजा रामसिंह द्वितीय (1835-1880 ई.) के शासन काल में मीनाकारी हस्तकला के प्रचलित एवं विकसित होने के प्रमाण मिलते हैं। इन्हीं के प्रशासनान्तर्गत मीनाकारी को प्रोत्साहित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की भी स्थापना की गई थी जिनमें मदरसा हुनरी, जो स्कूल ऑफ आर्ट के नाम से भी जाना जाता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा।¹⁹ रामसिंह जी के काल में ही मदरसा हुनरी में अजायबघर नामक कला विद्यालय खोला गया।²⁰ इन कला केन्द्रों में विभिन्न कलाओं के अन्तर्गत मीनाकारी का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। इस काल में औपचारिक प्रशिक्षण के साथ-साथ सार्वजनिक एवं कला प्रदर्शनियों के माध्यम से मीनाकारी के कलाकारों को पर्याप्त प्रचार एवं प्रोत्साहन भी उपलब्ध कराया गया। महाराजा रामसिंह के शासनकाल में जयपुर में एक प्रदर्शनी का आयोजन हुआ जिसमें देश के विभिन्न कलाकारों ने भाग लिया। जयपुर से मीनाकार किशन सिंह ने इस प्रदर्शनी में अपनी कला सामग्री प्रस्तुत करी। इसमें किशन सिंह द्वारा 24 कैरेट सोने की प्लेट पर आमेर एवं जयपुर का नक्शा मीनाकारी करके बनाया गया। इस मीनाकृत सामग्री के लिए इन्हें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ और पुरस्कार स्वरूप 5 तौले का स्वर्ण पदक मिला।²¹ इस प्रकार महाराजा रामसिंह द्वितीय के शासनकाल में मीनाकारों की मेहनत एवं कौशलता को सराहा गया।

रामसिंह द्वितीय के पश्चात् इनके उत्तराधिकारी महाराजा माधोसिंह द्वितीय (1880-1922 ई.) के शासनकाल में मीनाकारी हस्तकला संबंधी गतिविधियों का जयपुर में अधिक प्रसार हुआ। 1883 ई. में माधोसिंह के शासनकाल में जयपुर में एक प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। इस प्रदर्शनी में कलात्मक सामग्रियों जैसे ब्लू पॉटरी, स्टोन, कोफ्तगारी का प्रदर्शन किया गया जिसमें स्कूल ऑफ आर्ट को महत्व दिया गया। इस प्रदर्शनी में मीनाकारी की विभिन्न वस्तुएँ बनाई जिसमें मगराकृति कंगन, इत्रदान,

हेयरपिन, लॉकेट इत्यादि शामिल थे। इन सामग्रियों के दाम यूरोपियों के लिए भारतीयों से भिन्न रखे गये थे।²² जो अग्रलिखित प्रकार से थे-मगराकृति ब्रेसलेट-100 रूपयें, इत्रदान तथा ट्रे- 490 रूपये, मछली की आकृति की अंगूठी-6 रूपये, हेयर पिन- 10 रूपये, टूथपिक-7 रूपये।²³ 1886 ई. में माधोसिंह द्वितीय द्वारा अजायबघर नामक कला विद्यालय का स्थानान्तरण पण्डित श्योदीन की हवेली में कर दिया गया।²⁴ परन्तु इससे मीनाकारी की कला में बाधा नहीं पहुँची तथा मीनाकारों द्वारा अपनी कला को पूर्ववत् समृद्ध किया जाता रहा।

महाराजा माधोसिंह के शासनकाल के अन्तर्गत किशन सिंह के पुत्र गोमसिंह तथा भाई रामसिंह सक्रिय रूप से स्कूल ऑफ आर्ट में शिक्षक का कार्य कर रहे थे।²⁵ यह दोनों मीनाकार जौहरियों के लिए कार्य करते थे। माधोसिंह जी के शासनकाल में गोमसिंह ने अपनी कला कौशलता का परिचय दिया। गोमसिंह जी ने 1896 ई. लंदन में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में भाग लिया। इस प्रदर्शनी में उन्हें मीनाकारी युक्त सोने की प्लेट के लिए योग्यता प्रमाण पत्र प्राप्त हुआ।²⁶ यहीं से जयपुर की मीनाकारी अपना सुदृढ़ आधार एवं विस्तार प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हुई। महाराजा माधोसिंह जी के शासनकाल में मीनाकारी को नए आयाम भी प्राप्त हुए। 1910 ई. में प्रदर्शनी का आयोजन हुआ जिसमें मीनाकारी के लिए जयपुर स्कूल ऑफ आर्ट्स को पुरस्कृत किया गया था।²⁷ इस प्रकार महाराजा माधोसिंह जी के शासन में मीनाकारी को नवीन ऊँचाइयाँ प्राप्त हुईं।

माधोसिंह द्वितीय के पश्चात् महाराजा मानसिंह द्वितीय (1928-1949 ई.) के प्रशासनान्तर्गत जयपुर सभी क्षेत्रों में विकासोन्मुख हुआ। स्कूल ऑफ आर्ट को इनके द्वारा प्रोत्साहन भी मिलता रहा। 1947-1948 ई. के मध्य आर्ट म्यूजियम जयपुर में मीनाकारी की कलाकृतियाँ प्रदर्शित की गईं।²⁸ मानसिंह जी के शासनकाल में भी मीनाकारी विकास की ओर अग्रसर हुई। इस प्रकार महाराजा मानसिंह जी के शासनकाल तक इस हस्तशिल्प को विकसित करने में ना सिर्फ मीनाकार, जयपुर शासकों का योगदान रहा अपितु ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत इसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ब्रिटिश कलाप्रेमियों ने मीनाकारी को ना सिर्फ सराहा बल्कि विश्वस्तरीय स्थान भी प्रदान किया। आजादी के पश्चात् से वर्तमान तक जयपुर की मीनाकारी को सरकारी प्रोत्साहन मिलने के कारण यह कला आमजन में भी पहचान बनाने में कामयाब रही।

संदर्भ

1. Henry Harding Cunynghame, The Journal of the Society of Arts, Vol. 48, (Dec. 1899), 137-148.
2. Ibid, 137-148.
3. Marvin Chauncey, 'Austrian Gothic Enamels and Metal Work' The Journal of the Walters Art Gallery, Vol.1 (1938).

4. S.L.S., 'Limoges Enamels' Bulletin of the City Art Museum of St. Louis, Vol.10, No.3, (July, 1925), 38-45.
5. H.P. Mitchell, 'English Enamels of the Twelfth Century I', The Burlington Magazine for Connoisseurs, Vol.47, No. 271, (1925), 163-169.
6. Shanti Swarup, 5000 years of Arts and Crafts in India & Pakistan, (Bombay: D.P. Taraporwal 1968), 224 and Jamila Brij bhushan, Marg 4, Homege to Jaipur, (1976-77), 101.
7. Francis Brunel, Jewellery of India Five Thousand Years of Tradition, (New Delhi, 1971), 5
8. Kamlesh Mathur, Crafts and Craftsman, (Jaipur: Pointer Publishers, 2004), 31
9. Arts and Crafts, Chapter XVIII in Jaipur Album of all about Jaipur, 1935, (Jaipur: Rajasthan Directories Publishing House).
10. Kamlesh Mathur, Crafts....., Op.cit, 58
11. Ibid.
12. राजेन्द्र शंकर भट्ट, सवाई जयसिंह, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 1972, पृ. 126
13. श्री इन्दरसिंह कुदरत (मीनाकारी के कलाकार) से दिनांक 23.05.14 को साक्षात्कार
14. दस्तूर कौमवार, जिल्द संख्या 23, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
15. वही
16. H.L., Showers, Notes on Jaipur, (1909), 32.
17. मोहनलाल गुप्ता, 'मदरसा हुनरी उर्फ राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट' राजस्थान सुजस, (जयपुर, सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय, जून जुलाई 1994), 40
18. कमलेश माथुर, हस्तशिल्प कला के विविध आयाम, जयपुर, पंचशील प्रकाशन, 1997, 118
19. T.H., Hendley, Jeypore Enamels, London Peckham : W.Griggs Elm House, 1886, p. 8
20. T.H., Hendley, 'Enamel Minakari', The Journal of Indian Art, No. 2 April 1884, p. 3.
21. श्री इन्दर सिंह कुदरत (मीनाकार) से दिनांक 19.10.2014 को वार्तालाप से ज्ञातव्य तथ्य।
22. Giles Tillotson, Jaipur Nama, Op.cit, 151
23. श्री इन्दर सिंह कुदरत द्विमीनाकारऋ पूर्वोधृत
24. General 18 (01) Mahakama Khass, Jaipur Archives.
25. Report on the Administration of the Jaipur State for 1947-48, (Jaipur, Govt. Press, 1949
26. Giles Tillotson, Op.cit, 151-153
27. Ibid, 151-153
28. Ibid, 151-153

झालावाड़ राज्य में आधुनिक शिक्षा : चुनौतियाँ एवं विस्तार

डॉ. प्रणव देव

झालावाड़ रियासत राजस्थान की नवीनतम् रियासत¹ थी, साहित्य, कला, संस्कृति एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में अग्रणी, इस रियासत को साहित्यकार सरस्वती की विहारस्थली कहकर सम्बोधित करते रहे हैं। किन्तु उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक के इतिहास में, शिक्षा व्यवस्था के बारे में अत्यन्त अल्प जानकारी मिलती है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में मकतब व चटशाला जैसी प्रारम्भिक व परम्परागत शिक्षण संस्थाओं की जानकारी मिलती है।² जिनमें सामान्यतः एक ही शिक्षक रहता था। प्रस्तुत शोध पत्र में आधुनिक शिक्षा की स्थापना एवं विस्तार में आने वाली विभिन्न समस्याओं एवं आधुनिक शिक्षा की प्रगति की चर्चा की गई है। ब्रिटिश सरकार के प्रेरित करने पर यहाँ आधुनिक शिक्षा की नींव रखी गई जिनसे प्रेरणा पाकर राजपूताना के अन्य राज्यों में भी आधुनिक शिक्षा का विस्तार हुआ। इसका प्रारम्भ ब्रिटिश पॉलिटिकल एजेन्ट बियनॉन के प्रयासों का नतीजा था।³ महाराज राणा पृथ्वीसिंह (1845-1875 ई.) के समय में झालरापाटन शहर में आधुनिक विद्यालयों की स्थापना प्रारम्भ हुई।⁴ साथ ही साथ बियनॉन को आश्वस्त किया गया कि झालावाड़ राज्य में शिक्षा की प्रगति पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। राज्य में आधुनिक शिक्षा की प्रगति में जिन विभूतियों का महत्वपूर्ण स्थान है उनमें बाबू श्याम सुन्दर लाल, दम्मीलाल चौबे तथा श्री सरगिया उल्लेखनीय हैं।⁵ सन् 1887 ई. में झालावाड़ के मिडिल स्कूल का क्रमोन्नयन महाराजा हाई स्कूल के रूप में हुआ जो आज का राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय है। सन 1887 ई. में छावनी मिडिल स्कूल को क्रमोन्नत कर महाराजा हाईस्कूल नाम दिया गया जिसमें हेडमास्टर मिस्टर 'जॉन' की देख-रेख में अच्छी प्रगति हुई। यह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के स्तर तक की शिक्षा प्रदान करता था। अतः इसमें अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत व हिन्दी मुख्य विषय थे।⁶ यद्यपि आगामी 20 वर्षों में इस विद्यालय के परीक्षा परिणाम अच्छे नहीं रहे।⁷ कालान्तर में सन् 1946 ई. में प्रज्ञान वर्ग तथा 1948 ई. में विज्ञान वर्ग का प्रारम्भ कर इस विद्यालय का नाम राजेन्द्र इन्टरमीडिएट कॉलेज कर दिया गया। सन् 1894 ई. में श्री परमानन्द चतुर्वेदी जैसे विद्वान व्यक्ति का दीवान पद पर नियुक्त होना राज्य की शिक्षा के इतिहास में उल्लेखनीय है। इन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप सन् 1904-05 ई. में साक्षरता की दृष्टि से झालावाड़ राजपूताना की 20 रियासतों में से 7वें स्थान पर था। जहाँ

पर 3.3 प्रतिशत जनसंख्या पढ़ लिख सकती थी। इस साल राज्य में 9 प्राथमिक विद्यालय थे जिनमें निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान था।

राज्य में आधुनिक शिक्षा के विकास में अवरोधक चुनौतियों की चर्चा के प्रारम्भ में यह स्पष्ट है कि शिक्षा गैर सरकारी संस्थाओं की रुचि एवं यहाँ के शासकों की दया पर निर्भर थी। प्रायः राज्य का सहयोग राजा के स्वभाव पर निर्भर करता था शासक के उत्तराधिकार से मुक्त एवं समुचित प्रोत्साहन के अभाव के फलस्वरूप राज्य में शिक्षा व्यवस्थित स्वरूप एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रहण करने में अनेक अवरोधक तत्वों एवं चुनौतियों का सामना कर रही थी। जनवरी 1863 ई. से राजकीय उत्तरदायित्व का प्रारम्भ हो जाने के बाद भी आधुनिक शिक्षा के मार्ग में कई कठिनाइयाँ थीं। जिन्हें परिस्थितिगत अवरोधक तत्वों तथा परम्परागत अवरोधक तत्वों में विभाजित कर विवेचना की जा सकती है। परिस्थितिगत अवरोधक तत्वों में प्राकृतिक आपदाएँ, भौगोलिक परिस्थिति एवं संसाधनों का अभाव, प्रशिक्षित शिक्षक उपकरणों आदि का अभाव और विभिन्न युद्ध, महायुद्ध एवं राजनैतिक हलचलों को रखा जा सकता है। जबकि परम्परागत अवरोधक चुनौतियों में बाल विवाह, दास प्रथा, अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों के साथ-साथ सामाजिक संरचना में सामन्तों एवं जागीरदारों का रुख उल्लेखनीय है। सन् 1891-1892 ई. में राज्य के विभिन्न स्कूलों में विभिन्न जातियों धर्मों तथा उन्हें पढ़ाई जाने वाली भाषाओं की जानकारी 1891-92 ई. की एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट से प्राप्त हो जाती है।⁸ इसी वर्ष में राज्य के प्रत्येक विद्यालय पर प्रति छात्र किया गया, राजकीय व्यय भी इसी रिपोर्ट से प्राप्त किया जा सकता है।⁹

यह उल्लेखनीय है कि इन समस्त विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान था। जिसमें एक स्कूल सौधिया राजपूतों के लिए था तथा राज्य में 6000 रुपये शिक्षा पर खर्च किए गए।¹⁰ तहसील के विद्यालयों में निःशुल्क किताबें वितरित की जाती थी।¹¹ विद्यार्थियों की औसत उपस्थिति 424 थी। सन् 1904 ई. में प्रथम बार सार्वजनिक परीक्षा हुई। झालावाड़ राज्य की आधुनिक विद्यालयी शिक्षा प्रगति निम्नांकित तालिका में प्रस्तुत की जा रही है-¹²

क्र.सं.	वर्ष	प्राथमिक विद्यालय		मिडिल विद्यालय		हाई स्कूल शिक्षा	
		लड़के	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ
1	1912	26	5	-	-	1	-
2	1920	33	6	4	1	1	-
3	1930	16	4	5	1	1	-
4	1940	31	3	5	2	1	-
5	कुल	106	18	14	4	4	-

(स्रोत- राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर झालावाड़, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस जयपुर सन् 1964 ई., पृ. 247)

सन 1912 ई. की समाप्त होने तक राज्य में विद्यालयों की संख्या 31 हो गई थी¹³ तथापि सन 1913 ई. में बालिका विद्यालयों सहित विद्यालयों में औसत उपस्थिति 1250 थी। इलाहाबाद परीक्षा विभाग द्वारा सन् 1917 ई. में झालरापाटन में लड़कियों के लिए सप्लीमेन्ट्री परीक्षा केन्द्र बनाया गया।¹⁴ राज्य के दीवान एवं प्रमुख शिक्षाविद् श्री परमानन्द चतुर्वेदी की स्मृति में एक छात्रावास का निर्माण महाराज राणा भवानी सिंह जी द्वारा किया गया जिसमें दिसम्बर 1915 ई. से विद्यार्थी रहने लगे।¹⁵ इसके दो वर्ष बाद ग्यारह गाँव के विद्यालयों को वित्तीय समस्या तथा विद्यार्थियों की अनुपस्थिति के कारण बन्द करना पड़ा। सन् 1922 ई. तक राज्य में विद्यालयों की कुल संख्या 30 थी जिनमें कुल 1819 छात्र-छात्राएँ अध्ययनरत थे।¹⁶ अंग्रेजी मिडिल परीक्षा निदेशक शिक्षा विभाग द्वारा सन् 1928 ई. में आयोजित की गई। जिसके परिणामस्वरूप परीक्षा में शामिल 21 में से 8 विद्यार्थी तथा वर्नाकुलर वार्षिक परीक्षा में 17 में से 5 विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए।¹⁷ सन 1938-1939 ई. में विद्यालयों की कुल संख्या में वृद्धि हुई, अब राज्य में 47 विद्यालय हो गए। जिनका स्तर एवं प्रकृतिवार विवरण तालिका में प्रस्तुत है-¹⁸

क्र.सं.	विद्यालय का नाम	संख्या
1	हाई स्कूल	1
2	इंग्लिश मिडिल स्कूल	2
3	वर्नाकुलर मिडिल स्कूल (लड़कों के लिए)	3
4	वर्नाकुलर उच्च प्राथमिक विद्यालय (लड़कों के लिए)	10
5	वर्नाकुलर प्राथमिक विद्यालय (लड़कों के लिए)	18
6	उच्च माध्यमिक विद्यालय (लड़कियों के लिए)	2
7	उच्च प्राथमिक विद्यालय (लड़कियों के लिए)	1
8	प्राथमिक विद्यालय (लड़कियों के लिए)	3
9	संस्कृत विद्यालय	2
10	वर्नाकुलर प्राथमिक विद्यालय (हरिजन के लिए)	1
11	तकनीकी विद्यालय	1
12	मान्यता प्राप्त निजी विद्यालय	1
13	जागीर स्कूल (वर्नाकुलर प्राथमिक विद्यालय)	2
	कुल	47

इस वर्ष छात्र-छात्राओं की कुल संख्या 3646 थी जिनकी औसत उपस्थिति बढ़कर 2648 थी। सन् 1946 ई. में 39 प्राथमिक विद्यालय थे तथापि इसी वर्ष हाई स्कूल को इन्टरमीडिएट कॉलेज में क्रमोन्नत किया गया था। राज्य में लोअर प्राइमरी स्कूल परीक्षा का संचालन राज्य के इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल के द्वारा तथा अपर प्राइमरी स्कूल व मिडिल स्कूल की परीक्षाओं का संचालन इलाहाबाद बोर्ड द्वारा किया जाता था।

झालावाड़ राज्य ने पिछड़े एवं दलित वर्ग की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान ब्रिटिश प्रेरणा के फलस्वरूप दिया। इस दिशा में यह उल्लेखनीय है कि अछूत छात्र श्री रामचन्द्र को विशेष सहायता प्रदान कर विज्ञान में स्नातक करवाया गया, तदुपरान्त उसे महाराजा हाई स्कूल छावनी में शिक्षक नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त राजराणा राजेन्द्रसिंह जी सुधाकर के शासनकाल में, अगस्त 1933 ई. में 15 विद्यालय हरिजनों हेतु खोले गए। सन् 1935 ई. में पं. नयनूराम शर्मा ने एक हरिजन विद्यालय बृजनगर झालावाड़ में खोला तथा नरसिंह व रामचन्द्र को अध्यापक नियुक्त किया। यहाँ पर छात्रों की कुल औसत उपस्थिति 43 थी।¹⁹ छात्राओं के लिए सन् 1883 ई. में पहला विद्यालय झालावाड़ में खोला गया। जिसमें उपस्थिति 35 लड़कियों तक ही सीमित रही। सन् 1901 ई. में पण्डित श्याम शंकर को शिक्षा विभाग का दायित्व मिला तो उन्होंने बालिका शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। कालान्तर में सन् 1906 से सन् 1912 ई0 तक राज्य में 5 बालिका विद्यालय खोले गये जिनमें छात्राओं की उपस्थिति 245 तक पहुँची।²⁰ सन् 1915 ई. तक इन विद्यालयों की संख्या 7 तथा उपस्थिति 292 तक पहुँच गई। इन समस्त विद्यालयों में हिन्दी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी तथा सिलाई प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी। झालरापाटन में 9 फरवरी सन् 1917 ई. को कॉल्विन गर्ल्स स्कूल का उद्घाटन इलियट कॉल्विन द्वारा की गई। सन् 1937 से पूर्व राज्य में तकनीकी शिक्षा का अभाव था। जिसकी पूर्ति करते हुए महाराज राणा राजेन्द्र सिंह ने एक तकनीकी विद्यालय बृजनगर में खोला किन्तु यह सफल न हो सका।

राज्य में शिक्षा के विस्तार का एक बड़ा कारण निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था तथा अनेकानेक शैक्षिक सुविधाएँ थी।²¹ राज्य में पुस्तकालयों की भी अच्छी व्यवस्था थी।²² भवानी परमानन्द केन्द्रीय पुस्तकालय के अतिरिक्त कैम्बेल सार्वजनिक पुस्तकालय भी था। 1 अक्टूबर सन् 1913 ई. को स्थापित इस पुस्तकालय को सन् 1948 ई. में श्री हरिशचन्द्र सार्वजनिक पुस्तकालय का नया नाम दिया गया। राज्य की पुस्तकालय व्यवस्था पर सौरभ समाचार पत्र में सम्पादक की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है- “राज्य के प्रत्येक बड़े नगर में पुस्तकालय स्थापित किये गये हैं। सर्वत्र राजकीय उपदेशकों द्वारा धर्म प्रचार और ज्ञान प्रसार का प्रबन्ध किया जा चुका है। राजधानी में 3 बड़े पुस्तकालयों

के साथ-साथ अनेक विद्या समितियाँ भी हैं, जिनके अधिवेशन बड़े धूम-धाम से हुआ करते हैं। राज्य की ओर से पुस्तक रचना का परम आवश्यक कार्य भी प्रारम्भ हो चुका है। उसके फलस्वरूप अब तक झालावाड़ से कई ग्रन्थ और निबन्ध अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत इत्यादि भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आप झालावाड़ में आकर श्री महाराज से मिलेंगे, उनके विद्या प्रेम को देखेंगे और छोटी सी रियासत के विद्या संबंधी कामों का अनुभव करेंगे तो आपके मुँह से सहसा यह शब्द निकल पड़ेंगे कि भारत वर्ष का यह छोटा राज्य अवश्य ही सरस्वती की विहारस्थली है, झालावाड़ दरबार का महल वास्तव में विद्या मन्दिर है।²⁴ शिक्षा ऋण भी उपलब्ध था।²³ श्री भवानीसिंह जी के शासनकाल में राज्य के दीवान श्री परमानन्द की स्मृति में एक छात्रावास की स्थापना दिसम्बर 1915 ई. में की गई, जिसमें सन् 1922 ई. में छात्रों की कुल संख्या 27 थी। जिसमें उन्हें व्यायाम व खेल की सुविधाएँ भी प्राप्त थी। छात्रावास के अन्तवासियों को भोजन, कपड़े एवं किताबें आदि निःशुल्क उपलब्ध कराये जाते थे।²⁵ इस प्रकार झालावाड़ राज्य में आधुनिक शिक्षा का विस्तार यहाँ के अन्तिम तीन शासकों के प्रगतिशील दृष्टिकोण एवम् ब्रिटिश प्रेरणा का परिणाम था।

सन्दर्भ

1. झालावाड़ राज्य, रियासती राजस्थान का पहला राज था, जिसका नामकरण उस पर राज्य करने वाले वंश के नाम पर रखा गया। यद्यपि यह क्षेत्र प्राचीन काल से विविध प्रकार के सांस्कृतिक संदर्भों के लिए जाना जाता रहा है। यह राज्य राजपूताने की रियासतों में राजनैतिक परिस्थितिवश ब्रिटिश सन्धियों के परिणामस्वरूप 8 अप्रैल 1838 ई. में अस्तित्व में आया। इस प्रगतिशील राज्य में वर्तमान झालावाड़ जिला शामिल है। जिसके कुल 17 परगनों में से 14 परगने कोटा राज्य से एवं 3 परगने ब्रिटिश सरकार से मिले थे, इन परगनों के नाम क्रमशः चेचट, सुकेत, चौमेहला (मय गंगधार, डग, आवर एवं पचपहाड़), झालरापाटन, रीछवा, बकानी, दलहनपुर, कोटड़ा-भालता, सरड़ा, रटलाई, मनोहरथाना, फूल बडोद, चाचोरनी, काकूनी, छीपाबड़ोद, शाहबाद और शेरगढ़ थे।
2. ढोढियाल बी.एन., राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर झालावाड़, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस जयपुर सन् 1964 ई., पृ. 247
3. मंगलानी एच.जे., हिस्ट्री कल्चर एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ झालावाड़ स्टेट जयपुर पब्लिशिंग हाउस जयपुर, सन् 1983 ई., पृ. 114
4. पॉलिटिकल कन्सलटेसन्स 'ए' जुलाई 1864 ई., नं. 10-18, हाडौती एजेन्सी रिपोर्ट, झालावाड़ नरेश का खरीता, दिनांक 1 दिसम्बर 1863 ई.
5. प्रारम्भ में बाबू श्याम सुन्दर लाल, पं. परमानन्द चतुर्वेदी, सितम्बर 1884 ई. से दम्मी लाल चौबे तथा इनके बाद श्री सरगिया ने राज्य की शिक्षा व्यवस्था का

प्रभार उठाया।

6. झालावाड़ रिकॉर्ड्स : बस्ता नं. 4, फाईल नं. 6, रा.रा.अ. बीकानेर
7. पूर्वोक्त
8. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, वर्ष 1891-1892 ई., पृ. 52
9. पूर्वोक्त
10. ढोढियाल बी.एन., पूर्वोक्त, पृ. 247
11. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट : सन 1913 ई., पृ. 12
12. ढोढियाल बी.एन., पूर्वोक्त, पृ. 247-248
13. झालावाड़ रिकॉर्ड्स, बस्ता नं. 4, फाइल नं. 15 रा.रा.अ. बीकानेर
14. झालावाड़ रिकॉर्ड्स : बस्ता नं. 18 ए, फाइल नं. 49 रा.रा.अ. बीकानेर
15. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन् 1917 ई., पृ. 49
16. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन् 1922 ई., पृ. 19
17. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन् 1928 ई., पृ. 28
18. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन् 1938-1939 ई., पृ. 37
19. मंगलानी एच. जे., पूर्वोक्त, पृ. 118
20. झालावाड़ रिकॉर्ड्स बस्ता नं. 4 फाईल नं. 15 रा.रा.अ. बीकानेर
21. दृष्टव्य एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स, ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन् 1938-1839 ई., पृ. 39, झालावाड़ रिकॉर्ड्स, बस्ता नं. 18-ए, फाइल नं. 62
22. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन 1917 ई., पृ. 49
23. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन 1938-39 ई., पृ. 39
24. भट्ट गदाधर, रामनिवास शर्मा सौरभ (हमारे पुरोध-11) राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर, पृ. 9
25. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ झालावाड़ स्टेट, सन 1922 ई., पृ. 20-21
26. सौरभ भाग-1, खण्ड-1, संख्या-1

भानगढ़ : एक उजड़े हुये शहर की कहानी

डॉ. सूरजभान भारद्वाज

यदि आप गुगल पर भानगढ़ को खोजने का प्रयास करें, भानगढ़ दुनियां की सबसे डरावनी और खतरनाक जगहों में से एक है, जहां पर भूत, प्रेतों का वास रहता है। अन्धेरा होने के बाद वहां पर कोई रहता नहीं है। इसके बारे में वहां के लोगों में अनेक तरह की किवदंतियां व भ्रम फैले हुये हैं। इनका ऐतिहासिक पक्ष क्या है? ये सभी सवाल इतिहासकारों के लिए अध्ययन का विषय है। भानगढ़ राजस्थान के जिला अलवर से लगभग 40 मील दक्षिण पूर्व में पड़ता है। मुगलकाल में भानगढ़ को हल्दीघाटी की लड़ाई के बाद अकबर बादशाह द्वारा मानसिंह के छोटे भाई माधोसिंह (भगवन्तदास के पुत्र) को जागीर में दिया गया था।¹ बाद में भानगढ़ को परगना बनाया गया। सन् 1712 ई. के जमाबंदी² राजस्थानी दस्तावेज के अनुसार भानगढ़ एक फलता-फूलता शहर है जिसमें पक्की सड़कें हैं। किले के परकोटे के बाद एक बड़ा बाजार है जिसके तीन तरफ दूर-दूर तक दुकानें बनी हुई हैं। बाजार के बाहर लगती हुई अनेक कारीगरों की दुकानें हैं जहां पर वे माल तैयार करते थे। अब सवाल यह उठता है कि एक फलता-फूलता शहर कैसे विरान हो गया? विडम्बना यह है कि बीकानेर अभिलेखागार में भानगढ़ से संबंधित अभिलेख व दस्तावेज उपलब्ध नहीं हैं, केवल एक ही वर्ष का अठसठा उपलब्ध है। जनरल कनिंघम ने भी अपने Archeological survey की रिपोर्ट में भानगढ़ का कोई जिक्र तक नहीं किया। डंरवत च्वूसमजज ने गैजिटियर ऑफ अलवर स्टेट में भानगढ़ का थोड़ा सा जिक्र किया है। भानगढ़ से संबंधित कच्छवाओं के इतिहास में भी ज्यादा कुछ नहीं मिलता है। इसलिए भानगढ़ का अध्ययन इतिहासकारों के लिए एक चुनौती से कम नहीं है। यही वजह है कि भानगढ़ से संबंधित साहित्य व सामग्री उपलब्ध नहीं है।

भानगढ़ अरावली की पहाड़ियों की तलहटी में बसा हुआ है, जो तीन तरफ से पहाड़ियों से घिरा हुआ है। पूर्व की तरफ पहाड़ियों से लगता हुआ खुला मैदान है जिसमें तीन परकोटे बने हुये हैं। पहला परकोटा पहाड़ी की तलहटी से सटा हुआ है जिसमें राजमहल है अर्थात राजा का रहने का स्थान है। दूसरे परकोटे में मंदिर और नोकरशाहों के रहने के निवास बने हुये हैं। तीसरे परकोटे में शहर बसा हुआ है जिसका क्षेत्रफल 2 मील पूर्व-पश्चिम और द्वाई मील उत्तर-दक्षिण में फैला हुआ था। बाजार में प्रवेश के लिए चार द्वार हैं जिन्हें आम्बेर द्वार, लुहारी द्वार, हनुमान द्वार और दिल्ली द्वार के नाम से जाने

जाते थे।³

भानगढ़ अब डरावनी शकल में खण्डहरों के अवशेष बचे हुये हैं। भानगढ़ के बारे में अनेक किवदंतियां फैली हुई हैं जिनकी चर्चा करना आवश्यक है। भानगढ़ से संबंधित एक स्थानीय कहावत इस प्रकार है--

*भानगढ़ का भाठा घणा, कै माकड़ कै भूत
चौथा पानी लागणा, चारों बात कबूत'*

अर्थात् भानगढ़ चार बातों के लिए जाना जाता है। पहला, वहां पर पत्थरों के खण्डहर ही खण्डहर हैं। दूसरा, वहां पर लंगूर बन्दर बहुत हैं। तीसरा, वहां पर भूतों का वास है और चौथा, वहां का पानी लगने वाला है अर्थात् मनुष्यों की सेहत के लिए हानिकारक है। भानगढ़ की बसासत और विरान होने से संबंधित एक लोकप्रिय चमत्बमचजपवद इस प्रकार है “आम्बेर के महाराजा भगवन्तदास कच्छवाह इस इलाके में शिकार खेलने आये थे। वहां के जंगल और भूमि को देखकर राजा के मन में एक नया शहर बसाने का ख्याल आया। वहां पर उनको पता लगा कि पहाड़ी की चोटी पर एक नाथ योगी साधु तपस्या कर रहा है। इसलिए क्यों न उनसे इस नये शहर को बसाने का आशीर्वाद व सलाह ली जाये। राजा साधु के सामने हाथ जोड़कर उकड़ू की स्थिति में बैठ गया। साधु ने जैसे ही आंखें खोली, देखा राजा उकड़ू की स्थिति में हाथ जोड़कर बैठा है। राजा ने उनसे नया शहर बसाने का आशीर्वाद मांगा। साधु ने राजा को कहा कि अगली बार आओगे तभी शहर बसाने का आशीर्वाद देंगे। इस प्रकार राजा तीन बार साधु के पास शहर बसाने का आशीर्वाद लेने आया। मगर साधु ने राजा को तीनों बार उकड़ू की स्थिति में बैठा पाया। चौथी बार साधु ने राजा को कहा कि नया शहर बस तो जायेगा, मगर जल्दी ही उजड़ भी जायेगा।”⁴ लोगों का मानना है कि नाथ साधु के आशीर्वाद से शहर बस भी गया और उजड़ भी गया। राजा भगवन्तदास जिस स्थिति में बैठकर साधु से आशीर्वाद मांग रहा था, साधु ने देखा कि राजा में न धैर्य और न ही ठहराव है। सम्भवत् यह perception शहर उजड़ने के बाद बना है। इस तरह का perception वैष्णवमत के ब्राहमणों द्वारा बनाया गया होगा, जिसमें शहर के उजड़ने का दोष नाथ पंथियों पर लगाया गया है। इसी तरह भानगढ़ के उजड़ने से संबंधित दूसरा perception इस तरह से है --

“माधोसिंह की पत्नी रत्नावति देखने में बहुत सुन्दर थी, जो बड़गुजर जमींदार तितरवाड़ा की बेटी थी। उसकी सुन्दरता पर एक सेवड़ा (सेन्धा) बहुत आकर्षित रहता था। एक दिन रानी रत्नावति ने अपनी बान्दी को चमेली का तेल गर्म करने के लिए कहा। बान्दी गर्म तेल लेकर रानी के पास जा रही थी, सेवड़ा ने उससे पूछा यह तेल किसके लिए ले जा रही हो? बान्दी ने कहा कि तेल रानी अपने बदन पर लगायेगी।

सेवड़ा ने कुछ मनही मन मंत्र किया जिससे रानी तेल लगाते ही सीधे उसके पास चली आयेगी। बान्दी ने रानी को जैसे ही गर्म तेल दिया, रानी ने बान्दी से पूछा कि तुम्हें किसी ने देखा तो नहीं। बान्दी ने कहा जबवह आ रही थी तो रास्ते में सेवड़ा ने उससे पूछा कि तेल किसके लिए ले जा रही हो। बान्दी ने जवाब में कहा कि वह तेल रानी के लिए ले जा रही है। इतनी बात सुनकर रानी ने बान्दी को कहा कि इस तेल को बाहर पड़ी पत्थर की शिला पर डाल दो। जैसे ही बान्दी ने तेल शिला पर डाला, वैसे ही शिला हवा में उड़कर सेवड़ा पर जा गिरी और इससे सेवड़ा की मृत्यु हो गई। मगर मरते हुये सेवड़ा ने अभिषाप दिया था कि मेरी तरह इस शहर में सभी मरेंगे, कोई नहीं बचेगा।⁶ यह perception भी भानगढ़ के उजड़ने के बाद ही बना होगा। क्योंकि इसमें भी भानगढ़ उजड़ने का दोष सेवड़ा पर लगाया गया जो तांत्रिक विद्या से रानी पर बुरी नजर रखकर उसे अपने पास बुलाना चाहता था। जबवह अपने इरादे में सफल नहीं हुआ तब उसने भानगढ़ के उजड़ने का अभिषाप दिया। इसमें दूसरा एक पहलू यह भी है कि रत्नावति बड़गुज्जरो की बेटा है। पहले यह पूरा इलाका बड़गुज्जर राजपूतों का होता था जिसको छीनकर मुगलों ने कच्छवाह राजपूतों को दे दिया था।⁷ इसलिए रत्नावति के माध्यम से बड़गुज्जर राजपूतों ने बदला लिया था। इस perception में रानी रत्नावति और सेवड़ा को साथ-साथ दिखाया गया है, जिन्होंने मिलकर भानगढ़ का नाश किया। आज भी वहां के स्थानीय लोगों का मानना है कि सेवड़ा की आत्मा किले के खन्दरातों में भटकती रहती है जिसे वहां के अनेक लोगों ने महसूस किया है। सेवड़ा अपनी तांत्रिक विद्या के कारण मशहूर था इसलिए आज भी वहां के लोगों में विशेषकर औरतों में भूत-प्रेत की शिकायत हो जाये तब लोग उस रोगी को लेकर किले में आते हैं और सेवड़ा के नाम से कुछ टोने तांत्रिक करते हैं जिससे औरत में से उस भूत को भगाया जा सके। मगर साथ ही साथ वहां के लोगों का यह भी मानना है कि रानी रत्नावति फिर से जन्म लेगी और भानगढ़ फिर से आबाद होगा।

भानगढ़ का इलाका माधोसिंह कच्छवाह को अकबर बादशाह द्वारा जागीर में दिया गया था। हल्दी घाटी की लड़ाई में माधोसिंह अपने भाई मानसिंह के साथ महाराणा प्रताप के खिलाफ लड़ाई में शामिल हुआ था। उसके बाद ही परगना गाजीका थाणा के कुछ गांव व भानगढ़ का इलाका माधोसिंह को जागीर में मिला था।⁸ इसलिए 'कच्छवाह राजपूतों का इतिहास' में यह माधो सिंह का भानगढ़ के नाम से जाना जाता है। भानगढ़ की जागीर माधोसिंह के वंशजों को पीढ़ी दर पीढ़ी वंशानुगत मिलती रही। सन् 1714 के बाद भानगढ़ की जागीर की दावेदारी को लेकर माधोसिंह के वंशजों के बीच गंभीर मतभेद पैदा हो गये थे। माधोसिंह के पोते अजबसिंह अपने पिता की मृत्यु के बाद भानगढ़ की जागीर के वारिस बने थे। उनके दो बेटे थे - हरीसिंह और काबली सिंह।

अजबसिंह की मृत्यु के उपरान्त भानगढ़ की जागीर का वारिस काबली सिंह बना। काबली सिंह की मृत्यु के उपरान्त भानगढ़ की जागीर पर उसका भाई हरीसिंह का कब्जा हो गया। हरीसिंह के तीन पुत्र हुये, जिनमें से दो लड़कों ने हरीसिंह की मृत्यु उपरान्त ईस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था जिनके नाम मोहम्मद कुलीच और मोहम्मद दहलीज थे। मगर हरीसिंह की मृत्यु के बाद उनके चचेरे भाई काबली सिंह के बेटे जसवन्तसिंह जिसे भानगढ़ और अजबगढ़ की जागीर दी गई थी। दोनों मुस्लिम भाईयों ने मिलकर जसवन्तसिंह की हत्या कर दी और भानगढ़ पर कब्जा कर लिया।⁹ इस घटना से सवाई जयसिंह कच्छवाह (आम्बेर का राजा) बहुत आहत हुआ, मगर उन दोनों भाईयों के खिलाफ कुछ नहीं कर सका क्योंकि इन दोनों भाईयों को सैयद बन्दुओं और चुड़ामन जाट का पूरा-पूरा सहयोग मिला हुआ था। इसलिए सवाई जयसिंह समय का इन्तजार करता रहा और यह मौका सन् 1720 में हसनपुर की लड़ाई में सैयद बन्दुओं के पतन के बाद मिला। इसके बाद सवाई जयसिंह ने भानगढ़ पर कब्जा कर लिया और दोनों मुस्लिम भाईयों की हत्या कर दी।¹⁰ इस घटना के बाद भानगढ़ उजड़ गया। अलवर सरकार में परगना राजगढ़, टहला, राजोर, माचेड़ी और देवती सांचारी में बड़गुज्जर राजपूतों का एक लम्बे समय से परम्परागत वर्चस्व बना हुआ था। कनिंघम ने भी अपने Archeological Survey की रिपोर्ट में यह दर्शाया है कि इन परगनों में बड़गुज्जर राजपूतों से संबंधित अनेक कहानियां उनके द्वारा बनवाये गये मंदिरों, तालाबों व बांधों के बारे में काफी लोकप्रिय हैं।¹¹ मंदिरों से पता चलता है कि बड़गुज्जर राजपूत शैवमत को मानते थे, इसलिए उन्होंने इन इलाकों में शिव मंदिर बनवाये थे।¹² जब अकबर ने माधोसिंह राजावत को परगना थाना गाजी का इलाका तनखाह जागीर में दिया, तब इस इलाके में बड़गुज्जर राजपूतों का बहुत बोलबाला था। इसलिए माधोसिंह को बड़गुज्जर राजपूतों से बड़ी चुनौती मिल रही थी। इस चुनौती से निपटने के लिए माधोसिंह ने भानगढ़ के किले की संरचना की। दरअसल सैनिक दृष्टिकोण से इस किले की महता बढ़ती चली गई।

मुगल बादशाह शाहजहां ने 1638 ई. में मिर्जा राजा जयसिंह को एक फरमान भेजा जिसमें उन्होंने परगना देवती सांचारी के बड़गुज्जरों की मदद करने वाले चौहान व जादव राजपूत जमींदारों को चेतावनी दी गई थी। फरमान में मिर्जा राजा को आदेश दिया गया कि सबलसिंह और परसराम बड़गुज्जर जिन्होंने परगना देवती सांचारी के गावों में उत्पात मचा रखा है उनको यहां से बाहर निकाला जाये और उन्हें दोबारा इस परगना में स्थापित न होने दिया जाये, उनके स्थान पर दूसरे राजपूतों को बसाया जाय। बड़गुज्जर राजपूतों की मदद करने वाले राजपूतों के खिलाफ सख्त कार्यवाही की जाये।¹³

इससे पहले सन् 1630 देवती सांचारी की जागीर जिसकी जमा 37,48,420 दाम थी। मिर्जा राजा को तनखाह जागीर में दी गई। देवती सांचारी के बड़गुज्जरों की

गतिविधियों पर नियंत्रण पाने के लिए मिर्जा राजा ने भानगढ़ के किले में सैनिकों की संख्या बढ़ा दी।¹⁴ शाहजहां ने देवती सांचारी की जागीर मिर्जा राजा को सन् 1630 में दी थी, उसके बाद ही इन बड़गुजर राजपूतों का विद्रोह ज्यादा भड़क गया और उनका साथ चौहान व जादव राजपूत भी दे रहे थे क्योंकि मिर्जा राजा ने सम्भवतः बड़गुजर राजपूतों की जर्मीदारी व भोमि अधिकारों से वंचित कर दिया था और उनकी जगह राजावत व किलाणोत राजपूतों को स्थापित कर दिया था।¹⁵ इसके बाद भानगढ़ की सक्रिय भूमिका प्रतापसिंह नरूका की गतिविधियों पर निगरानी रखने में रही है। राजस्थानी दस्तावेज अर्जदास्त में प्रतापसिंह नरूका के विद्रोह से संबंधित सन् 1684-86 ई. तक अनेक घटनाओं का जिक्र मिलता है। प्रताप सिंह नरूका परगना मालपुरा में गांव सोडा का भोमिया था, जिसको आम्बेर राजा सवाई जयसिंह ने बेदखल कर दिया था जिसके आतंक से परगना मालपुरा, टोडाठेक के गांव विरान हो गये थे। जिसकी शिकायत सरकार रणथम्भौर के मुगल फौजदार बार-बार आम्बेर राजा को कर रहा है कि प्रतापसिंह नरूका ने उसके अनेक गांवों में लूटपाट मचा रखी है। प्रतापसिंह नरूका इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसके मसले को सुलझाने के लिए अजमेर का सूबेदार इनाईतखां भी आम्बेर राजा को उसका वतन (मालपुरा परगना) लौटाने का सुझाव देता है। रणथम्भौर का फौजदार सैयद कुतुब लिखता है कि प्रताप सिंह नरूका के साथ दुर्जन हाडा व राठौड़ राजपूतों का सहयोग है इसलिए उसने बहुत बड़ी फौज बना ली है। प्रताप सिंह नरूका के खिलाफ संघर्ष में आम्बेर राजा के गजसिंह राजावत (फौजदार) समेत अनेक ताकतवर राजपूत मारे गये थे। सन् 1686 में रामचन्द्र दिवान (आम्बेर राज्य) ने किलाणोत व राजावतों को भानगढ़ वालों की प्रतापसिंह नरूका के खिलाफ लड़ने में मदद करने का हुकम दिया।¹⁶

इसी तरह से 1689 में भी किलाणोत व बहातरी के नरूका राजपूतों को आम्बेर दिवान ने भानगढ़ वालों की मदद करने को कहा गया-

सन् 1704 ई. में आम्बेर राजा ने हृदयराम बड़गुजर (मोजा खुटेटाकलां का भोमियां) के खिलाफ भानगढ़ वालों को हुकम दिया गया कि वे अपनी फौज के साथ कस्बा बसुवा पहुंचे जहां पर किलाणोत व राजावतों की फौज उनका इंतजार कर रही है। हृदयराम बड़गुजर ने अपनी गढ़ी खुटेटां कलां के पहाड़ पर बना रखी थी जो कामा व बृज के इलाके से आने वाले व्यापारियों को लुटता था। आम्बेर राजा की फौज ने उसको चारों तरफ से घेरकर मार डाला।¹⁷

सैनिक दृष्टिकोण से भानगढ़ की importance 18वीं सदी के शुरूआत में खासतौर से औरंगजेब की मृत्यु के बाद काफी बढ़ गई थी। पूर्वी राजस्थान के पुरे इलाके में चूड़ामन की समंकमतीपच में जाट आम्बेर राजा को एक गम्भीर चुनौती दे रहे थे।

मुगल दरबार की बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों ने चूड़ामन जाट को आम्बेर राजा की तुलना में सैयद बन्धुओं और खान-ए-दोरा का खुला सहयोग मिला, जिसके परिणामस्वरूप चूड़ामन को ब्रज व पूर्वी राजस्थान के शाही मनसबदारों की जागीरों के अनेक परगने इजारा में मिले। इसलिए आम्बेर राजा का वकील मुगल दरबार से अपने पत्रों के जरिये अपने महाराजा को इसकी बार-बार सूचना भेजता है। पूर्वी राजस्थान में विशेषकर मेवात व आगरा के आसपास का इलाका शाही मनसबदारों की जागीरों के अनेक ऐसे परगने जिन्हें पहले आम्बेर राजा को तनखाह जागीर में दिये गये थे, वे सभी चूड़ामन ने ईजारा में ले लिए हैं।¹⁸ इसलिए आम्बेर राजा का वकील अपने महाराजा को चूड़ामन की बढ़ती हुई महत्वकांक्षा की ओर इशारा करता है।

सन् 1714 ई. के चूड़ामन ने परगना खोहरी पर जबरदस्ती से कब्जा कर लिया अर्थात् 342 गाँवों पर चूड़ामन ने किलेबन्दी करके जबरदस्ती से भूलगान इकट्ठा कर लिया, जिसे आम्बेर राजा ने इजारे पर लिया हुआ था। इस घटना ने मुगल दरबार में चूड़ामन की प्रतिष्ठा बढ़ा दी और आम्बेर राजा की सैनिक कमजोरी को उजागर किया।¹⁹ चूड़ामन ने 1720 ई. तक मेवात व आगरा के इर्द-गिर्द के ज्यादातर परगनों शाही मनसबदारों से ईजारा में प्राप्त कर लिये थे।²⁰ हसनगढ़ की लड़ाई (1720 ई.) तक यह दौर चलता रहा, जब सैयद बन्धु मारे गये।²¹ सन् 1714 से 1720 तक आम्बेर राजा के लिए यह एक मुश्किल भरा दौर था। ऐसे समय में भानगढ़ पर मोहम्मद कुलीच और मोहम्मद दहलीज ने कब्जा कर लिया था और आम्बेर राज्य से अलग अपनी chieftaincy स्थापित कर ली थी। जसवंतसिंह राजावत की हत्या करके अजबगढ़ पर भी कब्जा कर लिया गया।²² सन् 1720 में जब हसनगढ़ की लड़ाई में मोहम्मद शाह की जीत ने सैयद बन्धुओं के वर्चस्व को मुगल दरबार में खत्म कर दिया, तब आम्बेर राजा (सवाई जयसिंह) ने समय की अनुकूलता को देखते हुए भानगढ़ पर आक्रमण करके नष्ट कर दिया। मोहम्मद कुलीच और मोहम्मद दहलीज दोनों भाई इस लड़ाई में मारे गये। तब से भानगढ़ विरान पड़ा है।

सन्दर्भ

1. माधोसिंह मानसिंह के छोटे भाई थे। वह बहुत बलिष्ठ, पराक्रमी और रसिक व्यक्ति थे। उनको आम्बेर राज्य में भानगढ़ की जागीर मिली हुई थी। माधोसिंह प्रायः अपने बड़े भाई मानसिंह के साथ ही रहते थे। महाराणा प्रताप से हुये गोगुन्दा के युद्ध 18 जून 1576 में माधोसिंह अपने भाई के साथ उपस्थित थे। अकबर के 48वें वर्ष में माधोसिंह को 2000 सवारों का मनसब प्राप्त हुआ। साथ-साथ भानगढ़ की जागीर दी गई जिसमें थानागाजी परगने का अधिकांश हिस्सा सम्मिलित था। देखिये, 'मानचरितावली' सम्पादक एवं व्याख्याकार, गोपालनारायण बहुरा,

- प्रकाशित, महाराजा सवाई मानसिंह (द्वि.) संग्रहालय, सिटी पैलेस, जयपुर, 1990, पृ. 95
3. Non Archival Records of Alwar State, Historical Section Bandhak No.4, Granthank No.104.
 4. Ibid.
 5. Ibid.
 6. Ibid.
 7. मुगल बादशाह शाहजहां का फरमान मिर्जा राजा जयसिंह के नाम, नया नं.38, देखिये, फारसी फरमानों के प्रकाश
 8. देखिये, मानचरितावली, वही, पेज 95
 9. देवीसिंह मंडावा, 'कच्छवाहों का इतिहास' प्रकाशित, राजस्थानी ग्रन्थागार, तृतीय संस्करण, 2014, पृष्ठ, 99-100
 10. Ibid.
 11. Cunningham, "Archeological Survey of India, Vol.XX published by, 'Indological Book House, Delhi, 1969, pp.122-124.
 12. Mathandev Badgujar was built an temple of Nilkanth-Mahadeva at Rajor in Alwar district, see, B.D. Chattopadhya, "The Making of Early Medieval India" second edition, Oxford University Press, 1994, p.67
 13. मुगल बादशाह शाहजहां का फरमान मिर्जा राजा जयसिंह के नाम, भाग-1, Ibid, p.44
 14. Ibid, p.44
 15. Arzdasht dt. Sawan vadi 13 V.S. 1750/1693 CE
 16. Arzdasht dt. Kartik Sudi 6, V.S. 1746/1689.
 17. Arzdasht dt. Mahvadi 4, V.S. 1761/1704
 18. Vakil Report dt. Chetsudi 3, V.S. 1769/1712
 19. Vakil Report dt. Fagun Sudi 2 V.S. 1769/1712
 20. Vakil Report dt. Jeth Vadi 11, V.S. 1771/1714
 21. G.L. Dwivedi, 'The Jats', published by Arnolad publishers Delhi, 1989, p.72
 22. देवीसिंह मंडावा 'कच्छवाहों का इतिहास' Ibid, p.100

राजस्थान के भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक प्रसंग

डॉ. ओंकार नारायणसिंह

राजस्थान की वीर-प्रसूता पुण्यधरा सूरों के शौर्य के समानांतर सूरियों के सत्य से भी संयुक्त रही है। यहां के लोकदेवता परंपरा इसका अप्रतिम उदाहरण है। जिन्होंने मानवता की सेवा के साथ-साथ संस्कृति की संरक्षा के दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वहन करते हुए प्राणोत्सर्ग किया।¹ इस प्रकार यहाँ की धार्मिक परंपरा के अन्तर्गत आध्यात्मिक कल्याण की सिद्धि के समानान्तर व्यावहारिक जीवन की दैनन्दिन समस्याओं के प्रति भी सतत् जागरूकता प्रदर्शित की गई। यह विचार-दृष्टि यहां के विश्नोई, जसनाथी, निरंजनी, दादू, लालदासी और रामस्नेही इत्यादि समस्त भक्ति-सम्प्रदायों के सांस्कृतिक आचार के अन्तर्गत निर्देशित होती है। यही कारण है कि यहां के भक्ति-साहित्य के समकालीन इतिहास एवं राजनीति से संबंधित यत्किंचित् प्रसंग अनायास ही समाविष्ट हो गए। यद्यपि भक्तों-संतों का राजनीति तथा इतिहास से कभी कोई सरोकार नहीं रहा तथापि तत्कालीन राजा-सामन्तों के कल्याणकारी होकर उनके समक्ष प्रस्तुत होने से तद्विषयक उल्लेख उनकी रचनाओं के अंतर्गत स्वाभाविक रूप से निर्दिष्ट हुए हैं। साथ ही उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा 'चरित' एवं 'परची' (पश्चिमी) ग्रंथों के अंतर्गत उनके जीवनवृत्त को तिथिक्रमिक रूप से प्रस्तुत करने से उनमें इतिहास का अंश समाविष्ट हो ही गया है। प्रस्तुत शोध-आलेख से हमारा उद्देश्य उन्हीं प्रसंगों को समकालीन इतिहास के सन्दर्भ में विवेचित करना है।

विश्नोई-सम्प्रदाय के प्रवर्तक जांभोजी (1451-1536 ई.) की वाणी के अन्तर्गत उनके द्वारा सिकन्दर लोदी (1489-1517 ई.) को उसकी धर्मान्धता के प्रति चेतावनी का उल्लेख है।² इसी प्रकार उनके अनुयायी वील्होजी द्वारा रचित कवित्त में इसी प्रसंग को 'परचे' के रूप में वर्णित करने के सामान्तर अन्य समकालीन शासकों नागौर के मुहम्मद खॉं (1513 ई.) मेवाड़ के राव दूदा, (1492 ई.) मारवाड़ नरेश सातल (1489-92 ई.) मेवाड़ के महाराणा सांगा (1509-28 ई.) और जैसलमेर रावळ को उपदिष्ट करने का वृत्तान्त प्राप्त होता है।³

जसनाथी-सम्प्रदाय के प्रणेता जसनाथ जी (1482-1506 ई.) द्वारा बीकानेर के राव लूणकर्ण (1505-26 ई.) को राज्य-प्राप्ति के वरदान का उल्लेख सम्प्रदाय-साहित्य में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार धड़मल (धड़सी) के अविचल राज्य के भी निर्देश मिलते हैं।⁴

निरंजनी-सम्प्रदाय के संस्थापक हरिदास निरंजनी की वाणी के अन्तर्गत छः चक्रवर्तियों के उल्लेख के प्रसंग में संवत् प्रवर्त्तक राजा विक्रमादित्य (57 ई.पू.) भोज परमार (1010-1055 ई.) पृथ्वीराज चौहान तृतीय (1177-92 ई.) एवं अकबर (1556-1605 ई.) के नौरोज उत्सव की चर्चा हुई है।⁵

भक्त कवयित्री मीराबाई ने अपनी पदावली के अन्तर्गत महाराणा कुम्भा (1433-68 ई.) का उल्लेख करते हुए अपने दादा दूदाजी तथा पति मेवाड़-युवराज भोजराज की चर्चा की है। साथ ही समकालीन मारवाड़ राज्य की 'नौकोटी' संज्ञा की ओर भी संकेत किया है।⁶

पारब्रह्म अथवा दादू-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक दादूदयाल (1545-1603 ई.) से सम्बद्ध साहित्य के अन्तर्गत उनकी 1585 ई. में अकबर से भेंट, 1602 ई. में नरायणी में पीठ-संस्थापन एवं 1603 ई. में देहावसान का उल्लेख है।⁷ इसी प्रकार उनके शिष्य रज्जब (1567-1689 ई.) से बादशाह जहाँगीर (1605-1627 ई.) के कृपापात्र दुरसा चारण के शास्त्रार्थ के उपरान्त शिष्यत्व ग्रहण करने के निर्देश हैं।⁸

दादू के ही शिष्य सुंदरदास छोटे (1596-1689 ई.) ने तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था के आरोही-सोपानों की ओर क्रमवार संकेत करते हुए कोतवाल को शिकदार, शिकदार को दीवान और दीवान को बादशाह के अधीन निर्दिष्ट किया है।⁹ उन्होंने 'राजा भोज' से संबंधित लोकोक्ति के¹⁰ उल्लेख के समानान्तर 1430 ई. के अल्पकालिक 'पोपाँ बाई के राज' की भी चर्चा की है।¹¹ उनसे संबंधित साहित्य के अन्तर्गत उनकी शिष्यपरम्परा के मथुरादास ने तत्कालीन मुगल-राजवंश के बादशाहों एवं उनकी रीति-नीति का सविस्तार विवेचन किया है। जिसमें अकबर की उदारनीति, जहाँगीर की न्याय प्रियता, शाहजहाँ की (1627-58 ई.) दानशीलता तथा 'औरंगजेब (1658-1707 ई.) की धर्मान्धता, जज़िया-वसूली, दार-उल-हर्ब को दार-उल-इस्लाम में परिणित करने की कुनीति का वर्णन प्रमुख है।¹²

रामस्नेही-सम्प्रदाय की रेण शाखा के अधिष्ठाता दरिया साहब (1676-1758) से सम्बद्ध साहित्य में उनका शिष्यत्व ग्रहण करने वाले मुहम्मद शाह रंगीला (1720-48 ई.) के दीवान मदली खान पठान द्वारा अपने गुरु के नाम पर दिल्ली में दरियागंज बसाने का उल्लेख प्राप्त होता है।¹³

शाहपुरा शाखा के प्रतिष्ठापक स्वामी रामचरण (1720-98 ई.) के सम्प्रदाय-साहित्य के अन्तर्गत सवाई जयसिंह द्वितीय (1700-1743 ई.) द्वारा जयपुर शहर बसाकर इसके विकसित तथा समृद्ध बनाने के निर्देश उपलब्ध होते हैं।¹⁴ इसी प्रकार मेवाड़ महाराणा अरिसिंह (1761-71 ई.) के शासनकाल में 1767 ई. में स्वामीजी के सम्प्रदाय-प्रवर्तन से रूष्ट द्वेषीजनों की दुरभिसंधि के कारण उनके भीलवाड़ा से निर्वासन

की राजाज्ञा का वर्णन प्राप्त होता है।¹⁵ इसी परिप्रेक्ष्य में 1769 ई. में उनके द्वारा शाहपुरा में स्वागत पूर्वक आगतन-निवास की चर्चा हुई है।¹⁶ साथ ही इसी काल की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना मेवाड़ पर 1768 ई. के मराठा-आक्रमण और भीलवाड़ा क्षेत्र की व्यापक लूट का भी विवरण उपलब्ध होता है।¹⁷

खेड़ापा शाखा के प्रवर्तक रामदास (1727-1798 ई.) की परची के अन्तर्गत उनके सम्प्रदाय की आचार-पद्धति एवं रीति व्यवहार से रूष्ट होकर मारवाड़ नरेश विजयसिंह (1752-93 ई.) द्वारा 1790 ई. में उन्हें देश-निर्वाचित करने का उल्लेख है।¹⁸ तत्पश्चात् रामदास के मालवा-प्रवास तथा बीकानेर नरेश सूरतसिंह (1788-1828 ई.) द्वारा उनके सिंहथल पहुंचने पर स्वागत के अनन्तर मारवाड़ नरेश द्वारा उन्हें ससम्मान पुनः खेड़ापा में आमंत्रित करने पर उनके 1792 ई. में खेड़ापा-आगमन के भी निर्देश उपलब्ध होते हैं।¹⁹ रामदास के पुत्र तथा उत्तराधिकारी दयालदास (1758-1829) की वाणी में भी मराठा-आक्रमण की भीषणता एवं मारवाड़वासियों के संत्रास का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अन्तर्गत जहाँ राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य के कारण मराठों को आमंत्रित कर विरोधी के साथ स्वयं भी कष्ट पाने तथा लगान-चौथ के दुष्चक्र के उलझने के उल्लेख हैं। वहीं प्रदेश में मराठा आक्रमण जन्य व्यापक लूट-मार, त्रस्त जनसाधारण के पलायन, जातीय विद्वेष पूर्ण संघर्ष-द्वन्द्व, अभिजात वर्गीय समाज की दुर्दशा, कुलनारियों के अपहरण, स्वजनों के विछोह, विध्वंस-विनाश की विभीषका, एवं सर्वत्र अराजकता के मार्मिक चित्रण के समानान्तर राजा-सामन्तों के शक्तिहीन अवस्था में मराठों से उनकी शर्तों पर की जाने वाली संधियों तथा चौथ-कर अदा करने का भी विवरण प्राप्त होता है।²⁰ इसके अतिरिक्त तत्कालीन शक्ति-केन्द्र अथवा राजधानी दिल्ली के²¹ उल्लेख के साथ तैमूर लंग, सिकन्दर लोदी, अकबर सरीखे पूर्ववर्तियों और समकालीन मारवाड़-लूट (1817-18 ई.) के अगुआ अमीर खां के संबंध में भी चर्चा उपलब्ध हो जाती है।²²

भक्त कवि ऊमरदान लाळस (1851-1903 ई.) द्वारा अपने प्रेरणा-पुरूष स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883 ई.) की प्रशस्ति में रचित काव्य-ग्रन्थ “दयानन्द-दर्शन” के अन्तर्गत स्वामीजी की मेवाड़ महाराणा सज्जनसिंह से भेंट और 1883 ई. में मारवाड़ नरेश जसवंतसिंह-द्वितीय (1873-95 ई.) का आतिथ्य स्वीकार कर जोधपुर में चार मास सत्संग-उपदेश का वर्णन किया गया है।²³ इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज चौहान-जयचन्द के वैमनस्य, जयचन्द के वंश सीहा (1212-73 ई.) द्वारा मारवाड़ में राठौड़-वंश के प्रवर्तन, नौरोज के अवसर पर लगने वाले अकबर के कुख्यात मीना बाजार के संकेत एवं दुर्गादास-औरंगजेब संबंधों के विषय में भी वृत्तान्त प्राप्त होता है।²⁴ उन्होंने तत्कालीन शासकों के कार्पण्य तथा कापुरुषता के सामान्तर अंग्रेजों की दुर्धर्षता एवं नीति-कुशलता

का भी उल्लेख किया है।²⁵

भक्तकवि चतुरसिंह बावजी (1880-1929 ई.) की रचनाओं के अंतर्गत देशी राजा-सामंतों को अंग्रेजों के बुद्धि चातुर्य से शिक्षा लेने और व्यसन-विवशता त्यागने हेतु प्रेरित किया गया है। साथ ही देश में स्वतंत्रता-आंदोलन के प्रतीक 'चरखे' की भी चर्चा हुई है।²⁶

इस प्रकार राजस्थान के भक्ति-साहित्य के अंतर्गत अनायास ही समाविष्ट हुए ऐतिहासिक-प्रसंग पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहास, राजनीति एवं प्रशासन के विविध पक्षों के विवेचन-विश्लेषण का लोकसमन्वित आधार उपलब्ध कराते हैं। वस्तुतः इन ऐतिहासिक प्रसंगों की विशिष्टता इनका राजन्य वर्गों के स्थान पर जनसामान्य से अन्यतम रूप से सम्बद्ध होना है क्योंकि भक्तों-संतों का मूल अभिप्रेत आत्म-कल्याण के समानान्तर लोक-मंगल के चिरन्तन आदर्श का सम्पादन भी था।

यही कारण है कि आज भी लोकमानस में उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अमिट रूप से अंकित है। उदाहरणार्थ मालाणी प्रदेश के लोक-आराध्य मल्लीनाथ द्वारा 1378 ई. में फीरोज तुगलक (1351-88 ई.) के मालवा सूबेदार मलिक सूबेदार मलिक निज़ामुद्दीन की सेना के तेहर दलों को पराजित किए जाने की स्मृति में आज भी 'तेरै तुंगा भांजिया मालै सलरवारणी।' की लोकोक्ति प्रचलित है।²⁷

सन्दर्भ

1. शुक्ल, दिनेश चन्द्र तथा सिंह, ओंकार, नारायण-राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं संस्कृति, पृ. 43-49, जोधपुर, 1992 ई.।
2. जम्बूदीप असौ चिर आयौ, इसकन्दर चेतायौ।
- जंभ-वांणी 27: 15-18
3. दिल्ली सिकन्दर साह दे परचो परचायो।
मुहम्मद खाँ नागौरि परचि गुरु पए आयो।।
दूदो मेड़तियो राव आय गुर पाय विलगो।
रावळ जैसलमेर परचतों सांसो भग्गो।।
सातिल सनमुखि आय सुचील जित हुवो सिनांनी।
सांग राण सुणि सीख जका गुर कही स मांनी।।
- वील्हों जी का कवित्त : उद्धृत- माहेश्वरी, हीरालाल-जांभोजी, पृ. 4, दिल्ली 1982 ई.
4. गरज करै ना गै ला धड़मल, जो थारो राज न जाणूं।
राज दियो म्हें लूणकरण नै, गुरू गोरख पर वाणूं।।
उद्धृत: पारीक सूर्यशंकर, सिद्ध-चरित्र, पृ. 123, रतनगढ़, 1956 ई.

5.कहाँ विक्रम कहाँ भोज। सावन्त पृथी चौहाण कहाँ, कहाँ अकबर नौरोज।।
- हरदास दास-वाणी-पूर्व खण्ड, पृ. 82 साखी 18, जयपुर, 1962 ई.
6. लाजै सैस मेवाड़, लाजै कुंभाजी रौ बैसणौ.....लाजै दूदाजी रो मेड़तौ, लाजै नौकोरी मारवाड़..... बर पायो हिंदवाणो सूरज- मीरां बृहत्पदावली, भाग-प्रथम, पद 16, जोधपुर 1989 ई.।
7. मिले बयाले अकबर साहा। पंचासै कल्यानै जाल।
सानै गुनसठै नगर नरानै। साठै स्वामी राम समाने।।
- जन गोपालकृत दादू जन्मलीला पीरची-विश्राम 16, पृ. 189
सम्पादक: सुखदयाल दादू, श्री दादू चरित्र चित्रावली, दिल्ली, 1968
8. स्वाह झाँगीर पै लिखाइ पर वानोल्यायो।
राघवदास कृत भक्तमाल-संपा, अगर चंद नाहटा, जोधपुर, 1965
9. पापी पेट काज कोतवाल को अधीन होय, कोतवाल सो तो शिकदार आगे दीन है।
शिकदार दीवान के पीछे लग्यो हि डोलै, दीवान हूं जाय बादशाह आगे दीन है
-सुन्दर विलास: धैर्य उराहने को अंग, 5 वाराणसी, 1974 ई.
10. राजा भोज सम कहा गांगो तेली कहिए।
- सुन्दर विलास: विपरीत ज्ञान को अंग, 3
11. कछु राजा पोपाँ बाई को। -सुंदर विलास, उपदेश चिंतामणि 27 जालौर के सोनगरा चौहान शासक वीसलदेव के रणमल राठौड़ (जोधा के पिता) के षड्यंत्र से मण्डोर में मारे जाने पर उसकी पत्नी पोपाँ बाई जालोर की शासिक बनी। उसने बिहारी पठानों की सहायता से शासन के बावजूद उन्हीं के विरुद्ध षड्यंत्र रचे तब उन्हींने 1430 ई. में उसे जालोर से निष्कासित कर दिया।- शोध-साधना, अंक 1, पृ. 74 सीतामऊ, 1980 ई.।
12. तीस बरस तब अकबर रहा। तिन साधुन सौं कृछ नकहा
तिनके पीछे भा जहंगीरा। करता अदल हरै सब पीरा।।
शाहजहाँ, तिनके सुतराजा। तिन फिर बहुत गरीब नेवाजा।।
शाहजहाँ सुत औरंगजेबा। चलै स्वपंथ कुरान कथा।
13. काजी मुल्ला की करै बड़ाई.....हिंदुन को जजिया लगवाई।।
हिंदू डाँड़ देय सब कोई....
-दीक्षित, त्रिलोकी नारायण-सुंदर-दर्शन, पृ. 2-8, 1951
14. परंपरा-अंक 120-121, पृ. 64, राज. शोध सं. चौपासनी (जोधपुर)
15. हूँढाड़ देस जेसिंह निरंदा। सेहर बसायो आप उर्निंदा।।
देस देस रा सेठ बुलाया। जाफा करके तहाँ बसाया।।
च्यारों तर्फ कराया किल्ला। जैपुर नाम धरयो कर सल्ला।।
- जगन्नाथ कृत गुरलीला विलास (ह.ग्रं.) उद्धृत-पांडेय, माधव प्रसाद-
स्वामीराचरण, जीवनी एवं कृतियों का अध्ययन, पृ. 3 प्रयाग, 1982

16. अठारा सै चौबीस वृष बीतां पिछली बात.... तब उपज्यौ उतपात ।।
पाँच पचीस अरुं मिल गरजी । उदीयापुर को भेजी अरजी ।।
देसपती लग जाय पुकार्या । साची झूठी कह तन हारया ।। - गुर विलास
जाय पुकारे राज पे. भीलाडै अफराध । ..राजा सो धन ना किया बोल बचन रिसाय ।
परजा बैरागी भई दीजै ताहि उठाय ।। - राम चरण की परची ।
अठारा सै छईस मैं भगत वधारण काज व साहिपुरा पावन करन ।- गुरुलीला
17. अठारा सै पचीसै सावण । दषिण्यादल की भई दबावण ।।
भीलाडौ समसत लुट गयौ । बोहोत बरस लग उजड़ रयौ । गुरुलीला
18. कौन वण्ण पूज्यक पधति, यो कैसो उपदेश ।
कोप नृपति ऐसे कह्यो, छोड़ो म्हांरों देश ।।
- दयालदास की वाणी, भाग 3, पृ. 40, खेड़ापा, 1981 ई.
“रामजनां ऐसे कह्यो, यो लै थारो देश.....” रामदास की परची (ह.) पृ. 57-58
क्र. 23097 (1852 ई.) राज. प्राच्य प्रति. जोधपुर ।
“समत अठारै सै वरता वही, चोके छके दरस मिला वहीं । फागण मास सुद्ध पख
जाण, षष्टम तिथ जन करे पयानं ।।”
- जनप्रभाव परची, सप्तम प्रभाव, छन्द 27
19. संवत् अठारैं संत गुणपचासे आविया ।
कातीमास कहंत, वन्द पख चौथ बखानिया ।।- उपरिवत्, छंद 212
20. दिन दिन समय कठिन बरताई, दखिणी दल चढ़ देश लुटाई ।
नृपति विरोध नृपति ले आयो, रळ-मिल अपनों देश लुटायो ।।
बड़ी जाति का भागत आगै, नीच जाति का मारन लागै ।
बड़ी जाति घर माल, तजावहिं, नीच जाति रळ-मिलकर रवावहिं ।
आँणडाँण अपनी वरताई, देशं माहिं दखिणी ठकुराई ।
भूपति सुमट सचिव मिल सारा, देखो खोसैं देश हमारा ।।
कुण का राजा कुण शरणाई, रोवत प्रजा कौन दिशि जाई ।
मूंडा ले ले भागा सारा, तजे धाम धनरंक वुहारा ।
रूवाँ धुवों भयानक बस्ती, गाम गाम ठाकुर तजि वस्ती ।
त्रिया पुरुष का कहुँक विछोहा, खोसन हार चोर सचोहा ।
मरूधर बहु थळवट में आई, विरणां दीसै लोग-लुगाई ।।
दखिणी आगे ऐसा हार्या, कुँवर कबीला सबै निकार्या ।
चिन्ता राखै नृप तन खार्हीं..... संधि, मेल कर सरतन कीयो ।
खरणी देन लगे फिर तासूं, ऐसी करूं न फिर आगा सूं ।
दखिणी गया तोई दुख लारैं, विग्रह राज उबट घर पारै ।
-दयालदास की वाणी, भाग 3, पृ. 56, 141-142, 150

21. दुशमणां हुई वेशां रहन्तो दवारे दिल्ली।
- दयालदास की वाणी, भाग 6, पृ. 494 छन्द। खेड़ापा, 1981 ई.
22. तपस्या जिग नाहीं कियो, तिमिर लंग पतशाह।
.... सुलतान अर सकन्दर, अकबर शाह विलाया।
.... कोसा सेवग हो गया रामदास परसाद।
- दयालदास की वाणी, भाग। पृ. 219 साखी 21, पृ. 400 साखी 17, पृ. 566 साखी 58, खेड़ापा, 1984 ई.
23. मेदपाट मेवाड़-मणि सज्जनराज सधीर।
सन उन्नीसौ चालीस छोह छक छयो।
इत जेठ महीने जेठ तिमर हर आयो।
मरूधराधीश मिलि जसवंत मोद जतायो।
बस चार मास आसन अमृत बरसायो।
- ऊमरदान ग्रंथावली (संपा. शक्तिदान कविया) पृ. 61, जोधपुर 1991।
24. पीथक- जयचन्द प्रगट, मार खाई रण मीठी।
नवरोजी पर नार, दिली गळ गई सह दीठी।।
गल फेरि छुरी जैचन्द गोत, सीहा के कुल संभव सदीव।
....दुर्द्धर दुरुहरु दुर्गदास.... पहुँच्यो दल औरंगजेब पास।
- ऊमरदान ग्रंथावली, पृ. 194, 147, 151
25. अंगरेज मुलक दाबण अडै, ऐ जूँवाँ सूँ आथडै।
ध्यान न विद्या धरै, ध्यान नहिं देश सुधारै।
ऊमरदान ग्रंथावली, पृ. 186 छन्द 40।
26. अंगरेजों री अक्कल सीखो, अवगुण छोड़ो आगो।
अबै मती पताळां पैठो, मेटो रे या फूट फजीती मेटो।
....रहँट फरै चरख्यो फरै, पण फरवा में फेर
-मनोरिया, पुरूषोत्तमलाल-राजस्थानी संत साहित्य,पृ. 68-69, जयपुर, 1988 ई.
27. तैरै तुंगा भांजिया, दिन रेण विहांणी।
मालै मुगलां वोटियां, खग धारा उछांणी।।
देस महेवा गुंजिया, वंस चद्रीया पांणी।
मामालन भागों मुगलां, सांचो सलखांणी।।
- मल्लीनाथ रावळ री निसांणी (ह.ग्र.) 40672 (1849 ई.) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

बून्दी के यशस्वी पत्रकार : लज्जाराम मेहता (सन् 1863- 29 जून सन् 1931)

डॉ. अर्चना द्विवेदी

हाड़ौती क्षेत्र में सामाजिक जागरण एवं स्वतन्त्रता संघर्ष, सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था के प्रतिरोध, किसान आन्दोलन, सन् 1857 का विप्लव एवं प्रजामण्डल आन्दोलन के रूप में मुखरित हुआ था, जिसको यहाँ की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं पत्रकारों ने अपनी परोक्ष-अपरोक्ष भागेदारी से बहुविध प्रेरणा दी थी। राजस्थान की काशी बून्दी¹, सूर्यमल्ल मिश्रण एवं पं. गंगा सहाय जैसे साहित्यकारों के कृतित्व से जनजागरण एवं स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा के लिए चर्चित रही है, यहाँ के ऐसे ही यशस्वी साहित्यकार एवं पत्रकार लज्जा राम मेहता ने अपनी पत्रकारिता एवं साहित्यक लेखन से जनमानस को सामाजिक जागरण के लिए प्रेरित किया था। प्रस्तुत शोध पत्र में हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु युग और प्रेमचन्द युग के बीच सेतु के रूप में स्मरणीय पत्रकार लज्जाराम मेहता के कृतित्व पर विचार किया जा रहा है। आपने जहाँ एक ओर हिन्दी उपन्यास साहित्य को तिलस्मी और जासूसी दुनिया से बाहर निकालने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, वहीं पत्रकारिता के स्वतन्त्र स्वरूप को स्थापित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। बून्दी से प्रकाशित राजस्थान के प्रथम साहित्यिक पत्र 'सर्वहित' (पाक्षिक) के सम्पादक के रूप में लज्जाराम मेहता की सेवाएँ स्मरणीय हैं। उन्होंने इस पत्र को सिर्फ राजकीय सूचनादाता स्वरूप से बाहर निकालते हुए अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों, देश-विदेश के समाचार, कविताएँ, उपन्यास, विज्ञापन, पुस्तक समीक्षाएँ और विभिन्न समस्याओं का विप्लेशण देकर 'सर्वहित' को सम्पूर्ण पत्र का दर्जा दिलाया, जो कालान्तर में हाड़ौती क्षेत्र की पत्र-पत्रिकाओं का पथ प्रदर्शक बना। समासतः बून्दी के यशस्वी पत्रकार लज्जाराम मेहता का कृतित्व राजस्थान की हिन्दी पत्रकारिता एवं साहित्य के विशाल फलक को एक नई चमक देता रहा है, जिसकी संक्षिप्त चर्चा शोध पत्र में की जा रही है।

इस यशस्वी पत्रकार का जन्म बून्दी में चैत्र कृष्ण द्वितीया को सन् 1863 ई. में पिता पं. गोपाल राम मेहता एवम् माता गोमती कँवर के घर में हुआ। आपके दादाजी (पितामह) गणेशराम मेहता का निधन सन् 1869 ई. में हुआ। सन् 1870 ई. में आप गुरु श्री गंगासहाय के पास प्रारम्भिक शिक्षा के लिये गये। 10 वर्ष की आयु में सन् 1873

ई. में प्रेम कुँवरी से आपका विवाह हुआ। सन् 1876 ई. में आपने अंग्रेजी सीखना प्रारम्भ किया। जब आपकी आयु 18 वर्ष की थी तब आपके पिता श्री गोपाल राम मेहता जी का निधन सन् 1881 ई. में हुआ। सन् 1881 ई. से 1885 ई. तक आपने पिता के स्थान पर सरकारी कपड़े की दुकान पर नौकरी की। सन् 1890 ई. में श्री रंगनाथ प्रेस के प्रबन्धक के पद पर आपको नौकरी मिली। सन् 1910 ई. में पुनः बून्दी में रैवेन्यू ऑफिसर के पद पर नियुक्ति मिली। सन् 1911 ई. में आप राज्य की ओर से एजेण्ट गवर्नर की सेवा में माउन्ट आबू में वकील नियुक्त हुए। इसी प्रकार हाड़ौती और टोंक के पॉलिटिकल एजेण्ट की सेवा में बून्दी की ओर से सन् 1918 ई. में वकील नियुक्त हुए। सन् 1926 ई. में बून्दी के प्रधान न्यायालय में मेम्बर नियुक्त किये गये। सन् 1928 ई. में आत्मकथा आपबीती की रचना की। सन् 1929 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने जाने का प्रस्ताव भी आपको मिला। 29 जून सन् 1931 ई. को आपका निधन हुआ।

जन्मजात स्वाभाविक गुण एवम् प्रतिभा और विरासत में प्राप्त गुणों के कारण बून्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार पं. गंगासहाय ने इन्हें चोटी का लेखक एवं पत्रकार बनाया। आप पं. गंगासहाय को अपना गुरु मानते थे। बचपन में विद्यालयी शिक्षा की सुविधा न मिलने के बावजूद इन्होंने अपनी लगन एवं स्वाध्याय से अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। मेहता जी अपने समय की सुधारवादी दृष्टि और हिन्दुत्व के सनातनी आदर्शों के प्रति मोह को अपने लेखन का लक्ष्य मानते प्रतीत होते हैं। वे वस्तुतः सनातनी आदर्शवादी यशस्वी पत्रकार थे। मेहता जी द्वारा लिखित ग्रन्थों की संख्या 23 है।² इनमें तेरह उपन्यास और शेष ऐतिहासिक तथा संग्रह ग्रन्थ हैं। इनकी प्रमुख कृतियों में कपटी मित्र, शराबी की खराबी, हिन्दूगृहस्त, धूर्त चरित्र, धूर्त रसिकलाल, स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी, सुशीला विधवा, विपत्ति की कसौटी, विक्टोरिया चरित्र, विचित्र स्त्री चरित्र, बिगड़े का सुधार, उम्मेदसिंह का चरित्र, जुझार तेजा, पराक्रमी हाड़ा राव, आदर्श हिन्दू, आपबीती, अमीर अब्दुर्रहमान, आदर्श दम्पति, बीरबल विनोद, भारत की कारीगरी, पण्डित गंगा सहाय जी का चरित्र, पन्द्रह लाख पर पानी, गिनाई जा सकती है। इनमें कुछ एक अप्रकाशित भी हैं।

लज्जाराम मेहता के कृतित्व को दो रूपों में देखा जा सकता है। पहला पत्रकार के रूप में दूसरा लेखक के रूप में। यहाँ आपकी पत्रकारिता की विशिष्टताएं रेखांकित की जा रही हैं। बून्दी में जन्में लज्जाराम मेहता को आधुनिक राजस्थान का प्रथम पत्रकार कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। 20 फरवरी सन् 1890 ई. को बून्दी से सर्वहित का प्रकाशन हुआ जो राजस्थान का पहला साहित्यिक पत्र था। आपने अपनी आत्मकथा (आपबीती) में सर्वहित के प्रकाशन एवम् सम्पादन की चर्चा इस प्रकार की है- “बात यह हुई कि मुझे हिन्दी समाचार पत्रों के पढ़ने का शौक था। कभी-कभी जिन लेखों को मैं अच्छा समझता, उन्हें पण्डितजी महाराज को सुनाया करता था। सुनते-सुनते

उनकी इच्छा हुई कि बून्दी से भी कोई पत्र प्रकाशित किया जाये, ताकि अच्छे-अच्छे चुने हुए लेखों के साथ दुनियाभर के संक्षिप्त समाचार पढ़ने को एक ही पत्र में बून्दी वालों को मिल जाये और इस तरह अनायास यहाँ की जनता की रूचि हिन्दी पढ़ने की ओर प्रवृत्त हो। मुझे भी इतना लोभ था कि हिन्दी लिखने का अभ्यास बढ़ेगा और बदले में आने वाले पत्र मुफ्त में पढ़ने को मिलेंगे। मैंने यह बात गुरुजी को सुनाई। उन्होंने श्रीमान् से निवेदन किया और पाठशाला के खर्च में से गुन्जाईश निकालकर 'सर्वहित' नाम का पाक्षिक पत्र जारी किया गया। आरम्भ के तो अंको का सम्पादन पण्डितजी महाराज के ज्येष्ठ पुत्र और मेरे मित्र पण्डित रामप्रतापजी ने किया। सर्वहित में राजनैतिक विषयों का अभाव था और न बून्दी की कोई भली-बुरी खबर दी जाती थी।³

पत्र के आमुख पर मेहता जी ने गंगा सहाय जी का सर्वहित के लिए रचा गया श्लोक छपा जाता था।

जो कि इस प्रकार है-

*ईशः सुखयतु लोकान्, विहाय कपटानि ने भजन्वीशम्
श्रयतु खलोऽपि सुजनतां सर्वोऽपि स्वीकारोतु सर्वहितम्।*

आशय यह है कि परमेश्वर जनता को सुख प्रदान करे, जनता कपट को छोड़कर उसका भजन करे। खल सुजनता को प्राप्त हो और यह सर्वहित सबका हित करे अथवा सर्व ही सर्वहित को स्वीकार करे।

भारतेन्दु युग की पत्रकारिता मुख्य रूप से बड़े शहरों के दिग्गज पत्रकारों के हाथों में नियंत्रित रही, किन्तु बून्दी जैसे एक छोटे नगर से राष्ट्रीय पत्र निकालने का हींसला, मेहताजी को अपने समकालीन बड़े पत्रकारों में शामिल करता है। सर्वहित पत्र बून्दी के तत्कालीन शासक राव राजा रघुवीरसिंह जी (सन् 1889-1927 ई.) के संरक्षण में अवश्य निकलता था किन्तु उसके लिए कोई बजट नहीं दिया गया था। गुरु पण्डित गंगा सहाय और शिष्य लज्जाराम मेहता इसे पाठशाला के लिए मिलने वाले खर्च में से बचत कर श्री रंगनाथ प्रेस से निकालते रहे। यह भी उल्लेखनीय है कि सर्वहित राजकीय प्रेस से निकलता अवश्य था किन्तु राजा का चाटुकार नहीं था, जबकि सर्वहित के समकालीन अनेक राजाश्रयी प्रकाशनों में अपने संरक्षक राजा के नाम का जाप बार-बार होता था किन्तु सर्वहित में ऐसा नहीं था, यदि ऐसा होता तो सर्वहित होने के बजाय इसका नाम रघुवीर कीर्ति प्रकाश या केवल रघुवीर ही होता।⁴ उस समय के प्रमुख समाचार पत्रों की भाँति सर्वहित में भी देश-विदेश के समाचार, तत्कालीन प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा, साहित्यिक गतिविधियों का लेखा-जोखा प्रकाशित किया जाता था, तथापि मेहता जी के सम्पादकत्व में स्थानीय समाचारों को भी प्रकाशित किया जाता था। इसके लिए अलग से एक स्तम्भ प्रकाशित होता था। दिसम्बर 1891 ई. के एक अंक में बून्दी का समाचार

मेहता जी ने कुछ इस प्रकार दिया-नगर का स्वास्थ्य साधारण है, जाड़ा जोर पर है। गत रविवार को श्रीमान् महाराज राजा साहब बहादुर बग्गी में सवार होकर शिकार को पधारे थे। सो मार्ग में भैरव दरवाजे के पास गाड़ी टूट गई। इसलिए श्रीमान् गिर गये।¹⁵

निसंदेह सर्वहित पाक्षिक के सम्पादक का लक्ष्य राजभक्ति नहीं था और ना वे केवल अपनी जीविका यापन का इसे साधन समझ रहे थे। राजसेवा में कार्यरत मेहता जी पत्र के सम्पादन का कार्य बिना किसी अतिरिक्त वेतन या मानदेय के करते रहे, जबकि तत्कालीन दीवान बोहरा मेघवाहन जी ने वादा किया था कि अध्यापन और श्री रंगनाथ प्रेस के संचालन के अतिरिक्त पत्र सम्पादन के कार्यभार के लिए 5/- रूपये की वेतन वृद्धि की जावेगी। सर्वहित तत्कालीन बून्दी के शासन प्रबन्ध, साहित्यिक अभिरूचि, लोक जिज्ञासा, व्यापार एवं देश-विदेश के समाचारों को प्रमुख स्थान देता था। सन् 1894 ई. के एक अंक में एक अन्तर्राष्ट्रीय समाचार इस प्रकार प्रकाशित किया गया- 'अफगानिस्तान सीमा पर रूसी चौकियों पर फौज बहुत बढ़ाई जा रही है तथा गत वर्ष छत्तीस करोड़ का कपड़ा बाहर से आया और लन्दन टाईम्स के मालिक को केवल विज्ञापनों की छपाई से बीस हजार रूपये रोज की आमदनी है।' इन समाचारों से सम्पादक की सम्पादकीय दृष्टि का बहुआयामी होना प्रमाणित होता है।

मेहता जी ने सर्वहित का सम्पादन चार वर्ष तक किया, किन्तु राजतन्त्र में लोकतन्त्र की चेतना का प्रवाह भरने वाले सम्पादक का राज्य के दीवान मेघवाहन जी से मनमुटाव होने लगा, ऐसे में मेहता जी ने अपना स्वाभिमान सर्वोपरि माना और दीवान से समझौता नहीं किया फलस्वरूप सन् 1895 ई. में अपनी 16 वर्ष पुरानी बून्दी राज्य की नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। आपबीती में मेहता जी ने घटनाक्रम का उल्लेख किया है कि उस समय की तंगहाली में स्वतन्त्र पत्रकारिता तो सम्भव नहीं थी लेकिन वैचारिक आजादी और आत्मस्वाभिमान गवाये बिना यदि कहीं काम चल सकता था तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। दीवान से बहस करते वक्त उनकी जेब में त्याग पत्र था। अन्ततः त्याग पत्र देकर मेहता जी कुछ दिनों तक स्वतन्त्र रहने के बाद तत्कालीन पत्रकारिता के महायुद्ध में शामिल होने मुम्बई चले गये। मुम्बई जाने से पहले सन् 1895 ई. से अक्टूबर 1896 ई. तक वे स्वतन्त्र पत्रकार एवं शिक्षक के रूप में अपनी सेवाएँ देते रहे। उनके व्यक्तित्व में अद्भ्य साहस और बेफिक्री जैसे तत्व सर्वाधिक थे। नवम्बर 1896 ई. में मुम्बई पहुँचकर चुरू के सेठ खेमराज जी¹⁶ के 'श्री बेंकटेश्वर समाचार पत्र' में सहसम्पादक का कार्य प्राप्त कर लिया।

'श्री बेंकटेश्वर समाचार पत्र' (सन् 1896-1973 ई.) भारतेन्दोत्तर काल के प्रमुख समाचार पत्रों में से एक था। इसके प्रथम सम्पादक श्री रामदास वर्मा थे किन्तु कुछ ही माह बाद मेहता जी प्रधान सम्पादक हो गये और मार्च 1905 ई. तक इस पद पर

कार्यरत रहे यद्यपि बीच में जब वे उपन्यास लेखन में व्यस्त थे तब श्री अमृत लाल चक्रवर्ती ने 'श्री बेंकटेश्वर समाचार पत्र' के सम्पादन का कार्य सम्भाला। सन् 1905 ई. तक उनका परिचय जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, चौबे बैजनाथ, गोपाल राम गेहमरी से 'श्री बेंकटेश्वर समाचार पत्र' के माध्यम से हो चुका था इन सभी ने इसमें काम किया था। इस समाचार पत्र के माध्यम से श्री मेहता जी ने पत्रकारिता में नवाचार भी किया। उन्होंने सबसे पहले पत्र की वास्तविक प्रकाशित प्रतियों की सूचना आमुख पर देना प्रारम्भ किया। उनकी सम्पादकीय दृष्टि के कारण हिन्दी के अत्यन्त लोकप्रिय पत्रों, हिन्दी बंगवासी और भारत मित्र से कहीं अधिक 'श्री बेंकटेश्वर समाचार पत्र' की प्रसार संख्या हो गई थी। यह समय उनके कठोर संघर्ष का समय था। पत्र के प्रधान सम्पादक का कार्य सम्भालते समय वे नारू रोग से पीड़ित थे। आपबीती में अपनी दिनचर्या के बारे में मेहता जी लिखते हैं- मैं अकेला आदमी, हाथ से रोटी बनाना और एक ओर पैर में नहरूये पर दवा बन्धवाकर गर्म ईट का घण्टों तक सेक करवाना और दूसरी तरफ समाचार पत्र के लिए निरन्तर लिखते रहना। यही उस समय मेरी दिनचर्या थी। समासतः वे कष्टमय दिनचर्या के बावजूद भी अपनी सम्पादकीय वृत्ति में संलग्न रहे।

हिन्दी भाषा के साथ-साथ तत्कालीन गांधी के स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार-प्रसार आपकी पत्रकारिता की एक अनन्य विशेषता दिखाई पड़ती है। हिन्दी भाषा के स्वरूप एवं संवर्धन की चिन्ता आपको सदैव रही। शेष शब्द पर आपने काफी विवाद किया। भारत मित्र समाचार पत्र के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त, जो कि उस समय सिद्धहस्त और योग्य सम्पादक माने जाते थे, की लेखन शैली में -“इस तरह से इस कार्य का शेष हो गया” आता था। जिस पर मेहता जी का कहना था कि बंगला में चाहे इस शब्द का प्रयोग अन्त के लिए होता हो, किन्तु यह हिन्दी में सरासर अशुद्ध है। जैसा यह झगड़ा था वैसा हिन्दी पत्रों में विभक्ति प्रत्यय के सिवाय कभी नहीं हुआ। अन्ततः आज मेहता जी की शैली का ही अनुकरण चल रहा है। आप हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा का पद दिलाने वाले आन्दोलन में अग्रणी रहे। कई सभाओं में आपने इस पक्ष में अपने वक्तव्य दिये। आपबीती में स्वदेशी वस्तु काम लाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

हिन्दी के शीर्षस्थ निबन्धकार पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने मेहता जी के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि- “यह उपन्यासकार नहीं, अखवारनवीस थे” इस कथन से सहमत होते हुए भी उनका साहित्यिक महत्व कम नहीं हो जाता। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का जो भी सोच रहा हो किन्तु यह विचारणीय है कि जिस युग में मेहता जी लेखकीय एवं सम्पादकीय रचनाकर्म कर रहे थे, मूल्यांकन का मानदण्ड उस समय का ही परिवेश और लेखकीय संघर्ष होना चाहिए। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आन्दोलन में मेहता जी की भूमिका को भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने हिन्दी गद्य को सरल सुबोध एवम् वर्णनात्मक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ऋतुराज ने ठीक ही

लिखा है- 'वे विषय के अनुसार अपने हिन्दी गद्य को आसानी से ढाल लेते हैं। उपदेश देंगे तो आर्यसमाजी वक्तृता को धूल चटा देंगे, पाठक से सीधे बात करेंगे तो जैसे परिवार का कोई निकटस्थ बुजुर्ग बोल रहा हो, भावात्मकता में बहेंगे तो लगेगा खुद रोने लगे हैं, दाम्पत्य-सुख का चित्रण करेंगे तो मर्यादा कभी नहीं छोड़ेंगे, व्यंग्य में लक्षणा, व्यंजना का भरपूर प्रयोग करेंगे और परिवेश का चित्रण करने लगे तो जैसे कोई जन्मजात घुमक्कड़ हों।'⁸ इस कथन के आलोक में आचार्य शुक्ल की मेहता जी के बारे में टिप्पणी न्याय संगत नहीं है। हिन्दी की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की लड़ाई में भारतेन्दु के अधुरे काम में मेहताजी जैसे लेखकों के चलते गति आई साथ ही हिन्दी राष्ट्रप्रेम की अभिव्यक्त बनी। मेहता जी का विचार था कि परभाषा में उच्चकोटि का विद्वान होने पर भी जो मातृभाषा में अपने हृदयगत भावों को प्रकाशित करने में असमर्थ है उसका जीवन ही वृथा है। एक अन्य लेख में मेहता जी लिखते हैं कि बड़े परिश्रम से उपार्जित परभाषा का पाण्डित्य अभ्यास के अभाव से सहज में ही नष्ट हो जाता है, किन्तु मातृभाषा का नहीं।

उन्होंने अपने समकालीन पत्रकारिता के उच्च मानदण्डों की स्थापना की और विश्व जगत की घटनाओं को व्यक्त करने में हिन्दी की सामर्थ्य को प्रकाशित किया। यद्यपि उस समय अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भारतेन्दु के समय में ही आर्थिक चुनौतियों के कारण बन्द हो गईं। किन्तु पत्रकारिता का जो व्यापक आधार और आदर्श स्थापित हुआ वह भारतेन्दु के बाद भी बना रहा। मेहता जी जैसे पत्रकारों ने बहुसम्प्रेषणीयता का आयाम स्थापित किया जो आज भी पत्रकारिता का आदर्श है।

सन्दर्भ

1. बून्दी प्राकृतिक घाटी में बसा हुआ राजस्थान का एक प्रमुख जिला है जिसे बून्दी का नाला और छोटी काशी भी कहा जाता है। सन् 1342 ई. में राव देवा ने बून्दी कस्बे की स्थापना की थी। मीणा प्रमुख बून्दा के नाम पर इस नगर का नाम बून्दी पड़ा है। यह ऐतिहासिक नगर अपने नैसर्गिक सौन्दर्य, शौर्य पूर्ण इतिहास के कारण चर्चित रहा है। पहाड़ी के ऊपर हाड़ाओं का प्रसिद्ध किला स्थित है जिसका निर्माण सन् 1354 ई. में रावराजा बरसिंह ने करवाया था। सन् 1337 ई. से बून्दी का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। बून्दी राज्य के संस्थापक हाड़ा राजपूत चौहानों की 24 शाखाओं में से एक थे। प्रारम्भ में यह मेवाड़ राज्य का प्रथम श्रेणी का ठिकाना बना जिस पर जैता मीणा राज करता था। जिसके अधीन 300 घरों की एक बस्ती थी। रावदेवा (सन् 1242-1244), राव समरसिंह (सन् 1244-1275), राव नरपाल (सन् 1275-1285), राव हामाजी हम्मीर (सन् 1285-1336), राव वरसिंह (सन् 1336-1393), राव बैरीशाल (सन् 1393-1433), सुभाण्ड देव (सन् 1433-1456), राव नारायणदास (सन् 1503-1527), राव सूरजमल्ल (सन् 1527-1537), राव सुरताण (सन् 1537-1554), राव अर्जुनसिंह (सन् .

--.....), राव सुरजन (सन् 1554-1585), राव राजाभोज (सन् 1585-1607), राव राजा रतनसिंह (सन् 1607-1631), राव राजा शत्रुशाल (सन् 1631-1658), राव भावसिंह (सन् 1658-1681), राव अनिरुद्ध सिंह (सन् 1681-1695), राव राजा बुद्धसिंह (सन् 1695-1738), उम्मेदसिंह (सन् 1741-1770), राव राजा अजित सिंह (सन् 1770-1772), राव राजा विष्णुसिंह (सन् 1773-1821), रामसिंह (सन् 1821-1889), राव राजा रघुवीर सिंह (सन् 1889-1927), राव राजा ईश्वरी सिंह (सन् 1927-1945), राव राजा बहादुर सिंह (सन् 1945-1948)
2. लज्जाराम मेहता द्वारा रचित पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है- राजस्थान प्रेस से प्रकाशित रचनाओं में कपटी मित्र (उपन्यास, सन् 1900 ई.), धूर्त चरित्र (उपन्यास), शराबी की खराबी (उपन्यास) उल्लेखनीय हैं। जबकि श्री बेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित रचनाओं की लम्बी सूची है। जिसमें वीरबल विनोद (कहानी संग्रह), हिन्दूगृहस्थ (उपन्यास), धूर्त रसिक लाल (उपन्यास), स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी (उपन्यास), आदर्श दम्पति (उपन्यास), सुशीला विधवा (उपन्यास), विपत्ति की कसौटी (उपन्यास), बिगड़े का सुधार (उपन्यास), विक्टोरिया चरित्र (इतिहास), अमीर अब्दुर्रहमान (इतिहास), उम्मेद सिंह चरित्र (इतिहास), पराक्रमी हाड़ा राव (इतिहास), पण्डित गंगासहाय जी का चरित्र (इतिहास), औक्षणस गोत्र का वंशवृक्ष (इतिहास), आपबीती (इतिहास), भारत की कारीगरी (संग्रह), काशी नागरी प्रचारणी सभा से भी आपकी रचनाओं का प्रकाशन हुआ। इन रचनाओं में आदर्श हिन्दू (उपन्यास), जुझार तेजा (इतिहास) गिनाये जा सकते हैं।
 3. ऋतुराज, लज्जाराम मेहता (हमारे पुरोध-6) राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर, प्रथम संस्करण 1989, पृ. 66
 4. वही पृ. 38-39
 5. वही, पृ. 38
 6. चूरू (राजस्थान) के सेठ खेमराज कट्टर सनातनधर्मी थे और सनातनधर्म का प्रचार-प्रसार इस पत्र का मूल सिद्धान्त था। किन्तु श्री मेहता जी के सम्पादन में इसमें राष्ट्रीय व सामाजिक विषयों पर भी खबरे प्रकाशित होने लगी। उन्होंने भारतीय शिल्प, कारीगरी, कृषि, कारोबार तथा भाषा साहित्य सम्बन्धी सामग्री देकर 'श्री बेंकटेश्वर समाचार पत्र' को नया कलेवर प्रदान किया।
 7. पण्डित शुक्ल रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण पृ. 501
 8. ऋतुराज, लज्जाराम मेहता (हमारे पुरोध-6) राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर, प्रथम संस्करण 1989 के आरम्भ में डॉ. प्रकाश आतुर का वक्तव्य।

राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में गणिका-जीवन संदर्भ

डॉ. एकता व्यास

भारतीय इतिहास में ऐतिहासिक काल का प्रारंभ छठी शताब्दी ईसा पूर्व से माना जाता है, परन्तु इसके पूर्व भी यहां का मानव अनेक संस्कृतियों का साक्ष्य रहा है। जीवन के आवश्यक ध्येयों के अतिरिक्त वह सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक कर्तव्यों को पूर्ण करता हुआ जीवन के ही एक दूसरे पक्ष जिसमें आनन्द प्रमोद, मनोरंजन एवं लौकिक जीवन के समस्त तत्व विद्यमान हैं, को भी जीता हुआ प्रतीत होता है। भारत भूमि की धरा का राजस्थान क्षेत्र भी इन समस्त तत्वों से अछूता नहीं रहा है। यहां के नागरिक जन अनेक प्रकार आनन्दोपभोगों में विलुप्त रहते थे एवं उनके विलासमयी जीवन में 'गणिकाओं' एवं मनोरंजन में लगी अन्य नारियों का वर्णन है। समाज इन्हें मर्यादित स्त्रियों की संज्ञा देता है। राजस्थान के सामाजिक जीवन में यह कहना कठिन है कि इस 'गणिकावृत्ति' का प्रारंभ कब हुआ होगा, किन्तु यह निश्चित है कि प्रारंभ से ही समाज को इनकी आवश्यकता रही है।

विलासी जीवन की प्रवृत्तियों के कारण अनेक कुरीतियां समाज में प्रचलित होने लगी जिसका प्रभाव नारी जाति पर होने लगा एवं स्त्रियां अनेकों कारणों से मर्यादा के विपरीत काल करने लगी व समाज में इन्हें आवश्यकतानुसार अनेकों रूपों में बांटा गया। प्रारंभ से ही इनकी उपस्थिति धार्मिक कालों में रही है। ज्ञात होता है कि धर्म के साथ काम की महत्ता को भी हमारा समाज प्रारंभ से ही महत्व देता आया है। जातकों में इनकी अपार कहानियां वर्णित हैं तो मौर्य युग तक आते-आते समाज में इनका इतना वर्चस्व हो गया कि इन पर 'गणिकाध्यक्ष' की नियुक्ति की जाने लगी। इसके पश्चात् कई कालों तक गणिका संस्था फलती-फूलती रही। गुप्तकाल तक आते-आते अनेकों साहित्यों की रचना इन पर की गई। गुप्तकाल के पश्चात् भी अनेकों साहित्यों की रचना इन पर की गई एवं राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक हर क्षेत्र में तब का समाज इन्हें आवश्यक अंग मानने लगा एवं समाज में इनका स्तर भी निर्धारित किया गया। जो स्त्रियां सौन्दर्यवान् बुद्धिवान्, शिक्षित एवं चौसठ कलाओं² में पारंगत हुआ करती थी एवं राजा, राजपुरुषों एवं इनके अधीन चलने वाले सामंतों के लिए विशेष होती थी, वे गणिकाएं कहलाती थी।

राजस्थान के सामाजिक इतिहास में ऐसी गणिकाओं का उल्लेख हमें राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त निम्न अभिलेखों के माध्यम से होता है।

(1) **बसन्तगढ़ अभिलेख**³-अजारी पिण्डवाड़ा तहसील जिला सिरोही में स्थित है यही से बसन्तगढ़ अजारी से 5 किमी दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह प्रशस्ति परमार राजा पूर्णमाल के समय की है। वि.सं. 1094 की इस प्रशस्ति में परमार राजा अल्पराज से पूर्णपाल तक आबू के परमारों की वंशावली दी गई है। इस अभिलेख में वटपुर (वशिष्ठपुर) नगर के निर्माण का वर्णन है जो पुराणपाठी ब्राह्मणों, गणिकाओं और सैनिकों से सुशोभित रहता था। प्राचीन साहित्यों में वर्णित है कि नगरवासियों के लिए गणिकाएं होना उस नगर के लिए गौरवपूर्ण होता था जो इस अभिलेख से सिद्ध होता है।

(2) **सादड़ी और नाडोल अभिलेख**⁴-यह अभिलेख राजस्थान के पाली जिले के सबसे बड़े कस्बे सादड़ी स्थित जागेश्वर मंदिर में एक स्तंभ पर संस्कृत में उत्कीर्ण है। महाराजा जोजलदेव के सादड़ी व साथ ही नाडोल स्थित अभिलेख में देव यात्रा के संबंध में कहा है कि देवताओं की प्रमदाओं (गणिका) को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर यात्रा में उपस्थित होना होगा। वि.सं. के ही 1306, 1334, 1345 के भीनमाल⁵ से प्राप्त अभिलेखों में जगत् स्वामी के सूर्य मन्दिर के 'प्रमदाकुल' के लिए सज्जा संबंधी प्रबंध की सूचना हमें मिलती है। 'प्रमदा' संस्कृत साहित्य में सुन्दर नवयुवती के लिए प्रयुक्त किया गया है एवं इस कुल स्त्रियां (गणिकाएं) भी हुआ करती थी। साहित्य में ही हमें 'प्रमदवन' के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। यह राजकीय अन्तःपुर के साथ जुड़ा हुआ प्रमोद उद्यान होता था जहां के अन्तःपुर में राजा एवं राजकीय पुरुष इन स्त्रियों के साथ अभिसार किया करते थे। नाडोल अभिलेख में ही इसकी 7वीं पंक्ति में 'नित्यं वाद्यनृत्य.....' उत्कीर्ण है जो यह भी प्रदर्शित करता है कि इनके जीवन में नृत्य एक अत्यन्त अनिवार्य कला थी।

(3) **हर्षनाथ अभिलेख**⁶-इनका राजनीतिक जीवन में कितना महत्व था वह इस अभिलेख के माध्यम से प्राप्त होता है, हर्षनाथ अभिलेख सीकर (राजस्थान) से 8 मील दक्षिण-पूर्व में हर्षगिरि पर्वत पर प्राचीन शिव मंदिर के अवशेष है, यहीं काले पाषाण पर यह अभिलेख संस्कृत में उत्कीर्ण है। इसके माध्यम से ज्ञात होता है कि सामन्त अपने स्वामियों को सुन्दर गणिकाएं भेंट कर प्रसन्न किया करते थे। ज्ञात होता है कि गणिकाएं उपहार स्वरूप ली एवं दी भी जाती थीं, इन्हें समाज का अभिन्न अंग माना जाता था एवं धनी वर्ग में इन्हें सम्मान भी प्राप्त था।

अंततः जहां सम्पूर्ण भारत में नारियों का एक रूप हमें गणिकाओं के रूप में प्राप्त होता है वहीं राजपूत क्षेत्र की राजस्थान की नारियों के मध्य भी हमें इनके अभिलिखित संदर्भ प्राप्त होते हैं। राजस्थान की भूमि सरसता, मधुरता, वीरता, बलिदान और प्रेम रस से ओत-प्रोत है। शृंगार रस एवं वैभवता का यहां भंडार है अतः जहां यह सब उपस्थित रहे हैं वहीं विलासिता के रूप में हमें गणिकाओं के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, किन्तु फिर भी

स्त्रियों का जो भी रूप हमें प्राप्त हुआ हो यहां की नारियों ने शृंगार तो कहीं वीर रस में राजस्थान की भूमि पर नया इतिहास गढ़ा है।

सन्दर्भ

1. अर्थशास्त्र 1 2, 27, 44, 1, शास्त्री उदयवीर, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, 1970
2. कामसूत्र, 1.4.10, शास्त्री यशोधर व्याख्याकार, जयमंगला टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी-1, वि.सं. 2021
3. एपिग्राफिया इण्डिका-9, पृ. 12-15
4. उक्त-9, पृ. 62, 158
5. डॉ. व्यास श्याम प्रसाद, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1986
6. एपिग्राफिया इण्डिका, पृ. 121-22

ABSTRACTS / सारांश

An Histotical-Geographical Analysis of 'Improving Traditional Techniques of Rainwater Harvesting in Thar Desert

Dr. Leena Singh

The Thar desert is centred in the northwest Indian state of Rajasthan. It is characterized by a hot climate with low and erratic rainfall accompanied by recurring droughts.

Over the years traditional systems such as Baoris, Jhalra, Khadin, Nadi and Tanka have been developed to collect, store and use rainwater for the benefit of people, animals and crops. This 7500 sq km desert covers 62% of the state with erratic rainfall varying from more than 400 millimeters in the extreme west of the region. In addition the erratic distribution of rainfall between seasons often leads to protracted droughts.

Local people depend largely on rainwater to supply their drinking water requirements and over the centuries have developed several indigenous techniques for harvesting, conserving and protecting their 'free' resource from contamination.

There is a need to develop new technologies using the existing traditions of rainwater management as a starting point but adding innovative and appropriate improvements.

राजस्थानी लोक गीतों में लोक-संस्कृति

सुरेन्द्र कुमार

संस्कृति एक ऐसी सामाजिक प्रथा का पर्याय है जो समाज के व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाती है। संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्नों का परिणाम नहीं है। उसमें पीढ़ियों के श्रम सिकर का रस घुला होता है। वस्तुतः संस्कृति एक ऐसा विराट

तत्व है जिसमें मानव जीवन के ज्ञान, भाव और कर्म के प्रतिनिधि बुद्धि, हृदय और व्यवहार तीनों का सामंजस्य होता है। इसी संस्कृति दोनों के मेल से निर्मित लोक संस्कृति में मानवीय चेतना के ऐसे मूल तत्व होते हैं जो समय के थपेड़ों को सहते हुए भी समय की गति के साथ ताल मिलाते हुए अडिग रहते हैं। लोक जीवन की सतत गतिशीलता इसमें सनिहित हो उठती है। सर्वकालीन लोक जीवन से संबंधित लोक संस्कृति में नूतनता के परिवेश पुरातन का समाहार करके चलते रहने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसी संदर्भ में मानक हिन्दी कोश में कहा गया है कि लोक संस्कृति के क्षेत्र में संबद्ध है।

महात्मा गांधी ने लोक गीतों को संस्कृति का पहरेदार कहा है। राजस्थानी लोकगीतों में सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक जीवन का रूप प्रतिबिम्बित होता है जिसमें जीवन की सरसता और सरलता की झलक मिलती है। पारिवारिक संबंध सामाजिक व्यवहार तथा धार्मिक आस्था यहां की लोक संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। लोकगीतों में नृत्य, संगीत, लोक कलाएं चित्रकला तथा ललित कलाओं के भी दर्शन होते हैं। पारिवारिक जीवन के स्वाभाविक चित्र लोक साहित्य में मिलते हैं। डॉ. सत्येन्द्र का कथन है—लोक संस्कृति में समस्त समाज का रूप बनता है। इसमें विस्तारव्यापी दृष्टि से वैविध्य और वैषम्य के साथ जुड़ी हुई है वे सभी बातें आ जाती जो पहाड़ों, ग्रामीणों और सुसंस्कृत नगरों में भी है। इस कारण लोक संस्कृति विविध भावों को संजोए हुए मानवीय चेतना को परिचालित करती है। इस प्रकार लोक गीत लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, वह उसके वाहक है लोकगीत लोक जीवन के साथ गतिशील है।

बरड़ के शैलाश्रयों में चित्रित पशु-परिवहन

डॉ. विजयसिंह मवाई

मानव समुदाय की उन्नति एवं विकास की कहानी परिवहन के विभिन्न साधनों के उद्भव एवं विकास से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। पृथ्वी पर जब मानव ने भोजन एवं पानी की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल विचरण करना शुरू किया उस समय वह सामानों को अपने सिर अथवा कंधों पर ढोता था तथा उसके पैर ही उसकी गतिशीलता के एक मात्र साधन थे। इस प्रकार मानव स्वयं में परिवहन का एक साधन रहा है। धीरे-धीरे मानव की आराम करने की आंतरिक इच्छा एवं श्रेष्ठ दिमाग ने जंगली पशुओं पर उनकी श्रेष्ठता स्थापित कर दी। मानव ने अनेक उपयोगी चौपाया जानवरों को पालतू बनाना शुरू किया तथा अपनी यात्राओं के दौरान सामान ढोने के लिए तथा स्वयं के लिए इसका प्रयोग शुरू किया। इसके फलस्वरूप जहां मानव की यात्राएं आसान होने

लगी वहीं परिवहन के साधन विस्तृत होने लगे। नव पाषाण काल में मानव ने कृषि कार्य करना सीखा जिसके फलस्वरूप स्थायी बस्तियों का विकास सम्भव हुआ। परिवहन की आवश्यकता बढ़ने लगी जिसके फलस्वरूप मानवीय प्रतिभा ने अपनी परिवहन संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना शुरू किया। परिणाम स्वरूप 350 ई.पू. के आसपास आद्य ऐतिहासिक काल के सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार पहिए का जन्म हुआ। इस आविष्कार ने परिवहन के क्षेत्र में गति दूरी एवं भार ढोले की क्षमता की दृष्टि से क्रांतिकारी विकास को जन्म दिया। धीरे-धीरे पहिये वाली गाड़ियों का विकास संभव हुआ जो पहले पशु एवं मानव द्वारा चालित था। बाद में इसके लिए इंजनों का प्रयोग शुरू हुआ।

बरड़ क्षेत्र के नलदह के शैलाश्रय से अनुकृत गहरे गैरिक वर्ण में बने पूरम-अर्द्धपूरक शैली की रेखानुकृति में दो पशुओं द्वारा चालित गाड़ी का पर्याप्त आदिम रूप अंकित है। दोनों पशु वृषभ है जो पूरति-अर्द्धपूरित अलंकृत शैली में परस्पर समान रूप से अंकित हैं। ये सभी चित्र ताम्राशमीय काल के हैं। विद्धम (मिर्जापुर) के शैलाश्रय से प्राप्त एक चित्र में एक त्रिशूलधारी आखेटक गाड़ी पर चढ़ कर जा रहा है। धरमपुरी (भोपाल) से प्राप्त की गई एक रेखानुकृति में दो पशुओं द्वारा चालित गाड़ी का पर्याप्त आदिम रूप अंकित है। चीवर नाला (चम्बल घाटी) के एक शिलाश्रय से प्राप्त रेखाचित्र की तदाकर अनुकृति जिसमें गाड़ी का अंकन एक विशेष संघर्षपूर्ण वातावरण के बीच हुआ है दो आक्रामक व्यक्तियों ने अकस्मता चालक को त्रस्त कर दिया है। एक दोनों हाथ उठाकर तथा दूसरा धनुष पर बाण चढ़ाकर उसको पराभूत करने में संलग्न है और वह गाड़ी को छोड़कर अत्यन्त गति के साथ भाग रहा है।

बरड़ क्षेत्र के गरड़दा पुरास्थल के शैलाश्रय से उष्ट्रारोही का चित्र मिला है। चित्राकृति गेरुएं रंग से अंकित व अर्द्धपूरक शैली में चित्रित है। ऊंट की लम्बाई 9 इंच तथा चौड़ाई 7 इंच है। कानों की लम्बाई 2 इंच है। चित्राकृति में पूंछ छोटी, गर्दन लम्बी, पैर लम्बे तथा पीठ ऊंची उठी हुई प्रदर्शित की गई है। पशु के दोनों कान ऊपर उठे हुए चित्रित किए गए हैं। ये सभी विशेषताएं ऊंट का चित्र होने की द्योतक है। मुंह के आगे 6 इंच लम्बी एक टेढ़ी-मेढ़ी रेख का अंकन है जो सम्भवतया ऊंट को पकड़ने की रस्सी है। चित्राकृति ऐतिहासिक कालीन प्रतीत होती है। महड़रिया (मिर्जापुर) से ऊंट सवार चित्रण के उदाहरण मिलते हैं। अलनिया (कोटा) पुरास्थल के शैलाश्रय से भी ऊंट चित्रण के उदाहरण मिलते हैं।

बरड़ क्षेत्र के बांका शिलाश्रय से एक अश्वारोही का चित्र मिला है। जिसके एक हाथ में भारी आकार का भाला है। उसके दूसरे हाथ की स्थिति रेखाओं के संकेत के अनुसार लगाम थामने की है। जिसकी संगति मुख से कंठ तक आती हुई सीधी रेखा से

प्रकट है। घोड़े की पीठ पर काठी स्पष्टता के साथ अंकित है और मस्तक की सज्जा भी प्रकट है। अश्वों व अश्वारोही का चित्रण मलवा (बांदा जिला), नरयावली (सागर), महड़रिया (मिर्जापुर), इमलीखोह (पंचमढ़ी), आदमगढ़ (होशंगाबाद), निम्बूभोज (पंचमढ़ी), डोरोथीडीप (पंचमढ़ी), लिखनियां (मिर्जापुर) और माण्टेरोजा (पंचमढ़ी) आदि क्षेत्रों के शैलाश्रयों में समूह और एकाकी रूप में प्रचुर मात्रा में मिले हैं। बरड़ क्षेत्र के बांका पुरास्थल के विशाल शैलाश्रय से एक सुसज्जित व युद्धरत अश्वारोही का चित्र प्राप्त हुआ है। गेरूएं रंग से अर्द्धपूरक शैली में चित्रित चित्राकृति अप्रतिम और रोचक है। अश्वारोही के एक हाथ में लगाम तथा दूसरे हाथ में भारी आकार का भाला है। जो शत्रु पर प्रहार करने की स्थिति को प्रदर्शित कर रहा है। महड़रिया (मिर्जापुर) से भी अश्वारोही का चित्रण मिला है। जिसमें एक अश्वारोही चाबुक लगाने की अत्यन्त स्वाभाविक मुद्रा में अंकित है तथा खींचती हुई रास के कारण झुके शीश वाला अश्व भी पर्याप्त सजीवता से चित्रित है। उसकी रूपरेखा ज्यामितिकता लिये हुए है जो सवार के अंकन में बहुत कम लक्षित होती है।

बरड़ क्षेत्र के गरड़दा शैलाश्रय से प्राप्त रेखाचित्र जिसमें एक पशु पर गेरूएं रंग से रेखाशैली में अंकित आरोही पीठ पर खड़ा चित्रित किया गया है। बरड़ क्षेत्र के भेरूपुल शैलाश्रय से वृषभारोही का चित्र प्राप्त हुआ है। वृषभारोही सम्मुख दृष्टि से और वृषभ पार्श्व दृष्टि से बनाए गए हैं। सम्पूर्ण चित्र गेरूएं रंग से पूरक शैली में चित्रित है। बैलों का माल ढोने व सवारी के रूप में प्रयोग प्राचीन काल में खूब प्रचलित था। लिखनियां-1 (मिर्जापुर), महड़रिया (मिर्जापुर) तथा दक्षिण भारत के रायचुर प्रदेश के बेलारी क्षेत्र में स्थित कुष्पगल्लु नामक स्थान से भी इस प्रकार के चित्र मिले हैं।

राजस्थान के मुस्लिम समुदाय में शैक्षिक जागृति : अजमेर-मेरवाड़ा व जोधपुर रियासत के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. इकलाब फातिमा

ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सन् 1818 ई. में राजस्थान की विभिन्न रियासतों से संधियां की गईं। राजनैतिक सत्ता पर अधिकार करने के साथ-साथ वह यहां व्यापारिक हितों को सम्हालने के लिए शिक्षा का प्रसार करना चाहती थी। आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ अजमेर-मेरवाड़ा से किया गया क्योंकि यह क्षेत्र सीधे ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में था। और यहां राजाओं के हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं थी। किन्तु लगभग तीन चौथाई शताब्दी तक शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं दिखाई देती है। अजमेर के स्थानीय नागरिकों ने 1910 ई. में मुस्लिम वर्ग की शिक्षा के लिये मोईनिया इस्लामिया

प्राथमिक विद्यालय खोला और 1918 ई. में यह विद्यालय सरकार को सौंप दिया गया। झालावाड़ राज्य में भी एक मुस्लिम स्कूल की स्थापना की गई थी। टोंक नवाब ने अक्टूबर 1926 को झालारापाटन में 'अमीरुद्दौला हाई स्कूल' का उद्घाटन किया। 20वीं शताब्दी के दौरान राजस्थान में मुस्लिम समुदाय आधुनिक शिक्षा के विकास में मोहम्मडन कॉन्फ्रेंस का महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। मोहम्मडन एजुकेशनल कॉन्फ्रेंस की स्थापना कर सैयद अहमद द्वारा सन् 1886 में की गई थी। लगभग 42 वर्ष के अन्तराल के बाद दिसम्बर 1928 में इसका वार्षिक अधिवेशन समुदाय में शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में उल्लेखनीय रहा। इसने सशक्त तरीके से आधुनिक, वोकेशनल और धार्मिक शिक्षा उपलब्ध कराने के विचार को प्रसारित किया। इसमें न केवल मुस्लिम पुरुष बल्कि मुस्लिम स्त्रियों को भी परम्परागत और आधुनिक शिक्षा के विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए। अजमेर सत्र (1928) में पारित किए गए प्रस्तावों ने 20वीं सदी में मुस्लिम शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। कॉन्फ्रेंस का वह सत्र राजस्थान के मुस्लिम समाज में शिक्षा की प्रगति के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। इसके कुछ समय बाद ही जोधपुर के मुसलमानों ने वहां के महाराजा के सहयोग से 1919 ई. में दरबार मुस्लिम हाई स्कूल स्थापित किया। जिसका उद्देश्य सामान्यतः समाज के कमजोर वर्ग और विशेषतः मुसलमानों में शिक्षा को बढ़ावा देना था। आजादी के बाद सरकार ने स्कूल को अपने अधिकार में ले लिया था। सरकार के इस निर्णय ने मुसलमानों की शिक्षा की प्रगति में बाधाएं खड़ी कर दी। परिणामस्वरूप कुछ साल तक मुस्लिम पीढ़ियां शिक्षा पाने से वंचित रह गईं। कालान्तर में जोधपुर के मुस्लिम प्रबुद्ध जनों के प्रयासों से 1981 ई. में मौलाना अबुल कलाम आजाद मुस्लिम सीनियर स्कूल की बुनियाद रखी गई। तब से निरन्तर प्रगति के पथ पर बढ़ते हुए 'मारवाड़ मुस्लिम एजुकेशनल एण्ड वेलफेयर सोसायटी' के बैनर तले आज 31 स्कूल व संस्थाएं संचालित की जा रही हैं। अजमेर-मेरवाड़ा के प्रबुद्धजनों ने भी मुस्लिम बच्चों को दीनी व दुनियावी तालीम देने के लिए ब्यावर में मोहम्मद अली मेमोरियल स्कूल की स्थापना सन् 1932 ई. में की। इस स्कूल का नाम राष्ट्रीयता आन्दोलन के प्रमुख सेनानी मौलाना मोहम्मद अली 'जौहर' से सम्बद्ध है। इस स्कूल का उद्देश्य यह था कि देश के नौजवानों को सिर्फ इम्तिहान की तैयारी पर ही केन्द्रित न कर उनके सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया जाए। इस संस्था ने बिना किसी धार्मिक भेदभाव के उन्हें अपनी रुचि के विषय पढ़ने की सुविधा दी गई। देश विभाजन के बाद यह संस्था काफी मुश्किल दौर से गुजरी क्योंकि प्रबंधन समिति के अनेक सदस्य पाकिस्तान चले गये थे। तब इसके सामने आर्थिक समस्याएं भी आर्या, लेकिन तमाम उतार चढ़ावों के बावजूद यह संस्था अपने संस्थापकों के आदर्शों पर आगे बढ़ती रही। वर्तमान में 'राजपूताना मोहम्मद अली मेमोरियल ट्रस्ट सोसायटी' के द्वारा, एक प्राइमरी व सीनियर स्कूल तथा आई.टी.आई.

संस्थान संचालित किए जा रहे हैं। संस्था द्वारा भविष्य के लिए भी अनेक योजनाएं बनाई गई हैं।

उपरोक्त तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि राजस्थान के मुस्लिम समुदाय में आधुनिक शिक्षा के प्रसार में गैर सरकारी मुस्लिम संस्थाओं की भी सक्रिय भूमिका रही है। ये संस्थाएं अपने धर्म एवं जाति-समाज के सांस्कृतिक जीवन मूल्यों को संरक्षित करने के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा की भी पक्षधर थी। इन संस्थाओं ने अपने पंजीकृत न्यासों व सोसाइटियों के माध्यम से आधुनिक शिक्षा के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

करौली रियासत : स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक मदनसिंह

डॉ. अविनाश पारीक एवं गोविन्दपुरी

कुंवर मदनसिंह करौली रियासत के बेताज बादशाह चिमनसिंह का इकलौता लड़का था। इसके पिता को रियासत के महाराजा भंवरपाल के आदेश पर 4 नवम्बर 1904 में चिमनसिंह को करौली रियासत की सीमाओं को छूने वाली किसी भी रियासत में नहीं ठहरने दिया जाए। अतः ये वृन्दावन चले गये वहां राजा भंवरपाल ने इनकी रहने-खाने-पीने की सभी व्यवस्थाएं रियासत की ओर से की। चिमनसिंह और महाराजा भंवरपाल का प्रेम इतना अनन्य था कि दो शरीर एक आत्मा के समान था। इसका निष्कासन महाराजा कभी नहीं चाहते थे परन्तु महाराजा के छोटे भाई राव हाड़ौती भौमपाल व रियासत के सरदारों के आगे महाराजा का झुकना पड़ा और जब चिमनसिंह रियासत छोड़कर जाने लगा तो महाराजा भंवरसिंह राजगद्दी छोड़कर उसके आगे-आगे घोड़े पर बैठकर चल दिये यह सब देखकर रियासत के सभी सरदार आश्चर्य से इस दृश्य को देख रहे थे। चिमनसिंह के प्रेम में महाराजा एक तरह से विस्मृत हो गये और उन्होंने अपना रियासत से मोह त्यागते हुए अपने होम मेम्बर चौधरी भोलानाथ को अंग्रेज एजेन्ट के नाम एक पत्र दिया जिसका शीर्षक था 'मुझे रियासत नहीं चाहिए'। लेकिन चौधरी भोलानाथ ने अपनी चालाकी व चतुराई से कैलादेवी में चिमनसिंह को समझाया कि अर्द्धरात्रि में सबको सोते छोड़कर निकल जाने की सलाह दी वहीं लिखित पत्र भी एजेन्ट को नहीं भिजवाया। अगले दिन चौधरी गंगाप्रसाद नारायणलाल और हरप्रसाद देवी ने पहुंचकर महाराजा को रियासत की प्रतिष्ठा को बरकरार रखते हुए समझाकर पुनः महाराजा भंवर को करौली आने को मजबूर किया। इस प्रकार चौधरियों ने महाराजा

भंवरपाल के मोह को भंग कर करौली रियासत की साख को बचाया।

मदनसिंह ने अपने पिता के रियासत से निष्कासन के ठीक 20 वर्ष बाद जनक्रांति के पक्ष में कुछ लोगों से विचार-विमर्श कर शासन के विरोध में सत्याग्रह की योजना बनाई। इसके लिये सुअर शिकार पर पाबन्दी तथा बेगार प्रथा को मुख्य मुद्दा बनाया गया तथा इसने शान्तिप्रिय तरीकों से रियासत की कमजोरियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर एक आन्दोलन का रूप देने का कार्य किया। इसके लिए लोगों में जागृति लाने के लिए एक सर्वहितकारी पुस्तकालय की स्थापना 1915 में की। भंवरसिंह ने अच्छे-अच्छे ग्रन्थ इस पुस्तकालय को उपलब्ध कराये जिसके लिये महाराजा भंवरपाल ने इसे पूरा सहयोग दिया क्योंकि यह इनके घनिष्ठ मित्र चिमनसिंह का पुत्र था जिसे स्वयं महाराजा भी बहुत प्यार करते थे। अतः इसकी किसी भी गतिविधि पर महाराज कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। परिणामस्वरूप मदनसिंह का उत्साह बढ़ता गया, क्योंकि यह पढ़ा-लिखा और दूरदर्शी व्यक्ति था। पिता के समान समय को समझने वाला व्यक्ति था। समय दर समय रियासती अत्याचारों के विरुद्ध प्रेरित किया। 24 फरवरी 1924 को पहली बार बेगार पर बलिदान का झण्डा लेकर गोपालसिंह की छतरी में सत्याग्रह हेतु बैठ गया। जब कुंवर सत्याग्रह पर बैठा तब बतौर सहयोगी और अनुयायी के तौर पर इसके साथ नारायण सिंह सलैदी वाले, त्रिलोक चन्द माथुर, परमसिंह, रामसिंह, ऊंकारसिंह और भौरीलाल शर्मा गये। यह करौली रियासत में होने वाला पहला सत्याग्रह था जो दो दिन चला, तीसरे दिन मांगें मान ली गईं, सत्याग्रह समाप्त हो गया। महाराजा भंवरपाल मदनसिंह के खिलाफ तो कोई कार्यवाही कर नहीं सकते थे, परन्तु मदनसिंह को अब रियासत का भय सताने लगा। और शासन के भय के कारण इसका मनोबल इतना टूट गया कि कुछ समय बाद ही इसने हमेशा के लिए करौली रियासत छोड़ दी और वृन्दावन अपने पिता के पास चला गया फिर कभी वापिस करौली नहीं आया, वहीं वृन्दावन में 24 अगस्त 1927 को मदनसिंह की मृत्यु हो गई।

श्री अचलेश्वर मन्दिर, आबू पर्वत के शिलालेख : एक नजर

डॉ. उदयसिंह देवड़ा

आबू पर्वत इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व का त्रिवेणी संगम है। यहां आध्यात्मिक, भौगोलिक एवं पुरातात्विक सम्पदा विश्व विख्यात है। आबू की धार्मिक महत्ता के फलस्वरूप कर्नल टॉड ने इसे हिन्दुओं के ओलम्पस नाम से महिमा मण्डन किया है। वहीं लोक संस्कृति में पालनहार पर्वत की संज्ञा भी दी गयी है। यद्यपि इस

पौराणिक पर्वत पर अनेकानेक स्थानों पर पुरा सम्पदा क्षत-विक्षत अवस्था में विद्यमान है, परन्तु यहां शोध पत्र में अचलगढ़ स्थित अचलेश्वर महादेव मंदिर के प्रांगण एवं देवरियों के शिलालेखों के विषय में उपलब्ध विवरण के संग्रहण का प्रयास किया गया है। विक्रम संवत् 1400 महाराज तेजसी (महाराव तेजसिंह) पु. महाराज कान्हड़दे (महाराव कान्हड़ देव) का यह शिलालेख महाराव कान्हड़देव (सन् 1336-1343) के काल का है जो सिरही के छठे शासक थे के ने वीरवाड़ा ग्राम मंदिर को अर्पित किया था।

राजस्थानी किले व उनके विशिष्ट युगीन निहितार्थ

बनवारी लाल यादव

मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है रोटी, कपड़ा और मकान। हर युग में इन तीन मूल आवश्यकताओं के अलावा चौथी आवश्यकता भी मूल मानी जाती है, वह है सुरक्षा। जब मनुष्य का जीवन ही खतरे में हो तो इन तीन मूल आवश्यकताओं का कोई मूल्य नहीं रहता। प्रागैतिहासिक मानव को जंगली जानवरों से सुरक्षा का भय रहता था तो उन्होंने चारों ओर अग्नि का घेरा बनाकर इन आवश्यकताओं को पूर्ण किया। कहने का तात्पर्य यही है कि चाहे कोई सा भी युग रहा हो तत्कालीन मनुष्य ने अपनी कार्यक्षमता के भीतर उसे पूरी तरह से चाकचौबंद करने का प्रयास किया भले ही वे इसमें आंशिक से सफल रहे हैं। विभिन्न सांस्कृतिकता व ऐतिहासिकता से युक्त राजस्थान के भौगोलिक वातावरण का भी यहां की कला व संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। राजस्थान की स्थापत्य कला भी भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित हुई है। राजस्थान की अरावली पर्वतमाला राजस्थान को पश्चिमोत्तर 3/2 भाग व दक्षिण पूर्वी 2/5 भाग में बांटती है। यह पर्वतमाला राजस्थान के बड़े भाग को मरुभूमि में परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका बनाती है। पर्वत श्रृंखला राजस्थान के दक्षिण पश्चिमी भाग से शुरू होकर राजस्थान को दो भागों में बांटती हुई उत्तर पूर्व से राजस्थान से बाहर निकल जाती है। अरब सागर के मानसून के लगभग समानान्तर स्थिति होने के कारण मानसून पर्वतमाला के सहारे सहारे बिना वर्षा किये निकल जाता है। अतः राजस्थान में जितने भी सुरक्षा संबंधी निर्माण हुए, वे अरावली की उपत्यकाओं को आधार बनाकर किये गये, उसका अधिकतम सदुपयोग करने का प्रयत्न किया गया। राजस्थान की भारत के नक्शे में सामरिक व भौगोलिक स्थिति महत्वपूर्ण होने के कारण राजस्थान हमेशा विदेशी आक्रमणकारियों के निशाने पर रहा है। सुरक्षा केवल हथियारों से ही नहीं होती उसके लिए कई कारक महत्वपूर्ण होते हैं यथा ऊंचाई, जंगलात, पानी, किलों का क्षेत्रफल व किले के चारों ओर दीवार, खाई अथवा स्थापत्य। वैसे तो दुर्गों का सम्बंध भारत में ऋग्वैदिक काल से रहा है, जब दुर्गों

का उल्लेख पुर व इनको तोड़ने वाले यंत्र का उल्लेख पुरचरिष्णु के रूप में मिलता है। किला निर्माण में काफी ज्यादा मात्रा में धन व्यय करना पड़ता है, इतनी प्रभुत मात्रा में व्यय करना हर राज्य के लिए संभव नहीं होता। यही कारण है कि भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत चन्द्रगुप्त मौर्य के समय व्यापक दुर्गीकरण के द्वारा सुरक्षित किया जा सका। मध्यकाल में इस सीमा की रक्षा हेतु सूर शासक शेरशाह ने विशाल दुर्ग का निर्माण करवाया। एकीकृत केन्द्रीय सरकार ही इतने बड़े व्यापक पैमाने पर इस कार्य को पूरा करवा सकती थी। शुक्रनीतिसार ने राज्य के सात अंग महत्वपूर्ण माने हैं तथा राज्य को मानव शरीर के समान मानते हुए दुर्ग को मानव शरीर के प्रमुख कार्यकारी अंग हाथ माना है। प्राचीन व मध्ययुगीन राजस्थान के शासकों ने अपने जीवन रक्षा को सर्वप्रथम धर्म मानकर अभेदकारी दुर्गों का निर्माण किया। सच्चे अर्थों में राजस्थान के किले राजशाही से लोकशाही के उपकरण के रूप में तब्दील हो चुके हैं।

मेवाड़ में आधुनिक काल में बालिका शिक्षा का विकास (1982-2015)

प्रो. नीलम कौशिक एवं जयश्री रावल

स्त्रियों को संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। वैदिक साहित्य में हमें आत्रेयी, कृष्णकृत्स्नी, गार्गी, कचवनवी, बड़वा, विदूषियों तथा शिक्षिकाओं के वर्णन मिलते हैं, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक व्यक्ति द्वारा यह प्रार्थना मिलती है कि उसके यहां बेटे का जन्म हो जो पण्डित या विदुषी बने। पतंजलि द्वारा वर्णित शक्ति शब्द से अवगत होता है कि स्त्रियों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। पाठ्यक्रम में वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, भूत विद्या, राशि, एकायन, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्द, सर्प विद्या, नृत्य, गीत, आयुर्वेद आदि विषय पढाये जाते थे।

आधुनिक काल में बालिका शिक्षा के लिए व्यक्तिगत प्रयास ही किए गए और इस दिशा में पहला प्रयास 1818 में चिनसुरा में हुआ था। सन् 1849 में बंगाल की शिक्षा परिषद् के प्रधान श्री जे.ई.डी. बेहयून द्वारा स्थापित बालिका विद्यालय, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विद्यालय का समस्त व्यय उन्होंने स्वयं वहन किया। 1854 के घोषणा पत्र के आदेशानुसार सरकार ने स्त्रियों की शिक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। 1882-1902 तक स्त्रियों के लिये समस्त प्रकार के विद्यालयों की संख्या 2,697 थी, जिनमें 1,27,066 छात्राये शिक्षा प्राप्त कर रही थी। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

मेवाड़ में बालिकाओं की सामान्य शिक्षा हेतु विद्यालयों की स्थापना की गई। इसके साथ-साथ शिक्षा के विकास के लिए कुछ निजी संस्थाओं ने प्रयास आरम्भ कर विद्यालयों की स्थापना की थी। जब हम समाज के समग्र विकास की बात करते हैं तो इसमें समाज का सबसे महत्वपूर्ण पहलू शिक्षा का दिखाई देता है, जिसके बिना समाज का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता और जब बालिका शिक्षा की बात आती है तो यह महत्व और विवेचन सार्थक दिखाई देता है। मेवाड़ में बालिका शिक्षा का विकास धीमी गति से हुआ परन्तु वर्तमान में इसे गति मिली जिससे बालिकाओं का अपना शैक्षिक स्तर सुधरने लगा। आज मेवाड़ की बालिकायें विज्ञान, कला, वाणिज्य विषयों को चुन कर अपने विकास से देश की उन्नति में योगदान कर रही हैं।

जनजाति विकास की संभावनाएं : कला संरक्षण की दृष्टि में

रुचि सोलंकी

राजस्थान की दक्षिणी पश्चिमी भाग व उसमें स्थित उदयपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, राजसमंद, चित्तौड़गढ़, प्रतापगढ़ आदि जिले आदिवासी बाहुल क्षेत्र माने जाते हैं। यह भू-भाग में लगभग 76 प्रतिशत जनजाति आबादी निवास करती है। यह जनजातियां अपनी परम्पराओं, मान्यताओं, भौगोलिक विषमताओं तथा अपनी कला व संस्कृति के लिये जाने जाते हैं। किन्तु इन जनजातियों समूह का जीवन स्तर अन्य समुदाय के जीवन स्तर से निम्न कोटि का है। जिसके कई कारक हो सकते हैं-अशिक्षा, प्राकृतिक निर्भरता, सामाजिक चेतना का अभाव आदि।

इस क्षेत्र के लोगों की आर्थिक दुर्बलता ने इन्हें मानसिक रूप से भी दुर्बल बना दिया है। इन्होंने प्रत्येक घटना को दैव इच्छा या देवयोग मान लिया है। इन क्षेत्रों के विकास के लिये कई राजकीय तथा गैर राजकीय स्तर पर किये जा रहे हैं। किन्तु इन जनजातियों द्वारा यह सहर्ष स्वीकार नहीं किये जाते जिसका मुख्य कारण 'बाहर से थोपे हुए' होना है। इसीलिए यह स्वीकार नहीं किये जाते हैं। परन्तु यदि सही रूप से अवलोकन किया जाये तो स्थानीय लोगों में विशेष योग्यता देखने को मिलती है और वह है-कई हस्तकलाओं का ज्ञान जो सिर्फ इन्हीं के पास है। ऐसी कई हस्तकलाएं हैं जो इन आदिवासियों की विशेष पहचान है। यदि इन कलाओं के संरक्षण में सरकार महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए योजनाओं का निर्माण करती है तो दोहरे परिणाम सामने आयेंगे-1. प्राचीन हस्तकलाओं का संरक्षण एवं 2. जनजातियों की आर्थिक स्थिति में सुधार।

भारतीय इतिहास हमेशा से ही अपनी कला व संस्कृति के लिये जाना जाता है या ये कहें कि यही विशेषता है जो हमें दूसरों से अलग बनाती है। हमारी पहचान हमारी कला है। अतः कला संरक्षण के उपाय के माध्यम से जनजाति क्षेत्रों में विकास के नये आयाम जोड़े जा सकते हैं। साथ ही जनजाति क्षेत्रों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है।

सूफीवाद और उसके प्रमुख संत

जलालुद्दीन काठात

सूफीवाद का इतिहास लगभग चौदह सौ साल पुराना है। वास्तव में इस्लाम के संस्थापक पैगम्बर मुहम्मद को सभी पंथों और सम्प्रदायों के सूफी सबसे पहला सूफी मानते हैं। पैगम्बर की जीवन शैली ने ही भावी सूफियों की जीवन पद्धति निर्धारित की। उनकी ईमानदारी, धर्मपरायणता, फक्र (गरीबी) का पालन और ईश्वर की इच्छा के प्रति सम्पूर्ण समर्पण को प्रत्येक सूफी के लिए अनिवार्य माना जाने लगा। ईश्वर की व्यक्तिगत खोज से शुरू होकर, सूफीवाद ने धीरे-धीरे एक आन्दोलन का रूप ले लिया।

आरम्भिक वर्षों में सूफीवाद एक व्यक्तिगत पंथ था, रीति-रिवाजों तथा रहस्यवादी चिंतन का मार्ग था जिसका पैगम्बर मुहम्मद के साथी और अनुयायी पालन करते थे। आरम्भिक सूफियों ने शाही दरबारों के आडम्बर प्रिय और विलासी चापलूसों से दूर एकान्त में जाकर अपना समय बिताना पसंद किया। उस समय उन्हें सूफी नहीं कहा जाता था बल्कि 'जाहिद' (संन्यासी) कहा जाता था।

हस अल बसरी, इब्राहीम बिन अघम, अबु हाशिम, राबिया, सूफी जुन-नून-मिसरी, अबु यजीद तैफुर बिन इसा या बायजीद बिस्तामी, अबु सईद अहमद बिन इसा अल खर्राज, हुसैन बिन मंसूर अल हल्लाज, अबु हमीद अल-गजाली, अब्दुल कादिर जिलानी, मुहीरुद्दीन इब्न अरबी, इत्यादि प्रमुख सूफी संत थे।

संत ख्वाजा गरीब नवाज को इस दुनिया से विदा हुए सात से अधिक सदियां बीत चुकी हैं किन्तु एक संत के रूप में उनकी लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई है। अजमेर में उनका उर्स आज भी बड़े ही जोश से मनाया जाता है। इस उत्सव की गणना इस उपमहाद्वीप के सबसे बड़े धार्मिक सम्मेलनों में की जाती है। मध्यकालीन भारतीय संतचरित लेखकों ने मोहनुद्दीन के विचारों पर विस्तृत रूप में लिखा है। धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करना और वर्जित कार्यों से दूर रहना उनका आदर्श था। उनका विश्वास था कि नमाज (प्रार्थना) स्वर्ग जाने की सीढ़ी है और इसलिए ईश्वर का आशीर्वाद पाने का

सर्वश्रेष्ठ साधन है। उनके अनुसार, दानशीलता सबसे श्रेष्ठ गुण है और भूखे को खाना खिलाना, जरूरतमंद की मदद करना और गिरे को उठाना ईश्वर को प्रसन्न करने के सर्वश्रेष्ठ उपाय है। वही लोग ईश्वर को सर्वप्रिय होते हैं जो मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं और सांसारिक सुखों से दूर रहते हैं, उन्होंने अपने शिष्यों को, ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, परामर्श दिया कि वे निम्न गुणों का विकास करें-सागर की उदारता, सूर्य की अनुकंपा और पृथ्वी का आतिथ्य। मानवता के प्रति संत की प्रतिबद्धता इन उच्च विचारों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। मोहनुद्दीन के इक्कीस खलीफाओं में से तीन प्रसिद्ध हैं।

वागा रे कोठार री बही (कपड़ों के जानकारी के संदर्भ में)

हेमा रजक

प्रस्तुत बही महाराजा विजयसिंह की वागा रे कोठार तालके खर्च खाते बही से संबंध है। जिसमें जोधपुर कचेड़ी (महकमा) तालके कपड़ों के कोठार का विस्तृत विवरण मिलता है। इस बही में थीरमा, रेशम, रेजो, दरियाई (एक प्रकार का रेशमी वस्त्र है। आईन-ए-अकबरी में इसे यूरोपीय देशों से मंगाया जाने का उल्लेख हुआ है। भारत में यह गुजरात में सबसे पहले बनाया गया), कसुमल, मलमल (यह महीन सूती वस्त्र है जिससे साड़ी एवं कुर्ते बनाये जाते हैं) कीमखाब, मुलतान की छोट, आदि कपड़े खरीदे जाने का उल्लेख है।

बही में देवस्थान के लिए वस्त्र व सामग्री मिठाइयां खरीदी गई उन विभागों मंदिरों का विवरण भी मिलता है। मंदिर में बालकिशनजी मंदिर के निमित्त भी किये जाने वाले वस्त्र का विवरण भी है। उस समय राघराने में विशिष्ट रीति-रिवाज थे जो राजस्थान संस्कृति में विभिन्न उत्सव मनाने की परम्परा है। यहां राजघराने में तो विभिन्न उत्सव मनाये जाते रहे हैं। बही में वर्षगांठ (जन्मदिन) उत्सव के समय इनायत किये जाने वाले वस्त्र अर्पित की जाती थी साथ ही किसका वर्षगांठ है उनके नामों का उल्लेख बही में है।

बही से ज्ञात होता है कि महाराज कंवर फतेहसिंह के वर्षगांठ के उत्सव पर निम्नलिखित वस्त्र भेंट स्वरूप प्रदान किये गये थे। बही में वर्षगांठ के उत्सव पर जो नये वस्त्र बनाये जाते थे उसमें सोने की बूट गोटा का काम जवाहरखाने के माध्यम से होता था। बही में लिखा मिलता है कि जहां राजकंवर भीमसिंह के समय उनके वर्षगांठ के समय उनकी पोशाक में लगे बटन सोने का कार्य मूलचंद ने किया था। बही में पाघ 1 सफेद (साटन) जो कि नागौर से खरीदी गयी थी।

दरयाई पिस्ता जो स्वरूपचंद से खरीदा था जो बाड़मेर का निवासी था। कोर रेशमी पिस्ता की खरीदी विजयचंद से की जाती थी। बही में सीला नामक वस्त्र नागौर से खरीदा जाता था। बही में विजयचंद्र जोशी हरकरन जोशी जो कि नागौर के थे आदि नामों का उल्लेख मिलता है जो समय-समय पर सोसनी (लाली लिए हुए नीला रंग) जरदोजी गुलाबी सादा वस्त्र आयात करते थे।

बही में साड़ी का उल्लेख हुआ है जिस पर सोने का काम किया गया था। बही में लिखा मिलता है कि ये साड़ियां सुरना वीरधा, जोशी हरकरन से खरीदी जाती थी। बही में जहां नये वस्त्र की खरीदी की गई वहीं पुराने वस्त्र की मरम्मत का कार्य भी बही के विवरण में मिलता है। यह कार्य दर्जी भभूत के द्वारा किया जाता था। इस बही में पसमीना (मुलायम एवं बढ़िया ऊन का बना कपड़ा, जो प्रायः कश्मीर या ठण्डे प्रदेशों से उनकी रजाइयां बनती हैं) जहां राजा रूई का इस्तेमाल करते थे उस रूई को हरनारायण से खरीदा जाता था। नागौर का सैला वस्त्र लुकन गोईनदास से खरीदने का उल्लेख बही में दर्ज है। इसके अलावा रेशम पंचरंगी वस्त्र भी लुकन गोईनराम से खरीदा जाता था।

सुराना विरधा से जयपुर से छींटदार सफेद बूटीदार वस्त्र का जोड़ा भी खरीदने का उल्लेख भी बही में दर्ज मिलता है। बही में जोधपुर पाली से कीमखाब वस्त्र आयात होने का विवरण भी मिलता है। बही में जनानी के काम आने वाली ओढ़नी की विगत भी दर्ज है। जो समय-समय पर जनानी ड्योढी में दी जाती थी। बही में वस्त्र पर रंगाई का कार्य रंगरेज महदू द्वारा करने का उल्लेख मिलता है वहां ओढ़नी पर रंगाई का काम किया जाता था। निष्कर्ष है कि बही से ज्ञात होता है कि राजघराने में सम्पन्न होने वाले उत्सवों देवस्थान कपड़ों का आयात-निर्यात व व्यपारियों के नाम वर्षगांठ के उपलक्ष में वस्त्र इनायत किये जाते थे। राजघराने के अपने विशिष्ट रीति-रिवाज हुआ करते थे जिनसे हमारी राजस्थानी संस्कृति की विशिष्टता सिद्ध होती है।

राजस्थान में शिक्षा उन्नयन के प्रयास सर्व शिक्षा अभियान के संदर्भ में

कैलाश चन्द्र जोशी

सर्व शिक्षा अभियान – सर्व शिक्षा अभियान ‘सबके लिए शिक्षा’ हेतु एक जन आन्दोलन है। विद्यालयी गतिविधियों में समुदाय की सक्रिय सहभागिता से 2010 तक सभी समुदायों एवं वर्गों को संतोषप्रद गुणवत्तापूर्ण उपयोगी एवं प्रासंगिक शिक्षा उपलब्ध कराएगा। इस अभियान की उपलब्धि को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से राज्य के

विभिन्न जिला मुख्यालयों पर 2001 से जिला परियोजना समन्वयक कार्यालय की स्थापना की गई।

प्रारंभिक शिक्षा को मिशन के रूप में सर्वसुलभ बनाए जाने पर राष्ट्रीय समिति की 1999 की रिपोर्ट के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने के लिये जिला प्राथमिक शिक्षा योजनाओं की तैयारी पर बल देकर समग्र एवं संकेद्रित दृष्टिकोण से युक्त मिशन के रूप में प्रारंभिक शिक्षा को कैसे सर्व सुलभ बनाने का लक्ष्य प्राप्त किया जाना चाहिए। इसमें शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने का समर्थन किया और प्रारंभिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने के लक्ष्य को मिशन के रूप में प्राप्त करने के लिये कार्यवाही करने की इच्छा व्यक्त की।

सर्व शिक्षा अभियान लोक जुम्बिश के तहत प्राथमिक स्तर की शिक्षा का प्रसार क्षेत्र व्यापक कर दिया गया, सुविधाएँ बढ़ाई गईं। परिणामस्वरूप नामांकन में आशातीत वृद्धि भी हुई किन्तु शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित रखा गया। रोजगारोन्मुख पाठ्यक्रमों का संचालन सीमित कर दिया गया। खेलकूद कार्यक्रमों को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं किया इससे छात्राओं के व्यक्तित्व निखारने का कार्य अभी भी अधूरा है। नामांकन में कमी राजकीय विद्यालयों की कमियों को दर्शाती हैं। इस ओर राज्य सरकार भी चिन्तित है। प्रत्येक पंचायत स्तर पर मॉडल विद्यालय की स्थापना की जा रही है। तथा उक्त विद्यालय में सभी सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं। जैसे शिक्षकों का पदस्थापन, विषयाध्यापकों की नियुक्ति, कम्प्यूटर लैब की स्थापना परन्तु एक कमी खलती है कि सरकार ने अभी तक इन विद्यालयों में कम्प्यूटर शिक्षकों के पद सृजित नहीं किये तथा उनकी नियुक्ति नहीं की जिससे ये कम्प्यूटर पड़े-पड़े धूल खा रहे हैं। इसके लिए कम्प्यूटर शिक्षकों का पदस्थापन अत्यावश्यक है तथा बच्चों को गणवेश भी राज्य सरकार द्वारा प्रदान किये जाने चाहिए।

कुछ कमियों के बावजूद आजादी के पश्चात शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाने की दृष्टि से सरकार द्वारा किये गए प्रयासों के तहत सर्व शिक्षा अभियान एक महत्वपूर्ण कदम माना जाना चाहिए। शिक्षा विकास इतिहास के लेखन के लिए भी यह महत्वपूर्ण स्रोत है।

List of Members

Founder Members

Late Dr. A.L. Srivastva
Late Dr. S.P. Srivastva
Late Shri R.S. Kapur
Shri L.P. Vaisya
Late Dr. M.S. Jain
Late Rao Narayan Singh Of Masooda

Late Shri N.R. Khadgawat
Late Dr. Dasharatha Sharma
Late Shri N.N. Acharya
Late Prof. G.N. Sharma
Late Dr. R.P. Vyas

Patrons

Shri G.C.Kanungo, Managing Director, Alcobex Ltd., Jodhpur
Shri S.R. Mehta, Mehta Vanaspati Products, Chittorgarh
Shri Hemendra Singh, Banera, District Bhilwara
Dr. S.S. Bhandawat, Bhandawat Foundation, Manak Chowk, Jodhpur
Dr. Nagendra Singh, Justice, International Court Of Justice, The Hague
United Books Traders, Ratanada, Jodhpur

Life Members

The Bank Of Rajasthan(Ltd.), Jaipur
Principal, Dr. Bhimrao Ambedkar Govt. P.G. College, Nimbahera
Shri K.K. Purohit, Jodhpur
Dr. Manohar Singh Ranawat, Natnagar Sodh Sansthan, Sitamau
Professor Mananori Sato, Faculty Of Economics, Asia University, Tokyo-
Iso-(Japan)

Professor D.C.Shukla, 'Parijat' c-38, Krishna Nagar, Pali Road, Jodhpur

Shri Om Prakash Mohta House, 29-Srand Road, Calcutta

Shri Mullapudi Timmragugaru, Tanuka {Andhra Pradesh}

Shri Prasanna Mal Mohnot, 67, Mahaveer Nagar, Pali

Shri C.P. Mathur, E-27, Chanakya Place (I), Pankha Rad, New Delhi-110059

Shri Sajjan Singh Ranawat, Udaipur

Dr. V.K. Trivedi, 26, Shanti Nagar, Sirohi

Dr. Arvind Parihar, Dept. Of History, JNV University, Jodhpur

Dr. B.L. Upmanyu, Mahavir Colony, Housing Board Road, Beawar

Dr. Girish Nath Mathur, 1 Gh 41, Gayatri Nagar, Hiran Magri, Sector-5, Udaipur

Dr. Ishwar Singh Ranawat, Research Officer, Pratapsodh Pratisthan, Udaipur

Dr. J.K. Ojha, Near Post Office, Kanore, Udaipur

Dr. M.R. Choudhary, Dept. Of History, JNV University, Jodhpur

Dr. Manoramaupadhyaya, 128, Nehru Park, E Road, Sardarpura, Jodhpur

Prof. Meena Gaur, 19-Gokul Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur

Dr. Mohabat Singh Rathore, Research Office, Pratap Sodh Pratisthan, Udaipur

Dr. Mrs. Shashi Arora, Head, Dept. Of History, Govt. College, Kota

Dr. N.K. Upadhyay, Lecturer In History, Govt. College Ajmer, Ajmer

Dr. Pramila Singhvi, Pranjali, Sector 3, Hiran Margi, Udaipur

Dr. S.C. Agarwal, E-108, Shastri Nagar, Ajmer

Prof. S.K. Purohit, Behind Bannath Temple, Sukhanand ki Bagechi, Siwanchi Gate, Jodhpur

Prof. S.P. Vyas, Asop ki Pole, Near Juni Mandi, Jodhpur

Dr. S.S. Bais, C-217, Krishna Nagar, Pali Road, Jodhpur

- Prof. Vinita Parihar, B-16, Shatri Nagar, Jodhpur
- Dr. Mrs. Digvijay Bhatnagar, E 27, University Qtrs., Durga Nursury Road, Udaipur
- Dr. Mrs. Usha Purohit, Lecturer In History, Mahila Mahavidyalaya, Jodhpur
- Mr. C.S. Sharma, Lecturer In History, Govt. College, Sheoganj
- Mr. Dinesh Rathi, Hariom Bhawan, Bada Bas, Mathania, Jodhpur
- Mr. F.K. Kapil, Secretary, Jaya Kapil Poort Nyas, Pakon Ka Bas, Jodhpur
- Dr. Raju Ram, V & P Rarod, Via Asop, Jodhpur
- Mrs. Kamla Jain, 26, Sharda Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
- Mrs. Pawan Maru, C/O Manish Agency, Kala Khet, Mandsore, Mandsore (M.P.)
- Mrs. Shashi Kala, C-71, Dharam Narayan Ka Hatha, Paota, Jodhpur
- Prof. G.S.L. Devra, 10 G 8, 'Parijat', SFS Mahaver Nagar, Extn.III, Kota
- Prof. V.K. Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
- Prof. Nilima Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
- Dr. Usha Shah, Govt. College Pali, Pali-Marwar
- Dr. Shobhagya Goyal, C/O Ram Goyal, Advocate, H.M. Mohalla, Ghaseti Bazar, Ajmer
- Dr.Hukum Chand Jain, 19,Basant Vihar Special, Kota
- Prof. K.G. Sharma, Deptt. Of History, University Of Rajasthan, Jaipur
- Mrs. Tara Jain, W/O U.C. Jain, G-34, Shastri Nagar, Jodhpur
- Dr. Seema Garg, Opp. 107, Vallabhbari, Kota
- Dr. Usha Vyas, 1 Gha Sabarmati Clny., Kota
- Mrs. Nidhi Sharma, D-299, Ktps, Sakatpura, Kota
- Mrs. Seema Gupta, A-9, Gayatri Vihar, Police Line, Kota
- Dr. Karuna Joshi, 150, Pwd Quarter, New Colony, Dungarpur
- Dr. Shankar Goyal, 41, Sardar Club Scheme, Jodhpur

Dr. Anila Purohit, 'Kamla Kunj', 5th D/76, Hudgo, J.N.Vyas Colony,
Bikaner

Dr. Meghna Sharma Paliwal, Asst.Prof. Deptt. Of History, Maharaja
Ganga Singh University, Bikaner

Dr. Neelam Sharma, Near Water Works, Old City, Kishangarh

Dr. Satish Kumar Trigunayat, B 48 A, Jawahar Nagar, Bharatpur

Dr. Pushpa Dullar, 52- Arvind Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Basasthali

Ms. Urmila Parihar D/O Shri Mool Chand, Behind Adarsh Vidya Mandir,
Sheoganj, Sirohi

Dr. Alok Kumar Gupta, Lecturer In History, R-398, Padam Vilas,
Bharatpur-321001

Dr. Sharda Sharma, E-47, Khaturia Colony, Bikaner

Dr. Meenakshi Sharma, Shri Ram Swaroop Bohra, 12- Inder Nagar,
Sunderwas, Udaipur

Ms Iti Mograkaran Singh Mogra, C/O Phool Chand Mehta, 382/B, Ashok
Nagar, Moksh Marg, Udaipur

Dr. Neelam Gaur, Near Govt. Hospital, Von Girls College, Hanumangarh
Town

Dr. Anita Kavdia, 202, Kutumb, 17-C, Madhuban, Udaipur

Ms Pratibha, A-342, Chandvardai Nagar, Ajmer

Dr.(Mrs.) Nirmal Kashyap, House No. 30, Type III, MD university,
Rohtak

Dr. Sushila Shaktawat, 21 Ghati magri, Penariyon ki Madri, Holi Chowk,
Udaipur

Avinash Parek, Savitri Villa, Kishan Hostel, Sardarsaheer, Churu

Dr. Aashish Chouhan, Aashish Sadan, Godon Ka Chowk, Jodhpur

Ms Shikha Choudhary Charan Singh Girls Hostel, Tilak Nagar, Bikaner

Dr. Anju Suthar, 3/46, New Officer's Colony, Opp. Police Line, Barmer
Mahendra Chudhary, Stadium Road, Nehru Nagar, Barmer

G.S. Gupta, 4/267, Malviya Nagar, Jaipur-302017

Dr. Dinesh Bhargava, R-399, Padam Villa, 1 G.P. Office, Bharatpur-321001

Sowrabh Sharma, 8-Bapuji Marg, opp.State Motor Garge, 22-Gogam, Jaipur

Kailash Songara, 2 Sa 35, UIT Colony, Pratap Nagar, Jodhpur

Om Prakash Bhati, D-137, Kirti Nagar, P.Mandore Mandi, Jodhpur

Dr. Aruna Soni, 'Aashirwad', Near Ladnun Bus Stand, Naya Bas, Sujangarh

Dr.Mukesh Harsha, Harsho ka Chowk, Bikaner

Dr. Mahendra Purohit, Joshiwada, Bikaner

Dr. V.N. Singh, South Extn. Pawanpuri, Bikaner

Rajshekhar Purohit,3/18, Mukta Prasad Nagar, Bikaner

Dr. Jagdish Narayan Ojha, Barah Guward Ka Chowk, Nahtaniyo ki Saray Ke Pas, Bikaner

Mrs. Champa Agarwal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh

Dr. Prabhat Swami, N.M.P.G. College, Hanumangarh

Gyarsi Swami, Vill.Tedi via Jaswantgarh, T.Ladanun, Nagaur

Ms. Nayna Acharya, 72-Amarnath Bhawan, opp. M.G Hospital, Jodhpur

Mrs. Sonal Purohit, C/o Sunil Bora, Near Tapi Baori, Nathawatn Ki Gali, Jodhpur

Dr. Nidhi Srivastava, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh

Dr. Vikram Singh Gundoj, 160, Teacher's Colony, Chopasani, Jodhpur

Mrs. Santosh Vyas, Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh

Ms. Asha Bhargava, Vice-Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh

Dr. Anju Jain, w/o Jatan Kumar Jain, Mertawari, Nagaur

Mrs. Darshana Joshi, Rai Bahadur Gali, Daga Chowk, Bikaner

Dr. Pradeep Singh Rathore, Govt. College Dhorimanna, Barmer

Ms Rashami Meena, Asst. Prof., Department of History, JNV University, Jodhpur

Nand Kishore Bhutra, Jaiselmerion ki Gali, Navchowkiya, Jodhpur

Dr. T.V.Vyas, Nathawaton ki Bari, Near Nyon-ka-Bar, Navchowkiya,
Jodhpur

Dr. O.N. Singh, Purohiton ka Bas, Samdari Rly. Station,-344021

Sh. K.R. Choudhary, Kolari Mohalla, Navchokiya, Jodhpur

Dr. Deepa Kaushik, D-5, Mota Campus, Pilani Road, Rajgarh, Churu

Dr. Anil Purohit, 21/143, Chopasni Housing Board, Jodhpur

Dr. Sadhna Meghwal, W/o Dr. B.R. Meghwal, IPS, JH-7, Bhaghat ki
Kothi Extn. Scheme, Jodhpur

Dr. Sajjan Poswal, 97-A, Gali No. 3, Krishna Nagar, Bajrang Nagar,
Kota

Vijesh Gandhi, Foz-ka-Bada, Dungarpur-314001

Ms Anuradha Srivastava, Govt. Girls College Pali, Pali

Rajni Sharma, C-211, Gautam Marg, Hanuman Nagar, Jaipur

Dr. Pushpa Sharma, 1262/12, Near Durga Temple, Shastri Nagar,
Krukshetra

Dr. Ramji Lal Kohli, Aman Vihar, Behind Gas Godam, Dausa

Dr. Sunita Mehta, C/o Rakesh Mehta, C-3, Sir Pratap Colony, 5-Batti
Circle, Ratanada, Jodhpur

Ms Nirmala Meena, 64, Prem Nagar, Jagatpura, Jaipur

Savita Choudhary

Reenu Meena, 85, Bhagwati Nagar 1st ,Kartarpura, Jaipur

Dr. Preeti Sharma, 4, Vivekanand Niwas, Banasthali Vidyapeeth,
Banasthali

Dr. Sulekha Shekhawat, opp. Khuchaman College, 13 Venkatesh Nagar,
Kuchaman City

Dr. Neekee Chaturvedi, 3-Da-14, Jawahar Nagar, Jaipur-302004

Dr. Manju Gupta, 24/59, Swarn Path, Mansarowar, Jaipur

Dr.(Mrs.) Vibha Upadhyaya, B-38, Prabhu Marg, Tilak Nagar, Jaipur-
04

Mrs. Bindu Tiwari, Deptt. Of History, SD Govt. College, Beawar

Dr. D.P. Goswami, 131, Shastri Nagar, Beawar Road, Ajmer

Mrs. Minakshi Deviratam, 2, Virendra Nagar, Near Mandore, Jodhpur
Dr. Ravindra Tailor, 79-B, Munot Nagar, Out Side Nehru Gate, Beawar
Virendra Sharma, 54-A, Jawahar Nagar, Near Glass Factory, Tonk
Road, Jaipur

Dr. Anita Surana, D-19-B, Meera Marg, Bani Park, Jaipur-302016

Dr. Anuradha Mathur, H-619, Shalimar, Tijara Road, Alwar

Dr. Smita Mishra, 284- Arya Nagar, Scheme No.1, Alwar-301001

Dr. Rakesh Kumar Sharma, E-327, Ambedkar Nagar, Alwar-301001

Dr. Satyendra Sharma, H-30, Shastri Nagar, Meerut City(U.P.)

Mrs. Meera Ambesh, D-79, Hasan Khan Mewat Nagar, Alwar-301001

Dr. Tafique Hussain, E-26, Civil Line, Shriganganagar-355001

Surendra D.Soni, Lecturer in History, C/o Prem Khandelwal, Advocate,
Shiv Mandir, Naya Bas, Churu 331001

Dr. Jyotsana Vyas, Plot no. 150, Patrakar Colony, NPH Road, Jodhpur

Dr. B.N.Benjamin, 934, Faith Cottage, 9th D Road, Sardarpura, Jodhpur
Yogwati Pareek, 2243-A, Sec-3, Faridabad-121004

Dr. Alpanas Dubhashe, III, Ganga Nagar, AB Road, Dewas (M.P.)

Rajesh Panwar, C/o Ambica cosmetics, Shop No. 271, Ganpati Plaza,
KEM Road, Bikaner

Sushil Kumar Moyal, Near Ramdeo Temple, Otside Jassusar Gate,
Bikaner

Gopal Krishna Vyas, Near Samta Bhawan, Chabili Ghati, Bikaner

Dr. K.R. Motsara, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja
Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria

Dr. Tamanna Singh, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja
Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria

Dr. Shilpa Mehta, R-4, AbhayBagh, Sardarpura, Udaipur

Dr. Ambika Dhaka, H.No. 67, Bajrang Niwas, Near Durgapura Ral.
Station, Jaipur

Rakesh Kumar Yadava, VPO- Sirohe, The. Khetri, Jhunjunu

Dr. Pranay Dev, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar

Sunita Sawmi, Swami Mohalla, Inside Jasussar Gate, Bikaner

Sharmila Swami, 6 B 04, JNV Colony, Bikaner

Dr. Suman Dhakha, 224, Dr. Rajendra Prasad Nagar, Near Rani Sati
Nagar, 200 Feet Bypass, Ajmer Road, Jaipur

Dr. Archana Kalra, 56, Pratap Nagar Colony, Near Glass Factory, Tonk
Road Jaipur

Shri Harphool Singh, H.No. 67, Bajrang Vihar, Near Durgapura Rly.
Station, Jaipur

Dr. Rahul Tripathi, 94/4, Agarwal Farm, Mansarovar, Jaipur

Meena Bhaskar, VPO- Ghassu via Khudi Badi, Sikar

Sukharam, C/o H.R. Choudhary, 23, Lavkus Nagar 1st , Tonk Fatak,
Jaipur

Dr. Kulwant Singh Shekhawat, A-17, Marudhar Vihar, Khatipura, Jaipur
Mahendra Jalwaniya, 23/29, Chopasani Housing Board, Jodhpur

Dr. Vishnu Prasad Sharma, Plot no.4, Patel Nagar, Gopalpura Bypass,
Jaipur

Dr. Vidhi Sharma, 7, Janakpuri II Exetension, Imli Fhatak, Jaipur

Smt. Rekha Jorwal, ARG-40, Near Collector Residence, Alwar

Dr. Rakhi Yadav, B-2/493, Chitrakoot Scheme, Jaipur

Jayantilal Khandelwal, 634 B, Brkat Nagar, Tonk Fhatak, Jaipur

Dr. Sangeeta Sharma, B-141, Kirti Nagar, Near Gopalpura Bypass,
Jaipur

Dr. Anuradha Rathore, A-5, Shastri Nagar, Opp. SBI, Jaipur

Rajesh Arya, Plot no.-147, Shripuram Colony, Gurjar ki Thadi, New
Sanganer Road, Jaipur

Dr. Alok Kumar Chaturvedi, 82/139, Near Giri Marg, Mansarovar, Jaipur

Dr. Gyaneshwar Meena, Ganesh Colony, Udai Mode, Gangapur City,
Swaimadhampur-322201

Rajeshwari Devi Rathore, HH's Flat No. 5, C Scheme, Tilak Marg,
Jaipur

ISSN 2321-1288

Rajasthan History Congress / 617

Mrs. Sarika Kaul, 408, Ground Floor Lane No. 2 Raja Park, Jaipur - 302004

Dr. Ankan Garg, 41/6 Near Varun Parth, Mansarovar, Jaipur - 302020

Dr. Geeta Singh, 44, Vardhaman Nagar-B, 200 Feet Bypass, Ajmer Road, Jaipur

Ms Twinkle Sharma, Lecturer History, Govt. Lohiya College,

Dr. Kalpana Sharma, 2 CH 14, Sector 5, Shanti Nagar, Hiran Magri, Udaipur

Kamal Singh Kothari, Kothari Sadan, Chacha Nehru Marg, Behind The Fort, Churu-331001

Dr. Tarun Pratap Yadav, 307, Pragati Nagar, Nagla Battu Road, Meerut

Dr. Amrita Choudhary, E-205, Shiv Park, Amba Bari, Jaipur

Dr. Jeewan Singh Kharakwal, 18, Prem Nagar, C Block, Near Arihant Vatike, Roop Sagar Road, Udaipur

Rahul Pareek, Ward No.13, Cheta Kheri, Chhapar, Churu

Dr. Madan Lal Meena, Bagwala Kuwan, P.Hasampur, T.Neem-ka-Thana, Sikar

Dr. Vineet Godhal, Agrasena Colony, Opp. BPRV Mandir, Near Power House, Delhi Darwaja, Kotputli, Jaipur

Bhagwan Singh Sekhawat, 70-71 Shiv Shakti Nagar, Out Side Mahamandir 3rd Pole, Paota, Jodhpur

Bhawani Singh Rajpurohit, In Side Siwanchi Gate, Jodhpur

Dr. Suresh Kumar Choudhary, A-4, Krishna Nagar, New Pali Road, Jodhpur

Bharat Deora, III/B, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur

Lalit Kumar Panwar, III/F-19, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur

Dr. Peeyus Bhadviya, D-16, Adarsh Nagar, University Road, Udaipur

Dr. Harish Chandra, 311, Ashapurna Valley, Near New High Court, Pali Road, Jodhpur

Dr.T.C.Bairawa, 22 Mahaveer Nagar II, Durgapura, Jaipur

Dr. Archana Dwivedi, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar

Dr. Kalpana Malik, Sector - 4, Dwarka, New Delhi, New Delhi-110075

Shri Pankaj Chandak, Opp. Soni Building, Nehru Nagar, Barmer

Dr. Pooran Lal Meena, 18-C, Pocket- B, Ashok Vihar II, Delhi-110052

Dr. Mamta Yadav, Plot No. A-58-59, Nandpuri Colony, 22 Godown, Hawa Sarak, Jaipur

Dr. Jagruti Upadhyaya, 128, Madhukunj, Behind Nehrupark, Sardarpura E Road, Jodhpur

Shri Nitin Goyal, 17-C Block, Near Muthagujari School, Rai Singh Nagar, Sriganganagar-335051

Ms Kusum Rathore, 76/II/I, Dak Bangalow Campaus, Sirohi

Shri Achala Ram Choudhary, Vill & P. Luni Nadi Dudho, T. Dhorimanna, Disst. Barmer

Dr. Manisha Parmar, 304 'A', Devnandan House, Near Nagar Palika Office, Chandkheda, Ahmedabad-382424

Shri Aidan Singh, 310, Kesariya Ji Nagar, Falna-306116

Dr. Shilpi Gupta, 702, ramanujan Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali-304022

Dr. N.S. Rao, Department of History, MGSU, Bikaner

Dr. Manjulata Parihar, 2A, Gayatri Nagar, Prabhat Niketan Street, Badgaon, Udaipur

Dr. Balberer Choudhary, 31-32, Vakil Colony, Paota 'C' Road, Behind RTO, Jodhpur

Dr. Sandeep Prajapat,

Dr. Sanjeev Kumar, VPP Bakara, Dostt. Jhunjhunun-333001

Dr. Etee Bahadur, B-22, Dukadev Vihar, New Delhi-25

Dr. Hemendra Choudhary, Janardan Rai Nagar Rajasthan Vidyapeeth, Udaipur

Members

Shri Surya Prakash Vyas, Rawton Ka Bas, Behind Beharilal Temple, Inside Sojati Gate Jodhpur

ISSN 2321-1288

Rajasthan History Congress / 619

Shri Dinesh Gehlot, Ramdev Nagar, Gali No. 1, Mata Ka Than, Magra
Punjala, Mandore, Jodhpur

Shri Naresh Soni, V & P Hatundi, Tehsil Baori, Baori - 342312

Ms Mona Rathore, D/o Bansilal Rathore, New Bheel Colony, Out Side
Chand Pole, Jodhpur

Shri Dhirendra Vaishnav, Bhagi Pole, Brahmapuri, Chand Pole, Jodhpur

Ms Lakshyata Jhakar, 20-21, Mahaveerpuram City, Near Hari Om Nagar
Extn., CHB, Jodhpur

Dr. Meena Kumari, 1522 A/ 13, Govindpuri, Kalka Ji, New Delhi-110019

Ms Prabhawati Malay, 11/17, Swami Vivekanand Nagar, Kota

Smt. Manju Chouhan, Research Scholar, Deptt. Of History, JNV
University, Jodhpur

Dr. Sarita Choudhary, 18- Karni Nagar, Bikaner

Smt. Purva Ranawat, 318, Ganesh Path, Ram Nagar, Sodala, Jaipur

Mr. Azizur Rehman, S S Hall North, S M E Hostel, AMU, Aligarh

Shri Kailash Chandra Joshi, 65/9A, Sector - 09, Udaipur

Shri Manohar Lal Purohit, 47, Parihar Nagar, Udaipur

Shri Kantilal Ninama, Department of History, Guru Govind Jan jatiya
University, Udaipur

Ms Sumit, Maharaja Man Singh Pustak Prakash Shodh Kendra,
Mehrangarh Fort, Jodhpur

Dr. Vimlesh Rathore, Indrasan Bhawan, Mandore Krishi Mandi, Jodhpur

Dr. Manoj Dadhich, Pacific University, Udaipur

Dr. Rajendra Nath Purohit, V-5/45, Vrindavan Nagar, Bohra Ganesh,
Udaipur-313001

Dr. Priyadarshi Ojha, 2/2, Sofiya School Street, South Sunderwas, Udaipur
- 313001

Ms Arti Tanwar, BJS, Jodhpur

Shri Ashok Kumar Sharma, 6-D-27, South Ext. Pawan Puri, Bikaner

Shri Ram Lal Parihar, II D 85, J N V Colony, Bikaner

Smt. Dimple Prajapat, K - 52, Balaji Colony, TV Tower Road, Masuriya,

Jodhpur

Dr. Kailash Rani, NMML Library, New Delhi - 110001

Shri Prateek, Department of History, Ambedkar University, New Delhi

Prof. Pushpendra Kaur Dhillon, Department of Law, Pujabi University,
Patiala

Shri Khalid Ahmed, CAS, Department of History, AMU, Aligarh

Dr. Zafarullah Khan, Circle Superintend, Archaeology & Museum
Department, Ajmer

Shri Mohammad Shahnawaz, Department of History, AMU, Aligarh

Shri Amanullah, Department of History, AMU, Aligarh

Shri Mohd. Arif, Department of History, AMU, Aligarh

Syed Sumbul Arif, Department of History, AMU, Aligarh

Ms Safia Shahzad, Department of History, AMU, Aligarh

Dr. Aruna, Govt. P G College, Barmer

Dr. Nawal Kishore, Govt. College, Barmer

Shri Babu Lal Dhande, Govt. College, Barmer

Dr. Susrat Yasmeen

Dr. Uday Singh Deora, 186, Adarsh Nagar, Sirohi

Prof. S.K. Bhanot, IB- 25, J N V Colony, Bikaner

Dr. Kanika Bhanot, IB - 25, J N V Colony, Bikaner

Rachana Chaitonya, Government Bangur P G Collge, Pali, Pali

Shri Khevara Ram, B-37, Krishna Nagar, Jodhpur

Shri Neel Kamal Rathod, 231-B, Krishna Mandir, New Pali Road,
Jodhpur

Mrs. Nirmala Daiya, 6,Rajeev Nagar-A, BJS Colony, Jodhpur

Dr.Pooja Sirola, A-158, Mahesh Nagar, Jaipur

Ms Pratyusha Das Gupta, Shanta Nikunj Hostel, Banasthali Vidyapeeth,
Banasthali

Dr.Om Prakash, 21, Abhay Nagar, Magra Punjala, Jodhpur

Dr. Mohammad Farooq Chouhan, Jagmal Well Road, Inside Kasaiyon
ki Bari, Bikaner

Dr. Chetna Mudgal, R D Saraf Girls College, Rewari, Haryana

Dr. Gitrija Shankar Sharma, R D Saraf Girls College, Rewari, Haryana

Dr. Narendra Kumar Saini, Jain Vishva Bharti, Ladnun, Nagaur

Dr. Surendra Kumar, Jain Vishva Bharti, Ladnun, Nagaur

Dr. Jitendra Singh, MJJ College, Bhatinda

Dr. Saroj Devi, MJJ College, Bhatinda

Dr. Arvind Verma, MJJ College, Bhatinda

Dr. Asha Parmar, MJJ College, Bhatinda

Dr. Sona Agrawal, MJJ College, Bhatinda

Dr. Deva Ram, Govt. Bangur P G College, Pali,

Shri Om Prakash, Government College Osian, Osian

Sailendra Kumar Swain, 18-A, Satsang Vihar Marg, Qutub Industrial
Area, New Delhi-67

Dr. Aman Kumar, 18-A, Satsang Vihar Marg, Qutub Industrial Area,
New Delhi-67

Prof. Daljeet Singh, Incharge, Sri Guru Tegbahadur National Institution,
Punjabi University, Patiala

Prof. K.S. Dhillon, Head, Department of History, Punjabi University,
Patiala

Dr. Sumestha, NMML, New Delhi

Dr. Rajesh Kumar, Dy Director (Research), ICHR, 35 Ferozshah Road,
New Delhi

Dr. Kiran Shekhawat, H H Maharaja Hanwant College, BJS, Jodhpur

Dr. Sandhya Sharma, Flat No. 07, Tower 2, Supreme Enclave, Mayur
Vihar, Delhi-110091

Dr. Mayank Kumar, CM-702, Abhimanyu Apartment, Vasundhara
Enclave, New Delhi-96

Neeraj Sharma, M-171, Sector-25, Noida

Dr. Suraj Bhan Bhardwaj, 948, Sector-31, Gurgaon

Prof. R.P. Bahuguna, Dept. of History & Culture, Jamia Millia Islamia University, New Delhi

Dr. Indra Vishnoi, 25, Civil Lines, Bikaner

Dheeraj Meghwal, 4, Ambedkar Marg, Near New Bridge, Udaipur

Swati Kulshretha, Deptt. Of History, AMU, Aligarh

Samreen Iram, Moin Hostel, AMU, Aligarh

Dr. Usha Lamlor, P-27, Gandhi Nagar, Bikaner

Jagruti Sharma, 168 A, Shree Dada Darbar Market Street, 1st B Road, Sardarpura, Jodhpur

Ms Afreen, Kapasiya Bazar, Badi Sadri, Chittorgarh-312403

Ruchi Solanki, 8/474, Jamalpura, Beawar

Jalaluddin Kathat, Govt. College Beawar, Beawar

Dr. Santosh Gadhveer, Government College, Barmer

Dr. M.R. Gadhveer, Deptt. Of History, New campus, Jai Narain Vyas University, Jodhpur

Mrs. Poonam Luniwal, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali

Shri Rajendra Singh, C/o R S Memorial Sr. Sec. School, Sadulpur

Shri Govind Puri, Karoli, Rajasthan

Dr. Yakub Ali Khan, B-6, Medical Colony, AMU Campus, Aligarh-202002

Dr. Jibraeil, Al-Nisha, Gali No. 3, Near Abdullah Masjid, Dhorra Mefi, Hadi Nagar, Aligarh-202002

Dr. Iqbal Fatima, Government College Jhalawar, Jhalawar

Dr. Ashok gadi, V&P Dabla, Jaiselmer

Suresh Kumar Sandu, Government Girls College Ajmer, Ajmer

Dr. Kamlesh Gaggar, Govt. Bangur P G College, Pali

Dr. Sanjay Kumar, Near Pandey Nursery, Pushkar

Dr. Ishwar Chadra Sharma, 5 E/22 A, Kudi Housing Board, Jodhpur

Dr. Kanchan Lawaniya, CAS, Deptt. Of History, AMU, Aligarh

ISSN 2321-1288

Rajasthan History Congress / 623

Mrs. Pushpa Vishnoi, C-204, Kirti Nagar, Magra Punjala, Jodhpur

Dr. Ekta Vyas, B, 8/23, Mahakal Vanijya Kendra, Nanakheda, Ujjain
(M.P.)

Dr. Vijay Shree, Dept. Of Political Science, New Campus, Jai Narain
Vyas University, Jodhpur

Dr. Neetu Kalra, 159, Manchaman Ganesh Nagar Colony, Panchmahal
Marg, Neel Ganga, Ujjain

Dr. Vinita Shreemali, Dept. Of History, MLSU, Udaipur

Ms Hema Rajak, 106, Mridul Vihar, Vikas Nagar, Dewas (M.P.)

Dr. Arpana Sharma, 121 B, Mahesh Vihar, Indore Road, Ujjain (M.P.)

Prof. P.R.Arya,9/350, Chopasani Housing Board,Jodhpur

Prof. Shobhag Mathur, Opp. Nehru Park Main Gate, Sardarpura, Jodhpur

Ritika Kumari Meena,D-9/62, Chitrakot Yojna,Ajmer Road,Jaipur

Dr. Seema Singh, 141, Karni Nagar, Kudi Road, Jodhpur

Rao Ganpat Singh Chitlawana, Kanakgarh, V & P Chitalwana, Via
Sanchore-343041

Dr. Shanta Rani Sharma, 402/III, Kirti Apartment, Mayur Vihar Extn.,
Delhi

P. K. Pandia, BTT College, IASE (D) University, Sardarsahar

Dr. Minakshi Meena

Shri Alok Kumar Meena,SPUP,Jodhpur

Dr. Kanika Panwar,SPUP, Jodhpur

Prof. B.K.Sharma,

Dr. Mamta Purvi,9 A, Shree Nagar,Gariyawas,Udaipur

Ms Jaishree Rawal,727, Bade Purohit Ji ki Haweli, Udaipur

Prof. Neelam Kausik,12/13, New Keshav Nagar,Udaipur

Mrs. Jeetal Ranawat, Madhav Colony, Udaipur

Dr. Asif Hussain,Govt. P.G. College, Pratapgarh (Raj.)

Dr. Bhanwar Singh Bhati,Karni Kirana Store, Opp. Police Line Gate,
Barmer

Dr. Vijay Singh Mawai, Govt. Girls College, Swaimadhopur

Dr. Tej Singh Mawai, Govt. Maharana Pratap College, Rawat Bhata
(Kota)

Banwari Lal Yadav, V & P Loharwara, Tehsil - Chomu Jaipur-303807

Sanjay Parihar, 13, Opp. Shanti Kunj Park, Maunt Abu Road, Abu Road

Tameg Panwar, Asst. Professor, Dept. Of History, University of
Rajasthan, Jaipur

Shri Ajay Mochi, Gogunda, Udaipur

Ms Anupama, V-Tikri Khurd, P.O. Narela, Delhi - 40

Dr. Zahida Shabnam, C-257, Hans Marg, Malviya Nagar, Jaipur

Dr. Anshul Sharma, D-2, Ganesh Marg, Bapu Nagar, Jaipur

Dr. Vijay Laxmi, S.S. Jain Subodh PG College, Jaipur

Dr. Veenu Pant, S.S. Jain Subodh PG College, Jaipur

Shri Parag Gupta, B-31, L.N. Road, Jaipur

Roshan Gehlot, Chainpura, Mandore, Jodhpur

Prof. K.S. Gupta, 23, Padmini Marg, Ravindra Nagar, Udaipur

Prof. N.K. Sharma, Retd. Head Deptt. of History, JNVU, Jodhpur

Prof. K.L. Mathur, Retd. Head Deptt. of History, JNVU, Jodhpur Dr.